FOR REFERENCE ONLY.

COMMUNITY HEALTH CELL
LIBRARY
AND
INFORMATION
CENTRE
BANGALORE-34

स्वास्थ्य और समाज
एक भिन्न स्वर

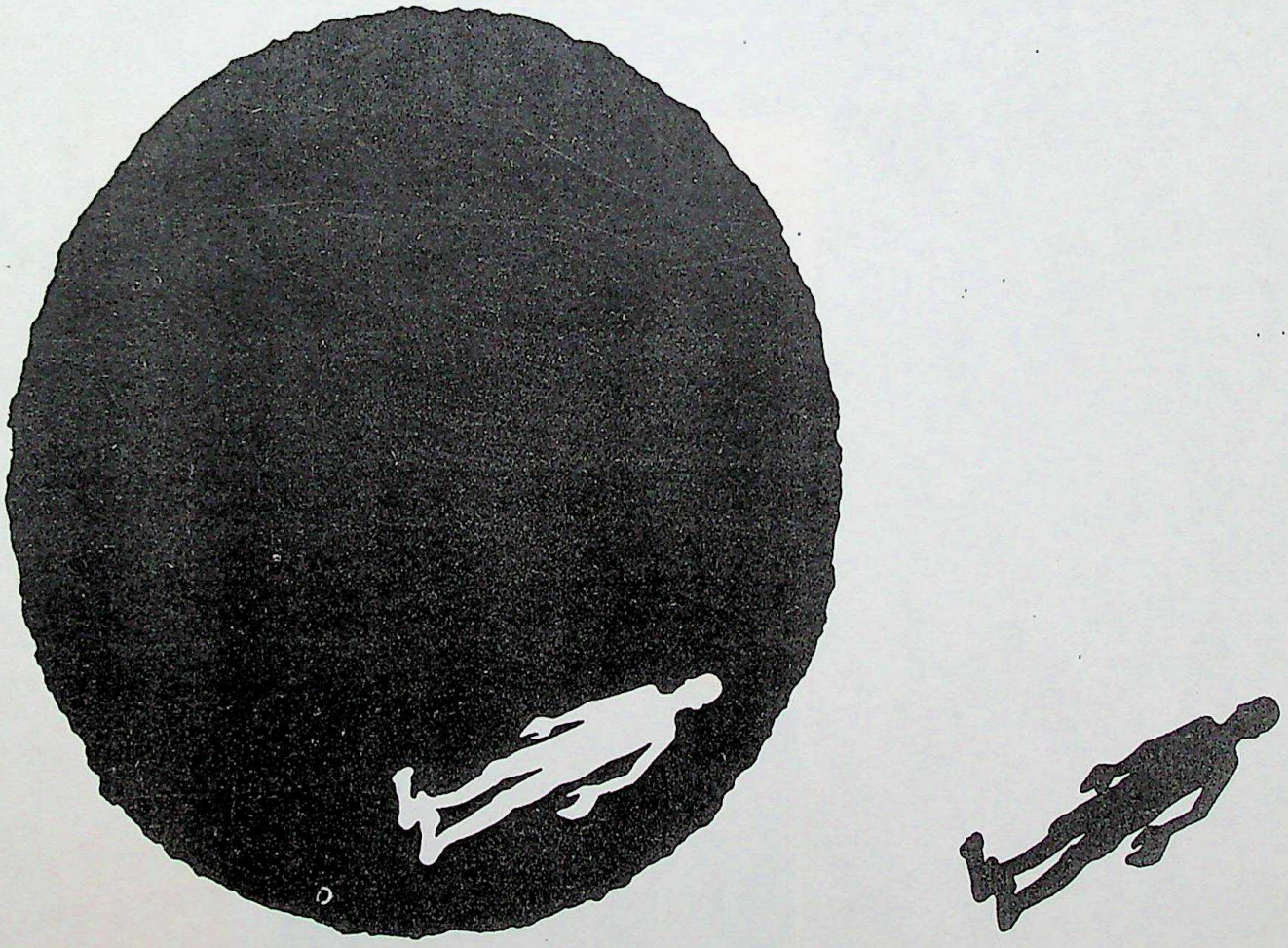

सी. सत्यमाला

निर्मला सुन्दरम

नलिनी भनोट

हिन्दी संस्करण में विशेष सहयोग

संपादन में मदद	:	देवेन्द्र व ध्रुव
शोध	:	रुक्मणी आनन्दानी
सज्जा	:	रमेश शर्मा
रेखाचित्र	:	मलिका विर्दी, नए रेखाचित्र (पृष्ठ 17, 37, 56, 57, 97, 182, 183, 195, 294 व 295), व मूल रेखाचित्रों में संशोधन
		कविता खन्ना, रेखाचित्र पृष्ठ 26, 59, 75, 133, 135, 136, 137, 172, 174, 184, 190 व 278
		के. पी. शशी, रेखाचित्र पृष्ठ 208 से 213
प्रलेख	:	भैरवगिरि गोस्वामी व संजीव मेहता, विकास विकल्प, नई दिल्ली
		नेशनल इन्स्टिट्यूट ऑफ हैल्थ एण्ड फैमिली वेल्फेयर, नई दिल्ली, के लायब्रेरी स्टाफ
		आइसक, वालन्ट्री हैल्थ एसोसियेशन ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली
अन्य सहयोग	:	इन्दिरा पंचोली व सुनील नन्दराज

विशेष धन्यवाद ज्ञापन

- गीता उन्नीकृष्णन, डा. जगभन्दू आचार्य, डा. डैनियल, एक्शन एड
- अनुपम मिश्र, गांधी शांति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली

इस संस्करण को छापने में 50 प्रतिशत आर्थिक सहायता एक्शन एड, बंगलोर, से प्राप्त हुई है ।

रेखांचित्रों के लिए आभार

- पृष्ठ 44, 173, 197, 217, 279, 296 के रेखाचित्र : डेविड वर्नर व बिल बोवर, *हैल्पिंग हैल्थ वर्कर्स लर्न,* द हेस्पीरियन फाउण्डेशन, पॉली आल्टो, यू. एस. ए., 1982.
- पृष्ठ 90, 198, 248 के रेखाचित्र : (शीबा छाछी), कमला भसीन, वसन्त पलशीकर, लक्ष्मी राव, *विकास प्रेरकों की भूमिका व प्रशिक्षण,* नई दिल्ली, 1984.
- पृष्ठ 112 के रेखाचित्र : सुधीर दर.
- पृष्ठ 113, 206 के रेखाचित्र : टेरा वीवा व आई. पी. एस., *कैयरो के टेरा वीवास कार्टूनिस्ट्स : आन द रोड फ्राम कैयरो टू बीजिंग,* कैयरो, 1994.
- पृष्ठ 175 से 179 के रेखाचित्र (अक्लमंद विठोबा, फ्लैश कार्ड) : *हैल्थ फार द मिलियन्स, ग्रन्थ 1, न. 2,* वालन्ट्री हैल्थ एसोसिएशन ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, अप्रैल 1984.
- पृष्ठ 185 के रेखाचित्र : चेतना, अहमदाबाद.
- पृष्ठ 187 के रेखाचित्र : मौर्ले और वुडलैण्ड, *सी हाऊ दे ग्रो.,* मैकमिलन प्रैस, 1979.
- पृष्ठ 189 के रेखाचित्र : अजय शेक्डेर, *द लो-डाऊन ऑन फ्लीज,* टाइम्स ऑफ इण्डिया, 4 अक्तूबर, 1994.
- 190 (खूनी कार्बाइड को बायकाट करो, पोस्टर) : केरल शास्त्र साहित्य परिषद.

(रेखाचित्रों को संदर्भानुसार परिवर्तित भी किया गया है।)

प्रस्तावना

सम्पूर्ण इतिहास में सभी सभ्यताएं बीमारी और रुग्णता के खतरों के साथ पली हैं। हालांकि हर सभ्यता ने इस हकीकत से निपटने के अपने तरीके ईजाद किए, मगर रोगमुक्त जीवन का ख्वाब तो पिछली दो सदियों में ही देखा जाने लगा है। आधुनिक चिकित्सा प्रणाली के विकास से हमें बीमारी की प्रक्रिया में सक्रिय हस्तक्षेप के औजार मिले। किन्तु, आधुनिक चिकित्सा प्रणाली के इस शुरूआती पुलाव के बाद चिन्ताएं पैदा हुई हैं। पिछले सालों में भारत की स्वास्थ्य सम्बन्धी स्थिति में कई अहम बदलाव आये हैं। पिछले दशक में दवाइयों और कीटनाशकों के विरुद्ध प्रतिरोध की समस्या उभरी है और संक्रामक व परजीवी जनित बीमारियों ने फिर से सिर उठाया है। एड्स का नया खतरा तो मुहं बाए खड़ा ही है।

दरकार तो समाज के ढांचे में बदलाव की थी मगर जो मिला वह है ढांचा समायोजन। भारत ने सन् 1991 में ढांचा समायोजन कार्यक्रम को अपनाया। कहा गया कि यह हमारी 'कमजोर' अर्थव्यवस्था में जान फूंकने का एक प्रयास है। विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष द्वारा थोपी गयी शर्तों के अधीन देश की आर्थिक नीति में व्यापक परिवर्तन किये जा रहे हैं। स्वास्थ्य के क्षेत्र में, जरूरी दवाइयों सम्बन्धी नियंत्रण खत्म किये जा रहे हैं, सरकारी अस्पतालों में सेवा शुल्क वसूली लागू की जा रही है, स्वास्थ्य पर होने वाले सरकारी खर्च में कटोती की जा रही है, जनसंख्या नियंत्रण का दबाव बढ़ रहा है और निजीकरण को महत्त्व दिया जा रहा है।

"सन् 2000 तक सबके लिये स्वास्थ्य" का नारा जिस जोशो-खरोश से उछाला गया था, आज लगता है कि उसे फुसफुसाने में भी शर्मिन्दगी महसूस होने लगी है। इसके एवज में अब 'चुनिंदा' प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा को ही एकमात्र विकल्प बताकर पेश किया जा रहा है। ऐसी हालत में यह और भी जरूरी हो गया है कि स्वास्थ्य सम्बन्धी बहस को एक बार फिर नये सिरे से छेड़ा जाये। अन्यायपूर्ण नीतियों को रोकना और संसाधनों व सत्ता के असमान वितरण के प्रयासों का विरोध लोगों की संगठित ताकत से ही संभव है।

स्वास्थ्य सुविधाएं मध्यम दर्जे के कार्यकर्ताओं पर टिकी हैं–नर्सें, ए. एन. एम. (दाइयां) और पैरामिडिकल कर्मचारी (अर्द्ध-चिकित्साकर्मी)। ये कार्यकर्ता ही लोगों की सामाजिक-आर्थिक समस्याओं के संपर्क में आते हैं। परन्तु खुद के काम के विश्लेषण में इनकी भागीदारी नहीं होती। पहली बात तो यह है कि निचले दर्जे में होने के कारण इनसे सिर्फ आदेशों के पालन करने की अपेक्षा की जाती है, निर्णयों में इनकी कोई भागीदारी नहीं होती है। दूसरी बात, यह है कि इन्हें यदि निर्णय प्रक्रिया का हिस्सा बना लिया जाए तो इनकी ट्रेनिंग इस तरह नहीं हुई है कि ये अपने व्यावहारिक अनुभवों से अवधारणा या विचार विकसित कर सकें या अवधारणाओं को व्यवहार में बदल सकें।

जानकारी अपने आप बदलाव नहीं लाती। परन्तु जानकारी बदलाव की एक पूर्व शर्त जरूर है। 'समाज और स्वास्थ्य' में हमने कोशिश की है कि स्वास्थ्य के क्षेत्र में हो रहे विकास के ताजा घटनाक्रम को शामिल करें ताकि वर्तमान की झलक मिल सके। नवीनतम उपलब्ध आंकड़ों को शामिल कर लिया गया है। वैसे तो यह पुस्तक हर स्तर के स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं के उपयोग हेतु लिखी गयी है विशेषकर उन सभी के लिये जो स्वास्थ्य सम्बन्धी नीतियों को समझना चाहते हैं और 'गरीबों के स्वास्थ्य' के लिये काम करना चाहते हैं। हमें अपने पाठकों की प्रतिक्रिया का इन्तजार रहेगा।

अप्रैल 1996

सी. सत्यमाला

अनुक्रम

	खण्ड I भूमिका	1
	राधा की कहानी	2
1.	लोग आखिर समझते क्यों नहीं कि जल्दी इलाज करवाने में उनका ही फायदा है ?	5
2.	लोगों की इन देसी चिकित्सकों में इतनी आस्था क्यों है ?	8
3.	देहाती इलाकों में लोगों को बेहतर चिकित्सा सुविधा क्यों नहीं मिल पाती ?	12
4.	डाक्टर देहाती इलाकों में क्यों नहीं जाते ?	19
5.	लोग सेहत सम्बन्धी साधारण बातें भी क्यों नहीं अपनाते ?	25
6 क.	क्या लोग इतने गरीब हैं कि उनके पास चाय के लिए दूध नहीं होता ?	33
6 ख.	स्वास्थ्य कार्यकर्ता को इस बात से क्या मतलब कि कोई इन्सान कितना गरीब है ?	39
7 क.	रुक्मणी जैसे गरीब लोगों के इतने बच्चे क्यों होते हैं ?	41
7 ख.	क्या रुक्मणी जैसे लोगों की गरीबी का कारण ज्यादा बच्चे हैं ?	46
8.	क्यों कुछ लोगों के पास इतना कुछ है, जबकि बाकियों के पास कुछ नहीं ?	51
8 क.	वह क्या चीज है जो कुछ लोगों के पास है और शेष के पास नहीं ?	52
8 ख.	ऊपर के मुट्ठी भर लोग इतनी सम्पत्ति कैसे जोड़ लेते हैं ?	59
8 ग.	क्या खेती के आधुनिक तरीकों से गरीबों की माली हालत सुधर सकती है ?	62
8 घ.	यदि गरीबी की वजह शोषण है तो लोग इसे चलने क्यों देते हैं ?	65
	निष्कर्ष	75
	खण्ड II भूमिका	76
1.	स्वास्थ्य सम्बन्धी सारी बातों पर आधुनिक डाक्टर कैसे हावी हो गए ?	77
2.	आधुनिक चिकित्सा प्रणाली को बढ़ावा देने में व्यापारियों की रुचि क्यों थी ?	82
3.	आधुनिक चिकित्साशास्त्र के द्वारा समाज में मौजूद गैर-बराबरी को कैसे जायज ठहराया जाता है ?	91

4.	सेहत के आम हालातों को सुधारने में आधुनिक चिकित्साशास्त्र कितना कारगर है ?	98
	निष्कर्ष	117
	खण्ड III भूमिका	119
1.	भारत में स्वास्थ्य सुविधाओं का विकास	120
2.	बच्चों की सेहत	130
3.	औरतों का स्वास्थ्य	139
4.	वयस्कों की सेहत	149
5.	पोषण	157
6.	स्वास्थ्य-शिक्षा	175
7.	परिवार नियोजन	196
8.	ग्रामीण कार्यकर्ता	208
9.	उपचार की सुविधा	216
	निष्कर्ष	233
	खण्ड IV भूमिका	234
1.	काम करने के लिए गांवों का चुनाव	236
2.	गांव से परिचय	247
3.	स्वास्थ्य समस्याओं को हल करने में लोगों की मदद	261
4.	स्वास्थ्य कार्यकर्ता के लिए जरूरी गुण	284
5.	स्वास्थ्य के काम का बढ़ता दायरा	294
	शब्दावली	298
	संदर्भ	302

खण्ड I : भूमिका

इस खण्ड में ग्रामीण क्षेत्रों में काम करने वाले स्वास्थ्य कर्मचारियों के अनुभवों को प्रस्तुत किया गया है। यहां राधा नाम की उस स्वास्थ्य सेविका की बात कही गयी है जो पहले शहर के हस्पताल में काम करती थी पर अब गांव के औषधालय में काम कर रही है। उसे कुछ व्यक्तिगत कारणों से शहर का हस्पताल छोड़ कर गांव में काम करने आना पड़ता है। गांव में काम करने की उसकी कोई तैयारी नहीं है और न उसे गांव में काम करने का कोई पूर्व अनुभव या प्रशिक्षण मिला है। राधा के सामने अनेक प्रकार की समस्याएं आती हैं। उसे इन समस्याओं के कारण भी ज्ञात नहीं हैं। इन समस्याओं के कारण उसके मन में समय-समय पर अनेक प्रश्न उठते हैं। इन प्रश्नों का उसके पास कोई उत्तर भी नहीं है।

इस खण्ड के प्रत्येक अध्याय में राधा के विचारों को प्रस्तुत किया गया है। वे घटनाएं जो उसे प्रभावित करती हैं, उनपर चर्चा की गई है। ग्रामीण जीवन का अध्ययन करते हुए जो सवाल उसके मन में उठते हैं, उन्हें प्रत्येक अध्याय में सिलसिलेवार प्रस्तुत किया गया है।

राधा की कहानी

वह राधा के लिए काफी महत्त्वपूर्ण दिन था। साफ-सुथरी व बेदाग यूनिफॉर्म और कलफ लगी कैप पहने हुए उसने वॉर्ड पर उत्साह और चुनौती भरी नज़र डाली। उसके इस गर्व का कारण भी था। उसे नर्स की परीक्षा पास किए सिर्फ छः महीने हुए थे और मैट्रन ने आज उसे वॉर्ड की "सिस्टर-इन-चार्ज" का भार सौंपा था। वॉर्ड की नर्स छुट्टी पर जाने वाली थी और मैट्रन राधा के कामकाज से इतनी खुश थी कि उसे यह जिम्मेदारी सौंप दी।

राधा एक कुशल कर्मचारी थी परन्तु लोगों को उसकी जो बात सबसे ज्यादा भाती थी, वह थी, दूसरों की भावनाओं के प्रति उसकी संवेदनशीलता। राधा अस्पताल में भर्ती हर रोगी के बारे में कुछ-न-कुछ अवश्य जान लेती थी। आमतौर पर वह उनकी तात्कालिक चिन्ताओं को समझ लेती थी। इस तरह के विश्वास के कारण ही वह जान पायी थी कि कुछ मरीजों को अस्पताल तक आने में किन-किन दिक्कतों का सामना करना पड़ा। उसने यह भी जाना कि कई मरीज डाक्टरी सलाह के विपरीत अस्पताल से चले जाते हैं क्योंकि घर पर उनके बच्चों की देखभाल करने वाला कोई नहीं होता। धीरे-धीरे राधा को उन औरतों से भी सहानुभूति होने लगी जो जचकी के समय अपने पति को कोसती थीं।

राधा हाल ही में छुट्टी से वापस आई थी। वह मां की बीमारी के कारण घर गई थी। वापस आने के बाद भी वह मां को लेकर चिन्तित थी और उसका दिमाग बार-बार मां-बाप के बारे में सोचने लगता था। एक बार जब राधा ड्यूटी पर थी, तो एक इमर्जेन्सी केस आया। एक औरत को अस्पताल लाया गया था जिसे जचकी के बाद टिटेनस हो गया था। बेचारी आधे घण्टे के अन्दर ही खत्म हो गई। डाक्टर सहित सारे लोगों को उसकी अनावश्यक मौत पर बहुत दुख हुआ। काश, उसने टिटनेस का इन्जेक्शन लगवाया होता या वह थोड़ी जल्दी अस्पताल पहुंच गई होती, तो बच जाती। यह सुनकर उसके भाई ने बताया कि वे तो जल्दी आना चाहते थे पर बस कन्डक्टर ने इतनी बीमार औरत को बस में बिठाने से इन्कार कर दिया। तब उन्होंने बहुत मुश्किल से एक बैलगाड़ी का इन्तज़ाम किया और जल्दी से जल्दी अस्पताल पहुंचे। बहरहाल, देरी तो हो ही गई थी। जब औरत के सम्बन्धी लौट रहे थे तो भी राधा उनकी दुखद वापसी यात्रा के बारे में सोच रही थी।

इस घटना ने राधा के दिमाग में घर कर लिया। अब वह ऐसी बातों पर ज्यादा ध्यान देती थी कि 'रोगी बहुत देर से आया' या 'तुमने इतने दिन इन्तजार क्यों किया" या "तुम्हें पहले आना चाहिये था', आदि। राधा के लिए इन शब्दों का एक अर्थ भी था। वह खुद घर से इतनी दूर थी। यदि उसकी मां को कुछ हो गया, तो ? क्या उसे भी 'देर' हो जाएगी ? वह कल्पना में अपने पिता की आवाज सुनती थी, "तुमने आने में इतनी देर क्यों कर दी ?"

महीने बीतते गए और राधा की चिन्ता बढ़ती गई। उसकी मां बहुत बीमार थी। यदि वह अपने मां-बाप की बीमारी में भी किसी काम नहीं आ सकती, तो उसके नर्स बनने का क्या फायदा ? परन्तु यह इतना आसान नहीं था। वह अपनी तनख्वाह का एक बड़ा हिस्सा घर भेजती थी परिवार को उसकी तनख्वाह की जरूरत थी, खासकर मां के इलाज की खातिर। यदि वह अस्पताल की नौकरी छोड़ दे, तो क्या वह इतना कमा पाएगी ?

राधा अक्सर इस बारे में सोचती थी पर उसे कोई हल नहीं सूझता था। एक दिन उसने मैट्रन से बातचीत करने की सोची। मैट्रन का विचार था कि राधा अस्पताल में बढ़िया काम कर रही है। इसे छोड़ना अच्छा नहीं होगा। परन्तु यदि राधा छोड़ना ही चाहती है, तो वे उसके घर के पास नौकरी दिलवाने के लिए अपने कुछ मित्रों को लिख सकती हैं।

और फिर जैसे एक संयोग हुआ। राधा को घर के पास ही एक नौकरी के बारे में पता लगा। एक परमार्थ ट्रस्ट को अपने ग्रामीण दवाखाने में काम करने के लिए एक प्रशिक्षित नर्स की जरूरत थी। यह संस्था जिले में ऐसे कई दवाखाने और दो अस्पताल भी चला रही थी। राधा को यूं तो अस्पताल की नौकरी ज्यादा पसन्द थी, पर फिर भी उसने अर्जी दे ही दी। वह जानती थी कि उसे इस तरह के काम का कोई अनुभव नहीं है और इसीलिए वह काफी भयभीत सी थी। उसे केवल इस बात की सन्तुष्टि थी कि यह नौकरी मिल जाने के बाद

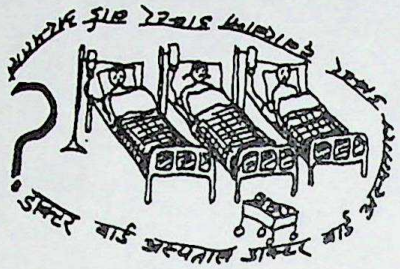

एक

राधा उन चीजों की सूची बना रही थी जो उसे खरीदनी थी। पहले उसने अपने निजी इस्तेमाल की चीजों की सूची बनाई और फिर जरूरी दवाईयों की। आज डाक्टर आएंगे और उसे बता देंगे कि दवाइयां कहां से खरीदी जाती हैं। तीन महीनों में राधा का कस्बे में जाने का यह दूसरा मौका था।

तीन महीने बीत चुके थे और राधा धीरे-धीरे अपने काम में जम गयी थी। उसे याद आ रहा था कि वह इस बात को लेकर कितनी भयभीत थी कि उसे मरीजों का इलाज खुद करना होगा। यूं डाक्टर ने कुछ हद तक उसकी मदद की थी परन्तु अपने अन्दर के डर से उसे खुद ही निपटना पड़ा था।

तभी उसकी विचारों की लड़ी टूट गयी क्योंकि उसी समय एक औरत अपने दो साल के लड़के को लेकर दवाखाने आई। राधा ने देखा कि लड़के के हाथ व पैर पर फोड़े हैं। राधा को लड़के की मां पर चिढ़ हुई। डाक्टर की बताई बात याद करते हुए उसने मां की भी जांच की। उसे जिस बात का डर था, वही सच निकली। मां के पूरे हाथ पर चकत्ते थे। मां ने यह बात उसे बताई तक नहीं। राधा सोच रही थी कि क्या वह उन चकत्तों के फोड़ों में तबदील होने का इन्तजार कर रही थी ? **लोग आखिर समझते क्यों नहीं कि जल्दी इलाज करवाने में उनकी ही भलाई है।**

1 : लोग आखिर समझते क्यों नहीं कि जल्दी इलाज करवाने में उनका ही फायदा है ?

स्वास्थ्य कार्यकर्ता अक्सर इस बात से परेशान रहते हैं कि स्वास्थ्य सेवाएं करीब होने पर भी लोग जल्दी चिकित्सा क्यों नहीं करवाते ? इस बात को समझने के लिए **रोग** और **बीमारी** इन दो शब्दों के अन्तर को समझना होगा ।

"बीमारी वह जैव शारीरिक क्रिया है जो मानव शरीर में बदलाव एवं गड़बड़ी के रूप में दिखाई दे ।" (कानरैड व कर्न) । साधारणतः शरीर में हर समय बदलाव होते रहते हैं । परन्तु बदलाव अपने आप में कोई बीमारी नहीं है । मसलन बच्चे की वृद्धि के समय उसके शरीर में कई बदलाव होते हैं परन्तु इन बदलावों का यह मतलब नहीं कि बच्चे को कोई बीमारी है । जब इन बदलावों से शरीर के क्रियाकलापों में गड़बड़ी पैदा होती है तभी हम, चिकित्सा विज्ञान के नज़रिये से कहते हैं कि, व्यक्ति को बीमारी है ।

दूसरी ओर, बीमारी का अर्थ है रोग होने का अहसास । इस बात को समझने के लिए विटामिन 'ए' की कमी का उदाहरण सटीक है ।

रोग की शुरूआत में व्यक्ति बीमारी महसूस नहीं करता, हालांकि शरीर में बदलाव हो रहे होते हैं । आंखें सूखी रहने लगती हैं और चमड़ी की रंगत बदलने लगती है । इससे शरीर के सामान्य क्रियाकलाप में भी बदलाव आ सकते हैं । चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि में ऐसे व्यक्ति रोगग्रस्त हैं परन्तु हो सकता है कि वे स्वयं अपने आपको बीमार न समझें । व्यक्ति इस रोग को बीमारी के रूप में तभी महसूस करते हैं जब रतौंधी की शुरूआत होती है ।

कोढ़ या कुष्ट रोग का उदाहरण भी लिया जा सकता है । बीमारी का पहला लक्षण चमड़ी पर एक हल्के रंग का धब्बा हो सकता है । इस स्थिति में संभव है कि संबंधित व्यक्ति खुद को बीमार माने । व्यक्ति तभी बीमारी महसूस करेगा जब शरीर के किसी भाग की संवेदना खत्म होने लगे या विकृति पैदा होने लगे ।

ऐसा भी हो सकता है कि बगैर किसी रोग के व्यक्ति बीमार महसूस करे । मसलन, कुछ विश्वासों या तीव्र भावनाओं के कारण लोग बीमार महसूस कर सकते हैं । विषहीन सांप के काटने पर भी पसीना आना, धड़कन तेज हो जाना जैसे लक्षण दिख सकते हैं और व्यक्ति मर भी सकता है । किसी-किसी को बुरी खबर से बेहोशी आ जाती है । भूत-प्रेत में विश्वास के कारण कुछ लोगों को मूर्छा या उन्माद का दौरा पड़ सकता है, यहां तक कि मौत भी हो सकती है । ये सभी बीमारी महसूस करने के उदाहरण हैं ।

अर्थात् लोग बिना रोग के बीमारी महसूस कर सकते हैं और बिना बीमारी महसूस किए रोगग्रस्त हो सकते हैं ।

कई सारी **सांस्कृतिक धारणाओं** (आस पास के वातावरण, परिवेश और उसकी मान्यताओं आदि) का भी बीमारी के एहसास पर प्रभाव पड़ता है । मसलन, एक बच्चा, जिसे सूजन है, मां के लिए स्वस्थ और 'तगड़ा' हो सकता है, जबकि एक स्वास्थ्य कार्यकर्ता के विचार में उसे क्वाशियर्कर नामक रोग हो सकता है (जो आहार की कमी से होता है) । स्वास्थ्य कार्यकर्ता को इस बात के प्रति सचेत रहना बहुत जरूरी है कि रोग, बीमारी और सेहत को लेकर उसके विचारों और लोगों के विचारों में बहुत अन्तर हो सकता है । लोग तब तक मदद लेने का आखिरी फैसला नहीं करते जब तक कि वे स्वयं बीमारी महसूस न करें ।

बीमारी के वक्त राहत प्राप्त करने का निर्णय इस बात पर भी निर्भर करता है कि उस **बीमारी की तीक्ष्णता** को लेकर लोगों का क्या अहसास है । चमड़ी और पाचन तन्त्र की कई छोटी-मोटी बीमारियां कभी स्वास्थ्य कर्मी को नहीं बताई जातीं । ये बीमारियां इतनी आम हैं और जीवन का एक अंग सी बन गई हैं कि लोग इन्हें असामान्य मानते ही नहीं । लोग इनमें अस्वस्थता जरूर महसूस करते हैं पर इन्हें इतना गंभीर नहीं मानते कि तुरन्त इलाज करवाएं । उदाहरण के लिए हो सकता है कि स्वास्थ्यकर्मी टी. बी. के शीघ्र इलाज पर जोर दें जबकि लोग तब तक इन्तजार करें जब तक रोग उन्हें असहाय न कर दे ।

इलाज चाहने या न चाहने के पीछे दर्द सहन करने की क्षमता भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है । यह सहनशक्ति हर व्यक्ति और हर समुदाय के बीच अलग-अलग होती है । उदाहरणार्थ, भारतीय समाजों में, सांस्कृतिक कारणों से, आदमी और औरत के लिए दर्द सहन करने का

स्तर अलग-अलग परिभाषित है। भारत में औरत की परम्परागत छवि यह रही है कि वह, खासकर जचकी के दौरान, तीखा दर्द सहन कर सकती है। इस छवि के अनुसार भारतीय नारी को धैर्यपूर्वक दर्द को बरदाश्त करना चाहिए जब तक कि लक्षण इतने गम्भीर न हो जाएं कि चिकित्सा आवश्यक हो जाए।

दर्द बरदाश्त करने के मामले में औरतों से इस अपेक्षा के पीछे यह बात भी छुपी नहीं है कि उसकी जिन्दगी को पुरुष की जिन्दगी से कम कीमती माना जाता है। यह एक जाना-माना तथ्य है कि भारत में लड़की की तुलना में लड़के की बीमारी को ज्यादा गम्भीरता से लिया जाता है और चिकित्सा सुविधा भी जल्दी प्राप्त की जाती है। दूसरी ओर, लड़कों को सिखाया जाता है कि उन्हें छोटी-मोटी चोट के दर्द को नजरअंदाज करना चाहिए क्योंकि वे 'मर्द' हैं और उन्हें 'कठोर' होना चाहिए। बीमारी की गम्भीरता के अहसास पर इन सब कारणों का असर पड़ा है। जैसा कि हमने ऊपर देखा, ये मान्यताएं स्वास्थ्यकर्मी की मान्यताओं से भिन्न हो सकती हैं।

बीमारी के गंभीर हो जाने के बावजूद हो सकता है कि कोई व्यक्ति इलाज न करवाये क्योंकि वह **खर्चीली** है। इलाज में प्रत्यक्ष खर्च तो दवाइयों, सेवा शुल्क, और रोग के पहचान के लिए परीक्षण वगैरह पर होता है। परन्तु वास्तविक खर्च कहीं ज्यादा हो सकता है। हो सकता है कि बीमार व्यक्ति और उसके साथ जाने वाले व्यक्ति की एक दिन की मजदूरी का नुकसान हो और फिर यात्रा का खर्च तो है ही। कुछ लोगों को शायद कर्ज लेना पड़े। इस कर्ज का ब्याज भी आखिरकार चिकित्सा खर्च में ही जुड़ेगा।

इस प्रकार से इलाज करवाने के निर्णय पर कई बातों का प्रभाव पड़ता है। अभी तक जिन कारणों की चर्चा की गई उनके अलावा भी कई कारण स्वास्थ्यकर्मी को अपने कार्यक्षेत्र में दिख सकते हैं। इसलिए इन विभिन्न कारणों को समझना जरूरी है ताकि इन से निपटा जा सके।

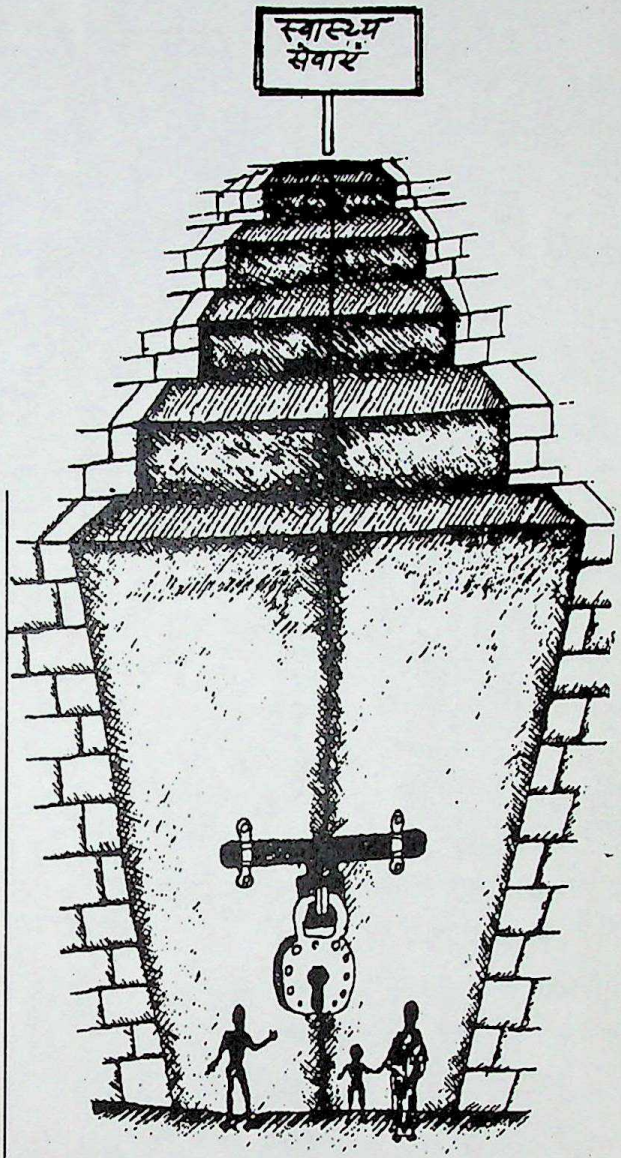

सन् 1986-87 में दिए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार निम्नलिखित कारणों से बीमार का इलाज नहीं किया गया :

इलाज नहीं करने का कारण	ग्रामीण क्षेत्र	शहरी क्षेत्र
बीमारी गंभीर नहीं समझी गई	74.61%	81.13%
आर्थिक कारण (गरीबी)	15.27%	9.57%
इलाज की सुविधा नहीं थी	2.86%	0.13%
इलाज की विधि में अविश्वास था	1.93%	1.81%
देर तक इन्तजार करना पड़ता था	0.33%	1.05%
अन्य कारणावस	5.00%	6.31%
कुल	100%	100%

स्रोत : एन. एस. एस. ओ, 1986-87, इकनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, 1994.

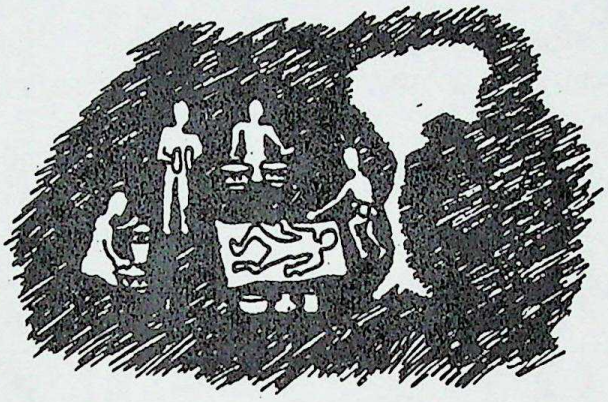

कितना अजीब!

दो

राधा चिमनी बुझाकर चैन से बिस्तर पर लेट गई। आज का दिन बहुत थकाने वाला था। चूंकि आज डाक्टर को आना था इसलिए हमेशा की तरह कहीं ज्यादा मरीज दवाखाने आए थे। फिर संयोजक रमेश चन्दर ने हिसाब-किताब लिखने के लिए कहा था। राधा ने बैठकर यह सारा काम भी निपटाया।

आज ही चमेलीबाई को भी किसी शादी में जाना था। इसलिए राधा को खाना भी खुद ही पकाना पड़ा। और तो और, सब्जी काटते समय एक आवारा कुत्ता रसोई में घुस आया और मिट्टी के तेल की बोतल उलट दी। कुल मिलाकर दिन भर परेशान होना पड़ा।

राधा ने अपने विचारों से निजात पायी और सोने की कोशिश करने लगी। एक घण्टा भी न बीता होगा कि नगाड़ों की आवाज से उसकी नींद उचट गई। आज यह आवाज ज्यादा ही जोर से आ रही थी। उसने खिड़की बन्द करके फिर सोने की कोशिश की परन्तु नगाड़ों की आवाज तेज होती गई। वह समझ चुकी थी कि आज नगाड़े देर रात तक बजेंगे। ओझा अपने काम में लगा था।

आज ही एक बहुत बीमार बच्चे को दवाखाने लाया गया था। उसे बुखार हुआ था और मां-बाप उसे ओझा के पास ले गए थे। और बातों के अलावा ओझा ने बच्चे के पेट को गर्म लोहे से दागा था। इसके एक हफ्ते बाद ही मां-बाप उसे दवाखाने में लाए। इस समय न सिर्फ बच्चे को तेज बुखार था बल्कि पेट के घाव में इन्फेक्शन भी हो चुका था।

चमेलीबाई और डाक्टर, राधा को स्थानीय 'नीम हकीमों' के कई किस्से सुना चुके थे।

ऐसे अनुभवों के बाद भी लोगों की इन ओझाओं में इतनी आस्था क्यों है ?

2 : लोगों की इन देसी चिकित्सकों में इतनी आस्था क्यों है ?

हमारे देश में आज भी 80 प्रतिशत जचकियां दाइयां करवाती हैं और देहाती इलाकों में चिकित्सा की 25-40 प्रतिशत जरूरतें ये देसी चिकित्सक, जैसे भोपा, बड़वा, गुनिया, हड्डी जोड़ने वाले, दाई, वगैरह पूरी करते हैं। इन चिकित्सकों की सेवाओं के उपयोग की मात्रा इलाके-इलाके और यहां तक कि गांव-गांव में अलग-अलग होती व बदलती रहती है। यह बात तालिका से भी देखी जा सकती है। देसी चिकित्सकों के इतने अधिक उपयोग से ही यह बात साबित होती है कि ये कुछ जरूरतों को पूरा करते हैं। पहले इन जरूरतों को पहचानना आवश्यक है ताकि हम समझ सकें कि लोगों की इन ओझाओं में इतनी आस्था क्यों हैं ?

किसी भी चिकित्सा प्रणाली का विकास बीमारी से निपटने के लिए होता है। जिन सभ्यताओं में इलाज की प्रणाली ठीक से विकसित नहीं होती, उनमें रोकथाम के लिए ये बात समझनी होती है कि बीमारी होती ही क्यों है ? लोगों ने इसके लिए अवलोकन व निष्कर्ष का मार्ग अपनाया। मसलन यह देखा गया कि जब भी कोई समुदाय या जन-समूह किसी नई जगह पर जाता है अथवा किसी अन्य समूह के सम्पर्क में आता है तो बीमारियां बढ़ती हैं। इससे उन्होंने ये निष्कर्ष निकाला कि नई जगह जाने या नए लोगों से मिलने से बीमारियां होती हैं।

इसी प्रकार से यह देखा गया कि कुछ खास मौसम में किसी विशेष पशु का मांस खाने से बीमारी होती है। जनजातियों ने इस समस्या से निपटने के लिए कठोर सामाजिक प्रतिबन्ध लगाए। उदाहरणार्थ, स्थान परिवर्तन को लेकर, दूसरी जातियों से मेल-मिलाप को लेकर, शिकार व भोजन को लेकर कई प्रतिबन्ध लगाए गए। जब उन्होंने देखा कि इन प्रतिबन्धों पर अमल करने से बीमारी कम करने में मदद मिलती है, तो इनको और कठोर बनाया गया। परन्तु इन सबसे यह स्पष्ट नहीं होता था कि बीमारी होती ही क्यों है। इसका एकमात्र जवाब था कि मानव नियंत्रण के परे अदृश्य शक्तियां इसके पीछे हैं।

यह समझ ठीक ही लगती थी क्योंकि और भी कई प्राकृतिक संकट थे जिन पर इंसानों का कोई नियंत्रण नहीं था, जैसे बाढ़, सूखा, बादल गरजना, बिजली चमकना, आदि। इन्हें भी यही कहकर समझाया गया कि ये पारलौकिक शक्तियों का प्रभाव है।

इस प्रकार से सामाजिक प्रतिबन्धों के अलावा पारलौकिक शक्तियों की धारणा भी चिकित्सा प्रणाली में जुड़ गई। इस विश्वास की ही ताकत के बल पर आगे चलकर इन सामाजिक प्रतिबन्धों को पूरी तरह, बिना किसी विरोध के स्वीकार करवाया जा सका।

इस स्थिति में ओझा का पहला काम तो यह होता था कि वह पता करे कौन-सी दैवी शक्ति नाराज हुई है (जैसे कोई पुरखा, कोई देवी-देवता, कोई प्रेत वगैरह), बीमार व्यक्ति ने ऐसा क्या किया जिससे वह नाराज हुई है और इस नाराजगी को दूर करने के लिए क्या उपाय करना होगा। तकलीफ से तत्काल राहत के लिए भी कुछ देना होता था। इस प्रकार से जड़ी-बूटियों, काढ़ा या अन्य चीज़ों के साथ साथ चिकित्सा प्रणाली में अनुष्ठान, रीति-रिवाज, कर्मकांड पूजा-पाठ, बलि, झाड़फूंक आदि भी जुड़ गए। यह माना जाने लगा कि बीमारी प्रकृति से सामंजस्य के टूटने की सज़ा है। ओझा का काम था कि वह इस सामंजस्य के टूटने का कारण पहचाने और उसे ठीक करे।

भारत के अधिकतर देहाती इलाकों में आज भी बीमारी को प्रकृति से सामंजस्य के टूटने का फल माना जाता है। स्वास्थ्य एक नेमत है और बीमारी बुरे कामों की सज़ा। भोजन सम्बन्धी नियम तोड़ना, किसी पुरखे की उपेक्षा, देवी-देवता का अपमान, धार्मिक अनुष्ठान न करना, बुरी नज़र, पड़ौसी को दुख पहुंचाना, आदि कई सारे कारण बीमारी को जन्म दे सकते हैं। **ओझा इन्हीं विश्वासों के तहत काम करते हैं और इसीलिए वे बीमारी के कारण का संतोषजनक उत्तर दे पाते हैं।**

दूसरी तरफ, आधुनिक चिकित्सा प्रणाली के मुताबिक बीमारी का कारण कीटाणु हैं—यह धारणा अधिकतर भारतीयों के लिए अजीब है। चिकित्सा की आधुनिक प्रणाली का विकास उस समय हुआ था जब विज्ञान व टेकनोलॉजी के जरिए जबर्दस्त तरक्की हो रही थी। पश्चिमी देशों के लोग धीरे-धीरे यह समझ रहे थे कि टेकनोलॉजी की बदौलत उनके जीवन में कितना सुधार हुआ है। चूंकि आधुनिक चिकित्सा प्रणाली भी वैज्ञानिक समझ पर आधारित थी और इसमें रोग की पहचान और इलाज के लिए टेकनोलॉजी का उपयोग होता था,

इसलिए उन लोगों का इस प्रणाली पर विश्वास जमता गया। चूंकि आधुनिक चिकित्सा के विकास के साथ-साथ इन देशों में मृत्यु दर में भी तेजी से कमी आई, इसलिए यह विश्वास और पक्का हो गया।

परन्तु भारत में अधिकतर लोगों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में कोई वास्तविक बदलाव नहीं आया है। आज भी अधिकतर लोगों का अपने जीवन को प्रभावित करने वाली घटनाओं पर कोई नियन्त्रण नहीं है। बीमारी भी ऐसी ही एक घटना है। **इसलिए आधुनिक चिकित्सा प्रणाली की बुनियादी धारणाओं को लोग यहां आसानी से स्वीकार नहीं कर पाते।** लोग यह तो मानते हैं कि आधुनिक प्रणाली में शक्तिशाली औषधियां हैं जिनसे तत्काल राहत मिलती है परन्तु वे इसे 'जादू' ही समझते हैं, न कि किसी वैज्ञानिक समझ का नतीजा। फिर इस प्रणाली में उन्हें यह भी समझ में नहीं आता कि क्यों कोई बीमारी किसी को होती है, किसी को नहीं।

बीमारी होने पर सवाल यह उठता है कि किसके पास जाएं — किसी देशी ओझा के पास, जिसकी धारणाएं उन्हें ठीक लगती हैं, पर उसकी इलाज की क्षमता सीमित है या आधुनिक प्रणाली के डाक्टर के पास, जिसकी धारणाएं तो उनसे मेल नहीं खाती पर, इलाज की ताकत जबर्दस्त है ? यह निर्णय करते समय लोग बीमारियों को दो मोटी-मोटी श्रेणियों में बांट लेते हैं : एक, जिनका इलाज डाक्टर ज्यादा अच्छे से कर सकते हैं और दूसरी, जिनका इलाज देसी ओझा ज्यादा अच्छे से कर सकते हैं। जिन बीमारियों का कारण 'बुरी' हवा, मानसिक परेशानी या अशुद्धि माना जाता है, उनमें देसी ओझा ही एकमात्र रास्ता है। ऐसे मामलों में आधुनिक प्रणाली की औषधियां बेकार या शायद नुकसानदेह भी मानी जाती हैं क्योंकि ये पढ़े-लिखे स्वास्थ्य कार्यकर्ता इन बीमारियों को जानते-समझते नहीं हैं। छोटी-मोटी बीमारियों और लम्बी बीमारियों के लिए लोग देसी चिकित्सक के पास जाते हैं। जब देसी चिकित्सक जवाब दे देते हैं तब आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का सहारा लिया जाता है।

ये बंटवारा बहुत कठोर नहीं है। बीमारी के उतार-चढ़ाव और पहले के अनुभवों के आधार पर भी लोग एक किस्म के चिकित्सक को छोड़कर दूसरे के पास चले जाते हैं। आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का उपयोग खासकर इसीलिए होता है कि इसमें तकलीफों से छुटकारा दिलाने की विलक्षण क्षमता है। यह आम बात है कि कई लोग तो बीमारी के कारणों के बारे में अपनी राय बदले बिना मात्र इसलिए आधुनिक चिकित्सा प्रणाली को अपना लेते हैं क्योंकि इसमें इलाज की क्षमता है। वे 'कारण' को दूर करने के लिए देसी चिकित्सक के पास भी जाते रहते हैं। डाक्टर या देसी चिकित्सक के उपयोग का सवाल किसी कठोर परम्परा से तय नहीं होता। **लोग तो हर प्रणाली के उन हिस्सों का उपयोग करते हैं जिन्हें वे सबसे कारगर और संतोषप्रद समझते हैं।**

रोगियों द्वारा विभिन्न किस्म के चिकित्सकों का इस्तेमाल
(प्रतिशत)

	मध्यप्रदेश		पंजाब	तमिलनाडु
	भितरवाड़ ब्लाक (1978-79)	बांदा ब्लाक (1978-79)	लुधियाना जिले के 26 गांव (1973-74)	चिंगलपेट जिले का एक गांव (1969-70)
आधुनिक चिकित्सा कर्मी से सलाह	51.6	36.1	16.6	52
पारम्परिक चिकित्सा से सलाह	11.2	4.8	24.0	26
किसी से नहीं	37.2	59.1	59.4	6
पारम्परिक चिकित्सा और आधुनिक चिकित्साकर्मी दोनों से	0	0	0	16

स्रोत : कौंसिल ऑफ सोशल डेवलपमेंट के सर्वे की रिपोर्ट, 1979, और पिल्स अगेन्स्ट पावर्टी, 1975.

सन् 1990 में अखिल भारतीय स्तर पर किए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों ने विभिन्न प्रकार की चिकित्सा विधियों को अपनाने का प्रतिशत इस प्रकार रहा : ग्रामीण क्षेत्रों में 75.36 प्रतिशत लोगों ने आधुनिक चिकित्सा पद्धति, 12.9% ने

होमियोपैथी, 8.08%ने आयुर्वेदिक, 1.18% ने टोने टोटके तथा 2.47% ने अपने बनाए नुस्खे अपनाए ।

शहरी क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की चिकित्सा पद्धतियों के अपनाने का प्रतिशत अनुमान के विपरीत लगभग समान था, शहरी क्षेत्रों में रहने वाले अधिकतर 20% लोगों का कहना था कि उन्होंने अपने इलाज के लिए जो पद्धति अपनाई, वह आधुनिक नहीं थी ।

संतुष्टि के इस एहसास में किसी भी प्रकार के इलाज के दौरान अपनाये गये तरीकों का बड़ा महत्त्व होता है । रोगी से संपर्क या बातचीत के मामले में पारम्परिक चिकित्सक बेहतर स्थिति में होते हैं । उनका ढंग ज्यादा फुरसती होता है । वे हर रोगी को ज्यादा समय देते हैं, उनकी बात सुनते हैं और दिलासा देते हैं । इनकी काम करने की जगह सादी और जानी-पहचानी सी होती है । इससे रोगी सहमता नहीं है । इसके विपरीत आधुनिक चिकित्साकर्मी अक्सर दिलासा देने में असफल रहते हैं । अपर्याप्त स्टाफ और भीड़भाड़ के चलते ये कार्यकर्ता रोगी के साथ एक व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं बना पाते । इसके लिए न तो उनके पास समय होता है न ताकत । इनके प्रशिक्षण में भी रोगी से व्यक्तिगत सम्बन्ध बनाने की खास बात पर पर्याप्त जोर नहीं दिया जाता ।

इसका सबसे अच्छा उदाहरण दाई द्वारा घर पर कराई गई जचकी और आधुनिक चिकित्सा में प्रशिक्षित कर्मचारी द्वारा कराई गई जचकी के समय देखा जा सकता है । दाई की धारणाएं और जच्चा एवं उसके परिवार की धारणाएं एक जैसी होती हैं । पूरा परिवेश और जचकी की सामग्री जानी-पहचानी होती है । जचकी के समय शरीर की स्थिति और दाई के क्रियाकलापों से लोग परिचित होते हैं । सांस्कृतिक रिवाजों को भी बराबर महत्त्व दिया जाता है । नाल को विधिपूर्वक नष्ट करना, जचकी के कमरे को शुद्ध करना, आदि बातों को भी जचकी के ही बराबर महत्त्व दिया जाता है ।

अस्पताल में, अपरिचित माहौल, चमचमाते औजार, जचकी में शरीर की स्थिति, कर्मचारियों का बेगाना रवैया और उनके अजीब क्रियाकलाप, सभी कुछ अजनबी सा लगता है । इससे बैचैनी और डर का अहसास होता है । ऐसी जगह पर अपने रीति-रिवाज भी कैसे अपनाये जा सकते हैं ? फिर इन कर्मचारियों की न तो इन रिवाजों में आस्था होती है और न ही वे इनकी जरूरत समझते हैं । वे तो इस बात को लेकर भी संवेदनशील नहीं होते कि ये रिवाज रोगी और उसके परिजनों के लिए महत्त्वपूर्ण हैं ।

जच्चा और उसके परिवार वालों को लगता है कि ऐसे रवैये और रीति-रिवाज न करने से देवी-देवताओं का अपमान होगा । अजनबी माहौल के इस भय में एक और भय जुड़ जाता है — दैवी शक्तियों की नाराजगी का भय । इसलिए जचकी के मामले में अधिकांश लोग वही प्रणाली अपनाते हैं जो उनकी सारी जरूरतें पूरी करे । यदि जचकी में गड़बड़ी हो जाए, तो जच्चा की जान बचाने की खातिर, लोग कुछ समय के लिए रीति-रिवाज छोड़ने को भी तैयार हो जाते हैं । शक्तिशाली दवाइयों और तकनीकों से लैस आधुनिक प्रणाली को इसी कारण अपनाया जाता है । इस फैसले के कारण जो दैवी शक्तियां नाराज होंगी उन्हें बाद में उपयुक्त अनुष्ठान करके मना लिया जाएगा ।

संक्षेप में, जहां एक से अधिक स्वास्थ्य प्रणालियां मौजूद हों, वहां बीमारी और उसके कारणों की समझ के आधार पर लोग किसी एक प्रणाली को चुनते हैं । इस प्रणाली का निरंतर इस्तेमाल इस बात पर निर्भर है कि कितनी कारगर और संतोषजनक है । अन्ततः संभव है कि लोग विभिन्न प्रणालियों की उपयोगी बातों का इस्तेमाल करने लगें ।

तीन

राधा को दवाखाने में काम करते हुए सात महीने हो चले थे। मासिक दौरे के समय संयोजक चन्दर जी ने सुझाव दिया कि राधा और चमेलीबाई को गांव का चक्कर भी लगाना चाहिए। चन्दर जी ने बताया कि आस पास के गांवों में सहकारी समितियां बनाने की योजना है। अच्छा होगा कि साथ में कुछ स्वास्थ्य कार्यक्रम भी चले। उनसे पता चला कि पैसे के लिए कोशिश की जा रही है और शायद कुछ वाहन मिल जाएंगे। पर उससे पहले राधा आस पास के गांवों में पैदल जाना शुरू कर सकती है। उन्होंने कहा कि वे राधा का परिचय इन गांवों के प्रमुख व्यक्तियों से करा देंगे। चमेलीबाई लोगों से उसका मेलजोल करवाने में मदद करेगी। तो यह तय हुआ कि राधा सुबह 9 बजे से दोपहर 1 बजे तक दवाखाना चलाएगी और शाम को चमेलीबाई के साथ गांव जाएगी। गांव में वह रोगियों का इलाज करेगी और स्वास्थ्य शिक्षा का काम भी करेगी।

अब तो राधा और चमेलीबाई गांव में घर-घर जाने लगी। शुरू में राधा को यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि गांव में इन्सान और पशु एक ही कमरे में सोते हैं। उसने देखा कि छोटे-छोटे बच्चे धूल में खेलते हैं और धूल सने हाथ मुंह में भी डालते रहते हैं और बड़े लोग उन्हें रोकते तक नहीं। उसने यह भी देखा कि कुछ लोग उस गन्दे नाले का पानी भी पीते हैं जिस पर से वे अक्सर गुजरती है।

एक दिन राधा दवाखाना बन्द करने को थी कि चमेलीबाई हड़बड़ाई सी वहां पहुंची। उसी हड़बड़ाहट में उसने बताया कि एक आदमी को बैलगाड़ी से दवाखाने ला रहे हैं। उसे एक बैल ने सींग मार दिया था। उसकी जांघ में गहरा घाव है। राधा अभी बात को समझने की कोशिश ही कर रही थी कि घायल आदमी को ले आया गया। यह पहला गम्भीर मरीज था जिसको राधा को खुद ही संभालना पड़ा। कांपते हाथों से उसने जांघ पर से कपड़े हटाए और घाव की जांच की। खून बहुत ज्यादा बह रहा था और टांकों की जरूरत थी। घाव को साफ करके मरहम पट्टी करते हुए उसने मरीज के साथियों को बताया कि उसे प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र (पी. एच. सी.) ले जाना होगा। जल्दी से जल्दी पी. एच. सी. पहुंचने को कहकर वह खुद भी साथ हो ली।

रास्ता खत्म होने का नाम ही नहीं ले रहा था। राधा चिन्तित होकर बार-बार मरीज को देख रही थी। उसे ऐसी चोट का कोई तजुर्बा नहीं था। वह तो बस डाक्टर के पास पहुंचने की चिन्ता में डूबी थी। जैसे ही वे पी. एच. सी पहुंचे, राधा डाक्टर को ढूंढने के लिए दौड़ी। जब एक आदमी ने उसे बताया कि डाक्टर घर पर आराम कर रहे हैं, तो उसे झटका लगा। मालूम पड़ा कि वे एक घण्टे बाद आएंगे और तब तक इन्तजार के सिवाय कुछ नहीं किया जा सकता। तब तक मरीज को अन्दर ले आया गया था। मरीज की हालत देखकर वह आदमी जाकर डाक्टर को बुला लाने के लिए राजी हो गया।

डाक्टर जब टांके लगाने की तैयारी करने लगा तो राधा एक बार फिर अचरज में पड़ गई। न तो उसके पास टांके लगाने की सामग्री थी और न ही ऑटोक्लेव काम कर रही थी। पर डाक्टर ने बेझिझक होकर बिना कीटाणुरहित किये धागे से घाव को सिल दिया। परन्तु राधा को यकीन नहीं हुआ कि पी. एच. सी. में टिटेनस का टीका तक उपलब्ध नहीं है। डाक्टर ने मरीज से टीका खरीदकर किसी प्राइवेट डाक्टर से लगवा लेने का कह दिया। उन लोगों ने डाक्टर का शुक्रिया अदा किया और वापस जाने की तैयारी करने लगे। उन्हें ऐसा बिल्कुल नहीं लगा कि उनके साथ कोई गलत बर्ताव हुआ हो। राधा उन्हीं के साथ लौटी मगर उसे वापसी की लम्बी यात्रा का कुछ ख्याल नहीं रहा। उसे बिल्कुल अन्दाज नहीं था कि चिकित्सा पाने में लोगों को इस कदर दिक्कतें होती हैं। उसे शहर के अस्पताल का ख्याल आया वहां टांके लगाने के उपकरण, कीटाणु रहित पट्टियों, टिटेनस का इंजैक्शन, जैसी चीजों की कोई कमी नहीं है। वह यह सोचती रही कि यदि मरीज सचमुच गम्भीर स्थिति में होता, तो ?

देहाती इलाकों में लोगों को बेहतर चिकित्सा सुविधाएं क्यों नहीं मिल पातीं ?

3 : देहाती इलाकों में लोगों को बेहतर चिकित्सा सुविधा क्यों नहीं मिल पाती ?

यह एक आम धारणा है कि देहाती इलाकों में चिकित्सा सुविधाएं अपर्याप्त हैं। भीड़-भाड़ वाले अस्पतालों, पी. एच. सी. में कर्मचारियों के अभाव या उपकेन्द्रों में सामग्री की कमी को देखकर यही अहसास बनता है। हकीकत में देश में स्वास्थ्य सेवाओं के हर पहलू में असंतुलन है। इस समस्या के कारणों में जाने से पहले हमें समस्या की गहराई को समझना होगा।

स्वास्थ्य सुविधाओं के पर्याप्त होने, न होने का अन्दाज हम इस बात से लगा सकते हैं कि लोगों की जरूरतें किस हद तक पूरी हो रही हैं। जरा गांव में बीमारियों के ढर्रे को देखें (क्योंकि हमारे देश की 73.87 प्रतिशत आबादी गांव में बसती है)। कई बीमारियां तो ऐसी हैं कि व्यक्ति कुछ दिनों में अपने आप ठीक हो जाते हैं और दवाइयों का कोई मतलब नहीं होता। कई बीमारियां ऐसी हैं जिनके निदान और इलाज का काम ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता ए. एन. एम. या नर्स जैसे प्रशिक्षित कार्यकर्ता ही कर सकते हैं। अलबत्ता कुछ बीमारियां जरूर ऐसी होती हैं जिनके लिए डाक्टर की सलाह और अस्पताल की जरूरत होती है। अनुमान है कि मात्र 10-20% मरीजों को ही इस तरह की जरूरत होती है।

लोगों की ये अलग-अलग जरूरतें तभी पूरी हो सकती हैं, जब स्वास्थ्य केन्द्र पर्याप्त संख्या में हों और घर से ज्यादा दूरी पर न हों। इन केन्द्रों में पर्याप्त संख्या में समुचित रूप से प्रशिक्षित कर्मचारी हों और दवाइयां व अन्य सामग्री खरीदने के लिए केन्द्रों के पास धन होना भी जरूरी है।

आइये, इन सारे पहलुओं पर गौर करें।

स्वास्थ्य संस्थाएं

लोगों की सबसे बड़ी जरूरत बुनियादी स्वास्थ्य सुविधाओं की है। इस जरूरत को पूरा करने के लिए सरकार ने देश भर में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र (पी. एच. सी.) और उपकेन्द्र खोले हैं। पी. एच. सी. का काम बीमारियों की रोकथाम व साधारण इलाज की सुविधाएं प्रदान करना है। इसमें 2 या 3 डाक्टर और 20-30 अर्द्ध चिकित्साकर्मी (पेरामेडिकल्स) होते हैं। हर पी. एच. सी. से जुड़े 8-10 उपकेन्द्र होते हैं। इनमें एक ए. एन. एम. होती है। ये संस्थाएं जिला अस्पताल से जुड़ी होती हैं। जरूरत होने पर वे मरीजों को जिला अस्पताल भेज सकती हैं। सवाल यह है कि क्या हमारे देश में ऐसी पर्याप्त संस्थाएं हैं ?

पी. एच. सी. एवं उपकेन्द्र

	पी. एच. सी.	उपकेन्द्र
1983 में कुल संख्या	5,995 (लगभग 87,000 लोगों पर एक)	65.643 (लगभग 11,000 लोगों पर एक)
सन् 2000 का सरकारी लक्ष्य	मैदानी इलाकों में हर 30,000 पर और आदिवासी या पहाड़ी इलाकों में हर 20,000 पर एक पी. एच. सी.	मैदानी इलाकों में 5,000 लोगों पर और आदिवासी या पहाड़ी इलाकों में 3,000 लोगों पर एक
कुल आवश्यकता	23,000	1,37,000
मार्च 1994 तक कुल केन्द्र	21,155	1,31,471
उपलब्धता	30,000 लोगों के लिए लगभग एक पी. एच. सी.	5,000 लोगों के लिए लगभग 1 उपकेन्द्र
भवनों की संख्या (1-4-85)	8578	33475
7 वीं पंचवर्षीय योजना के अन्त तक (1985-90) अपने भवनों का प्रतिशत	80%	40%

स्रोत : वार्षिक प्रतिवेदन 1994-95, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार एवं स्वास्थ्य सूचना, भारत सरकार 1982 और 1983.

सन् 1983 एवं सन् 1994 के बीच पी. एच. सी. की संख्या में चार गुना तथा उपकेन्द्रों की संख्या में दो गुना वृद्धि हुई है। यद्यपि देखने में तो लगता है कि सरकार ने सन् 2000 तक के लिए जो लक्ष्य निश्चित किए थे वे सन् 1990 में ही पूरे हो गए पर वास्तव में पी. एच. सी. केन्द्रों तथा उप केन्द्रों की यह वृद्धि देश की जरूरतों को

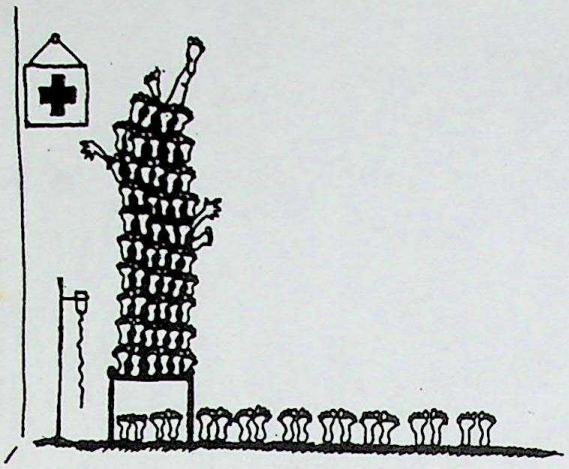

देखते हुए बहुत ही कम है। केन्द्रों के एक अध्ययन के अनुसार केवल दस से पन्दरह प्रतिशत आबादी तक ही प्रेरित कर्मचारी सेवा के लिए पहुंच पाते हैं। आज की स्थिति में यदि देश की सम्पूर्ण ग्रामीण आबादी को मूल स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध करानी है तो सरकार को पी. एच. सी. और उपकेन्द्रों की संख्या में कई गुना वृद्धि करनी होगी, पर सरकार के पास ऐसी कोई योजना भविष्य के लिए नहीं है। स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय के 1994-95 के वार्षिक कार्य विवरण के अनुसार धन की कमी के कारण सन् 1990 के बाद पी. एच. सी. तथा उपकेन्द्रों की संख्या में वृद्धि के कोई लक्ष्य नहीं रखे गए।

दी हुई तालिका से स्पष्ट है कि सन् 1990 के अन्त तक सरकार पी. एच. सी. के लिए 80 प्रतिशत और उप केन्द्रों के लिए 40 प्रतिशत भवन निर्माण का लक्ष्य रखती थी, पर सरकार के कार्य विवरण से यह स्पष्ट नहीं होता कि ये भवन बनाए गए या नहीं, यह भी संभव है कि बहुत से नए पी. एच. सी. तथा उपकेन्द्र केवल कागज में ही मौजूद हों पर वास्तविकता में तो उनका अस्तित्व ही न हो।

रेफरल अस्पताल

ऐसा अनुमान लगाया गया है कि प्रति 500 आबादी पर 1 बिस्तरा होने से हमारे देश में अस्पताल में भर्ती करने की जरूरत पूरी हो सकती है। 1992 में 1318 लोगों पर सिर्फ 1 बिस्तरा उपलब्ध था। यह वैसे ही नाकाफी है पर देहाती इलाक़ों में हालत और भी बुरी है। नीचे की तालिका से पता चलता है कि अलग-अलग प्रान्तों में भी स्थितियों में काफी अन्तर है :

	पूरा राज्य	शहरी इलाका	ग्रामीण इलाका
केरल	382	233	495
महाराष्ट्र	708	308	3,993
उत्तरप्रदेश	2,942	618	43,136
उड़ीसा	2,189	381	8,204
बिहार	3,070	439	32,646
समूचा	1,318	2211	6,252

स्रोत : जनगणना 1991 श्रेणी-1, और हैल्थ इन्फार्मेशन ऑफ इण्डिया, भारत सरकार, 1992, के आधार पर तैयार की गई।

उपरोक्त तालिका से साफ है कि हर राज्य में चाहे वह कितना ही प्रगतिशील या पिछड़ा क्यों न हो, सभी राज्यों के शहरी इलाकों में, बिहार, उत्तर प्रदेश और उड़ीसा सहित आबादी के अनुपात के आधार पर हस्पतालों में अधिकतम बिस्तर उपलब्ध हैं, इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश या बिहार के ग्रामीण इलाकों से आने वाले किसी भी व्यक्ति को दूसरे राज्यों की तुलना में हस्पताल में दाखिला पाने के अवसर कम होते हैं। आबादी के अनुपात के आधार पर केरल राज्य ही एक ऐसा राज्य है जहां अधिकतम बिस्तरे उपलब्ध हैं। ऐसा बदलाव पिछले दस बरसों में ही यहां आया है। सन् 1981 में केरल के ग्रामीण क्षेत्रों में अनुपात 956 था।

प्रशिक्षित कर्मचारी

यदि हम यह बात ध्यान में रखें कि इस देश की सबसे बड़ी जरूरत बुनियादी स्वास्थ्य सुविधा की है, तो समझ सकते हैं कि हमें ए. एन. एम., नर्सों और महिला स्वास्थ्य विजिटर (एल. एच. बी.) की ज्यादा जरूरत होगी। चूंकि बहुत थोड़े लोगों को डाक्टरों और विशेषज्ञों की जरूरत पड़ती है इसलिए यह मानना स्वाभाविक होगा कि हमें डाक्टर और विशेषज्ञ थोड़े चाहिए।

परन्तु यदि स्वास्थ्य कर्मचारियों के आंकड़ों पर निगाह डालें तो पता चलता है कि ये हमारी जरूरत के बिलकुल विपरीत हैं। 1990 में स्थिति कुछ ऐसी थी :

	ए. एन. एम.		1,50,431
	नर्सें		3,11,235
	डाक्टर		3,81,900
1990 में	2083 लोगों पर एक डाक्टर	2719 लोगों पर एक नर्स	5626 लोगों पर एक ए. एन. एम.

स्रोत : हैल्थ इन्फार्मेशन ऑफ इण्डिया भारत सरकार, 1992, के आधार पर तैयार।

यदि आप यह ध्यान में रखें कि 70-80% डाक्टर और 90% नर्सें शहरी इलाकों में काम करते हैं और 80% ए. एन. एम. देहाती इलाकों में तो ये आंकड़े और भी बहुत कुछ कह डालते हैं।

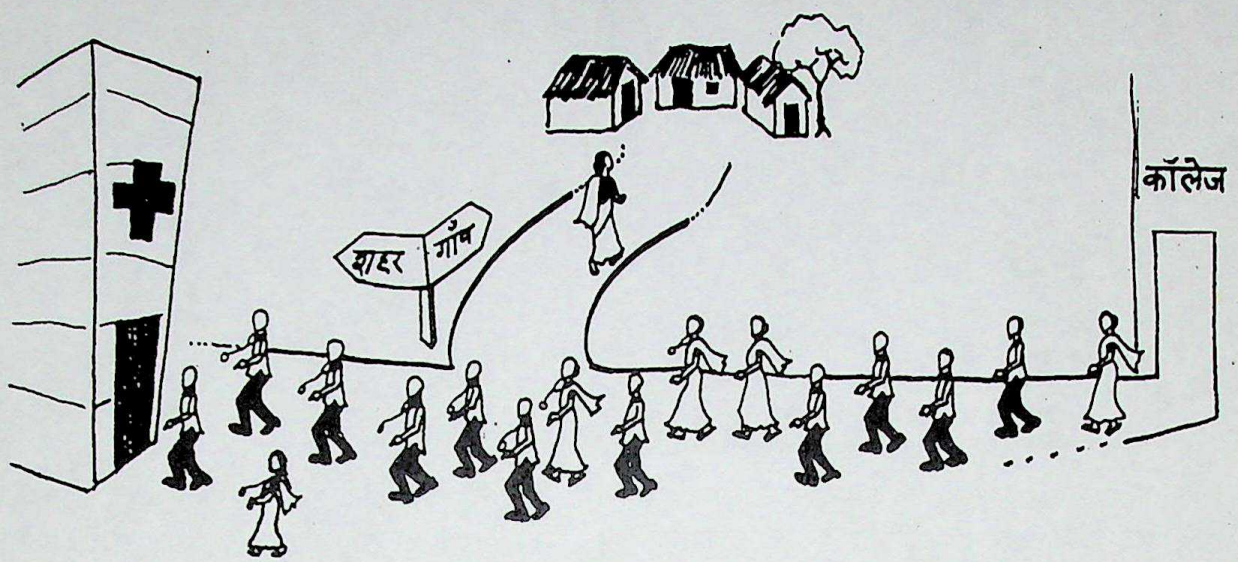

सन् 1946 में भारत में स्वास्थ्य सुविधाओं के विकास की योजना बनाने के लिए भोर समिति का गठन किया गया था। इस समिति ने सिफारिश की थी कि 1971 तक देश में 500 व्यक्तियों पर एक नर्स का लक्ष्य होना चाहिए। इस समिति की सिफारिशों के मुताबिक अगले 30-40 सालों में (यानि 1980 तक) हमारे देश में स्थिति यों होनी थी :

2,33,650	डाक्टर
6,80,000	नर्सें
1,12,500	दाइयां

इन सिफारिशों और विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुमान के अनुसार हमारे देश में डाक्टर ज्यादा हैं जबकि नर्सों की संख्या में भारी कमी है। फिर भी हमारे देश में नर्सों की बनिस्पत ज्यादा डाक्टर प्रशिक्षित किए जा रहे हैं।

एक साल में प्रशिक्षित ए. एन. एम.	5,572
एक साल में प्रशिक्षित नर्सें	8,144
एक साल में प्रशिक्षित डाक्टर	12,170

(ये आंकड़े 1981-82 के हैं।)

एक अनुमान के मुताबिक, यदि सरकार देश को स्वास्थ्य सुविधा देना चाहती है, तो 1981 से 1985 तक हर साल 15,321 ए. एन. एम. को प्रशिक्षण देना होगा। सन् 1986 में हमने लिखा था "वर्तमान संख्या (5,572) को देखते हुए यह असंभव ही लगता है कि 275% की वृद्धि इतने कम समय में हो सकेगी।"

लगता है सरकार ने वह सब कर दिखाया जो बिलकुल असंभव था। सन् 1985-86 के दर्म्यान ए. एन. एम. की संख्या में असाधारण वृद्धि हुई है, क्योंकि दूसरे कर्मचारियों की संख्या में कोई कटौती नहीं की गई, अन्तर पहले जैसा ही है, इसमें कोई बदलाव नही आया।

वर्ष 1989-90	
ए. एन. एम. जिन्हें प्रशिक्षित किया गया	12,377
नर्सें जिन्हें प्रशिक्षित किया गया	11,032
मिडवाइफ जिन्हें प्रशिक्षित किया गया	9,368
डाक्टर जिन्हें प्रशिक्षित किया गया	11,214

स्रोत : हैल्थ इन्फार्मेशन ऑफ इण्डिया, 1992, भारत सरकार।

पी. एच. सी. तथा उपकेन्द्रों में कार्यरत कर्मचारियों की संख्या पर ध्यान देने से कहानी का दूसरा ही रूप सामने प्रकट होता है। सन् 1991 में पी. एच. सी. केन्द्रों में डाक्टरों के 15% स्थान रिक्त थे, सारे देश में रिक्त स्थानों की संख्या समान नहीं थी। उत्तर प्रदेश में केवल 60% स्थान भरे गए थे। केरल, बिहार और तमिलनाडु ही ऐसे राज्य थे जहां सभी स्थान भरे हुए थे। अगर देश के सभी केन्द्रों के रिक्त स्थान भरे हुए होते तो 30,000 की आबादी को केवल एक डाक्टर की सेवा उपलब्ध होती। आरंभ में पी. एच. सी. केन्द्रों की स्थापना के समय सोचा गया था कि हर केन्द्र में तीन डाक्टर उपलब्ध होंगे, पर सरकार ने नए केन्द्रों की स्थापना करते समय 3 डाक्टरों के बदले एक डाक्टर निश्चित् कर दिया। सन् 1983 और सन् 1990 के मध्य पी. एच. सी. केन्द्रों में यथेष्ट वृद्धि हुई, इसका स्पष्ट अर्थ है कि आरंभ में जो लक्ष्य निश्चित् किए गए थे वे केवल काग़जों तक ही सीमित रह गए और यह सारा कार्य कलाप निरर्थक था।

सन् 1991 में बड़े पी. एच. सी. एवं उपकेन्द्रों में विशेषज्ञ डाक्टरों के 30% पद रिक्त थे। उप केन्द्रों में ए. एन. एम. की संख्या कुछ अच्छी थी। सन् 1991 में देश के सभी पी. एच. सी. एवं उपकेन्द्रों में ए. एन. एम. कर्मचारियों के सभी स्थान भरे हुए थे केवल बिहार राज्य

को छोड़कर, यहां सन् 1991 में 25% स्थान रिक्त थे। एक ए. एन. एम. के द्वारा लगभग 5600 व्यक्तियों को उसकी सेवा का लाभ पहुंच रहा था।

यह कहने से ही वास्तविकता का पूरा चित्र नहीं उभरता कि ग्रामीण केन्द्रों के सभी स्थान भरे हुए हैं, वास्तविक चित्र तो इन केन्द्रों में उनकी उपस्थिति एवं उनके द्वारा रोजाना किए गए काम से उभरता है।

बात इतनी सी है कि यदि देहातों में बुनियादी स्वास्थ्य सुविधा मुहैया करनी है तो इन इलाकों में ज्यादा ए. एन. एम. और डाक्टर तैनात करने होंगे। हम ऊपर देख ही चुके हैं कि देश में ए. एन. एम. की घोर कमी है। दूसरी ओर पर्याप्त डाक्टर तो हैं पर ये देहातों में काम नहीं करते।

दवाओं और उपकरणों के लिए पैसा

दवाओं और उपकरणों के लिए धन स्वास्थ्य के मद से खर्च होता है। अव्वल तो भारत में स्वास्थ्य के लिए बजट में ही पैसा कम रखा जाता था। पहली पंचवर्षीय योजना (1951-56) के बाद से यह और भी कम कर दिया गया। जब स्वास्थ्य का बजट कम होगा तो कुछ चीजों में कटौती करनी ही पड़ेगी। चूँकि वेतन में कटौती नहीं की जा सकती, इसलिए आमतौर पर, दवाओं, उपकरणों, वाहनों, भवनों, जैसी चीजों में कटौती होती है। फिर शहरों के मुकाबले देहातों में ज्यादा कटौती होती है। "सबके लिए स्वास्थ्य" नामक रिपोर्ट से इस बात की पुष्टि होती है। इसमें कहा गया है कि स्वास्थ्य खर्च का अधिकांश हिस्सा शहरी इलाकों में होता है और इससे समाज का 20-30 प्रतिशत ऊपरी तबका ही लाभान्वित होता है।

महाराष्ट्र सरकार द्वारा राज्य की स्वास्थ्य सुविधा के अध्ययन के लिए गठित एक समिति ने भी इसी तरह की बात कही है। समिति का कहना है कि राज्य के कुल स्वास्थ्य खर्च (15.6 करोड़ रुपये) में से 80 प्रतिशत सिर्फ तीन बड़े शहरों (बम्बई, पुणे, नागपुर) पर खर्च होता है, जबकि जिला मुख्यालयों पर 6.2 प्रतिशत, गांवों में 4.5 प्रतिशत और आदिवासी इलाकों में मात्र 0.5 प्रतिशत खर्च होता है। स्वास्थ्य पर प्रति व्यक्ति सालाना सरकारी खर्च बम्बई में 14.60 रुपये, पुणे में 12.17 रुपये, नागपुर में 8.09 रुपये था जबकि गांवों में मात्र 13 पैसे। यद्यपि ये आंकड़े सिर्फ महाराष्ट्र के हैं पर इनसे दूसरे प्रांतों की हालत का भी अन्दाजा लग जाता है।

अलग अलग पी. एच. सी. में दवाई का बजट अलग अलग है। सरकार के **न्यूनतम जरूरत कार्यक्रम** के मुताबिक, पांचवीं, पंचवर्षीय योजना (1974-1979) में प्रति पी. एच. सी. 12,000 रुपए और प्रति उपकेन्द्र 2,000 रुपए दवाई के लिए तय किए गए थे। आज एक औसत पी. एच. सी. और इसके उपकेन्द्र मिलकर करीब 1,00,000 लोगों की जरूरतें पूरी करते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि पी. एच. सी. के द्वारा हर व्यक्ति को सालाना 28 पैसे की दवाइयां दी जा सकती हैं। प्रतिजैविकी (एण्टीबायोटिक) दवाओं की पूरी खुराक भी इससे महंगी होती है। स्पष्ट है कि देहाती इलाकों में दवाइयों और उपकरणों के लिए अपर्याप्त धन रखा गया है।

सन् 1993 में महाराष्ट्र के सतारा जिले में यह जानने के लिए एक अध्ययन किया गया था कि किसी पी. एच. सी. की दवा सम्बन्धी क्या आवश्यकता है और उसे ये दवाएं प्राप्त भी होती हैं या नहीं। अध्ययन से ज्ञात हुआ कि एक पी. एच. सी. का वार्षिक क्रमिक खर्च 3,63,000 रुपए आता है जिस में दवाओं के लिए केवल 37,134 रुपए (10.2%) रखा गया है। इस राशि से तो केवल अर्ध चिकित्सा सुविधा ही प्राप्त हो सकेगी।

अभी तक हमने देखा कि संस्थाओं, कर्मचारियों और दवाओं की दृष्टि से स्वास्थ्य सुविधाएं अपर्याप्त हैं। प्रायः इसके लिए देश के सीमित संसाधनों को दोषी ठहरा दिया जाता है। **परन्तु यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि मौजूदा साधनों का उपयोग भी अधिकांश लोगों की जरूरतें पूरी करने के लिए नहीं किया जा रहा है।** हमें ये समझने की कोशिश करनी चाहिए कि ऐसा क्यों है ?

आजादी से पहले, ब्रिटिश सरकार ने, डॉ. जोसेफ भोर की अध्यक्षता में एक समिति गठित की थी। इस समिति को देश की स्वास्थ्य

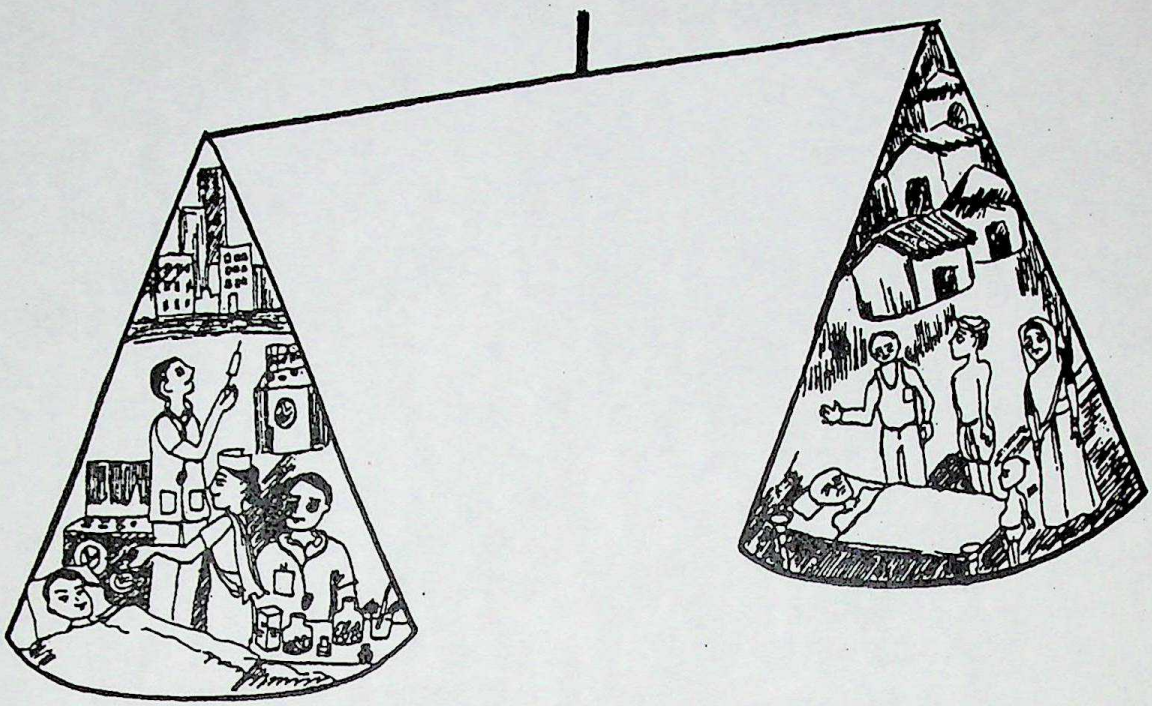

जरूरतों का अध्ययन करना था और बताना था कि इन्हें कैसे पूरा किया जा सकता है। 1946 में इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में सरकार से सिफारिश की थी कि :

- किसी भी व्यक्ति को चिकित्सा की सुविधा से इसलिए वंचित नहीं रहना चाहिए कि वह इसका दाम नहीं चुका सकता।
- देहाती इलाकों पर ज्यादा ध्यान दिया जाना चाहिए क्योंकि हमारी पूरी अर्थव्यवस्था खेतिहर आबादी पर टिकी है।
- स्वास्थ्य सुविधाएं लोगों के जितनी नजदीक हों, उतना अच्छा होगा।
- ज्यादा जोर बुनियादी स्तर के कर्मचारियों की ट्रेनिंग पर होना चाहिए। ये डाक्टरों से ज्यादा जरूरी है।

ये सिफारिशें करते हुए समिति ने वित्तीय सीमाओं को लगातार ध्यान में रखा था। अतः आजादी के बाद जब पहली पंचवर्षीय योजना बनी, तो सरकार के पास इस सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी मौजूद थी। परन्तु, शुरू से ही, जो योजनाएं बनीं, वे घोषित लक्ष्यों के विपरीत रहीं।

इसका एक कारण तो यह था कि हमारे **योजनाकार स्वास्थ्य सुविधा की पश्चिमी व्यवस्था** से बहुत प्रभावित थे। इस व्यवस्था में ऊँची लागत वाली, अस्पताल आधारित इलाज की सुविधा पर बड़ा जोर है और इलाज भी डाक्टरों द्वारा महंगे साधनों व उपकरणों की मदद से होता है। चूंकि धारणा यह थी कि रोग निदान व इलाज का काम सिर्फ डाक्टर ही कर सकते हैं, इसलिए डाक्टर तैयार करना पहली प्राथमिकता बन गई। नर्सों और अर्द्ध-चिकित्साकर्मियों को कम महत्त्वपूर्ण समझा गया। इसलिए इन कर्मचारियों के प्रशिक्षण पर भी कम ध्यान दिया गया।

डाक्टर बनाने के लिए बड़ी संख्या में विशाल शिक्षण-अस्पतालों की जरूरत थी जहां चिकित्सा के हर क्षेत्र में ट्रेनिंग हो सके और काफी मरीज भी आएं। इन अस्पतालों के निर्माण पर बहुत धन खर्च होना था। इसलिए सोचा गया कि ये घनी आबादी वाले शहरों में बनाए जाएं ताकि बड़ी संख्या में लोग इनसे फायदा उठा सकें। इस प्रकार से पाश्चात्य मॉडल अपनाने के कारण बहुत ज्यादा पैसा शहरी इलाकों में खर्च करना जरूरी हो गया है।

एक बार जब शहरी इलाकों में कुछ अस्पताल बन गए तो **उन्हें इस्तेमाल करने की जरूरत** बनाई गई। पहले लोग दवाखानों या पारिवारिक डाक्टर या साधारण डाक्टर से संतुष्ट हो जाते, वे ही अब छोटी-मोटी समस्याओं के लिए भी विशेषज्ञों की मदद चाहने लगे। जैसे-जैसे ज्यादा-ज्यादा लोग अस्पतालों का उपयोग करने लगे, वैसे-वैसे ऐसे और संस्थान शहरी इलाकों में बनाने की जरूरत बनती गई।

नफीस व महंगे उपकरणों से सुसज्जित अस्पताल खोलने के लिए **दवा कम्पनियों, उपकरण उद्योगों एवं डाक्टरों** ने भी दबाव डाला।

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का इलाज वाला पहलू पश्चिमी देशों में तेजी से विकसित हो रहा था। भारतीय डाक्टर भी इसके साथ कदम से कदम मिलाकर चलना चाहते थे। दवाओं और उपकरणों के निर्माताओं ने डाक्टरों को नई-नई चीजों का इस्तेमाल करने के लिए फुसलाया। इन दोनों कारणों से अस्पताल की सुविधाओं में लगातार बढ़ोतरी हुई। नतीजा यह हुआ कि शहरी इलाकों में अस्पताल की सुविधाएं मुहैया कराने में ज्यादा से ज्यादा धन लगने लगा।

इसी दौरान डाक्टर भी चिकित्सा व्यवसाय को पैसा कमाने का धन्धा समझने लगे। **प्राइवेट प्रैक्टिस** पर कोई बन्दिश नहीं थी। अतः डाक्टर अपना ज्ञान और हुनर अपनी शर्तों पर बेच सकते थे। ऊँची-ऊँची फीस को उचित ठहराने के लिए इन डाक्टरों को अपनी क्षमता का प्रदर्शन करना होता था। इसके लिए ये लम्बी चौड़ी निदान प्रक्रिया और तेज दवाओं का सहारा लेने लगे। इससे स्वाभाविक रूप से चिकित्सा महंगी हो गई और सिर्फ अमीर लोग ही इसका खर्च उठा सकते थे। चूंकि अधिकांश अमीर लोग शहरी इलाकों में हैं इसलिए डाक्टर भी शहरों में ही प्रेक्टिस करना पसंद करते हैं।

जब शहरी इलाकों में यह सब चल रहा था, तब देहातों में भी आधुनिक चिकित्सा केन्द्र और उपकेन्द्र बनाए जा रहे थे। पर यह काम उसी गति से नहीं हो रहा था, जितनी गति से शहरों में अस्पताल बन रहे थे। भोर समिति ने सिफारिश की थी कि देहाती इलाकों की जरूरतें पहले पूरी करनी चाहिए मगर सरकार ने इसे जरूरी नहीं समझा। इसलिए ऐसा नहीं हुआ कि पहले निर्धारित संख्या में पी. एच. सी. और उपकेन्द्र बनाए जाएं और फिर बाकी बचे पैसे से अस्पताल खुलें। हुआ यह कि अस्पताल बनने के बाद बचे पैसे से देहाती स्वास्थ्य सुविधाएं बनाई गई। ऐसा क्यों हुआ ? यह समझना आसान है क्योंकि सारे उच्च **प्रशासन और योजना निर्माता** खुद शहरी अमीर तबके के लोग हैं और इनका स्वार्थ भी इस में था कि शहरी इलाकों में अस्पताल पहले बनें।

कुल मिलाकर **निष्कर्ष** यह है कि एक हद तक तो समूचे देश में स्वास्थ्य सुविधाओं की कमी है। परन्तु यह कमी देहाती इलाकों में कहीं ज्यादा है। यह असंतुलन संसाधनों की कमी के कारण नहीं है। इसका मूल कारण तो यह है कि देहाती इलाकों की लगातार उपेक्षा की गई है कि जबकि अधिकांश आबादी वहीं बसती है। स्वास्थ्य सेवा के पश्चिमी मॉडल और समाज के कुछ ताकतवर तबकों के निहित स्वार्थों ने मिलकर इस असंतुलन को बहुत गंभीर बना दिया है। *(स्वास्थ्य प्रणाली को प्रभावित करने में विभिन्न ताकतवर तबकों की भूमिका के बारे में विस्तार से चर्चा के लिए खण्ड II देखें।)*

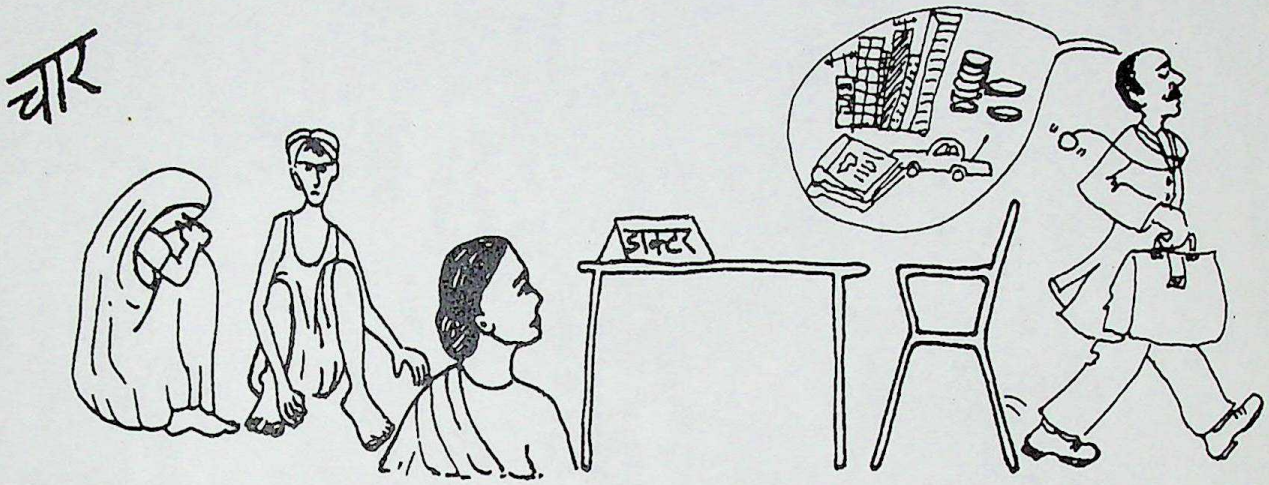

पिछले कुछ हफ्तों से राधा की जिन्दगी एक ढर्रे में बंधने लगी थी। सुबह के समय दवाखाने में मरीजों को देखना, दोपहर को थोड़ा विश्राम और शाम को चमेलीबाई के साथ गांव निकल जाना।

वह गांव के लोगों के तौर-तरीकों की आदी हो चली थी हालांकि कई चीज़ें उसे समझ में नहीं आती थीं। उसके दिमाग में हजारों प्रश्न आते जिन्हें पूछना चाहती थी। यह सोचकर अपने आपको रोक लेती थी कि अभी किसी-से उसकी इतनी घनिष्ठता नहीं हुई है। जैसे वह जानना चाहती थी कि लोग रोज अनाज क्यों पीसते हैं? या नाले में नहाते हुए औरतों को कैसा लगता है? यदि उसी समय कोई आदमी वहां आ जाए, तो? लोग बच्चों को भी ढोर चराने अकेला कैसे भेज देते हैं?

गांव की औरतों में भी राधा को लेकर कौतूहल था। सबसे पहले तो वे जानना चाहती थी कि राधा ने शादी क्यों नहीं की है? राधा के लिए इसका जवाब देना मुश्किल था। यह समझाने में भी उसकी रुचि नहीं थी कि वह गांव में क्यों काम करती है। इन विषयों में बातचीत को वह जल्दी से जल्दी निपटाकर काम में लग जाती थी। अलबत्ता बीमारियों की रोकथाम का महत्त्व समझाने की उसने पूरी कोशिश की।

कभी-कभी उसे अपनी सहेलियों की खूब याद आती। उसे याद आतीं वे रातें जो उसने अस्पताल में नर्सों के साथ बातें करते, खिलखिलाते बिताई थीं। यहां उससे बात करने वाला कोई नहीं था, सिवाय परिवार वालों के। आजकल वह नियमित रूप से घर जाती थी। हां, चमेलीबाई से उसकी अच्छी दोस्ती हो गई थी। उसे चमेलीबाई अच्छी लगती थी, खासकर जिस ढंग से वह कहानियां सुनाती थीं वो उसे बहुत पसन्द थीं। चमेलीबाई किसी भी चीज को मजेदार बना देती थी। राधा को दवाखाने में, गांव के दौरे में और घर के काम में उससे बहुत मदद मिलती थी। पर राधा को लगता था कि वह फिलहाल चमेलीबाई से खुलकर बात नहीं कर सकती। अभी और जानना बाकी है। राधा ने बालवाड़ी शिक्षिकाओं से दोस्ती करने की कोशिश की पर उनके साथ ज्यादा समय साथ रहना मुश्किल था। दोपहर में जब राधा को फुरसत होती, तब बालवाड़ी शिक्षिकाएं काम में व्यस्त होतीं।

डाक्टर ही एक ऐसा व्यक्ति था, जिससे वह बातचीत कर सकती थी। परन्तु डाक्टर जब दवाखाने में आता तो काफी व्यस्त रहता और उसे हमेशा घर जाने की जल्दी पड़ी रहती। शुरू में वह डाक्टर से थोड़ी डरती भी थी। बहरहाल, पिछली बार डाक्टर ने बताया कि उसे पास के शहर में नौकरी मिल गई है और वह जल्दी ही चला जाएगा। इस खबर से राधा ज्यादा परेशान नहीं हुई। उसने सोचा कि संस्था आसानी से दूसरा डाक्टर ढूंढ़ लेगी। उसने अखबारों में पढ़ा था कि बहुत सारे डाक्टर बेरोजगार हैं।

परन्तु दिन, हफ्ते, महीने बीत गए। राधा की चिन्ता बढ़ने लगी। बिना डाक्टर के कुछ दिन चलाना ठीक है, पर इतने लम्बे समय तक? मान लो किसी मरीज को कुछ हो गया? वह किससे पूछेगी? **क्या सचमुच कोई डाक्टर इस इलाके में काम नहीं करना चाहता? उसे अजीब लगा।**

4 : डाक्टर देहाती इलाकों में क्यों नहीं जाते ?

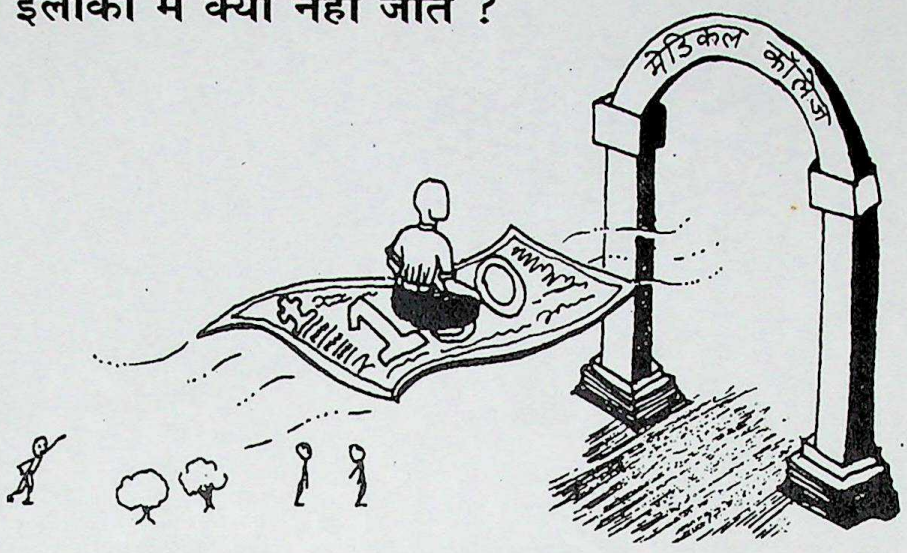

इस वक्त हमारे देश में डाक्टर और जनसंख्या का अनुपात विश्व स्वास्थ्य संगठन की सिफारिश के मुताबिक ठीक है। इसके बावजूद देहाती इलाकों में डाक्टरों की बहुत कमी है। शहरों में जहां 662 की आबादी पर औसतन एक डाक्टर है वहीं देहाती इलाकों में 8,333 की आबादी पर एक डाक्टर है।

डाक्टर शहरी इलाकों में काम करना ज्यादा पसन्द करते हैं। यह कोई नई बात नहीं है। 1946 में भी भोर समिति ने पाया था कि शहरी और देहाती इलाकों के बीच डाक्टर जनसंख्या अनुपात में भारी अन्तर है। यह अन्तर देश के अलग-अलग हिस्सों के बीच भी मौजूद है। उस समय यह सोचा गया था कि शायद यह स्थिति डाक्टरों के अभाव के कारण है। समिति का सोचना था कि ढेर सारे डाक्टर तैयार करके, उन्हें देहातों में सरकारी नौकरियां देकर देहाती क्षेत्रों में डाक्टरों की संख्या बढ़ाई जा सकेगी।

25 साल बाद (यानि 1970 के आसपास) भी, दुर्भाग्यवश, स्थिति वहीं की वहीं रही। इन वर्षों में मेडिकल कॉलेजों और डाक्टरों की संख्या में जर्बदस्त बढ़ोतरी हुई मगर देहातों में ढेर सारे सरकारी पद खाली पड़े रहे। उदाहरण के लिए 1972 में कुल 5192 प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र (पी. एच. सी.) थे। सरकार ने प्रत्येक पी. एच. सी. के लिए 2-3 डाक्टरों की पोस्ट मंजूर की थी। परन्तु मात्र 2951 पी. एच. सी. में ही 2 डाक्टर कार्यरत थे। 2101 पी. एच. सी. में एक ही डाक्टर था और 140 पी. एच. सी. बिना डाक्टर के थे। इस वक्त पूरे देश की डाक्टर-जनसंख्या का अनुपात 4200 लोगों पर एक डाक्टर का था। उसी समय बम्बई, दिल्ली और कलकत्ता में मात्र 500 लोगों पर एक डाक्टर उपलब्ध था। अतः डाक्टरों की संख्या में लगातार वृद्धि और देहाती इलाकों में सरकारी नौकरियों के अवसरों ने भी डाक्टरों की पसंद को नहीं बदला। वास्तव में 1960 और 1970 के दशकों में तो बड़ी संख्या में डाक्टर विदेश चले गए।

देहाती इलाकों में काम करने को लेकर डाक्टरों की अनिच्छा की वजह कुछ और ही थी, और है। एक तो उनकी **सामाजिक** पृष्ठभूमि इसके लिए जिम्मेदार है। अधिकांश डाक्टर मध्यम या उच्च वर्गीय परिवारों के होते हैं। यही लोग अपने बच्चों को मेडिकल कॉलेजों में पढ़ाने का खर्च उठा सकते हैं। हालांकि मेडिकल शिक्षा का काफी खर्चा तो सरकार वहन करती है परन्तु इसके बाद भी विद्यार्थी को ट्यूशन फीस, होस्टल खर्च, किताबों और कभी-कभी केपिटेशन फीस पर काफी खर्च करना पड़ता है। फिर डाक्टर बनने तक बच्चा 23-24 साल का हो जाता है। इतने सालों तक खर्चा वहन कर पाना केवल समृद्ध परिवारों के बस की बात है। इसी कारण से गरीब परिवारों के बच्चे मेडिकल शिक्षा नहीं ले पाते।

1963-66 के बीच किए गए एक अध्ययन से पता चला था कि इन्टर्नशिप कर रहे (अर्थात् जिन विद्यार्थियों ने चिकित्सा शिक्षा समाप्त कर ली है) छात्रों में से 60 प्रतिशत ऐसे थे, जिनके पिता ने भी कालेज शिक्षा पाई थी। इनमें से अधिकांश के पिता या तो सरकारी नौकरी में थे, या व्यापार करते थे या खुद डाक्टर थे। ऐसे खानदानों के बच्चे स्वाभाविक रूप से शहरों में रहना पसन्द करेंगे। इनमें से अधिकांश शहरी जीवन के आदी होते हैं। वे ग्रामीण इलाकों में काम करना भला क्यों पसन्द करेंगे जहां घर की सुविधा नहीं है, बच्चों की शिक्षा का बन्दोबस्त नहीं है, और कोई सामाजिक जीवन नहीं है। इसके अलावा ऐसे परिवारों के लोगों में श्रेष्ठता का भी भाव होता है। इनमें प्रायः गरीबों के प्रति उदासीनता या अविश्वास की भावना होती है।

दूसरा कारण सफलता की **मध्यवर्गीय धारणा** से सम्बन्धित है। इन परिवारों के लिए सफलता का मतलब होता है बड़े-बड़े अस्पतालों में नौकरी करना, रिसर्च (शोध) करना, ज्यादा से ज्यादा डिग्रियां हासिल करना और ज्यादा से ज्यादा पैसा कमाना।

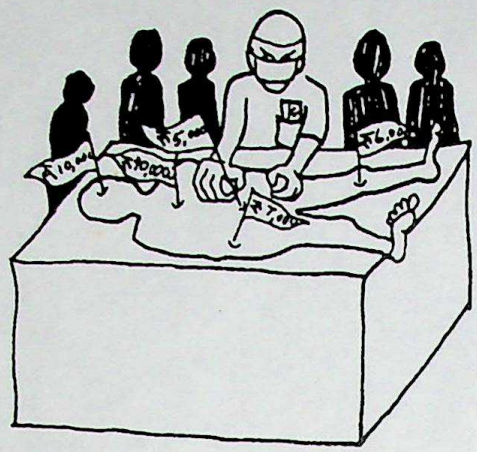

एक अध्ययन में ये धारणाएं साफ उभरकर आईं। इसमें पता चला कि इन्टर्न भावी कैरियर की दृष्टि से प्राइवेट प्रेक्टिस और किसी एक क्षेत्र में विशेषज्ञता प्राप्त करने को सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण मानते हैं। प्राइवेट प्रेक्टिस पैसा कमाने का बहुत बढ़िया तरीका है। हमारे देश में प्राइवेट डाक्टरों पर कानूनी या अन्य किस्म का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। ये जितनी मर्जी चाहे फीस वसूल कर सकते हैं। इसीलिए डाक्टर शहरी इलाकों में ही रहना ज्यादा पसन्द करते हैं जहां प्राइवेट प्रेक्टिस और विशेषज्ञता प्राप्ति, दोनों की गुंजाइश है।

उदाहरण के लिए 1978 में, 41 प्रतिशत डाक्टर प्राइवेट प्रेक्टिस में, 25 प्रतिशत सरकारी नौकरियों में (अधिकतर शहरी) और 10.5 प्रतिशत विदेशों में कार्यरत थे। नब्बे के दशक में 73 प्रतिशत डाक्टर प्राइवेट प्रेक्टिस में थे। आम लोग टैक्स के माध्यम से, अप्रत्यक्ष रूप से उनकी शिक्षा का खर्च उठाते हैं। पर उनके प्रति डाक्टर अपना कोई फर्ज नहीं समझते। दरअसल जब यह सुझाव दिया गया कि डाक्टर एक निश्चित अवधि के लिए देहाती इलाकों में काम करें, तो डाक्टरों ने इसका डटकर विरोध किया था।

पिछले कुछ सालों में डाक्टरों ने इस मांग को लेकर हड़तालें की हैं कि उन्हें सरकारी नौकरी दी जाए, चाहे देहाती क्षेत्र में ही सही। इससे पता चलता है कि उन्हें अपनी **निजी कमाई** की कितनी चिन्ता है। यह अजीब स्थिति इसलिए बनी है क्योंकि अचानक डाक्टर बेरोजगार हो गए हैं।

सन् 1990 में 30,447 डाक्टरों के नाम रोजगार दफ्तर में दर्ज थे। बेरोजगारी का कारण यह है कि देश में हर साल 10,000 डाक्टर तैयार होते हैं। शहरी क्षेत्रों की सरकारी नौकरियां भर चुकी हैं। प्राइवेट प्रेक्टिस में प्रतिस्पर्धा इतनी बढ़ गई है कि सम्पन्न प्राइवेट डाक्टरों ने महंगे नर्सिंग होम और क्लिनिक खोल लिए हैं। इनमें आधुनिक उपकरण उपलब्ध हैं। एक ही इलाके में इतने सारे डाक्टरों के लिए प्रेक्टिस करना भी मुश्किल है। कई देशों ने भारतीय डाक्टरों को प्रेक्टिस की अनुमति देना बन्द कर दिया है। इस कारण से अब कम डाक्टर ही विदेश जा पाते हैं। इन सबका मिला-जुला असर यह हुआ है कि शहरी क्षेत्रों में जरूरत से बहुत ज्यादा डाक्टर हो गए हैं। अब उनके पास एक ही रास्ता है कि सरकार पर दबाव डालकर नौकरियां प्राप्त की जायें, चाहे देहाती इलाके में ही सही।

अतः आर्थिक स्वार्थ के साथ-साथ सामाजिक मूल्य और सामाजिक पृष्ठभूमि के मिले-जुले असर के कारण ही डाक्टर देहाती इलाकों में काम करने के इच्छुक नहीं होते। अब वे देहाती इलाकों में काम करने के इच्छुक हुए हैं तो आर्थिक विवशता के कारण, न कि रुचि के कारण।

मेडिकल शिक्षा से भी उपरोक्त मूल्यों को मजबूती मिलती है। कॉलेज में पढ़ाई के समय ही विद्यार्थियों को 'डाक्टर' कहा जाता है और मरीज उन्हें बहुत सम्मान देते हैं। विद्यार्थी जल्दी ही यह मानने लगते हैं कि स्वास्थ्य के बारे में वे सब कुछ जानते हैं। इस कारण से डाक्टर मरीज के साथ उसकी समस्या के बारे में चर्चा करना या उसकी परिस्थिति को समझना जरूरी नहीं समझते। ज्ञान के कारण उनमें एक ताकत का अहसास बन जाता है। इस ताकत के एहसास के कारण मरीजों से सीधे मुंह बात तक नहीं करते और चाहते हैं कि उनके काम में पूर्ण आस्था रखी जाए। मरीजों को सिर्फ 'केस' समझा जाता है, पेरामेडिकल कर्मचारियों और नर्सों (जो डाक्टरों की अपेक्षा निम्न आर्थिक तबके के होते हैं) को तुछ समझा जाता है और विशेषज्ञता का गुणगान किया जाता है। इन सब बातों से मेडिकल छात्रों में श्रेष्ठता का अहसास मजबूत ही होता है।

फिर मेडिकल छात्र यह भी देखते हैं कि सीनियर डाक्टर आम मरीजों की अपेक्षा प्राइवेट मरीज पर ज्यादा ध्यान देते हैं। ये डाक्टर प्रायः नौकरी के साथ-साथ प्राइवेट प्रेक्टिस भी करते हैं। इसी के द्वारा वे तनख्वाह के अलावा ढेरों पैसा कमाते हैं। इस प्रकार से वरिष्ठ

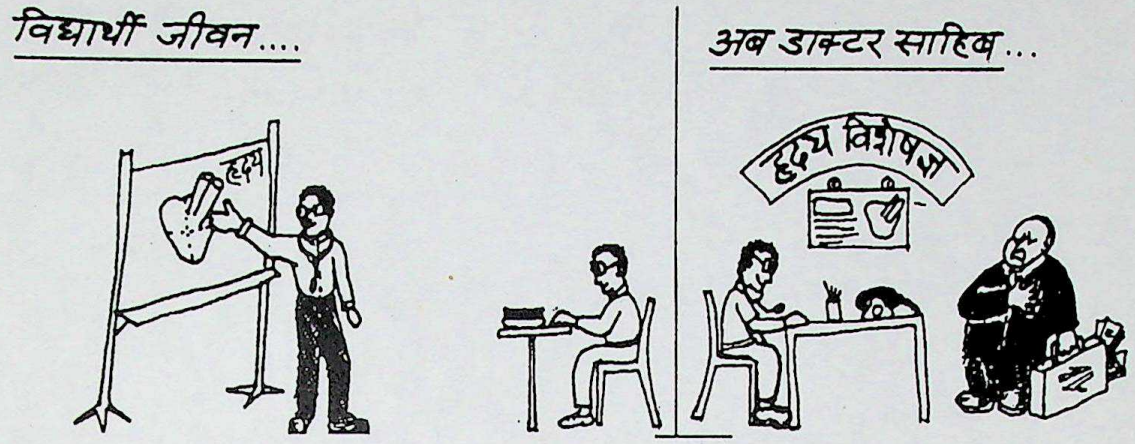

डाक्टरों और शिक्षकों के द्वारा किये जा रहे अनैतिक कार्य भी अनुकरणीय बन जाते हैं। प्रायः सामाजिक पृष्ठभूमि और चिकित्सा शिक्षा में निहित मूल्य मिलकर मेडिकल छात्रों को गरीबों से दूर कर देते हैं।

दूसरी ओर, मेडिकल शिक्षा की विषयवस्तु भी ऐसी है कि वो गरीबों से छात्रों का अलगाव बढ़ाती है। मेडिकल शिक्षा का बुनियादी उद्देश्य यह होना चाहिए कि देश की स्वास्थ्य समस्याओं से निपटने के लिए जरूरी ज्ञान व हुनर डाक्टरों को दिएं जाएं। परन्तु भारत में हालत यह है कि पढ़ाई पूरी कर लेने के बाद मेडिकल छात्रों को देश में सबसे ज्यादा होने वाली बीमारियों के बारे में बहुत कम जानकारी होती है। उन्हें जिन बीमारियों की जानकारी दी जाती है वे भारत में बहुत कम होती हैं।

उदाहरण के लिए एक औसत डाक्टर को टी. बी. या कोढ़ (कुष्ठ रोग) के बारे में बहुत कम जानकारी होती है जबकि ये हमारे देश की दो सबसे गम्भीर व प्रमुख बीमारियां हैं। इसके विपरीत विद्यार्थियों को हृदय रोग, दिल के दौरे या कैन्सर के बारे में विस्तार से बताया जाता है। ये बीमारियां उन बहुत थोड़े लोगों को होती हैं जो प्रायः शहरी और सम्पन्न वर्ग के होते हैं। आम बीमारियों की इस उपेक्षा का कारण शायद यही है कि आम का मतलब आसान या सरल माना जाता है और इसलिए उसका गहन अध्ययन जरूरी नहीं समझा जाता। शायद यह भी माना जाता है कि ऐसी आम बीमारियों का अध्ययन बौद्धिक तौर पर चुनौतीपूर्ण नहीं है। ऐसे रवैये का कोई आधार नहीं है जैसा कि नीचे के दो उदाहरणों से स्पष्ट है।

कोढ़ को एक आम बीमारी समझा जाता है। यह एक ऐसी बीमारी है जिसके बारे में काफी समय से पता है। परन्तु इसका टीका अभी हाल हीं में खोजा गया है। इसका भी परीक्षण अभी बाकी है। अभी तो यह भी नहीं मालूम है कि यह बीमारी फैलती कैसे है और शरीर की रोग प्रतिरोध क्षमता में यह किस तरह की प्रतिक्रियाएं पैदा करती है। इन प्रतिरोधक प्रतिक्रियाओं का वैज्ञानिक अध्ययन उतना ही चुनौती भरा हो सकता है जितना कि कैंसर का।

इसी प्रकार से दस्त भी बहुत 'आम' बीमारी है। परन्तु इसका कारगर इलाज, जीवनरक्षक घोल, अभी हाल में ही खोजा गया है। यह खोज चिकित्सा विज्ञान की किसी भी अन्य खोज के मुकाबले कम सनसनीखेज नहीं है।

यह सब होते हुए भी भारत की मेडिकल शिक्षा में कैन्सर और हृदयरोग जैसी नई-नई बीमारियों को महत्व देने का रवैया रहा है। इसका एक कारण तो यही है कि भारत में प्रचलित अधिकांश पाठ्य पुस्तकें विदेशों में लिखी जाती हैं। स्वाभाविक है कि इनमें उन बीमारियों पर ज्यादा ध्यान दिया जाएगा जो उन देशों में आम हैं। परिणामस्वरूप हमारे देश के डाक्टर, देश में व्याप्त बीमारियों से निपटने में पर्याप्त सक्षम नहीं होते। ये वो बीमारियां हैं जो खासतौर से गरीबों को ही होती हैं।

गरीब मरीजों से मेडिकल छात्रों के अलगाव का सबसे बड़ा कारण तो शायद यह है कि मेडिकल शिक्षा में अस्वस्थता के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक पहलुओं पर ध्यान नहीं दिया जाता। मेडिकल शिक्षा में मुख्यतया यह सिखाया जाता है कि एक बार बीमारी हो जाने पर उसका इलाज कैसे किया जाए। उन सामाजिक हालातों को समझने की कोशिश नहीं की जाती, जो इन बीमारियों की जड़ में हैं। न ही इस बात के अध्ययन पर जोर दिया जाता है कि एक स्वस्थ पर्यावरण बनाने के लिए क्या-क्या करना होगा।

जो बीमारियां गरीबी या अभाव जैसे सामाजिक परिस्थितियों का नतीजा हैं, उनकी या तो उपेक्षा की जाती है या फिर कुछ समय के लिए 'काम चलाऊ' इलाज कर दिया जाता है। मसलन औरतों में एनीमिया (खून की कमी) या बच्चों में कुपोषण के मूल सामाजिक कारणों की उपेक्षा की जाती है। मेडिकल छात्रों को सिखाया जाता है कि इनका इलाज गोलियों या इन्जेक्शन या विटामिन से किया जा

सकता है । यह नहीं बताया जाता कि इलाज से उसी व्यक्ति को दोबारा वही बीमारी होने से रोका नहीं जा सकता ।

अतः मेडिकल छात्रों को बीमारी और सामाजिक परिस्थितियों के आपसी सम्बन्ध की कोई समझ नहीं होती । इसी कारण वे यह जानना कतई जरूरी नहीं समझते कि क्यों गरीब लोग भरपेट भोजन नहीं करते या क्यों वे बीमार होने पर तुरन्त इलाज नहीं करवाते । इस पहलू को बस इतनी मान्यता दी गई है कि मेडिकल पाठ्यक्रम में सामाजिक एवं रोकथाम चिकित्सा का एक विषय जोड़ दिया गया है। आज भी इस विषय को मात्र परीक्षा पास करने की दृष्टि से पढ़ा जाता है । बहुत थोड़े विद्यार्थी ही इस विषय को गम्भीरता से लेते हैं और यह समझ पाते हैं कि स्वास्थ्य के हालातों में सुधार की दृष्टि से इसका बहुत महत्त्व है ।

चिकित्सा शिक्षा के द्वारा विद्यार्थियों को इस तरह तैयार नहीं किया जाता कि वे देहाती स्वास्थ्य केन्द्रों की परिस्थिति में काम कर सकें । कॉलेज में उन्हें रोग निदान के लिए नाना प्रकार के नफीस साधनों का उपयोग करना सिखाया जाता है । अवलोकन, रोग के इतिहास और शारीरिक जांच के द्वारा रोग की पहचान करने के हुनर तो छात्र सीख ही नहीं पाते । जहां ऐसे उपकरण न हों, वहां ये छात्र तो पंगु साबित होते हैं ।

क्लिनिकल कक्षाओं के समय भी जानकारी देने पर ही समय लगाया जाता है । हरेक विद्यार्थी को हुनर सिखाने पर जोर नहीं होता । एक औसत डाक्टर में सामान्य बीमारियों का इलाज करने का भी आत्म-विश्वास नहीं होता । ये बुनियादी हुनर सीखने के लिए भी उन्हें स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में दाखिला लेना पड़ता है ।

अभी तक हमने देखा कि डाक्टर लोग, अपनी सामाजिक पृष्ठभूमि, मूल्यों एवं आर्थिक हितों के कारण देहातों में काम करना नहीं चाहते। मेडिकल शिक्षा इन मूल्यों को और पुख्ता करती है । मेडिकल शिक्षा डाक्टरों को हमारे देश में व्याप्त बीमारियों से निपटना भी नहीं सिखाती । न ही डाक्टर इस लायक बन पाते हैं कि महंगे उपकरणों के बिना चिकित्सा का काम कर पाएं ।

> सन् 1995-96 डाक्टरी की डिगरियां प्राप्त करने वाले युवा डाक्टरों की धारणा थी कि वे समाज में सबसे श्रेष्ठ हैं । इसलिए उन्हें आम जनता के पास जाने की जरूरत नहीं है। यदि वे ऐसा करने लगे तो जनता उन्हें वह सम्मान नहीं देगी जो हर डाक्टर को मिलना चाहिए । डाक्टरों का यह विचार भी था कि उन्हें बीमारियों के बचाव के काम से भी दूर रहना चाहिये । अगर बीमारियां ही नहीं होंगी तो वे कमाएंगे कैसे ? उनका तर्क था कि जीवन का सबसे अच्छा भाग तो उन्होंने पढ़ाई को पूरा करने में लगा दिया । पढ़ाई में खर्च भी खूब हुआ । अध्यापकों ने भी पढ़ाई और परीक्षा के दिनों में उन्हें खूब परेशान किया । डाक्टरी की डिगरियां भी उन्हें अनेक कठिनाइयों को पार करने के ही बाद मिलीं । इसलिए जनता को इन सब बातों की कीमत डाक्टरों को चुकानी चाहिए ।

इससे हम एक महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर पहुंच जाते हैं जिसे अक्सर छोड़ दिया जाता है । ऐसा मानकर चला जाता है कि डाक्टरों का देहाती इलाकों में काम करना अच्छी बात ही होगी । और, एक बार यदि देहातों में पर्याप्त डाक्टर पहुंच जाएं, तो वहां की जरूरतें पूरी हो ही जाएंगी । परन्तु यह बात हमेशा सही नहीं होती । हमने ऊपर देखा ही है कि **मेडिकल शिक्षा डाक्टरों को ग्रामीण क्षेत्र में काम करने के लिए तैयार नहीं करती** । न ही इससे छात्र गरीब लोगों की समस्या समझने के लिए तैयार हो पाते हैं । मेडिकल छात्रों को दिए जाने वाले प्रशिक्षण और उनसे अपेक्षित काम के बीच खाई है । प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र में कार्यरत एक डाक्टर के लिए नियत कार्य विवरण से यह बात साफ हो जाती है ।

"डाक्टर से अपेक्षा की जाती है कि उसमें ग्रामीण लोगों के प्रति सहानुभूति और उनके जीवन व आकांक्षाओं की गहरी समझ होगी। वह (गांव के) लोगों में घुल मिल जाएगा और उनको अपनी बात कहने के अधिकार और आकांक्षाओं को विकसित करेगा।

वह एक सामाजिक कार्यकर्ता और वैज्ञानिक के रूप में काम करेगा। वह अपनी पूरी ताकत बीमारियों की रोकथाम में लगा देगा और जब रोकथाम न हो पाये तो इलाज करने वाले की भूमिका अपना लेगा। उससे अपेक्षा की जाती है कि वह एक सामाजिक चिकित्सक होगा जो लोगों का बचाव करेगा और उन्हें सुखी व स्वस्थ जीवन के लिए मार्गदर्शन देगा।

अपेक्षा की जाती है कि वह नर्सों और अर्द्ध-चिकित्साकर्मियों की मदद से, मातृ एवं शिशु स्वास्थ्य तथा स्कूल जाने वाले विद्यार्थियों के स्वास्थ्य का ध्यान रखेगा और परिवार नियोजन के कार्यक्रम बनायेगा और संचालित करेगा। उससे यह भी अपेक्षा की जाती है कि वह सारी संक्रामक बीमारियों के नियंत्रण के उपायों की पूर्व तैयारी करके रखेगा और यदि ऐसी बीमारी का प्रकोप होता है तो उसे फैलने से रोकेगा। इसके अलावा उससे अपेक्षा की जाती है कि वह अर्द्धचिकित्सा कर्मियों की मदद से पर्यावरण स्वच्छता कार्यक्रम भी शुरू करेगा और इसका निरीक्षण करेगा।

उससे अपेक्षा की जाती है कि स्वास्थ्य शिक्षा कार्यक्रम को बढ़ावा देने के उद्देश्य से वह जिले के स्वास्थ्य अधिकारियों, स्कूल कर्मचारियों, स्वैच्छिक संस्थाओं एवं पंचायतों के साथ मिलकर काम करेगा। ग्राम स्वास्थ्य समितियों के गठन में प्रोत्साहन देने की भी उससे अपेक्षा की जाती है।

इस सबके अलावा उससे अपेक्षा की जाती है कि वह प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र के 20-30 कर्मचारियों का मार्गदर्शन व उनके कार्य का निरीक्षण करेगा और सब स्वास्थ्य रिकार्ड तैयार करेगा जो जिला स्वास्थ्य अधिकारियों के समक्ष प्रस्तुत किए जाएंगे।"

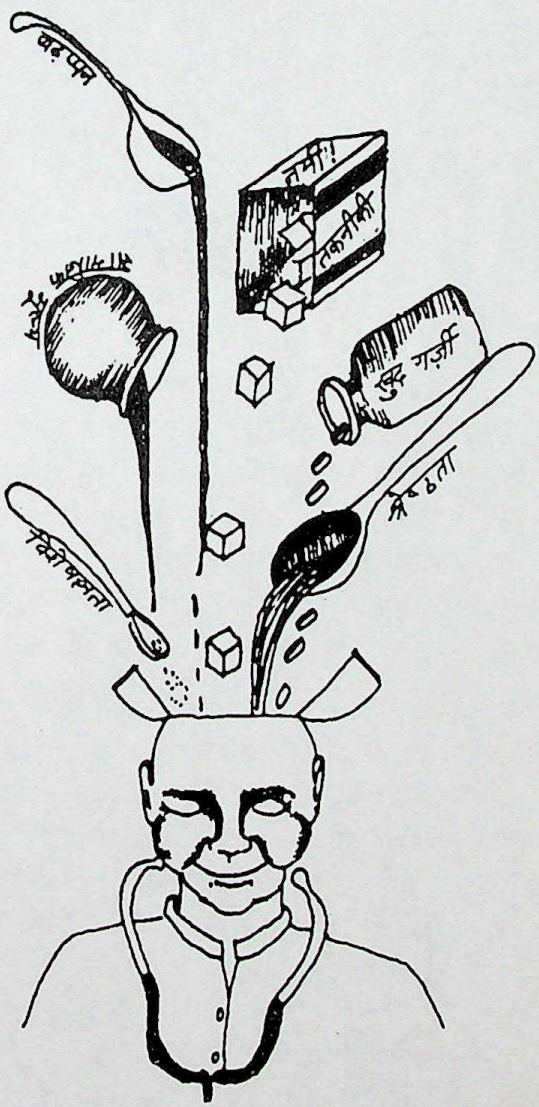

यह एकदम साफ है कि प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र का डाक्टर यह सब नहीं कर सकता। उनका पूरा रवैया, ज्ञान और हुनर एकदम अलग किस्म का है। उनकी शिक्षा ने उन्हें इन कामों के लिए तैयार ही नहीं किया है। अतः जिन कारणों की वजह से डाक्टर देहाती इलाकों में काम नहीं करना चाहते, ठीक उन्हीं कारणों से, वे इन इलाकों में बेकार साबित होंगे।

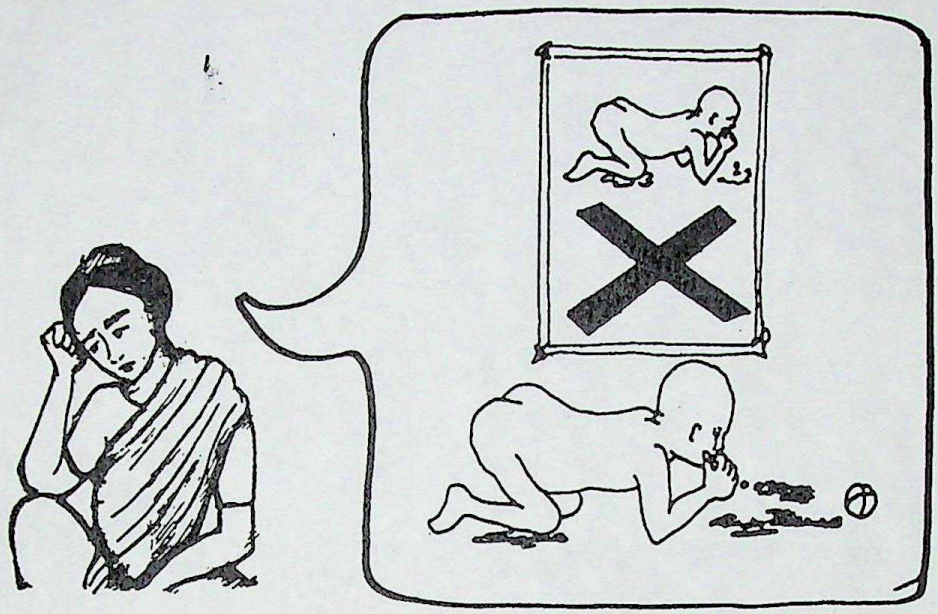

पाँच

चमेलीबाई देख रही थी कि डाक्टर के चले जाने के बाद से राधा में बदलाव आ गया है। जब मरीज दवाखाने में आते, तो कभी-कभी राधा के चेहरे पर चिन्ता झलकने लगती है। इस दौरान चमेलीबाई राधा के करीब आ गई थी। उसे लगता था कि "नर्सबाई सचमुच बहुत दयालु हैं। और कितनी छोटी हैं। गांव के लोगों को क्या पता कि नर्सबाई उनकी सेहत की कितनी चिन्ता करती है।"

राधा के साथ गांव जाना चमेलीबाई को अच्छा लगता था। वह गांव की बातें राधा को समझाने में फख्र महसूस करती। राधा को कई बातें पता ही नहीं थीं। चमेलीबाई को लगता था कि राधा कभी-कभी बहुत अजीब बातें पूछती है। और उसे कई बातें समझ में भी नहीं आती हैं। अभी कुछ ही दिन पहले की बात है। चमेलीबाई ने राधा को एक पेड़ पर लटकी कपड़े की पोटलियां और चिन्दियां दिखाकर बताया कि लोग मानते हैं कि ऐसा करने से उनके बच्चे होंगे। राधा ने इस बात को हंसकर टाल दिया था। चमेलीबाई को उस वक्त कतई अच्छा नहीं लगा था।

ऐसे मतभेदों के बावजूद चमेलीबाई और राधा में अच्छी पटती थी। चमेलीबाई राधा की यह बात मानती थी कि गांव में सफाई की बड़ी समस्या है। उनका मानना था कि लोग गंदगी और बीमारी का सम्बन्ध नहीं समझते। इसलिए राधा की बताई सेहत की बातें चमेलीबाई और अच्छी तरह से लोगों को समझातीं।

राधा लोगों को स्वास्थ्य शिक्षा देने का कोई मौका नहीं चूकती। जब कोई मां अपने बच्चे को इलाज के लिए लाती, तो राधा उन्हें समझाती कि बीमार बच्चे के लिए पर्याप्त भोजन और पानी कितना जरूरी है। घर-घर वह समझाती कि गड्ढों और डबरों में पानी भरा रहने से मच्छर होते हैं। यदि अच्छी नालियां बनाई जाएं, तो पानी भी नहीं इकट्ठा होगा और मच्छर भी नहीं होंगे। वह बताती थी कि खाने से पहले बच्चों के हाथ धुलवाना क्यों जरूरी है। उसने स्वच्छता और निजी साफ-सफाई का महत्त्व बार-बार लोगों को समझाया था।

लोग उसकी बातें ध्यान से सुनते। उसे घर बुलाकर चाय भी पिलाते। राधा को देखकर अच्छा लगा कि स्कूल शिक्षक और सरपंच के परिवार के कुछ लोगों ने उसकी सलाह मानकर कुछ किया भी है। उसको लगा कि खुद को बदलने के बाद अब ये लोग दूसरों पर भी असर डाल पाएंगे। राधा को मालूम था कि आदतें बदलना इतना आसान नहीं है। पर उसे लगता था कि समय बीतने के साथ सब कुछ हो जाएगा। धीरे-धीरे सब लोग उसकी बातों का महत्त्व समझकर अपनी आदतें बदल लेंगे।

समय बीतता गया पर ये चीज़ें वैसी की वैसी रहीं। गांव को देखकर उसे अपनी कोशिशें बेकार लगने लगीं। कुछ बच्चों और माताओं को टीका लगाने और आम बीमारियों का इलाज करने के अलावा वह कुछ नहीं कर पाई थी। लोग और उनका वातावरण पहले जितना ही गंदा था, बच्चे अभी भी कुपोषित थे और लोगों को एक ही बीमारी बार-बार होती थी। यदि लोग न सुनें, तो वह क्या करे ? **ये लोग सेहत सम्बन्धी साधारण-सी बातों को भी क्यों नहीं अपनाते ?**

5 : लोग सेहत सम्बन्धी साधारण बातें भी क्यों नहीं अपनाते ?

स्वास्थ्य कार्यकर्ता लोगों के जिन तौर-तरीकों और धारणाओं को सेहत के लिए हानिप्रद मानते हैं, उन्हें बदलवाने की कोशिश करते हैं। आमतौर पर इन तौर-तरीकों का सम्बन्ध पोषण, निजी स्वच्छता और साफ-सफाई से होता है। स्वास्थ्य-शिक्षा का आधार यही है कि व्यक्ति का स्वस्थ होना या न होना उसके खुद के अधिकार में है। उदाहरण के लिए, पर्याप्त भोजन लेकर व्यक्ति अपनी प्रतिरोध क्षमता बढ़ा सकते हैं। अपने परिवेश को साफ-सुथरा रखकर व्यक्ति अपने परिवार और पड़ोसियों को बीमारियों से बचा सकते हैं।

भारत में देहाती इलाकों में रहने वाले अधिकांश लोग आज भी यही मानते हैं कि उनके जीवन पर असर डालने वाली घटनाओं पर उनका कोई बस नहीं है। दूसरी ओर, स्वास्थ्य, शिक्षा का पैगाम यह है कि लोग बीमारी पर खुद काबू पा सकते हैं। इसलिए बहुधा लोग इस जानकारी को नहीं अपनाते। इसीलिए लोग सेहत सम्बन्धी अधिकतर बातें या तो सुनते नहीं या सुनकर भुला देते हैं। यदि इन बातों को मान लें, तो उन्हें अपने विश्वासों को बदलना पड़ेगा।

पिछले अध्याय में हमने देखा था कि हर समाज में, अनुभवों के आधार पर, कई मान्यताएं विकसित होती हैं। इन धारणाओं से घटनाओं के कारण समझने में मदद मिलती है। इन्हें उस समाज की 'विश्व दृष्टि' (दुनिया को देखने का नजरिया) कहा जा सकता है। इस विश्व दृष्टि में सेहत और बीमारी समेत जिन्दगी के सभी पहलू आ जाते हैं। जिन्दगी की समझ के आधार पर सामाजिक रीति-रिवाज बनते हैं। इन्हीं रिवाजों से लोगों का व्यवहार निर्धारित होता है। 'विश्व दृष्टि' के साथ-साथ, ये रिवाज भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते रहते हैं। समय के साथ इनका आधार तो गुम हो जाता है परन्तु लोगों के आचरण पर उनकी पकड़ बनी रहती है।

इन रिवाजों को चुनौती देने वाली किसी भी नई जानकारी को एक खतरा समझ जाता है। इसलिए आस्थाओं, रिवाजों और परम्पराओं को बदलने में समय लगता है। मगर परिवर्तन तो होता ही है। जैसे कई समाजों में यह माना जाता था कि बीमारी व अन्य प्राकृतिक विपदाएं पारलौकिक शक्तियों के प्रभाव से आती हैं। घटनाओं के क्रम को बदलने में मानव अशक्त है।

वैज्ञानिक सोच की शुरूआत के बाद से लगने लगा कि इन्सान जीवन की घटनाओं को वाकई नियन्त्रित कर सकता है। उस समय इस नए विचार ने पुराने विश्वासों को चुनौती दी और इसे एक खतरे के रूप में देखा गया। विज्ञान ने मानों खुद ईश्वर को भी चुनौती दे दी थी। नतीजतन विज्ञान में विश्वास करने वाले लोगों के खिलाफ एक प्रतिक्रिया पैदा हुई। परन्तु धीरे-धीरे यह साबित होता गया कि विज्ञान के जरिए कई बातों की व्याख्या की जा सकती है। अब इस नई जानकारी को अनसुना करना संभव नहीं था। इस नई जानकारी को सोच के पुराने तरीकों में खपाने के उपाय ढूंढना जरूरी हो गया। अन्ततः यह संभव हुआ। इसका अच्छा उदाहरण यह है कि जहां पहले ये कहा जाता था कि "सब कुछ भगवान की मर्जी है" वहां अब ये कहा जाता है कि "हम जितना कर सकते हैं करें, बाकी भगवान पर छोड़ दें।"

सेहत की बातों में भी नई जानकारियां जुड़ने लगीं। इन्हें स्वीकार करने का अर्थ है कि पुराने रिवाजों को बदलना और उनकी जगह नए तरीके अपनाना। हो सकता है कि ऐसा करने से व्यक्ति की संपूर्ण 'विश्व दृष्टि' न डगमगाए परन्तु कुछ विश्वास तो हिलेंगे ही। बदलाव चाहे छोटा हो या बड़ा, प्रतिक्रिया एक-सी होती है। पहले तो नई जानकारी को खारिज करने की कोशिश होती है। इसे अपनाया तभी जाता है जब इतने सबूत इकट्ठे हो जाएं कि खारिज करना असंभव हो। यदि सबूत पर्याप्त न हों, तो लोग अपने पुराने तरीके से चलते हैं।

उपरोक्त जानकारी से हमें समझने में मदद मिलती है कि क्यों लोग सेहत के पैगामों पर अमल नहीं करते, खासकर जब उसका सम्बन्ध रिवाजों और विश्वासों से हो। मिसाल के तौर पर कुपोषण की शिकार किसी औरत के लिए सेहत का पैगाम होगा कि "ज्यादा खाना खाओ।" यदि वह औरत यह समझ भी जाए कि ज्यादा खाना स्वास्थ्य में सुधार के लिए जरूरी है, तो भी वह प्रायः इस पर अमल नहीं करेगी। इसमें उसके विश्वास और रिवाज आड़े आते हैं। जैसे यह एक आम रिवाज है कि औरतें, मर्दों के बाद ही खाना खाती हैं। गरीब परिवारों में कुल भोजन ही कम होता है। अतः संभावना यह है कि अन्त में औरतों के लिए बहुत ही थोड़ा भोजन बचेगा।

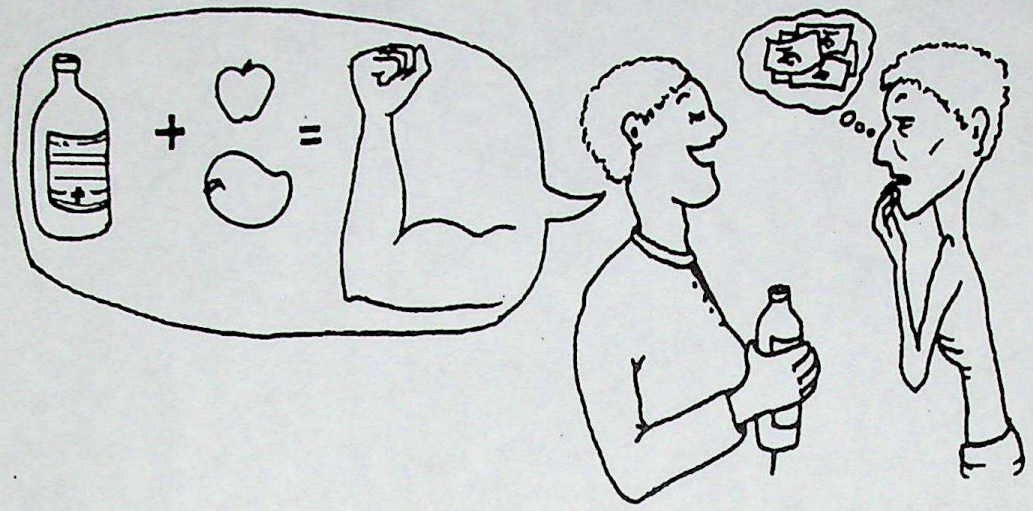

इस समस्या से निपटने के लिए स्वास्थ्य कार्यकर्ता सुझाव देते हैं कि औरतें, मर्दों के साथ ही भोजन कर लें, ताकि सबको बराबर मिल पाए। यदि यह संभव न हो, तो वे पहले ही कुछ खाना अपने लिए अलग रख सकती हैं। यदि औरत ने ऐसा किया, तो ये माना जाएगा कि वह आदमियों की बराबरी कर रही है। समाज में प्रचलित मान्यता तो यह है कि पुरुष स्त्री से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। इस मान्यता को बदलने से रोजमर्रा के जीवन में काफी उथल-पुथल हो जाएगी। इसका यह मतलब भी निकाला जा सकता है कि औरतें उन सब कार्यों पर भी सवाल उठायेंगी जो वे आज तक अपने परिवार या आदमियों के लिए करती आ रही हैं।

ज्यादा गहराई से देखें, तो इसका मतलब यह भी लगाया जा सकता है कि परिवार और समाज में निर्धारित भूमिकाएं बदलने का खतरा पैदा हो गया है। यदि और थोड़ा गहरे उतरें, तो पता चलेगा कि इतनी सी बात से पति की 'कमानेवाला', 'रखवाला' और ... 'परमेश्वर' की छवि पर ही सवाल खड़े हो जाएंगे। यदि किसी बात से पति का महत्त्व तनिक-सा भी कम हो, तो वह इसे एक खतरे के रूप में देखने लगेगा। इसीलिए, साथ खाने या भोजन अलग रखने जैसी छोटी-सी बात भी, खुद औरत तक को मन्जूर नहीं होगी। इस निष्कर्ष तक पहुंचने के लिए इतने सोच-विचार की जरूरत नहीं होती। किसी पारम्परिक रीति-रिवाज को बदलने के विचार मात्र से ही मन में इतनी उथल-पुथल होती है कि उस विचार को त्याग दिया जाता है।

एक और उदाहरण देखिए। दक्षिण भारत में अंकुश कृमि (हुक वर्म) की समस्या काफी आम है। इससे बचने के लिए लोगों को चप्पल पहनने की सलाह दी जाती है। परन्तु सामाजिक रिवाजों के मुताबिक सिर्फ ऊंची जाति के लोग ही चप्पल पहन सकते हैं। नीची जातियों के लोग चप्पल नहीं पहनते, खासकर ऊंची जाति के व्यक्तियों की मौजूदगी में। (हो सकता है कि दक्षिण भारत के कुछ हिस्सों में यह रिवाज टूट गया हो, पर कई हिस्सों में अभी भी बरकरार है।) चप्पल पहनने सरीखी साधारण सी बात भी ऊंची जाति के लोगों की प्रतिष्ठा के लिए खतरा बन सकती है। जातियों के परम्परागत सामाजिक सम्बन्धों में फेरबदल करने वाली इस छोटी-सी कार्यवाही का अर्थ यह लगाया जा सकता है कि पूरी जाति-व्यवस्था को ही ललकारा जा रहा है। और इसके बारे में तो सोचा भी नहीं जा सकता क्योंकि जाति-व्यवस्था तो धर्म से जुड़ी है। इन दोनों उदाहरणों से समझ में आता है कि सामाजिक रीति-रिवाज समझना कितना जरूरी है। रीति-रिवाज विश्वासों से जुड़े होते हैं। लोग इन्हें बदलना नहीं चाहते क्योंकि इससे उथल-पुथल होने का डर रहता है।

परन्तु बदलाव को रोकने में सिर्फ रीति-रिवाजों और विश्वासों की ही भूमिका नहीं होती। हो सकता है कि बदलाव के कारण कुछ ऐसी दिक्कतें पैदा होती हों जो शायद किसी बाहरी व्यक्ति को न दिखाई पड़ें। जैसे हमारे देश में गर्भवती स्त्री के भोजन पर कई किस्म के प्रतिबन्ध होते हैं। स्वास्थ्य कार्यकर्ता को पता होता है कि जन्म के समय बच्चे का वजन मां के आहार पर निर्भर करता है। इसलिए वे गर्भवती स्त्री को सामान्य से ज्यादा खाने की सलाह देते हैं।

गांवों की औरतें बहुधा यह सलाह नहीं मानतीं। न मानने का कारण यह है कि ज्यादा खाएंगी तो बच्चा बड़ा होगा, तो जचकी में दिक्कत आएगी। गांव में प्रसव की अच्छी सुविधा तो मिलती नहीं। इसलिए वे कम खाकर छोटे बच्चे को जन्म देना ज्यादा ठीक समझती हैं। ज्यादा खाकर बड़ा बच्चा पाने के चक्कर में जच्चा-बच्चा दोनों की जान को जोखिम रहता है।

एक और उदाहरण पर गौर कीजिए। गांव के लोगों से शौचालय बनवाने व उनका उपयोग करवाने की कोशिश में कई स्वास्थ्य कार्यकर्ता नाकाम रहे हैं। स्वास्थ्य कार्यकर्ता की नजर में मैदान में शौच करना गंदगी और बीमारी का कारण है। शौचालय के इस्तेमाल से स्वच्छता बनी रहती है और बीमारी की रोकथाम भी होती है।

परन्तु गांव के लोगों को इसमें कई समस्याएं दिखती हैं। एक ही जगह पर कई लोग शौच करें यह ज्यादा गंदी बात मानी जाती है। फिर शौचालय के साफ रखने के लिए ज्यादा पानी की जरूरत होती है। जिन इलाकों में पानी प्राप्त करना ही अपने आप में एक समस्या हो, वहां तो शौचालय के इस्तेमाल में दिक्कत होगी ही।

कुछ इलाकों में औरतें शौच के लिए समूह में जाती हैं। उनका उद्देश्य सिर्फ निवृत्त होना नहीं, बल्कि व्यस्त जिन्दगी में से कुछ पल निकाल कर आपस में बातचीत और सलाह-मशवरा करने का भी होता है। इससे जो मानसिक सन्तोष मिलता है, वह शायद शौचालय के फायदों से कहीं ज्यादा है। हां, कुछ इलाके ऐसे भी हो सकते हैं जहां औरतें शौचालय को महत्त्व देती हों प्रायवेसी और सुरक्षा के ख्याल से। यदि मैदान या खेत दूर हों और सुबह जल्दी या देर रात जाना पड़े, तो बलात्कार का डर रहता है। परन्तु शौचालय बनाने, न-बनाने का निर्णय तो मर्द लोग करते हैं। उनके सामने ये सारी बातें तो होती नहीं। इसलिए वे इसे एक फालतू खर्चा समझते हैं। इस सबसे समझा जा सकता है कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता लोगों से शौचालय बनवाने में क्यों नाकाम होते हैं।

किसी दिक्कत या होने वाले नुकसान के कारण बदलाव का प्रतिरोध करना, यह बात सिर्फ सेहत के मामले में ही नहीं है। एक अन्य उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाएगा।

आमतौर पर गांवों में खाना पकाने का काम घर में चूल्हे पर किया जाता है। घर में कोई खिड़की या चिमनी वगैरह तो होती नहीं। कमरा धुएं से भर जाता है। धीरे-धीरे यह धुंआ छप्पर में से निकल जाता है। खाना पकाना एक दुखदायी काम हो जाता है और औरतों को सांस एवं आंखों का इन्फेक्शन होने की संभावना बढ़ जाती है। अतः एक नए किस्म के चूल्हे 'धुंआ रहित या निर्धूम चूल्हे'— का आविष्कार हुआ। इसमें लकड़ी की बचत होती है और धुँआ एक चिमनी के जरिए बाहर निकल जाता है। यह चूल्हा रियायती दामों पर भी बेचा गया। इसके बावजूद देश के कुछ ही हिस्सों में इसे थोड़ी-बहुत सफलता ही मिल पाई।

इसके कारण समझने में थोड़ा वक्त लगा। इन इलाकों में घास-फूस के छप्परों में दीमक लग जाती है। यदि इन पर नियंत्रण न किया जाए, तो यह छप्पर को जल्दी ही चट कर जाती हैं। धुएं से दीमक के नियंत्रण में मदद मिलती है। यदि धुआं न हो, तो जल्दी-जल्दी छप्पर की मरम्मत करनी होगी। इसमें काफी अतिरिक्त खर्चा होगा। इस प्रकार से धुएं के फायदे के सामने नए चूल्हे के सारे लाभ धराशायी हो गए।

स्वास्थ्य सम्बन्धी सलाह न मानने का एक दूसरा कारण यह है कि खुद की जिन्दगी में बदलाव लाने को लेकर लोग बहुत असहाय महसूस करते हैं।

गरीब परिवार की किसी ग्रामीण महिला पर काम का बोझ बहुत ज्यादा होता है। खाना पकाने, कपड़े-बर्तन धोने, सफाई करने, अनाज पीसने, बच्चों की देखभाल करने, जैसे ढेरों कामों के अलावा उसे कई मील दूर से पानी भी लाना पड़ता है और लकड़ी भी बीनना होता है। इन सबके अलावा उसे मजदूरी पर भी जाना होता है। ऐसी स्थिति में, कई बार स्वास्थ्य कार्यकर्ता की सलाह अव्यवहारिक होती है।

इसका एक उदाहरण तो यह सलाह ही है कि मां अपने बच्चे को आसानी से पचने वाला भोजन विशेष रूप से बनाकर दिन में कई बार थोड़ी-थोड़ी मात्रा में खिलाए।

"पानी उबालकर पियो" के पैगाम में भी कई व्यवहारिक दिक्कतों को नज़रअंदाज़ किया गया है। पहले तो उबालने के लिए लकड़ी चाहिए। फिर पानी उबालने का बर्तन चाहिए और उबाल लेने के बाद भी समस्या हल नहीं होती क्योंकि सब हो जाने के बाद वह खुद तो काम पर चली जाएगी। हर जगह अपना उबला पानी लिए घूमना भी व्यवहारिक नहीं है।

इसी प्रकार से किसी ग्रामीण परिवार के लिए 'भरपेट भोजन' का पैगाम भी अव्यवहारिक हो सकता है। यदि स्वास्थ्य कार्यकर्ता चाहे, तो इसको आसानी से समझ सकती है। चार व्यक्तियों के एक परिवार के लिए आवश्यक ख़ुराक एवं उसकी कीमत की गणना काफी आसान है। तालिका में एक व्यक्ति के लिए एक दिन की खुराक दी गई है। स्वास्थ्य कार्यकर्ता इन चीजों का बाजार भाव पता करके उसकी तुलना अपने इलाके के किसी परिवार की दैनिक आमदनी से कर सकती है। तुलना करते समय यह भी ध्यान रखना होगा कि परिवार की आमदनी का कुछ हिस्सा अन्य चीज़ों जैसे कपड़े, दवाई, घर के रख-रखाव आदि पर भी खर्च होगा।

संक्षेप में, स्वास्थ्य सम्बन्धी सलाह को अपनाने का मतलब है लोगों की जीवन शैली में भी बदलाव लाना। हमने ऊपर देखा कि स्वास्थ्य सलाह पर अमल न होने के तीन कारण हैं:

- सामाजिक रीति-रिवाज लोगों की 'विश्व दृष्टि' के अभिन्न अंग हैं। छोटे से बदलाव से भी कई स्तरों पर सवाल उठ खड़े होते हैं।
- लोग बदलाव का प्रतिरोध इसलिए भी करते हैं क्योंकि ये बदलाव नुकसानदायक हैं।
- लोग असहाय हो सकते हैं।

यह ध्यान रखना चाहिए कि उपरोक्त कारण सही हो सकते हैं मगर कई जगह बदलाव का विरोध अतार्किक भी होता है। स्वास्थ्य कार्यकर्ता को न तो हर चीज़ को अतार्किक कहकर खारिज करना चाहिए और न ही हर चीज़ का सार्थक कारण तलाश करते फिरना चाहिए। कई बार कारण होता ही नहीं। आगे के अध्यायों में हमने कुछ सुझाव दिए हैं, जिनसे कुछ दिक्कतों से निपटने में मदद मिलेगी।

एक गरीब श्रमिक परिवार (4 सदस्य— पति, पत्नी, दो बच्चे) के लिए दैनिक खुराक भोजन की जरूरत (ग्राम में)

परिवार के सदस्य	अनाज	दालें	हरी सब्जी	अन्य सब्जी	कंद/मूल	दूध	वसा/तेल	शक्कर/गुड़
भारी काम करने वाला वयस्क पुरुष	670	60	40	80	80	250	65	55
भारी काम करने वाली वयस्क स्त्री	575	50	50	100	60	200	40	40
3 वर्षीय बच्चा	175	35	40	20	10	300	15	30
6 वर्षीय बच्चा	270	35	50	30	20	250	25	40
कुल :	1,690	180	180	230	170	1,000	145	165

स्रोत : रिकमण्डेड डायट्री इनटेक फॉर इण्डियन्स (भारतीयों के लिए अनुशंसित खुराक), भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद, 1981.

स्वास्थ्य कार्यकर्ता के लिए अभ्यास

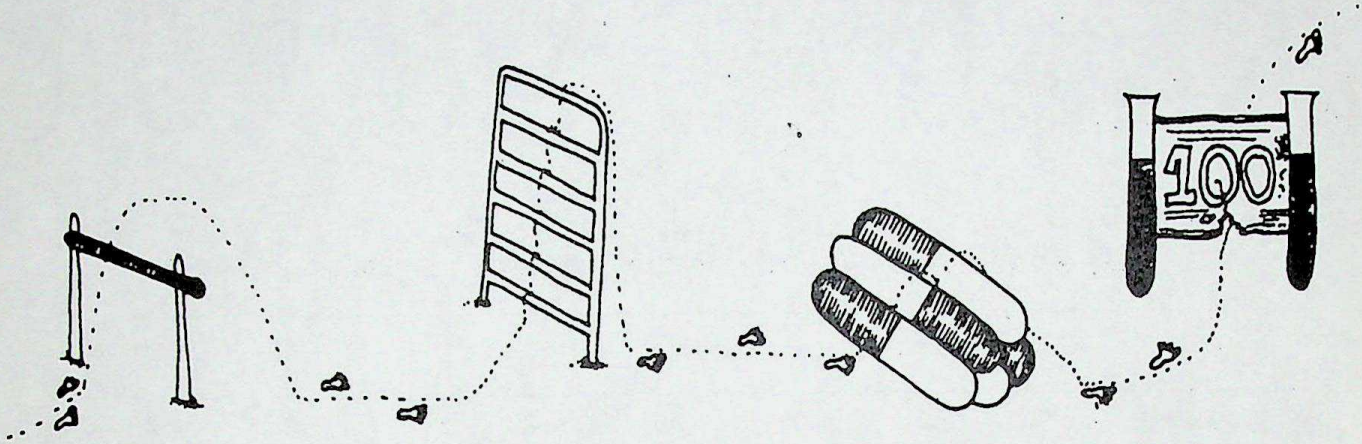

मध्यप्रदेश के एक स्वास्थ्य कार्यकर्ता ने टी. बी. मरीजों द्वारा नियमित इलाज लेने में असफलता के कुछ कारण पहचाने हैं।

1. निदान की समस्या

(क) खखार की जांच : तकनीशियन या तो हैं नहीं या जांच करने से इंकार कर देते हैं।

(ख) एक्सरे स्क्रीनिंग सुविधा दूर है, खर्चीली है, मशीन काम नहीं कर रही या एक्स-रे प्लेट उपलब्ध नहीं है।

2. डाक्टर द्वारा मरीज को समझाए जाने की समस्या

(क) जानकारी देने या न देने की डाक्टर की इच्छा
(ख) मरीज का डर
(ग) बीमारी के बारे में धारणाओं की भिन्नता
(घ) डाक्टर की अधीरता
(च) डाक्टर की रहस्यमय भूमिका
(छ) प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र के कर्मचारियों में तालमेल का अभाव/आपसी मनमुटाव

3. दवाई सप्लाई और नियमित रूप से मिलने की समस्या

(क) हैडक्वार्टर से प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र को दवा की कम सप्लाई
(ख) अस्पताल की टी. बी. की दवा को चोरी से बजार में बेच देना
(ग) अस्पताल की टी. बी. की दवा का प्राइवेट प्रेक्टिस में इस्तेमाल होना
(घ) पूरी दवा न मिलना
(च) डाक्टर द्वारा दवा प्राप्त करने में असफलता (कुप्रशासन)

4. बाजार में दवाओं की कीमत से संबंधित समस्या

(क) पहले दर्जे (फर्स्ट लाइन) की अनिवार्य दवाओं (खासकर स्ट्रेप्टोमायसिन इन्जेक्शन) की ऊंची कीमतें।

(ख) कम उत्पादन के कारण बाजार में पहले दर्जे की दवाओं का अभाव।

(ग) इथेम्बयूटाल या रिफेम्पिसिन जैसी दूसरे दर्जे (सेकण्ड-लाइन) की महंगी टी. बी. की दवाओं की सप्लाई में वृद्धि।

5. विटामिन, खनिज इन्जेक्शन, टॉनिक, खांसी के सिरप जैसी अनावश्यक दवाओं पर खर्च की समस्या

(क) मेडिकल रिप्रेजेन्टेटिव द्वारा डाक्टरों की मानसिकता को बदला जाना।

(ख) बड़ी व बहुराष्ट्रीय दवा कम्पनियों द्वारा टॉनिक वगैरह का लायसेंस क्षमता से भी ज्यादा उत्पादन।

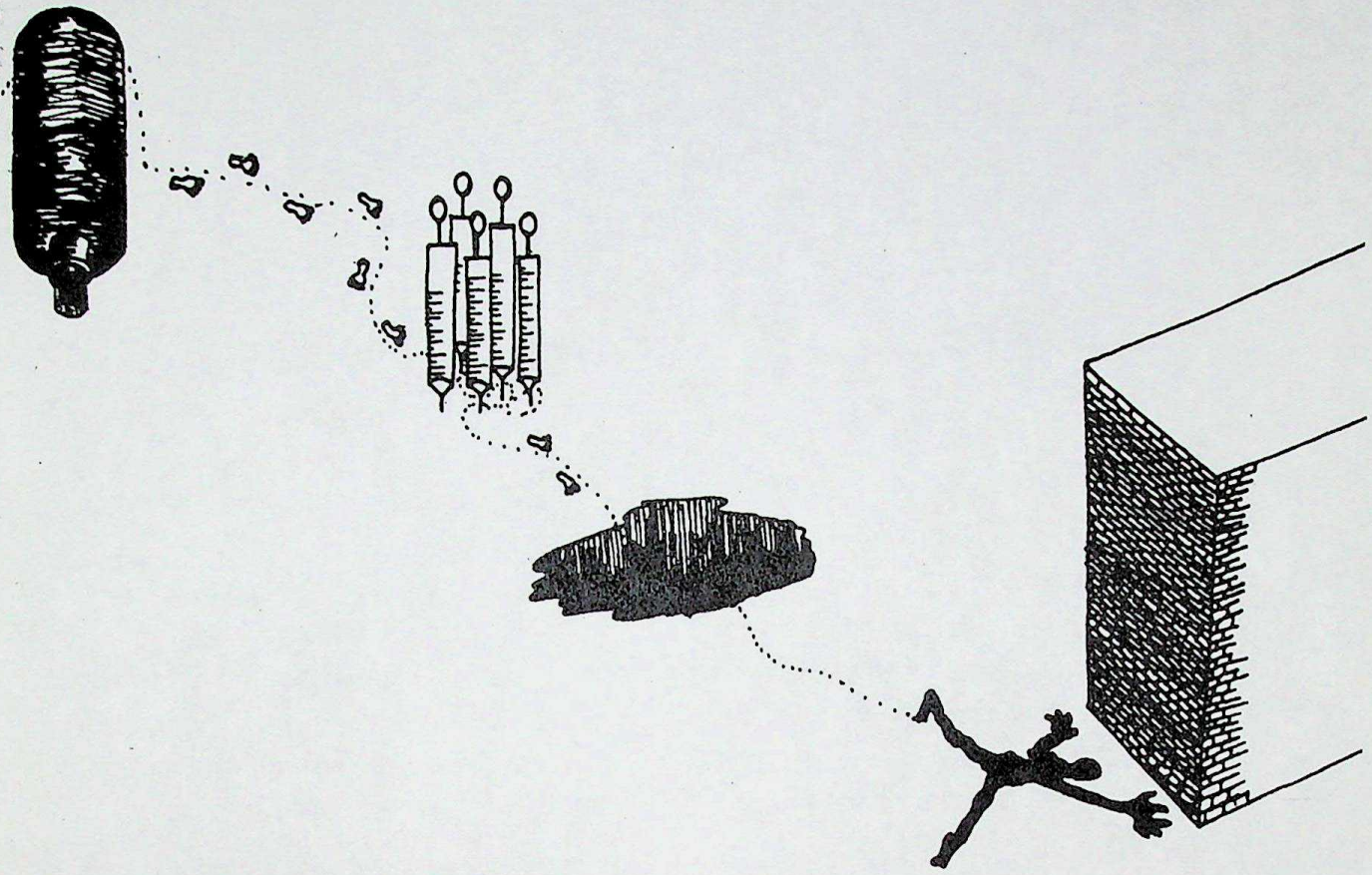

(ग) लोगों में टॉनिक का मोह और तुरंत राहत के लिए बेचैनी ।

6. स्ट्रेप्टोमायसिन इन्जेक्शन की दिक्कत

(क) डाक्टर या स्वास्थ्य कार्यकर्ता उपलब्ध न होना ।
(ख) रोजाना इन्जेक्शन लगवाने की फीस
(ग) प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र द्वारा घर ले जाने के लिए इन्जेक्शन देने से इंकार करना ।

7. यातायात की समस्या

(क) दूरी ।
(ख) समय, ताकत, किराए के पैसे के रूप में खर्च ।
(ग) यातायात सुविधा की अनियमितता ।

8. घर का माहौल

(क) गरीबी, खस्ता आवास, भुखमरी ।
(ख) हौसला पस्त होना ।
(ग) औरत के मामले में लिंग-आधारित पक्षपात, खासकर यदि वह निसंतान हो या उसे लड़का न हो ।
(घ) जादू-टोने में विश्वास और बीमारी की वैज्ञानिक समझ का अभाव ।

9. कार्यस्थल की परिस्थिति और व्यवसाय

(क) आर्थिक शोषण
(ख) दूषित वातावरण— जैसे साफ हवा न मिल पाना या कपड़े के रेशे वगैरह सांस में जाना ।
(ग) सुरक्षा के उपायों का अभाव ।
(घ) कोई विकल्प न होना ।

10. प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र स्टाफ या डाक्टर की धांधली

(क) प्राइवेट प्रैक्टिस
(ख) रोगी को गलत जानकारी देना या कोई जानकारी न देना ।
(ग) दी गयी दवाई को ठीक से दर्ज न करना ।
(घ) समय पर मुआयना न करना ।
(च) इलाज का रिकार्ड न रखना ।
(छ) अनियमित मरीज को पोस्टकार्ड द्वारा संपर्क न कर पाना ।

यदि कहा जाए कि एक गरीब आदमी को टी. बी. होने पर ये सारी अड़चनें आएंगी (सिवा 8 ग के, क्योंकि वह मर्द है) तो कोई अतिशयोक्ति न होगी । हश्र होता है कि या तो वह दवा में नागा करने लगता है या मर जाता है । अक्सर दोनों बातें साथ-साथ होती हैं । क्या सच में कोई विकल्प नहीं है ?

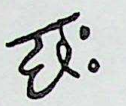

पिछले कई दिनों से राधा परेशान सी थी। उसे कुछ समझ ही नहीं आ रहा था। उसने अपना काम इतना मन लगाकर किया था पर नतीजा सिफर। कम से कम अस्पताल में उसे यह देखकर तो सन्तोष हो जाता था कि गंभीर रूप से बीमार मरीज आते थे और ठीक होकर जाते थे। पर यहां तो कुछ बदलता ही नहीं था। उसे लगता था कि कहीं कुछ गलत जरूर है। वो चाहती थी कि काश वह किसी से बातचीत कर पाती।

दवाखाने में काम करने के लिए एक पार्ट-टाइम डाक्टर मिल गया था पर उसे गांव में काम करने का कोई अनुभव नहीं था। चमेलीबाई राधा की स्थिति देख रही थी पर समझ नहीं पाती थी कि वो क्या मदद करे। उसके हिसाब से तो लोग जैसे हैं वैसे ही रहेंगे। राधा इसे स्वीकार नहीं कर पाती थी। आखिर शहर में भी तो लोग बदले ही हैं। फिर गांव के लोग क्यों नहीं बदलेंगे ?

राधा और चमेलीबाई अभी भी गांव में जाते थे और लोगों को स्वास्थ्य शिक्षा भी देते थे। पर अब राधा का मन इसमें नहीं लगता था। लोगों से अभी भी उसकी दोस्ती थी, बल्कि और घनिष्ठ ही हो गई थी। वे रुककर थोड़ी गपशप भी कर लेते थे। कुछ लोग तो उन्हें घर पर खाना खाने को भी बुलाते। राधा अक्सर मना कर देती। उसे लगता कि लोग तो वैसे ही शिष्टाचार के नाते बुलाते हैं।

एक दिन राधा और चमेलीबाई रुक्मणी के घर गईं। उसका बच्चा बहुत बीमार था। राधा थोड़ी चिन्तित थी। रुक्मणी का एक बच्चा छः महीने पहले ही मौत का शिकार हो गया था। राधा जानती थी कि रुक्मणी के लिए इस बच्चे का जीवन कितना महत्त्वपूर्ण है। बच्चा आज थोड़ा स्वस्थ लग रहा था। राधा थोड़ी निश्चिन्त हुई और रुक्मणी से बतियाने को रुक गई। जब वह चलने को हुई तो रुक्मणी ने फिर खाना खाने को कहा। राधा थोड़ी झिझकी। चमेलीबाई ने उसे बताया था कि यह परिवार बहुत गरीब है और जितना खाना है वह उनको ही पूरा नहीं पड़ता। यह सोचकर वह मना करने ही वाली थी कि उसे एक बात सूझी। क्यों न रुककर देखा जाए कि रुक्मणी बच्चे को क्या खिलाती है। शायद खाने के समय वह रुक्मणी को कुछ उपाय सुझा पाएगी, जिससे परिवार को बेहतर खाना मिल सकेगा। यह सोचकर उसने रुक्मणी से हां कर दी और कहा कि वह कुछ और घरों में जाकर लौट आएगी।

राधा और चमेलीबाई करीब एक घण्टे बाद लौटीं। वे परिवार के अन्य सदस्यों से बतियाने लगीं। राधा समझ नहीं पा रही थी कि खाना बनने में इतनी देर क्यों लग रही है। आखिर जब रुक्मणी ने उन्हें भोजन के लिए बुलाया, तो राधा ने देखा कि सिर्फ दो थालियां लगी हैं। रुक्मणी ने कहा कि हम लोग बाद में खाएंगे। राधा को यह देखकर और भी अचरज हुआ कि खाने के लिए चावल और मुर्गा बनाया गया है। उसे विश्वास ही नहीं हुआ। चमेलीबाई ने तो कहा था कि ये लोग बहुत गरीब हैं और अच्छा खाना नहीं खा सकते। राधा चमेलीबाई से पूछने को उतावली हो रही थी। थोड़ा-बहुत खाकर, दोनों ने रुक्मणी को धन्यवाद दिया और चल पड़े।

थोड़ी दूर चलने के बाद राधा ने चमेलीबाई से मुर्गे के बारे में पूछ लिया। चमेलीबाई ने सीधा-सा जवाब दिया कि रुक्मणी ने बढ़िया चावल और मुर्गा उधार लिया होगा। आखिर हम मेहमान जो ठहरे। रुक्मणी गरीब है। वे लोग खुद कभी मुर्गा नहीं खाते। पर राधा सोच रही थी कि वह तो कई बार लोगों के घर पर चाय पीती है। कहीं वह भी तो खास उनके लिए ही नहीं बनती ? चमेलीबाई ने राधा को याद दिलाया कि कई बार चाय आने में बहुत देर लगती है। ये देर इसलिए होती है क्योंकि घर से किसी को भेजकर शक्कर और दूध मंगवाया जाता है।

इस जानकारी से राधा भौंचक्की रह गई। **क्या लोग इतने गरीब हैं कि उनके पास चाय तक के लिए दूध नहीं होता ?**

6 क : क्या लोग इतने गरीब हैं कि उनके पास चाय के लिए दूध नहीं होता ?

बाहर से आए किसी व्यक्ति को यह तो साफ दिखाई देता है कि गांव के लोग गरीब हैं। जो सुविधाएं सम्पन्नता की द्योतक होती हैं, वे गांव में दिखाई नहीं पड़ती। यहां तो सड़कों, यातायात सुविधा, नल, बिजली, जैसी बुनियादी सुविधाएं भी नहीं होतीं। लोग कड़ी मेहनत करते हैं, कच्चे घरों में रहते हैं और उनके पास माल-असबाब भी बहुत थोड़ा होता है। इस सबसे भी उनकी गरीबी का पता चलता है। भोजन ही एक ऐसी चीज है जो इफरात में दिखाई पड़ती है। विस्तृत खेतों में लहलहाती फसलें, गाय-भैंसों के झुण्ड और घरों के आसपास सब्जियों के बगीचे देखकर तो यही लगता है कि गांव में भोजन की तो कोई कमी नहीं होनी चाहिए। इसके कारण यकीन ही नहीं होता कि यहां के लोगों के पास चाय तक के लिए दूध नहीं होता।

पहली बात तो यह है कि किसी भी बाहरी व्यक्ति के लिए यह पता लगाना बहुत मुश्किल है कि ग्रामीण परिवार की आमदनी कितनी है। किसी को कोई निर्धारित वेतन तो मिलता नहीं। आमदनी का जरिया जमीन और पशु हैं। यह पता लगाना भी काफी मुश्किल होता है कि इस जमीन और पशुओं का मालिक कौन है। यदि यह पता लग भी जाए, तो भी एक और मुश्किल है। आपको यह भी पता होना चाहिए कि जमीन और पशुओं से कितनी आमदनी हो सकती है और इस आमदनी पर परिवार के कितने सदस्यों का गुजारा निर्भर है। कई बार यह मान लिया जाता है कि यदि किसी परिवार के पास जमीन है, तो उसके पास पर्याप्त भोजन होगा।

मगर जरा बसन्त के मामले पर गौर कीजिए। उसके पास 4 एकड़ जमीन है। कुल मिलाकर उसके परिवार में पांच वयस्क और तीन बच्चे हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उसके परिवार को पर्याप्त भोजन मिल जाता होगा। थोड़ा गहराई में जाने से पता चलता है कि हकीकत कुछ और ही है। *(यह विवरण महाराष्ट्र के कुलाबा जिले में किए गए एक सर्वेक्षण पर आधारित है।)*

बसन्त की कहानी

बसन्त का परिवार पीढ़ियों से महाराष्ट्र के कुलाबा जिले में रहता आया है। ये लोग अग्रि जाति के हैं। *(अग्रि एक मध्यम जाति है।)* बसन्त का परिवार गांव में औसत दर्जे का माना जाता है। परिवार में बसन्त सबसे बड़ा लड़का है। माता-पिता बूढ़े हो गए हैं और बसन्त ही परिवार की देखभाल करता है। बसन्त के दो छोटे भाई शादी के बाद सपरिवार बम्बई चले गए। यह जरूरी भी था क्योंकि इतनी थोड़ी-सी जमीन से पूरे परिवार का गुजारा चलना मुश्किल हो रहा था। अब गांव में बसन्त, उसकी पत्नी, तीन बच्चे, एक कुंवारी बहन और माता-पिता रह गए थे।

बसन्त ने जब घर का कामकाज संभाला, तब उनके पास चार एकड़ असिंचित जमीन थी। खेती पूरी तरह मानसून पर निर्भर थीं और धान की एक ही फसल हो पाती थी। धान कट जाने के बाद वे चना बो देते थे। इसमें ज्यादा पानी नहीं लगता।

जमीन के अलावा उनके पास एक गाय और कुछ मुर्गियां थीं। परिवार की कुल जमा पूंजी बस यही थी।

समय से अच्छी वर्षा हो जाए, तो 4 एकड़ में लगभग 20 क्विंटल धान पैदा हो जाता था। इसमें से 5 क्विंटल खेतीबाड़ी के खर्चों जैसे बैल किराया, बीज, खाद, आदि के लिए अलग रख दिया जाता। करीब 11-12 क्विंटल परिवार के भोजन के काम आता। बाकी तीन क्विंटल से घर के बाकी खर्चे चलते, जैसे कपड़े, दवा-दारू, कभी-कभार शहर जाना, त्यौहार आदि। यदि कोई शादी-ब्याह या बड़ी बीमारी वगैरह न हो, तो साल के अन्त में थोड़ा अनाज बच भी जाता था।

गांव के हिसाब से यह परिवार काफी आराम से था। पर्याप्त अनाज के अलावा उनके पास चना, सब्जियां और दूध भी होता था। यह

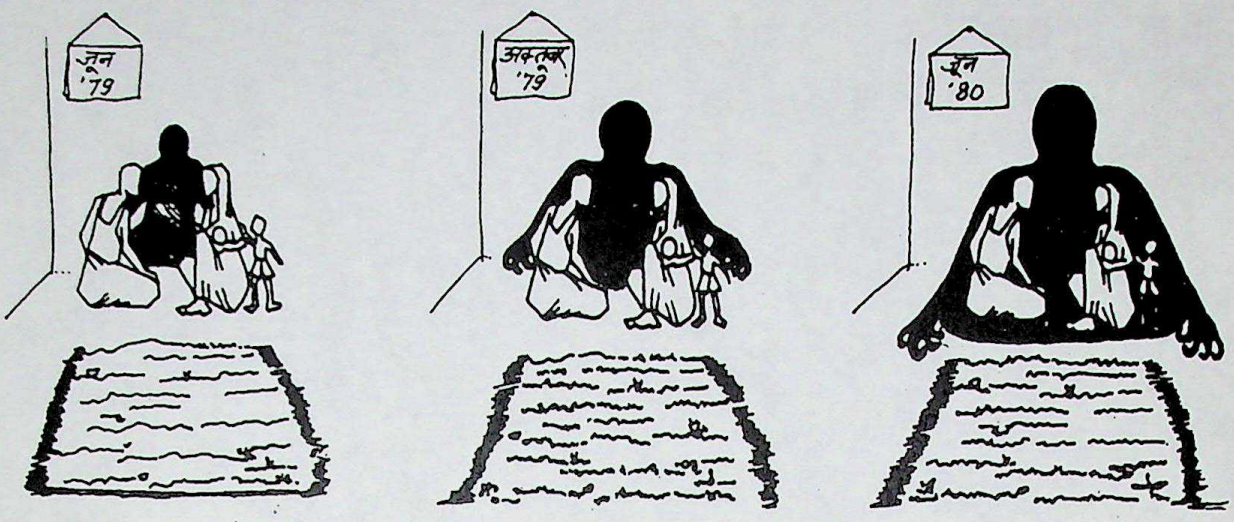

सब कुछ उनके खेत से ही मिल जाता था। उनके सारे जरूरी खर्चे पूरे हो जाते थे और आड़े समय के लिए कुछ बचा भी रहता था। पर फिर भी बसन्त भविष्य के बारे में निश्चिंत नहीं था। उसे पता था कि एक-दो साल में बहन की शादी करनी है। इसके लिए पैसा उधार लेना होगा। उसे आशा थी कि बिना जमीन गंवाए वो सारा कर्ज चुका सकेगा।

बसन्त का एक सपना था कि किसी दिन खेत में वह एक कुआं खुदवाएगा और एक जोड़ी बैल खरीदेगा। तब वह दो फसलें ले सकेगा और बोआई में भी देर नहीं होगी। परन्तु बसन्त ये बातें किसी को बताता नहीं था और न ही खुद इसके बारे में ज्यादा सोचता। उसकी बहुत सारी जिम्मेदारियां थीं। पिछले दो सालों में लगातार फसल अच्छी हुई थी। परिवार का काम भी अच्छे से चला था और अगली कटाई तक के लिए पर्याप्त अनाज था। सच पूछा जाए, तो उनके पास जरूरत से दो क्विंटल ज्यादा ही अनाज था।

फिर 1979 जून में मानसून कमजोर रहा। बसन्त समझ चुका था कि पैदावार अच्छी नहीं होगी और अगले साल यानि अक्टूबर 79 से अक्टूबर 80 तक — परिवार का गुजारा मुश्किल से चलेगा। सारी बचत खत्म हो जाएगी। बसन्त ने तय किया कि जितना हो सके बचाकर रखना होगा। परिवार के सदस्यों ने अभी से कम खाना शुरू कर दिया। वे गाय का दूध बेचने लगे।

जैसी कि आशंका थी, फसल कमजोर रही। बसन्त के खेत में सिर्फ ग्यारह क्विंटल अनाज हुआ। पर्याप्त तो नहीं था पर पहले की बचत को मिलाकर किसी तरह से काम चल सकता था। अब उसके परिवार में कम खाने का नियम-सा बन गया। वे लोग हर तरह से कुछ अतिरिक्त आमदनी के लिए भी कोशिश करते रहे। बसन्त ने बच्चे को स्कूल से हटा लिया ताकि वह जमींदार के ढोर चरा सके। जब भी काम मिलता, वह और उसकी पत्नी सरकारी 'काम के बदले अनाज' कार्यक्रम में मजदूरी करने जाते। एक साल से परिवार की हालत अच्छी नहीं थी। बच्चे अक्सर बीमार पड़ने लगे थे। सारे किसान अगले साल अच्छी बारिश की कामना कर रहे थे। दुर्भाग्यवश, बारिश देर से आई।

हमेशा की तरह, बसन्त को प्रतीक्षा करनी पड़ी कि दूसरे किसान अपना खेत जोत लें, क्योंकि तभी उसे बैल मिल सकते थे। देरी से बारिश और बैलजोड़ी के अभाव के कारण एक बार फिर उसके खेत में बोआई देर से हुई। बसन्त को पता था कि अगले साल फिर कम पैदावार होगी। इस बार तो किसी बचत का भी सहारा नहीं है। खर्चा भी और कम नहीं किया जा सकता। उल्टे उनका खर्चा बढ़ने लगा। पिछले डेढ़ साल से पूरा परिवार जरूरत से कम खाकर जिन्दा था। बच्चे अब अक्सर बीमार पड़ने लगे थे। बसन्त के पिता की सेहत भी बिगड़ने लगी। एक बार सबसे छोटे बच्चे को अस्पताल ले जाना पड़ा। इस चक्कर में गाय बिक गई।

इस बार (अक्टूबर 80) में सिर्फ 10 क्विंटल धान पैदा हुआ। जैसे-तैसे परिवार ने यह साल गुजारा और अगले साल (जून 1981) में बोआई की। परन्तु फसल कटने तक क्या खाएं? उन्हें मजबूर होकर जमींदार से डेढ़ क्विंटल अनाज उधार लेना पड़ा।

कटाई का वक्त आया (अक्टूबर 1981)। इस बार फसल अच्छी रही। बसन्त के खेत में 14 क्विंटल धान पैदा हुआ। वैसे तो यह साल भर के लिए काफी था। परन्तु जमींदार का कर्ज भी चुकाना था। कम से कम कुछ हिस्सा तो चुकाना ही होगा। फिर, और भी कुछ खर्चे थे, जिन्हें टाला नहीं जा सकता था। छत की मरम्मत होनी थी, कपड़े-लत्ते का इन्तजाम करना था, दवाइयों का खर्च था। इस सबके कारण उसे एक बार फिर जमींदार से कर्ज लेना पड़ा (1982 के शुरू में)। जमींदार ने पहले के कर्ज की याद दिलाई। जमींदार को लगा कि नया कर्ज मिलाकर बहुत ज्यादा हो जाएगा। पता नहीं, बसन्त चुका पाएगा या नहीं।

चार एकड़ जमीन के अलावा बसन्त के पास अपना कहने को कुछ नहीं था। गाय तो बिक ही चुकी थी। जमींदार की इच्छा थी कि

साल 1979-80 वगैरह सिर्फ समय का अन्दाज़ देने के लिए लिखे गए हैं। हम यह कहना नहीं चाहते कि 1979 में बाकई बारिश नहीं हुई थी।

वर्ष	जून	जून से अक्टूबर	अक्टूबर	अक्टूबर से अगले साल जून
1979	कम बारिश	बसन्त का परिवार कम खाना शुरू करता है दूध भी बेचना शुरू करता है।	उपज कम। केवल 11 क्विंटल अनाज की उपज। पिछले साल का बचा कुछ अनाज है।	परिवार कम खाना जारी रखता है। बसन्त अपने बेटे को स्कूल से निकालकर जमींदार का चरवाहा बना देता है। वह और उसकी पत्नी काम ढूंढ़ते हैं। बच्चे ज्यादा बीमार पड़ने लगते हैं।
1980	बारिश देर से और बोआई भी देर से	परिवार कम खाने पर मजबूर। बीमारियों की वजह से खर्च बढ़ता है। बच्चे के इलाज के लिए गाय बेचनी पड़ती है।	पैदावार फिर से कम। बसन्त के खेत में सिर्फ 10 क्विंटल। इस साल कोई पिछली बचत भी नहीं थी	परिवार थोड़े से अनाज में ही काम चलाने की कोशिश करता है।
1981	बारिश समय पर। बसन्त घर के बीज से ही काम चला लेता है।	परिवार के पास अक्टूबर तक खाने को अन्न नहीं है। वे आधा क्विंटल धान उधार लेते हैं।	फसल बेहतर होती है। बसन्त के खेत में 14 क्विंटल। कर्ज भी चुकाना है।	परिवार कर्ज का कुछ हिस्सा चुका देता है। छत की मरम्मत, कपड़े-लत्ते, दवाइयों आदि पर खर्च होता है। बसन्त को फिर जमींदार से कर्ज लेना पड़ता है। वह 3 एकड़ जमीन गिरवी रखने पर मजबूर हो जाता है।

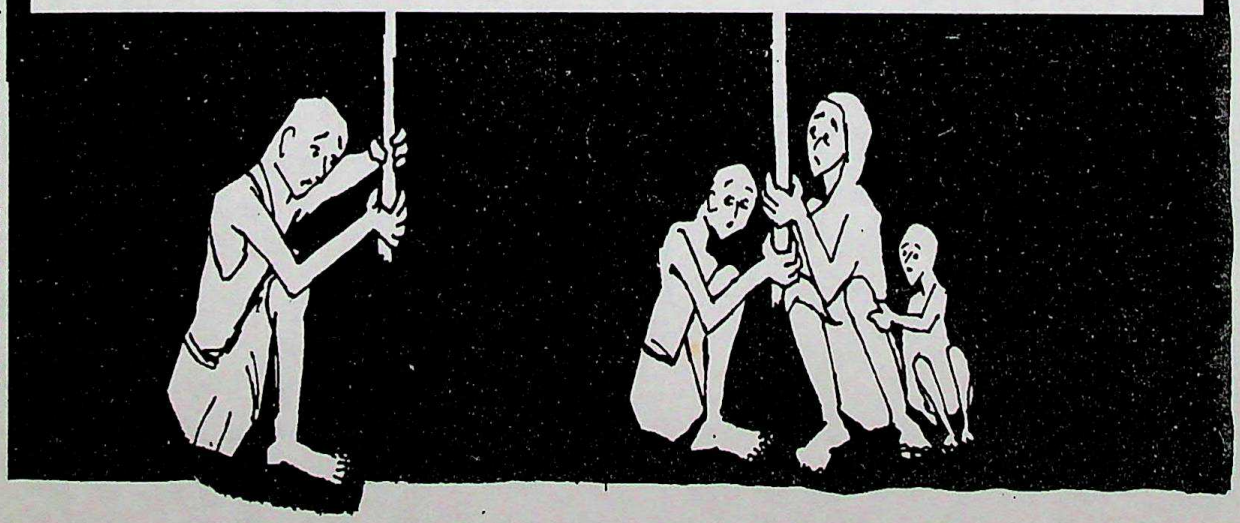

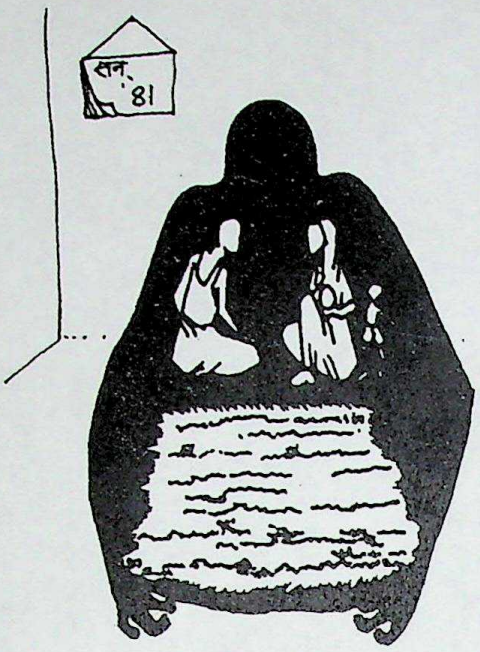

और कर्ज लेने से पहले बसन्त कुछ अमानत रखे। बसन्त को पैसे की सख्त जरूरत थी। अन्ततः हारकर वह 3 एकड़ जमीन गिरवी रखने पर राजी हो गया। तय हुआ कि बसन्त इस तीन एकड़ जमीन की आधी फसल जमींदार को देगा। फसल का पूरा खर्च भी बसन्त ही उठाएगा। यह सब काटकर, जो थोड़ा-बहुत बचेगा उसी में बसन्त को परिवार का खर्चा पानी चलाना था। कानूनी रूप से जमीन अभी भी बसन्त की ही थी। परन्तु हकीकत में वह जानता था कि अब जीवन भर उसे जमींदार का कर्ज उतारने के लिए दिन-रात एक करने होंगे। वह यह भी जानता था कि यह कर्ज कभी कम नहीं होगा।

बसन्त जैसे व्यक्ति आज भी यही कहते हैं कि उनके पास जमीन है।

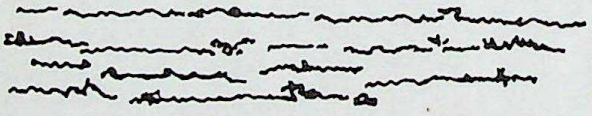

इस कहानी से स्पष्ट है कि मात्र जमीन होने से ही परिवार को भरपेट भोजन नहीं मिल जाता। एक परिवार के भरण-पोषण के लिए कितनी जमीन पर्याप्त होगी, यह कई बातों पर निर्भर करता है— मिट्टी कैसी है, सिंचाई की सुविधा है या नहीं, खेतीबाड़ी पर खर्च करने को पैसा है या नहीं, आदि। और परिवार के आकार पर तो निर्भर होता ही है कि कितनी जमीन पर्याप्त होगी।

कई बार कानूनी रूप से तो जमीन उस परिवार की होती है पर उसकी पूरी पैदावार उन्हें नहीं मिल पाती। फसल का एक बड़ा हिस्सा कर्ज चुकाने में निकल जाता है।

अधिकांश किसानों के लिए, जमीन से प्राप्त होने वाली पैदावार से जैसे तैसे ही साल भर का गुजारा चल पाता है। इसमें से वे किसी विपत्ति के लिए कुछ भी बचाकर नहीं रख पाते। आमदनी और खर्च के बीच बहुत ही नाजुक संतुलन होता है और अधिकांश किसानों को कभी न कभी कर्ज लेना ही पड़ता है। बारिश देर से हो, बोआई लेट हो जाए, कीड़े फसल चौपट कर दें जैसे कई संकट आ सकते हैं और उनकी आमदनी कम हो जाती है। इसी तरह से परिवार में कोई बड़ी बीमारी हो जाए, शादी-ब्याह या मौत हो जाए, तो खर्च का पलड़ा भारी हो जाता है। ऐसे खर्चों के लिए कर्ज लेना ही पड़ता है। और एक बार कर्ज ले लिया तो छुटकारा पाना लगभग असंभव हो जाता है। जब थोड़ी-बहुत जमीन वाले परिवारों की यह हालत है, तो हम समझ सकते हैं कि भूमिहीन परिवारों की क्या दुर्गति होती होगी।

बाहरी व्यक्ति को गांव और पर्याप्त भोजन पर्यायवाची दिखते हैं। परन्तु जो उगाता है, वही उसे उपयोग में भी लेगा यह बात हकीकत में हमेशा सही नहीं होती। हर गांव में बसन्त के परिवार जैसे परिवार होंगे, जिनके पास या तो बहुत थोड़ी जमीन है या है ही नहीं। ये ही ऐसे परिवार हैं जिनके पास चाय तक के लिए दूध नहीं होता।

गांवों में आज भी हालत नहीं बदली है। आज भी वहां गरीब लोग जमींदार, महाजन या पेशेवर सूदखोरों से कर्ज लेते रहते हैं। कर्ज की 60% राशि कर्ज देने वाले के पास हमेशा बकाया रहती है अर्थात् गरीब लोग पूरा कर्ज उतारने में हमेशा असमर्थ रहते हैं। ये लोग यह कर्ज हमेशा 'घरेलू खर्च' के लिए लेते हैं। कर्ज का दो तिहाई हिस्सा 'अल्प कालिक' अर्थात् थोड़े समय के लिए होता है, यह कर्ज व्यक्तिगत जमानत पर दिया जाता है। गांव के गरीब परिवार जमींदार पर पूरी तरह से आश्रित होते हैं इसलिए फसल बोआई के समय मजदूरी के सम्बन्ध में किसी तरह का मोल भाव नहीं कर सकते।

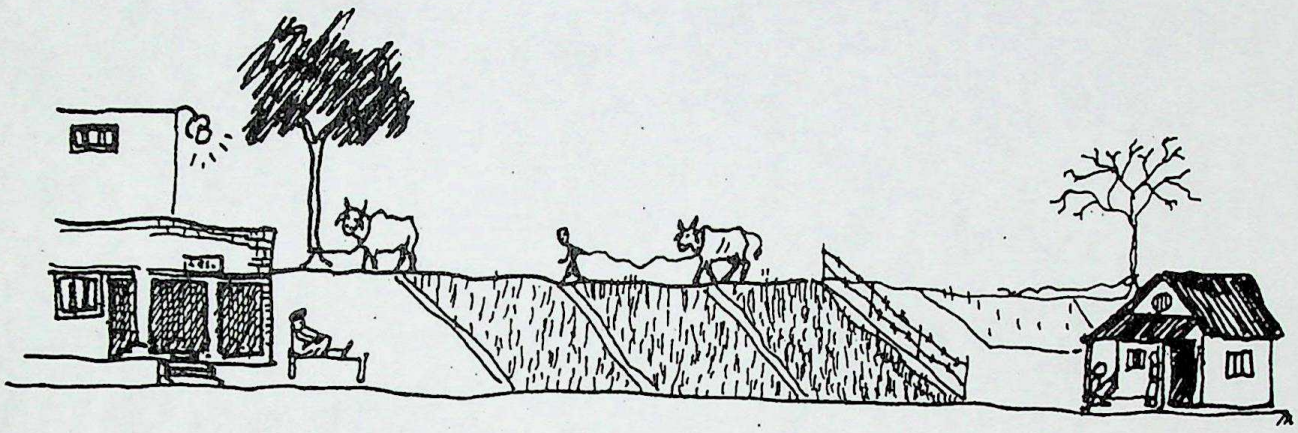

तमिलनाडु के एक गांव के अध्ययन से साफ पता चला कि :

❝ आमदनी कम होने पर बचत करना और कर्ज से बचना बहुत मुश्किल होता है। बचत की गुंजाइश ही नहीं होती क्योंकि जो बहुत ही बुनियादी जरूरतें हैं वो भी ठीक से पूरी नहीं हो पातीं।

जब व्यक्ति के सिर पर अचानक कोई बड़ा खर्च आ जाता है, जैसे, घर की मरम्मत या किसी अनुष्ठान का आयोजन, जैसे, शादी या मृत्यु भोज या अचानक कोई आर्थिक संकट आ जाता है— जैसे फसल नष्ट होना, बेरोजगारी, बीमारी आदि— तो उसके पास इस खर्चे को पूरा करने के लिए कोई संचित कोष नहीं होता। वे साहूकार के शिकंजे में फंस जाते हैं।

साहूकार से लिए गए कर्ज पर औसत ब्याज दर 37 प्रतिशत होती है। यह कानूनी रूप से स्वीकृत दर (12.5 प्रतिशत) से लगभग तिगुनी ज्यादा है। आमतौर पर 100 रुपये के कर्ज पर सालाना एक बोरी धान ब्याज के रूप में वसूला जाता है। धान की कीमत 40-60 रुपए प्रति बोरी होती है। इस प्रकार से यह ब्याज दर 40-60 प्रतिशत बैठती है। एक और प्रचलित दर 6 प्रतिशत प्रति महीना है। ❞

(बिहाइंड पावरटी–दी सोशल फोरमेशन इन ए तमिल विलेज, 1975.)

कर्ज लेने का कारण (प्रत्येक परिवार द्वारा लिए गये सबसे बड़े कर्ज की मद)

	वजह	कर्जदार बने परिवारों का प्रतिशत
1.	भोजन खरीदने और अन्य घरेलू खर्च पूरे करने के लिए (मकान बनाने और मरम्मत समेत)	64%
2.	खेतीबाड़ी के खर्च के लिए	24%
3.	शादी-ब्याह, अंत्येष्टि जैसे अनुष्ठान करने के लिए	20%
4.	अन्य	6%
	कुल	114

(कुल प्रतिशत 100 से ज्यादा इसलिए है क्योंकि कुछ परिवारों ने कर्ज लेने की एक से ज्यादा वजह बताई थी)

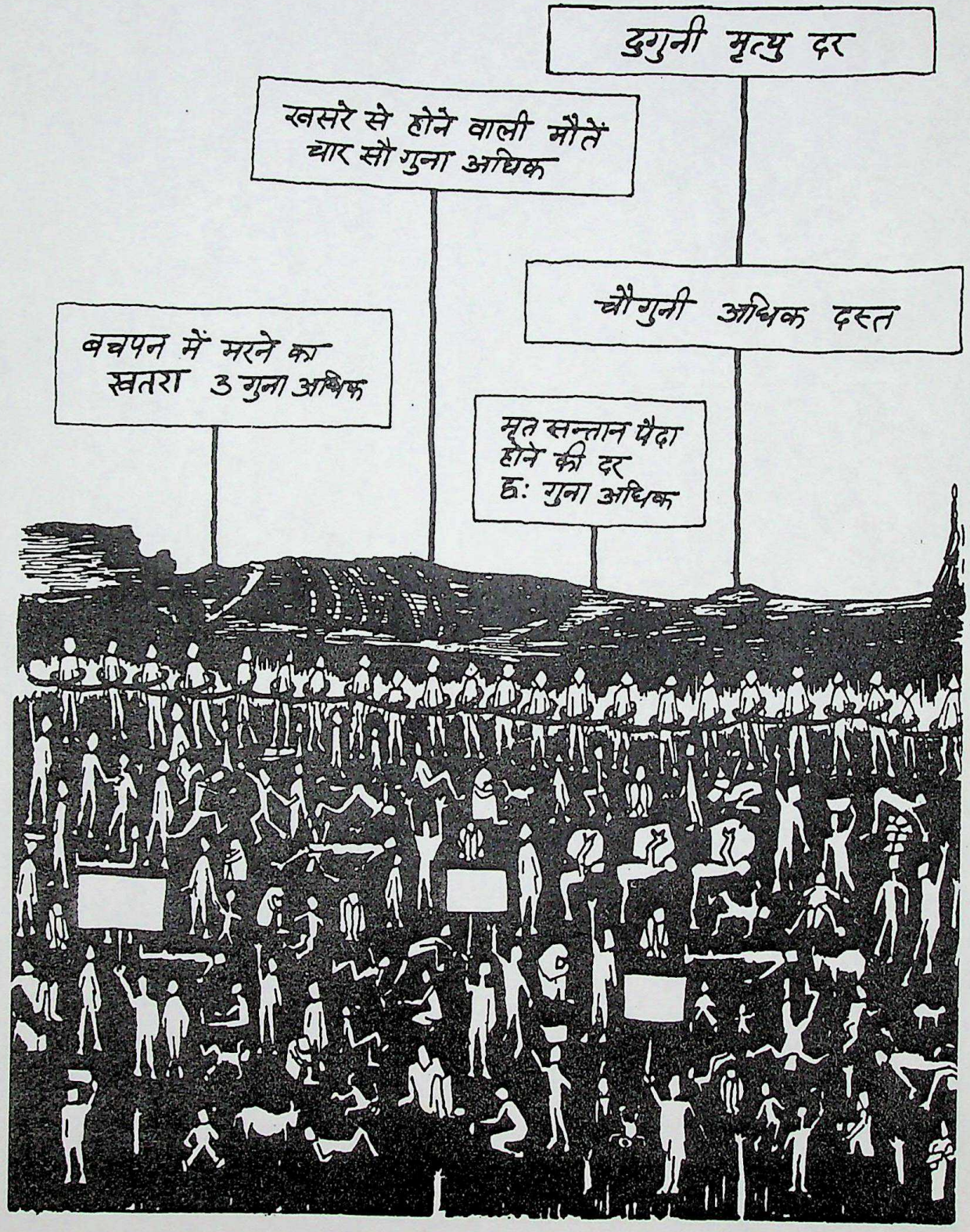
दुगुनी मृत्यु दर
खसरे से होने वाली मौतें
चार सौ गुना अधिक
चौगुनी अधिक दस्त
बचपन में मरने का
खतरा 3 गुना अधिक
मृत सन्तान पैदा
होने की दर
छः गुना अधिक

6 ख : स्वास्थ्य कार्यकर्ता को इस बात से क्या मतलब कि कोई इन्सान कितना गरीब है ?

पहली नजर में ऐसा लगता है कि इस बात से स्वास्थ्य कार्यकर्ता को क्या मतलब कि कोई इन्सान कितना गरीब है या गांव में कितने गरीब लोग हैं। अपने प्रशिक्षण में तो उसने नहीं सीखा था कि बीमारी और इसके इलाज का व्यक्ति की आर्थिक स्थिति से कोई लेना-देना है। उसके हिसाब से तो बीमारियों के लक्षण गरीब और अमीर दोनों में एक से ही होते हैं। परन्तु वह यह भी जानते हैं कि आर्थिक स्थिति का असर सेहत पर पड़ता है। जैसे भीड़-भाड़ वाली जगह, अस्वच्छ वातावरण और अपर्याप्त पोषण का असर स्वास्थ्य पर पड़ता ही है। जो बात कई स्वास्थ्य कार्यकर्ता नहीं समझ पाते वह यह है कि **कई लोगों के मामले में आर्थिक स्थिति ही उनके स्वास्थ्य का निर्धारण करती है।**

निम्नांकित तथ्यों पर गौर कीजिए :

भारत सरकार के अनुसार देहाती इलाकों में 39.06 प्रतिशत लोग गरीबी की रेखा से नीचे हैं। इसका मतलब है कि लगभग आधी ग्रामीण आबादी को दो जून की रोटी भी नसीब नहीं होती। यह साबित हो चुका है कि पर्याप्त भोजन न मिलने से रोग प्रतिरोधक क्षमता कमजोर पड़ जाती है। अर्थात् व्यक्ति बीमारियों के प्रति ज्यादा संवेदनशील हो जाता है। दूसरे शब्दों में, आधी देहाती आबादी या तो पहले से ही बीमार है या बीमार होने के कगार पर है।

"जन्म के समय कम वजन (2500 ग्राम से कम) वाले बच्चों की बचपन में मरने की संभावना सामान्य बच्चों से तीन गुना ज्यादा होती है।"

(यूनिसेफ)

" .....जहां कुपोषण ज्यादा हो, वहां खसरा से होने वाली मौतों की दर सामान्य से 400 गुना ज्यादा होती है....."

(मोर्ले और वुडलैण्ड)

"कुपोषित बच्चों पर दस्त का प्रकोप (सामान्य से) 4 गुना अधिक होता है।" *(मोर्ले और वुडलैण्ड)*

"एनीमिया (खून की कमी) की शिकार औरतों में मातृत्व सम्बन्धी मौतें गैर एनीमिया औरतों से पांच गुना ज्यादा होती हैं। भ्रूण पर इसका प्रभाव और भी ज्यादा होता है। गैर एनीमिया औरतों की बनिस्पत एनीमिया की शिकार औरतों में मृत सन्तान पैदा होने की दर छः गुना ज्यादा होती है।"

(लेवलिन जोन्स)

सर्वे किये गये मरीजों में से करीब तीन-चौथाई की रुग्णता का कारण कुपोषण या उससे जुड़ी अन्य दिक्कतें हो सकती हैं।"

(ड्यूरफेल्ट और लिंडबर्ग)

"गरीब लोगों की आयु कम होती है। अनुमान है कि निम्न आय वर्ग में मृत्यु दर सम्पन्न वर्ग के मुकाबले दो गुनी होती है। (एक अध्ययन से पता चला था कि भूमिस्वामी किसानों में मृत्यु दर 14 और उसी इलाके के हरिजनों की दर 23 प्रतिशत है।)"

(पावर्टी एण्ड डेवलमेन्ट– ए प्रोग्राम्ड कोर्स, सर्च एण्ड टाफ्टी)

"ब्राजील के पोर्टो अलेग्रो नाम के स्थान में गरीबों की बस्तियों में अमीरों की बस्तियों से मृत्यु दर 75% अधिक थी।"

(विश्व बैंक)

उपरोक्त जानकारी से साफ है कि जब कोई व्यक्ति गरीब परिवार में पैदा होता है तो उसी समय उसका नसीब तय हो जाता है। उसकी गरीबी ही आजीवन उसकी सेहत का निर्धारण करती है। उसकी गरीबी से ही तय होता है कि,

- जिन्दा पैदा होगा या मृत
- वह कितनी बार बीमार पड़ेगा
- वह किस उम्र में मरेगा

सात

उस शाम की भोजन वाली घटना के बाद राधा रुक्मणी और उसके परिवार के बारे में सोचती रही। रुक्मणी इतना सारा काम कैसे कर लेती है ? खेतों में मेहनत करना, नाले से पानी लाना, खाना पकाना, तीन बच्चों की देखभाल करना, कितना सारा काम होता है। इसीलिए वह हर समय इतनी थकी-थकी सी लगती है। चमेलीबाई ने बताया था कि रुक्मणी के पति का गुस्सा भी बहुत तेज है। रुक्मणी और उसके बच्चे उससे बहुत डरते हैं।

एक दिन राधा ने चमेलीबाई से रुक्मणी की उम्र पूछी। उसे यह जानकर बहुत आश्चर्य हुआ कि रुक्मणी अभी सिर्फ 30 साल की है। राधा को लगता था कि वह चालीस पार कर चुकी होगी। मतलब रुक्मणी राधा से सिर्फ चार साल बड़ी थी और उसके चार बच्चे हो चुके थे।

रुक्मणी ने दाई से कहकर दो बार गर्भपात करवा लिया था। एक गर्भपात के बाद तो वह बहुत बीमार भी हो गई थी। "पर उससे क्या ? रुक्मणी की उम्र की कई औरतें तो आठ-आठ बार गर्भ से रह चुकी हैं। रुक्मणी तो फिर भी नसीब वाली है।" चमेलीबाई ने निरपेक्ष स्वर में जोड़ा।

बच्चे, बच्चे, बच्चे। क्यों चाहिए लोगों को इतने सारे बच्चे। राधा को यह बात बिलकुल पल्ले नहीं पड़ी। उसे पता था कि थोड़े से बच्चे ही स्कूल जा पाते हैं। अधिकतर बच्चे भगवान भरोसे छोड़ दिए जाते हैं। कोई भी उनकी देख रेख नहीं करता। स्कूल मास्टर ने राधा को एक बार बताया था कि ये देहाती लोग शिक्षा का महत्त्व ही नहीं समझते। मास्टर ने बताया था कि पहले वे लोगों से कहते थे कि बच्चों को स्कूल भेजो। जब कह-कहकर थक गए, तो चिन्ता करना छोड़ दिया। वैसे भी इक्के-दुक्के बच्चे ही पढ़ाई पूरी कर पाते हैं। अधिकतर बच्चे तो स्कूल बीच में ही छोड़ देते हैं। फिर उन्होंने राधा को परिवार नियोजन पर एक भाषण पिला दिया। उनका कहना था कि यदि राधा और कुछ न भी कर पाए, और बस लोगों को छोटे परिवार का महत्त्व ही समझा दे, तो देश की बड़ी सेवा होगी।

परिवार नियोजन के बारे में समझाना राधा के काम का एक हिस्सा था। वह समझाने लगती तो औरतें यह कहकर उसका जोश ठण्डा कर देती कि : "तुम्हें परिवार नियोजन के बारे में क्या पता ? तुम्हारी तो शादी भी नहीं हुई।" इसके बाद से वह परिवार नियोजन की बात तभी करती जब कोई पूछता।

एक सरकारी ए. एन. एम. ने भी परिवार नियोजन का लक्ष्य पूरा करवाने में राधा की मदद मांगी। राधा थोड़ी हिचकिचाई। उसने ए. एन. एम. को औरतों की बात बताई। ए. एन. एम. ने सुझाव दिया कि पहले वे दोनों साथ साथ जाएं और बाद में फ़िर राधा अकेली जाकर भी परिवार नियोजन की बात कर सकती है। राधा नहीं चाहती थी कि ए. एन. एम. को बुरा लगे। इसलिए अनमनेपन के साथ उसने हामी भर दी। परन्तु कुछ ही दिन बाद उसने ए. एन. एम. के साथ जाना बन्द कर दिया। औरतें ए. एन. एम. को पसन्द नहीं करती थीं।

आज यह सब सोचते हुए, राधा को कुछ समझ नहीं आया। रुक्मणी जैसे लोग बहुत गरीब हैं। उनके पास खाने-पहनने तक के लिए पैसा नहीं होता, बच्चों की पढ़ाई तो दूर की बात है। **फिर क्यों रुक्मणी जैसे गरीब लोग इतने बच्चे पैदा करते हैं। तभी तो ये इतने गरीब हैं।**

7 क : रुक्मणी जैसे गरीब लोगों के इतने बच्चे क्यों होते हैं ?

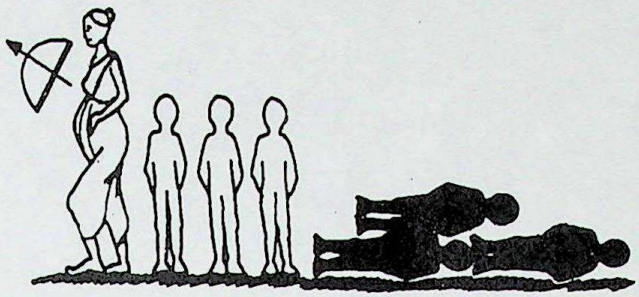

आमतौर पर यह माना जाता है कि बच्चा होने से परिवार की जिम्मेदारी बढ़ जाती है । खर्चा तो बढ़ता ही है, साथ-साथ बच्चे की देखरेख में समय भी लगता है । गरीब परिवार में वैसे ही कई समस्याएं होती हैं । बच्चा होने से समस्याएं बढ़ जाएंगी, ऐसा माना जाता है । पिता, जिसे परिवार का प्रमुख कमाऊ सदस्य समझा जाता है, उसके ऊपर आर्थिक बोझ बढ़ जाएगा । बार-बार गर्भवती होने से मां की सेहत खराब हो जाएगी और वह अपने बच्चों की ठीक से देखभाल भी नहीं कर सकेगी । बड़े परिवार में बच्चे को ठीक से भोजन नहीं मिल पाएगा और वह बीमार होता रहेगा । उसे उतना प्यार और स्नेह भी नहीं मिलेगा । मां-बाप बच्चों को ठीक से पढ़ा-लिखा नहीं पाएंगे । उनका भविष्य अनिश्चित ही रहेगा । इसी सबकी वजह से "छोटा परिवार, सुखी परिवार" का विचार काफी आकर्षक और उचित लगता है ।

इसीलिए स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं का एक काम अपने क्षेत्र में परिवार नियोजन की विधियों का प्रचार-प्रसार करना होता है । दूसरी तरफ, लोग इन विधियों को अपनाने में कोई रुचि नहीं दिखाते । स्वास्थ्य कार्यकर्ता बिलकुल नहीं समझ पाते कि लोग इसको अपनाते क्यों नहीं जबकि सीमित परिवार की बात उनके ही भले के लिए है । बहरहाल बड़ा परिवार चाहने के लोगों के अपने कारण हैं । दरअसल उन्हें लगता है कि जिन्दा रह पाने के संघर्ष में ज्यादा बच्चे लाभदायक हैं ।

अतीत और वर्तमान के विभिन्न समाजों के बारे में जो जानकारी उपलब्ध है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि परिवार के आकार और जीविका के साधनों (अर्थात् भोजन प्राप्त करने के तरीकों) के बीच सीधा सम्बन्ध है । किसी भी समाज में प्रजनन की दर और मृत्यु की दर का तालमेल परिवार के आकार को संतुलित बनाये रखता है । सामाजिक और धार्मिक रीति-रिवाज भी इसी तरह के बन जाते हैं कि परिवार का आकार ठीक बना रहे ।

उपरोक्त बात दो अलग अलग समाजों के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाती है : एक उदाहरण शिकारी-संग्रहकर्ता समाज का है और दूसरा खेतिहर समाज का ।

शिकारी-संग्रहकर्ता समाज

इस सभ्यता में लोग अपना भोजन खुद पैदा नहीं करते थे । वे उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों पर ही पूरी तरह निर्भर थे । जानवरों का शिकार और जंगल से भोजन इकट्ठा करना उनके जीवन का मुख्य आधार था । इस वजह से उन्हें भोजन की तलाश में काफी भटकना पड़ता था । एक अनुमान के मुताबिक कुछ समूह तो सालाना 4,200 कि. मी. तक की यात्रा कर लेते थे । सुरक्षा की दृष्टि से समूह बड़ा होना जरूरी था, परन्तु इतना बड़ा भी नहीं कि घूमने-फिरने में बाधा बन जाए ।

जीवन निर्वाह हेतु जरूरी काम करने के लिए जरूरी था कि प्रत्येक समूह में सुगठित ताकतवर शरीर वाले काफी लोग हों । औसत आयु कम होती थी और समूह में लगातार नए सदस्यों का जुड़ना बहुत जरूरी था । इसलिए प्रजनन दर ज्यादा होती थी ताकि वयस्कों की मृत्यु की भरपाई की जा सके । बाल मृत्यु दर भी ज्यादा थी । इसकी भी भरपाई करनी होती थी । दो जचकियों के बीच इतना अन्तर रखा जाता था कि मां अन्य काम करते हुए, बच्चों की देखभाल कर सके ।

उदाहरण के लिए, जब लम्बी दूरी पार करनी होती, तो अन्य साज-सामान के आलावा मां को अपना बच्चा भी ढोना होता था । बच्चे को स्तनपान कराना और दूध छुड़ाने के लिए नरम भोजन कराना भी मां की ही जिम्मेदारी थी । यह सब तभी हो सकता था जब उसे एक समय पर एक ही बच्चे का ध्यान रखना हो । इसके कारण दो जचकियों के बीच न्यूनतम तीन साल का अन्तर जरूरी था ।

सामाजिक रिवाज इस तरह के बने कि जरूरी संख्या में बच्चे पैदा हों और दो बच्चों के बीच पर्याप्त अन्तर भी रहे । प्रसव के बाद निर्धारित अवधि तक सम्भोग पर प्रतिबन्ध, दो साल तक स्तनपान कराना, गर्भपात, शिशु-हत्या, आदि सामाजिक रिवाजों से प्रजनन को नियंत्रित करने में मदद मिली । इसका एक प्रमाण यह है कि शिकारी-संग्रहकर्ता समाज में प्रजनन दर इतनी थी कि आबादी या तो स्थिर रहे या बहुत धीरे-धीरे बढ़े ।

इसका मतलब यह है कि पुरुष-स्त्री के प्रत्येक जोड़े ने आबादी में

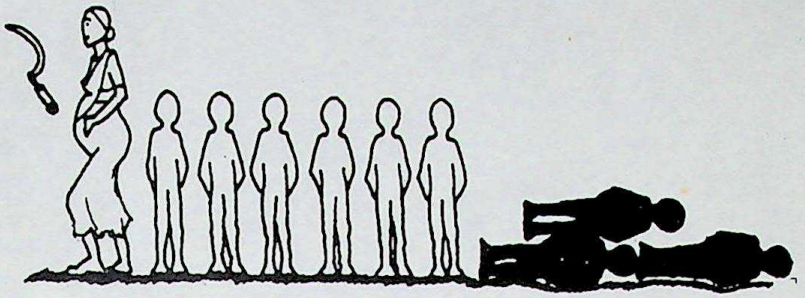

औसतन दो या तीन बच्चों की बढ़ोतरी की होगी। दो-तीन बच्चे जीवित रहे, इसके लिए जरूरी रहा होगा कि प्रत्येक स्त्री चार-पांच तक बच्चों को जन्म दे, क्योंकि उस समय बाल-मृत्यु दर 40-50 प्रतिशत थी। उस समय एक व्यक्ति की औसत आयु तीस साल होती थी। इसका अर्थ था कि प्रत्येक स्त्री तीस साल की उम्र तक 4-5 बच्चे जने। देखा जाए तो पन्द्रह वर्ष की छोटी-सी प्रजनन अवधि में प्रत्येक स्त्री 4-5 से ज्यादा बच्चे भी जन सकती थी। परन्तु ऐसा नहीं होता था। इससे स्पष्ट है कि परिवार के आकार को सीमित रखने की कोई न कोई विधि जरूर अपनाई जाती होगी।

खेतिहर समाज

इस समाज में जीवन का आधार खेती होता था। धरती से अन्न उपजाने के लिए लोगों को कम-से-कम बोआई से कटाई तक तो एक जगह टिकना ही पड़ता था। खेती तो मूलतः मौसमी होती है। एक फसल लेने में कुछ महीने लगते हैं। दूसरी बात यह है कि बिना सिंचाई के लगातार फसलें उगाना असंभव है। अर्थात् कटाई के समय काफी मात्रा में अनाज होता है। इसे अगली कटाई तक चलाना होता है। अगली कटाई तक चलाने के लिए काफी मात्रा में अन्न चाहिए। इसके लिए काफी ज्यादा भूमि पर खेती करनी होगी। यह एक अकेले व्यक्ति के बस की बात नहीं है। खेती में कुछ समय बहुत काम होता है (जैसे बोआई, निंदाई, कटाई आदि के समय)। इन कामों को थोड़े से वक्त में पूरा करना होता है। यह भी अकेले इन्सान के बस की बात नहीं है।

इस प्रकार खेती के खास खास दौर में ढेर सारे काम होते हैं और इन कामों को निपटाने के लिए बहुत से लोगों की जरूरत होती है ताकि पर्याप्त मात्रा में अन्न पैदा किया जा सके। इसलिए खेतिहर समाज कई लोगों के आपसी सहयोग पर आधारित है। जरूरत के वक्त लोग मिलें और काम करने को तैयार हों, इसके लिए जरूरी था कि उनके बीच एक प्रकार का सामाजिक बन्धन हो। इसके अलावा इन सारे कामों के बंटवारे और संयोजन के लिए भी किसी की जरूरत थी। इन जरूरतों को पूरा करने के लिए संयुक्त परिवार अस्तित्व में आया।

संयुक्त परिवार में दो-तीन पीढ़ी के लोग एक ही घर में रहते थे। ऐसे संयुक्त परिवार में पीढ़ीवार छोटी-छोटी पारिवारिक इकाइयां (मां-बाप और उनके बच्चे) होती थी। ये संयुक्त परिवार खून और शादी के मजबूत रिश्तों से बंधे रहते थे।

संयुक्त परिवार में सबसे बुजुर्ग पुरुष को परिवार का मुखिया माना गया। मुखिया को ही सारे प्रमुख निर्णय लेने का हक होता है। यह संयुक्त परिवार एक आर्थिक इकाई था। हर सदस्य से परिवार के लिए मेहनत करने की आशा की जाती थी। बच्चों से भी उम्मीद की जाती थी कि वे, काफी छोटी उम्र से ही, कामकाज में हाथ बंटाएं। वे पानी और लकड़ी लाते थे, ढोर चराते थे, खाना पकाने व साफ-सफाई में मदद करते थे और अपने से छोटे बच्चों को संभालते थे। इस तरह से बच्चे कई घरेलू काम निपटाते थे। इससे वयस्कों को खेतों में काम करने के लिए ज्यादा समय मिल जाता था। जैसे-तैसे बच्चे बड़े होते जाते, घरेलू कामों में उनका हिस्सा कम होता जाता और उनको खेती के काम में लगा दिया जाता।

इस प्रकार से परिवार का हर सदस्य काम में हाथ बंटाता और पैदावार में हिस्सेदार होता। पैदावार में प्रत्येक सदस्य का हिस्सा उसके श्रम के मूल्य के आधार पर तय होता था। शायद यही कारण है कि परिवार में स्त्रियों व बच्चों को कम हिस्सा मिलता है क्योंकि उनका श्रम वयस्क पुरुषों के मुकाबले कम मूल्य का माना जाता है। श्रम किये बगैर परवरिश सिर्फ बहुत छोटे बच्चों, बीमार व्यक्तियों और बहुत बूढ़े व्यक्तियों को ही मिलती थी। बच्चे तो भविष्य की निधि हैं जबकि बूढ़े लोगों को उनके पूर्व योगदान के लिए सम्मान दिया जाता था।

इस प्रकार खेतिहर समाज में परिवार बड़े होते थे और मजबूत रिश्तों द्वारा जुड़े रहते थे। सभी सदस्य अपना योगदान देते थे। परिवार के मुखिया की बात को सभी सदस्य बिना किसी हीलहवाला के स्वीकार करते थे। परिवार का कामकाज एक आर्थिक इकाई के रूप में चलता था। आर्थिक यथार्थ का तकाज़ा था कि प्रत्येक परिवार में बड़ी संख्या में काम करने वाले सदस्य हों। इसलिए प्रजनन-दर और मृत्यु दर के बीच सामंजस्य स्थापित करना जरूरी था।

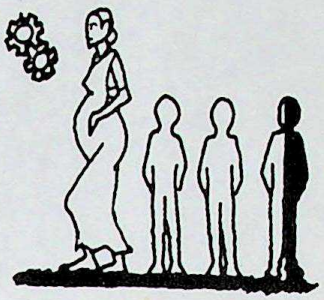

आज भी भारत के गांवों में खेती ही जीवन का प्रमुख आधार है। अलबत्ता खेती में एक बुनियादी बदलाव आया है— अलग-अलग लोगों के पास उपलब्ध जमीन की मात्रा में बहुत अन्तर पैदा हो गए हैं। बड़े पैमाने पर ये परिवर्तन मुख्यतः ब्रिटिश शासन के समय आना शुरू हुए।

ब्रिटिश सरकार ने भूमि पर अन्धाधुन्ध लगान लगाया और लगान वसूलने की जिम्मेदारी जमींदारों पर डाल दी। लगान चुकाने के लिए किसान साहूकारों से ऊंची ब्याज दरों पर कर्ज लेने को मजबूर हो गए। लगान न चुका पाने की हालत में किसानों से उनकी जमीन छीन ली जाती थी। इस तरह से जमीन थोड़े से लोगों के हाथों में सिमटने लगी। किसान भूमिहीन होते गए और मजदूरी करने लगे। यह प्रक्रिया आजादी के बाद भी जारी रही। सन् 1970 के एक अनुमान के मुताबिक 60 प्रतिशत कृषि योग्य भूमि पर मात्र 12 प्रतिशत परिवारों का कब्जा था। इसके विपरीत 44 प्रतिशत ग्रामीण परिवार मात्र 1.6 प्रतिशत भूमि के मालिक थे और 26 प्रतिशत परिवारों के पास कोई जमीन नहीं थी। इन भूमिहीन व छोटे किसानों के लिए आज खेती कतई लाभदायक नहीं रही अर्थात् इससे उनकी बुनियादी जरूरतें भी पूरी नहीं होती। हालांकि यही उनके जीवन निर्वाह का प्रमुख साधन है।

अन्य मायनों में भी खेती की स्थिति में कोई बदलाव नहीं हुआ है। यह अभी भी मौसमी है और वर्षा पर निर्भर है। अभी भी खेती में समय समय पर बहुत ज्यादा श्रम करना पड़ता है। बहुमत के लिए आज भी खेती उसी हालत में लाभदायक होती है, जब परिवार के काफी सदस्य मिलकर काम करें, इसलिए गांवों में आज भी संयुक्त परिवार का ढांचा बरकरार है। बच्चों (6-18 वर्ष) द्वारा किए जाने वाले काम आज भी काफी अहमियत रखते हैं। चाहे परिवार के पास जमीन हो या न हो।

गांव के अधिकांश लोग या तो भूमिहीन खेतिहर मजदूर हैं या थोड़ी बहुत जमीन के मालिक हैं। यही लोग सबसे ज्यादा गरीब हैं। इनके बच्चे काम में सबसे ज्यादा योगदान देते हैं। उनका योगदान घरेलू काम और खेतीबाड़ी दोनों ही किस्म के कामों हैं होता है। (तालिका देखें)।

6-18 वर्ष की उम्र के बच्चों में से घरेलू व खेतीबाड़ी का काम करने वाले बच्चे

परिवार की भूमि का रकबा (क्षेत्रफल)	खेतीबाड़ी (प्रतिशत)	घरेलू काम (प्रतिशत)
भूमिहीन	20.0	51.6
2.5 एकड़ से कम	21.7	44.6
2.5 से 5 एकड़	10.1	48.8
5 से 10 एकड़	12.4	32.7
10 से 15 एकड़	14.3	25.8
15 से 25 एकड़	7.9	37.9
25 से 50 एकड़	2.3	25.4
50 से 100 एकड़	0	37.8
100 एकड़ से ज्यादा	0	12.5

स्रोत : ये आंकड़े महाराष्ट्र के मराठवाड़ा क्षेत्र में किए गए एक अध्ययन में से लिए गए हैं। यह अध्ययन "ओवर पापूलेशन एण्ड रूरल पुअर" नाम से इकनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली (विशेषांक 1976) नामक पत्रिका में एम. वी. नाडकर्णी द्वारा प्रकाशित किया गया था।

यदि परिवार के पास अपनी जमीन हो, तो लाभ इसमें है कि अधिक से अधिक काम परिवार के सदस्य ही करें, ताकि बाहर से मजदूर न लगाना पड़े। यदि परिवार बटाई पर जमीन लेता है तो जितने ज्यादा सदस्य होंगे उतनी ज्यादा जमीन ली जा सकेगी। यदि परिवार के सदस्य दिहाड़ी पर काम करते हों, तो जितने ज्यादा सदस्य काम करेंगे, आमदनी का जरिया उतना ही ज्यादा होगा। पंजाब के एक किसान ने बताया,

> "जिनके घर पर भाई या लड़के नहीं होते, वे खेती नहीं करते। बिना लड़कों के खेती से गुजारा नहीं हो सकता। आपके जितने ज्यादा लड़के होंगे, उतने ही कम मजदूर लगाने पड़ेंगे, और उतनी ही ज्यादा बचत होगी।"

ज्यादा बच्चों की चाहत और उसमें भी बेटों की चाहत के पीछे मूलतः यह आर्थिक कारण काम करता है। बेटियां भी अपने श्रम का योगदान देती हैं, पर शादी तक ही। जबकि बेटे परिवार में ही रहते हैं और जमीन के वारिस बनते हैं। बेटे ही बुढ़ापे में मां-बाप का सहारा बनते हैं। इस प्रकार से बेटे ही परिवार के लिए आर्थिक रूप से फायदेमंद माने जाते हैं।

मान लीजिए किसी दम्पत्ति को एक लड़का चाहिए तो इसके लिए औरत को औसतन 6.3 बच्चे पैदा करने होगे। जैसा कि हमने पहले कहा था, किसी भी समाज में प्रजजन दर मृत्यु दर से जुड़ी होती है। जैसे-जैसे बच्चों के मरने का जोखिम कम होता जाता है, वैसे-वैसे प्रजनन दर घटती जाती है। सामने की तालिका से यह बात स्पष्ट होती है—

	प्रान्त	शिशु मृत्यु दर	जन्म दर
1.	उड़ीसा	120	28.9
2.	मध्य प्रदेश	111	35.7
3.	उत्तर प्रदेश	98	35.8
4.	राजस्थान	84	34.4
5.	आसम	76	30.4
6.	आन्ध्र प्रदेश	71	25.5
7.	गुजरात	69	28.3
8.	तमिलनाडू	58	21.0
9.	केरल	17	18.5

स्रोत : इ. पी. डब्लू. रिसर्च फाउन्डेशन, इकनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, 1994.

गरीबों को बच्चे क्यों चाहिए : जावा में बच्चों द्वारा किए जाने वाले काम

10-12 साल की उम्र आते-आते लड़के-लड़कियां अपने खर्च से कहीं ज्यादा कमाने लगते हैं। 15 साल की उम्र तक लड़के इतना कमा कर दे चुके होते हैं, जितना जन्म से तब तक उन पर खर्च किया गया था।

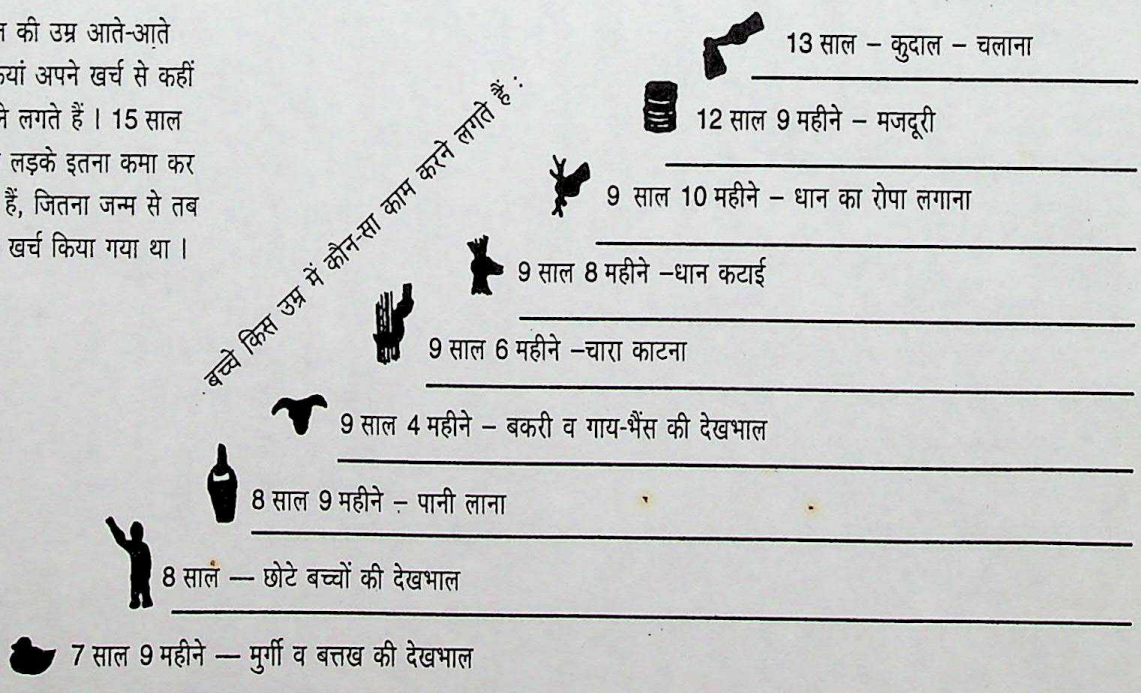

स्रोत : हैल्पिंग हैल्थ वर्कर्स लर्न, डेविड वर्नर और बिल बोवर।

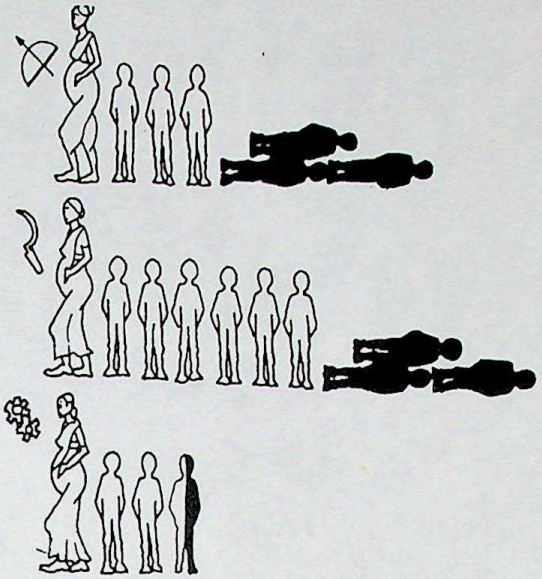

उड़ीसा प्रांत के अतिरिक्त जिन प्रांतों में शिशु मृत्यु दर कम है वहां जन्म दर भी कम होती है। चूंकि बच्चे, और खासकर लड़के, खेतिहर परिवारों के लिए जरूरी समझे जाते हैं। अतः समाज के रीति-रिवाज व धर्म भी इस नजरिये को पुख्ता बनाते हैं। औरतों पर काफी सामाजिक दबाव होता है कि वे शादी के तुरन्त बाद गर्भवती हो। यदि शादी के कुछ महीनों बाद तक किसी औरत को गर्भ न ठहरे, तो उसे बांझ करार दिया जाता है। उसे अभागिन समझा जाता है। उसे हिकारत की नजरों से देखा जाता है। ऐसी स्थिति में पति को दूसरी शादी करने का हक दिया गया है। जिस औरत को लड़के नहीं होते, उसे भी अभागी माना जाता है। धर्म में भी पुत्र प्राप्ति की आवश्यकता पर बल दिया गया है सबसे बड़ा लड़का ही पिता का अन्तिम संस्कार करता है। इस सबके कारण औरतें इस आशा में बच्चे पैदा करती जाती हैं कि एक-दो बेटे हो ही जायेंगे।

इसका मतलब यह नहीं है कि परिवार अनगिनत बच्चे पैदा करता जाएगा। होता यह है कि बच्चों की संख्या और अपनी सामर्थ्य के बीच एक संतुलन बनाया जाता है। जब ऐसी स्थिति आ जाए कि आवश्यकतानुसार बच्चे हो चुके हों, तो गर्भ रोकने के उपाय भी किए जाते हैं, जैसे, गर्भपात, शिशु-हत्या, सम्भोग न करना, वगैरह। आखिरकार असीमित बच्चे तो परिवार के हित में नहीं हैं क्योंकि इससे परिवार का अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता है। वास्तव में और बच्चे पैदा होने की सम्भावना तो बनी रहती है, परन्तु इसे रोका जाता है।

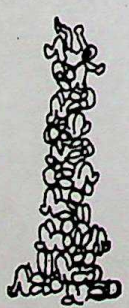

"एक औरत का प्रजनन काल लगभग 15 से 45 साल की उम्र तक होता है। यदि उसकी शादी 15 साल की उम्र में हो, तो 30 साल की अवधि तक वह गर्भवती होती रह सकती है। अर्थात् वह 15 बच्चे जन सकती है। परन्तु ऐसा कभी होता नहीं। भारत के बारे में जानकारी से पता चलता है कि एक औरत औसत 6-7 बच्चे पैदा करती है, बशर्ते कि उसका वैवाहिक जीवन निर्बाध रूप से चले।"

(पार्क एण्ड पार्क)

हमने ऊपर देखा कि परिवार का आकार समाज की आर्थिक स्थिति से तय होता है। भारत में पूरी आवादी की आर्थिक स्थिति एक-सी नहीं है। तीन-चौथाई आवादी गांवों में खेती पर निर्भर है। जैसा कि हमने देखा, इनको बड़े परिवार चाहिए होते हैं।

कम बच्चे तभी लाभदायक हो सकते हैं, जब

1. बच्चों द्वारा किया जाने वाला काम परिवार के अस्तित्व के लिए जरूरी न हो। इसका मतलब है कि बच्चे जो काम करते हैं, उन कामों की जरूरत न रहे, जैसे लकड़ी बीनना या पानी लाना। इसका मतलब यह भी होगा कि वयस्क लोगों की इतनी आमदनी हो कि उससे बच्चों को तब तक पाल पोस सकें जब तक कि वो कमाने लायक न हो जायें (यानि कि जिन्दगी के एक तिहाई हिस्से तक)। पालने का मतलव है भोजन, कपड़े, शिक्षा, व्यवसायिक ट्रेनिंग, वगैरह।

2. बुढ़ापे में लोग पूरी तरह सन्तानों पर आश्रित न हों। इसका अर्थ यह है कि या तो लोग बुढ़ापे के लिए अपनी आमदनी में से पर्याप्त बचत कर सकें या परिवार से बाहर की कोई संस्था बुढ़ापे में उनको सहारा दे (जैसे पेन्शन, अनिवार्य बचत या सरकारी कल्याण योजना)।

3. माता-पिता को यह भरोसा हो कि उनके बच्चे जिन्दा रहेंगे। इसका मतलब यह है कि परिवार को रहने के लिए स्वच्छ वातावरण मिले और साफ पानी, पर्याप्त पोषण, चिकित्सा सुविधा, आदि की सहूलियत हो। इसका अर्थ यह भी है कि बच्चों को पर्याप्त स्वास्थ्य सुविधाएं उपलब्ध हों।

वर्तमान में ऐसी सहूलियतें मुट्ठी भर–सरकारी व उद्योगों के स्थायी कर्मचारियों को ही उपलब्ध हैं। इन लोगों ने अपनी नई आर्थिक व सामाजिक स्थिति के अनुरूप अपने प्रजनन के ढंग को ढाल लिया है। जब अधिकतर लोगों के हालात इस तरह के हो जाएंगे, तो उसके अनुरूप उनके सामाजिक रीति-रिवाजों व धार्मिक विश्वासों में भी बदलाव आएगा।

7 ख : क्या रुक्मणी जैसे लोगों की गरीबी का कारण ज्यादा बच्चे हैं ?

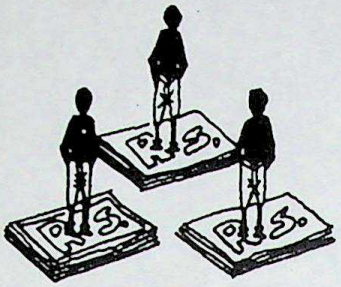

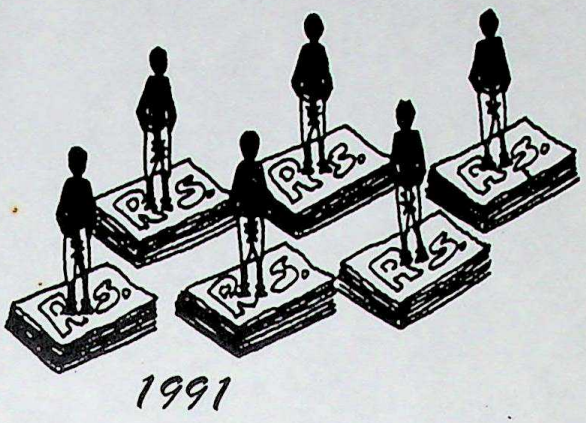

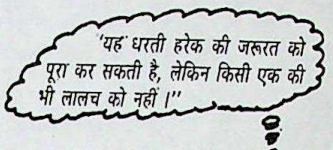

जब भी कभी हम गरीब परिवारों में ज्यादा बच्चे देखते हैं, तो सोचते हैं कि यही उस परिवार की गरीबी का कारण है। गरीबी और अति-जनसंख्या का सम्बन्ध हमारे दिलो-दिमाग पर इस कदर छा गया है कि हम गरीबी की अन्य कोई वजह ढूंढने की कोशिश ही नहीं करते। सरकार भी इसी तरह की बातों का प्रचार करती है—

- खाद्यान्न उत्पादन तो बड़ा है पर अब पहले से भी ज्यादा लोग गरीबी की रेखा के नीचे हैं।
- नए-नए उद्योग धन्धे खुल रहे हैं पर बेरोजगारी बढ़ती जा रही है।
- आवास, यातायात, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि सुविधाएं कितनी भी बढ़े पर कम पड़ जाती हैं।

इन सब बातों का मतलब यही निकलता है कि देश तो ठीक दिशा में बढ़ रहा है परन्तु जनसंख्या बढ़ने के कारण प्रगति में रुकावट पैदा हो रही है। यदि हम पूरे देश की बात करें, तो जनसंख्या समस्या को यों रखा जा सकता है :

हमारा देश गरीब है क्योंकि यहां की आबादी बहुत ज्यादा है। हमारे साधन सीमित हैं और सभी लोगों की बुनियादी जरूरतें पूरी नहीं की जा सकती। जीवन-स्तर सुधारने के सारे प्रयास नाकाम हो जाते हैं क्योंकि जितनी तेजी से साधन बढ़ते हैं, आबादी उससे भी तेजी से बढ़ती है। इसलिए गरीबी कम करने का एक ही उपाय है— जनसंख्या कम करना।

क्या वाकई बढ़ती गरीब के लिए अतिजनसंख्या जिम्मेदार है ?

जरा प्रगति के कुछ मापदण्डों पर गौर करें।

1. प्रति व्यक्ति आमदनी

यदि हम देश की सालाना आमदनी में कुल जनसंख्या का भाग दें, तो प्रति व्यक्ति का आंकड़ा मिलता है।

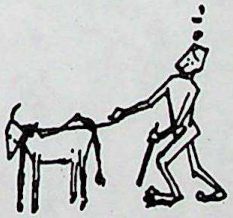

उदाहरण के लिए,

यदि 1951 में देश की कुल आय = अ हो

और 1951 में देश की कुल आबादी = ब हो

तो देश की प्रति व्यक्ति आमदनी = अ/ब होगी।

अब यदि हम देश की प्रति व्यक्ति आमदनी का वास्तविक आंकड़ा देखें तो पाते हैं कि यह लगातार बढ़ रहा है।

1951 में प्रति व्यक्ति आमदनी = 1126.9 रु. थी।
(1980-81 की कीमतों के आधार पर)

1991 में प्रति व्यक्ति आमदनी = 2198.6 रु. थी।
(1980-81 की कीमतों के आधार पर)

इसका मतलब है कि यदि देश की कुल आमदनी को सारे लोगों में बराबर-बराबर बांटा जाता, तो 1951 के मुकाबले 1991 में हर व्यक्ति के हिस्से में ज्यादा रुपए आते। इसका मतलब हैं कि **जनसंख्या की तुलना में हमारे देश में कुल आमदनी ज्यादा बढ़ी है।**

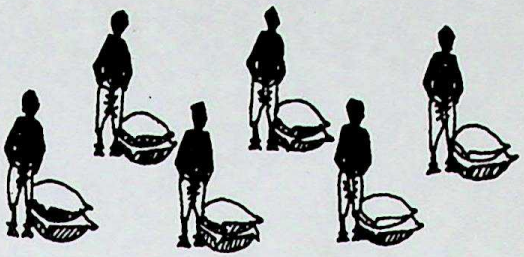

1991

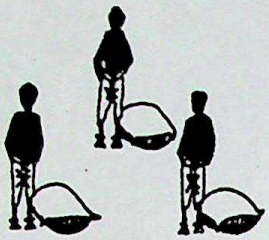

1951

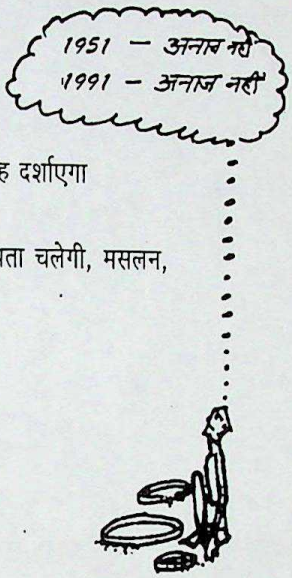

2. प्रति व्यक्ति प्रतिदिन अनाज की उपलब्धता

यदि हम देश में उपलब्ध कुल अनाज की मात्रा में देश की जनसंख्या का भाग दें तो हमें जो आंकड़ा मिलेगा, वह दर्शाएगा कि प्रतिव्यक्ति अनाज की कितनी मात्रा मौजूद है।

यह आंकड़ा पूरे साल का होगा। अब यदि इसमें 365 का भाग दें, तो प्रति व्यक्ति प्रतिदिन अनाज की स्थिति पता चलेगी, मसलन,

यदि 1951 में कुल अनाज	= अ हो
और 1951 में कुल जनसंख्या	= ब हो
तो प्रति व्यक्ति अनाज की मात्रा	= अ / ब = स होगी
और प्रति व्यक्ति प्रतिदिन अनाज की मात्रा	= स / 365 = द होगी

हम देखते हैं कि देश में प्रति व्यक्ति अनाज की उपलब्ध मात्रा भी बढ़ी है।

1951 में प्रति व्यक्ति प्रतिदिन अनाज की मात्रा	= 334.2 ग्राम
1991 में प्रति व्यक्ति प्रतिदिन अनाज की मात्रा	= 470.7 ग्राम

इसका मतलब यह निकलता है कि बराबर-बराबर बांटा जाने पर 1951 की बनिस्पत 1991 में देश के हर व्यक्ति को ज्यादा अनाज मिला। इसका आशय यह भी है कि **जनसंख्या की तुलना में देश का खाद्यान्न उत्पादन ज्यादा तेजी से बढ़ा है।**

3. बेरोजगारी

आमदनी के लिए रोजगार की जरूरत होती है। इसी से जीवन की बुनियादी जरूरतें पूरी की जा सकती हैं। परन्तु हमारे देश में बेरोजगारों की संख्या बढ़ती ही जा रही है।

1956 में बेरोजगारों की संख्या	= 53 लाख
*1971 में बेरोजगारों की संख्या	= 1 करोड़ 87 लाख
15 सालों में वृद्धि	= 1 करोड़ 34 लाख
प्रतिशत में दर्शाने पर यह वृद्धि होगी	= 252.8%

बेरोजगारों की संख्या में 252.8 प्रतिशत की यह वृद्धि इतनी ज्यादा है कि सिर्फ जनसंख्या वृद्धि के आधार पर नहीं समझा जा सकता क्योंकि उन्हीं 15 सालों (1956-1971) के बीच जनसंख्या में वृद्धि सिर्फ 35 प्रतिशत ही हुई :

**1956 में भारत की जनसंख्या	= 40 करोड़ 60 लाख
1971 में भारत की जनसंख्या	= 54 करोड़ 80 लाख
15 सालों में वृद्धि	= 14 करोड़ 20 लाख
प्रतिशत वृद्धि	= 35 प्रतिशत

(* बेरोजगारी के नवीनतम आंकड़े हमारे पास उपलब्ध नहीं हैं।

**ये आंकड़े 1951 की जनसंख्या के आधार पर प्रतिवर्ष 2.5 प्रतिशत की वृद्धि दर को मानते हुए निकाले गये हैं।)

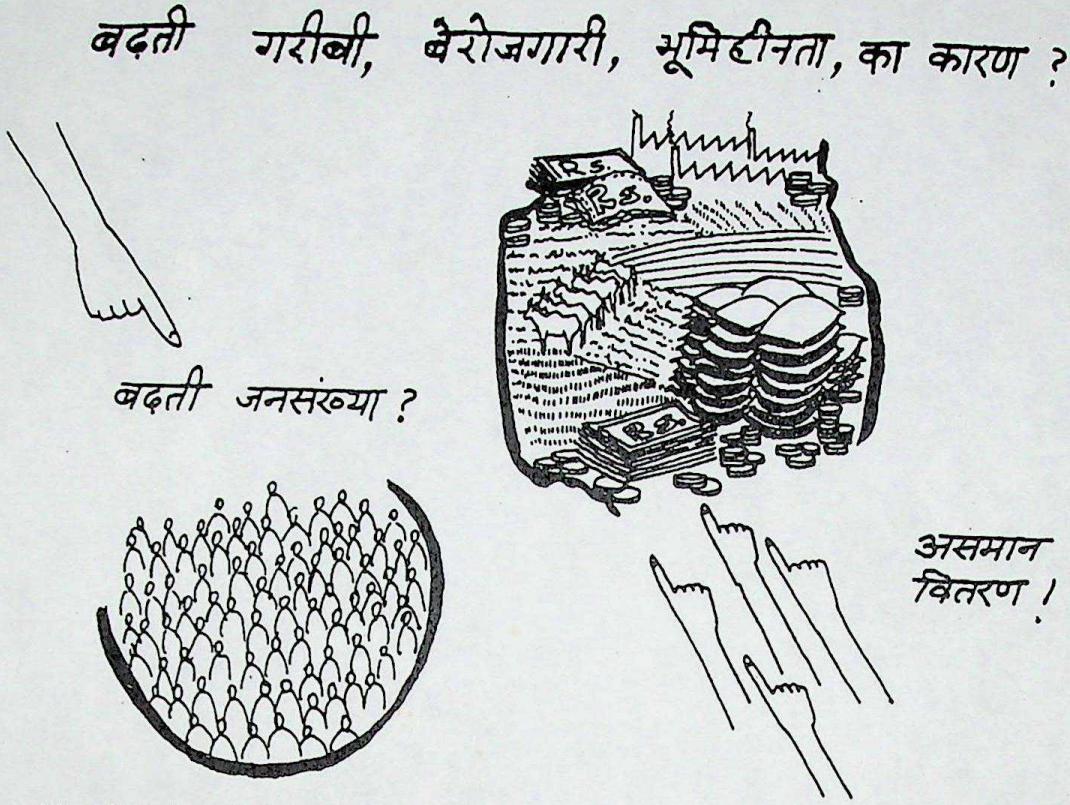

इस तरह बेरोजगारों की संख्या में वृद्धि, जनसंख्या में वृद्धि से सात गुना ज्यादा रही। अतः बेरोजगारी बढ़ने का मुख्य कारण जनसंख्या में बढ़ोतरी नहीं हो सकता।

अभी तक हमने देखा कि किस तरह हमारे देश में जनसंख्या वृद्धि को गरीबी का मुख्य कारण बताया जाता है। फिर प्रगति की तीन कसौटियों के आधार पर हमने यह भी देखा कि यह दलील सही नहीं है। इसी प्रकार से कहा तो यह भी जाता है कि जनसंख्या वृद्धि के कारण ही अधिकांश लोग भूमिहीन हो गए हैं। आगे हम देखेंगे कि यह बात भी सही नहीं है।

4. क्या भूमिहीनता का कारण अधिक जनसंख्या है ?

यह तो सही है कि खेतिहर मजदूरों की संख्या लगातार बढ़ रही है :

1961-62 में पुरुष खेतिहर मजदूरों की संख्या	= 1 करोड़ 60 लाख
1991-92 में पुरुष खेतिहर मजदूरों की संख्या	= 4 करोड़ 62 लाख
30 सालों में हुई वृद्धि	= 3 करोड़ 2 लाख
पुरुष मजदूरों की संख्या में वृद्धि का प्रतिशत (तीस साल)	= 200 प्रतिशत

खेतिहर मजदूरों की संख्या में इतनी ज्यादा (200 प्रतिशत) वृद्धि का दोष सिर्फ जनसंख्या वृद्धि के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता क्योंकि इन्हीं तीस सालों (1961-1991) में ग्रामीण जनसंख्या में मात्र 72.5 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई।

1961-62 में कुल ग्रामीण जनसंख्या	= 36 करोड़
1991-92 में कुल ग्रामीण जनसंख्या	= 62 करोड़ 12 लाख
30 सालों में वृद्धि	= 26 करोड़ 12 लाख
30 सालों में वृद्धि का प्रतिशत	= 72.5 प्रतिशत

इसलिए पुरुष खेतिहर मजदूरों की संख्या में बढ़ोतरी का कोई और कारण होना चाहिए। इन्हीं खेतिहर मजदूरों के लिए खेती आज लाभदायक धन्धा नहीं रह गया है। हालांकि खेती उनकी आजीविका का मुख्य आधार है पर इससे उनकी बुनियादी जरूरतें भी पूरी नहीं हो पातीं। ये ही लोग लगातार बढ़ती संख्या में निर्धन होते जा रहे हैं।

हमने ऊपर देखा कि खेती में लगे लोगों की ग़रीबी का कारण परिवार का आकार नहीं है। बच्चे तो इन परिवारों के अस्तित्व के लिए निहायत जरूरी हैं, चाहे जमीन हो या न हो। वास्तव में गरीबी का कारण यह है कि परिवार के पास या तो जमीन है ही नहीं या थोड़ी सी है फिर भी वह खेती पर निर्भर है। ज्यादा बच्चे रुक्मणी जैसे लोगों की गरीबी का कारण नहीं हैं बल्कि बात इससे ठीक उल्टी है। उनके इतने बच्चे इसीलिए हैं क्योंकि वे गरीब हैं और उनके जीवित रहने के लिए ही इतने बच्चों का होना जरूरी है।

आठ

राधा को आज अपनी सहेली श्यामा का पत्र मिला। राधा की खुशी का ठिकाना न रहा। श्यामा ने लिखा था कि वह एक हफ्ते राधा के पास रहेगी। राधा को लगा मानों किसी से खुलकर बातें किए, बरसों हो गए। कितनी सारी बातें तो हैं करने के लिए।

अगले कुछ दिन राधा बहुत हल्के-फुल्के मूड में रही। सहेली के आने की खुशी में काम और गांव के लोगों की चिन्ताएं मानों एक तरफ हो गई।

छुट्टी लेकर वह श्यामा को लेने स्टेशन गई। चमेलीबाई के साथ वह धीरता से ट्रेन का इन्तजार करती रही। अन्ततः ट्रेन आई पूरे दो घण्टे लेट। दोनों सहेलियां एक-दूसरे से मिलने को इतनी आतुर थीं कि समझ ही नहीं पा रही थीं कि क्या कहें क्या न कहें। दोनों गले लग गईं।

चमेलीबाई ने दोनों को बस स्टॉप की तरफ प्यार से धकेलते हुए कहा, "अभी तो बहुत समय है, बातें तो होती रहेंगी।" चमेलीबाई के धकेलने के कारण ही वे एक घण्टे में दवाखाने पहुंच सकीं।

बाकी दिन बातें करते, खिलखिलाते बीता। चमेलीबाई ने श्यामा के लिए खास खाना बनाया। बीच-बीच में वे अपनी कहानियां भी जोड़ती जा रही थीं। इन दोनों की मौज-मस्ती में वे अलग-थलग क्यों रहें?

श्यामा को हर बात जानने की जल्दी थी। उसने दवाखाने और आस-पड़ौस का गौर से मुआयना किया। बाद में चमेलीबाई और राधा उसे गांव ले गए। रात को राधा और श्यामा देर तक बातें करती रहीं।

श्यामा : राधा तू सचमुच बहुत किस्मतवाली है री। तू इतनी सुन्दर जगह पर काम करती है कि बस। इतनी शान्ति और चैन, इतनी हरियाली। और बताऊं वह सड़क तो सचमुच ही बहुत खूबसूरत है। अहा! खेतों के बीच में से चलना कितना अच्छा लगता है, नहीं?

राधा : हां, सब कुछ बहुत सुहावना है। पर पता है, खेत हमेशा हरे नहीं होते। कई महीनों तक खेत बंजर पड़े रहते हैं।

श्यामा : फिर भी मुझे तो यह जगह बहुत सुन्दर लगती है। यदि मैं यहां होती तो रोज घण्टों सूरज का ढलना देखा करती।

राधा को ख्याल आया कि कैसे धीरे-धीरे उसने इन चीजों पर ध्यान देना बन्द कर दिया है। जहां श्यामा को सुन्दरता दिखाई पड़ती है वहां उसे गरीबी। पर उसने कहा कुछ नहीं। श्यामा बोलती गयी।

श्यामा : और औरतें! गहने पहनकर वे कितनी सुन्दर लग रही थीं। मुझे तो समझ ही नहीं आता कि वे दो दो तीन तीन पानी से भरे मटके सिर पर संभाल कैसे लेती हैं। चलो, मैं देखती हूं मुझसे एक किताब भी संभलती है कि नहीं।

श्यामा ने एक किताब सिर पर रखकर चलने की कोशिश की। किताब को तो गिरना ही था। दोनों हंसते-हंसते दोहरी हो गईं।

श्यामा : खैर, औरतों की बात चली है, तो बता यहां हालत कैसी है? मेरे अस्पताल में तो नसबन्दी आपरेशन होते हैं। यहां कैसे हाल हैं? सुना है सरकार खूब जोर शोर से परिवार नियोजन चला रही है।

राधा : (झिझकते हुए) मैंने लोगों से बात करनी शुरू की थीं। पी. एच. सी. की एक ए. एन. एम. ने भी मुझसे मदद के लिए कहा। पर मुझे कुछ समझ में नहीं आता।

श्यामा : समझ में नहीं आता का क्या मतलब ? तुझे दिखता नहीं गांव में कितने सारे बच्चे हैं ? इन लोगों को और बच्चे क्यों चाहिए ? यही तो समस्या है कि बहुत सारे लोग हैं। तभी तो गांव के लोग इतने गरीब हैं।

राधा : हां, गांव में बहुत से लोग गरीब हैं — पर सारे नहीं। चमेलीबाई बता रही थी कि सरपंच के पास साठ एकड़ जमीन है और बहुत सारी गायें भी हैं। और भी कुछ लोगों के पास काफी जमीन है।

श्यामा : सच में ? पर ये इतने धनवान लगते तो नहीं ? मुझे तो वे बाकियों जैसे ही लगे।

राधा : मेरी प्यारी, देखने भर से ही सारा कुछ समझ में नहीं आ जाता।

श्यामा : पर ये गरीब लोग ? इनके पास काम-धाम नहीं है ? मुझे तो बहुत से लोग यहां-वहां बैठे दिखे। काम नहीं करेंगे तो कमाएंगे कैसे ?

राधा : काम तो यहां खास-खास समय पर मिलता है। कुछ लोगों की तो अपनी जमीन है। बाकी लोग दूसरे के खेत पर काम करते हैं। ये लोग बोआई और कटाई के समय तो व्यस्त रहते हैं। फिर जब गांव में काम नहीं मिलता तो कई लोग काम की तलाश में शहर भी जाते हैं।

श्यामा : सचमुच ? फिर तो उन्हें बहुत मुश्किल होती होगी। अच्छा राधा, तू बता लोग इतने गरीब क्यों हैं ?

राधा : पता नहीं मैं भी इसके बारे में सोचती हूं। मुझे यह देखकर बड़ा अजीब लगता है कि **कुछ लोगों के पास इतना कुछ है जबकि बाकियों के पास कुछ नहीं।**

8 : क्यों कुछ लोगों के पास इतना कुछ है, जबकि बाकियों के पास कुछ नहीं ?

भाग क : वह क्या चीज है जो कुछ लोगों के पास है और शेष के पास नहीं ।

भाग ख : ऊपर के मुट्ठी भर लोग इतनी सम्पत्ति कैसे जोड़ लेते हैं ।

भाग ग : क्या खेती के आधुनिक तरीकों से ग्रामीण गरीबों की माली हालत सुधारने में मदद मिल सकती है ?

भाग घ : यदि गरीबी का कारण शोषण है, तो लोग अपना शोषण क्यों होने देते हैं ?

हम रोजाना देखते हैं कि कुछ लोग ऐसे हैं जिनके पास जरूरत से भी ज्यादा साधन-सुविधाएं हैं । दूसरी तरफ ऐसे भी लोग हैं जिन्हें दो जून की रोटी तक नहीं मिल पाती । लगातार देखते हुए यह एक धारणा सी बनने लगती है कि शायद दुनिया हमेशा से ऐसी ही थी और ऐसी ही रहेगी । कोई ऊपर रहेगा और कोई नीचे । कुछ लोग ज्यादा बुद्धिमान होते हैं, ज्यादा मेहनती होते हैं, औरों से आगे बढ़ जाते हैं । ऐसा लगने लगता है कि अगर कुछ लोग ऊपर की कतार में हैं, तो अपनी प्रतिभा और सामर्थ्य की वजह से । और यदि कुछ दबे हुए हैं तो खुद की खामियों की वजह से ।

आमतौर पर यह बात नजर नहीं आती और न ही हम सोचते हैं कि जिनके पास संब कुछ है और जिनके पास कुछ नहीं है, उनके बीच एक रिश्ता है । शीर्ष पर बैठे लोगों और दबे लोगों के बीच के इसी रिश्ते की जांच पड़ताल हम इस अध्याय के चार खंडों में करने जा रहे हैं ।

COMMUNITY HEALTH CELL
LIBRARY AND INFORMATION CENTRE
BANGALORE-34
PH-100
11646

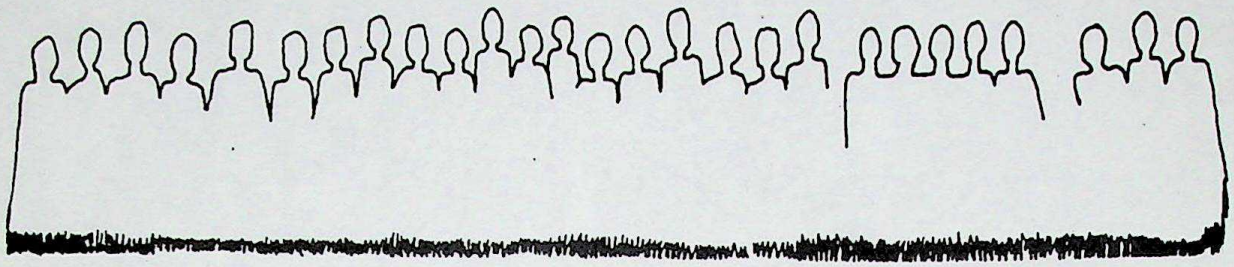

8 क : वह क्या चीज है जो कुछ लोगों के पास है और शेष के पास नहीं ?

इस प्रश्न का उत्तर शुरू में काफी आसान लगता है । यह तो साफ है कि कुछ लोगों के पास ढेर सारा धन और दूसरी वस्तुएं हैं जबकि अन्य लोगों के पास जीवन की बुनियादी जरूरत की वस्तुएं भी नहीं हैं । परन्तु एक और बात है, जो इतनी साफ दिखाई नहीं देती और वो यह है कि ऊपरी तबके के धनवान लोग अपनी सम्पत्ति के बल पर निचले तबके के लोगों की जिन्दगी को भी नियन्त्रित करते हैं ।

बिहार के मुज्जफरपुर जिले के तीन गांवों का एक सर्वेक्षण सन् 1979-80 में किया गया था । इस सर्वे से यह बात साफ उभरकर आई थी कि कैसे गांव के ऊपरी तबके के थोड़े से लोग जीवन के हर पहलू को नियंत्रित करते हैं । *(यह सर्वे डॉ. मंगना नंद झा और दिनेश सहाय ने कृषि अनुसंधान, प्रशिक्षण व शिक्षा केन्द्र, गाज़ियाबाद के लिए किया था ।)*

तीनों गांव मुसहरी ब्लॉक के हैं । इन गांवों में परिवारों की कुल संख्या 729 है । इन परिवारों को सात आर्थिक समूहों में बांटा गया था :

जमींदार :

जो लोग अपनी जमीन पर खेतीबाड़ी का काम बटाईदारों या बन्धुआ मजदूरों (हरवाहों) से करवाते हैं और कामकाज की निगरानी या तो खुद करते हैं या किसी कर्मचारी के द्वारा करवाते हैं ।

बड़े किसान :

इस समूह में बड़े व मझौले (मध्यम) किसान शामिल किए गए । ये पूर्णकालिक कृषक हैं । ये खुद भी खेतों में काम करते हैं और बाहर से मजदूर भी लगाते हैं पर खुद दूसरों के लिए काम नहीं करते ।

जमीन वाले गरीब किसान :

इनमें छोटे व सीमान्त किसान शामिल हैं । इनके पास थोड़ी बहुत जमीन है । परिवार के सदस्य मिलकर सारा काम करते हैं और बाहर से मजदूर नहीं लगाते । प्रायः ये दूसरे के खेतों पर बटाईदार या मजदूर के रूप में काम भी करते हैं । कुछ लोग अन्य व्यवसायों में भी लगे हैं ।

भूमिहीन किसान :

ये किसान अन्य लोगों की जमीन पर खेतिहर मजदूर (हरवाही या दिहाड़ी) के या बटाईदार के रूप में या दोनों ही तरीके से काम करते हैं ।

गैर-खेतिहर मजदूर :

इन लोगों का भूमि से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है । ये लोग गैर-कृषि उजरती मजदूर के रूप में काम करते हैं ।

ग्रामीण कारीगर

अन्य :

इनमें वे लोग शामिल हैं जो विभिन्न किस्म की सेवाएं प्रदान करते हैं या व्यापार करते हैं (दुकानदार वगैरह) ।

तालिका से पता चलता है कि सबसे बड़ा समूह गरीब किसानों का है । गांव की 64.9 प्रतिशत आबादी इसी समूह में है । जमींदार और बड़े किसान मिलकर कुल अबादी का 22.5 प्रतिशत हैं । तीनों गांवों की कुल आबादी 4072 थी । इसमें से 1256 वयस्क पुरुष, 1171 वयस्क स्त्रियां और 1645 बच्चे (14 साल से कम) थे । परिवारों की औसत सदस्य संख्या 5.58 थी । मगर जमींदारों और बड़े किसानों के परिवार का आकार बड़ा था । हर परिवार में औसतन 6.87 सदस्य थे । इसके विपरीत शेष चार समूहों (गरीब किसान, गैर खेतिहर मजदूर और कारीगर व अन्य) परिवारों का आकार छोटा था— औसतन 5.1 सदस्य । इसी प्रकार से पहले दो समूहों में प्रति परिवार बच्चों की औसत संख्या 3.1 थी जबकि शेष चार समूहों में यह संख्या 2.02 थी ।

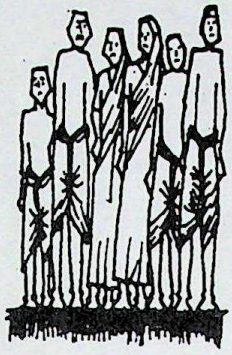

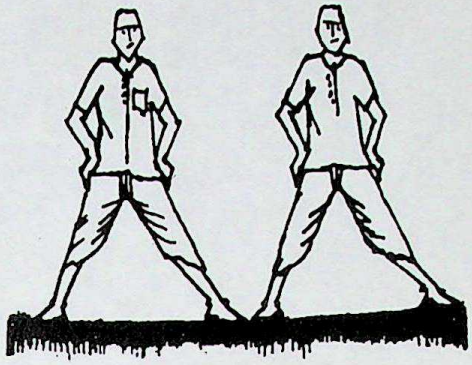

विभिन्न आर्थिक समूहों में परिवारों की संख्या

आर्थिक समूह	परिवारों की संख्या	कुल परिवारों में से प्रतिशत	
जमींदार	75	10.3	
बड़े किसान	88	12.2	
गरीब किसान (जमीन वाले)	193	26.5	64.9
गरीब किसान (भूमिहीन)	280	38.4	
गैर खेतिहर मजदूर	32	4.3	
कारीगर	36	4.9	
अन्य	25	3.4	
कुल	729	100.0	

खेती की हालत

कुल उपलब्ध भूमि का प्रकार

तीनों गांवों का क्षेत्रफल करीब 2132.44 एकड़ है। इसमें 1783.51 एकड़ यानि कुल जमीन के 83.5 प्रतिशत हिस्से पर खेती की जाती है। इस भूमि के उपयोग का चित्र कुछ इस तरह का है :

सिंचित क्षेत्र	475 एकड़
असिंचित क्षेत्र	1307 एकड़
पड़ती जमीन	45 एकड़
खेती योग्य फालतू भूमि	67 एकड़
विविध-पेड़, जंगल आदि	155 एकड़
आवासीय एवं अन्य गैर कृषि भूमि	82 एकड़

खेती का रकबा बढ़ाने की कोई गुंजाइश नहीं है। उत्पादन बढ़ाने का एक ही तरीका है कि साल में एक से अधिक फसलें ली जाएं।

फसल चक्र :

धान, मक्का व गेहूँ इस इलाके की मुख्य फसलें हैं। छोटे पैमाने पर गन्ना, तम्बाकू, हल्दी और मिर्च जैसी नगदी फसलें भी उगाई जाती हैं। सिंचाई की सुविधा न होने के कारण गरीब किसान एक से ज्यादा फसल नहीं ले पाते।

सिंचाई की सुविधा :

सिंचाई के मुख्य साधन नलकूप (ट्यूबवैल), तालाब, कुएं और नदी हैं। वर्तमान में जमींदारों व बड़े किसानों की भूमि में से 444 एकड़ (27.6 प्रतिशत) और गरीब किसानों की भूमि में से मात्र 31 एकड़ (17.5 प्रतिशत) पर सिंचाई होती है।

तीन गांवों में कुल मिलाकर 34 पम्पसेट हैं। इनमें से 33 जमींदारों और बड़े किसानों के हैं। गरीब किसानों के बीच केवल एक पम्पसेट है।

जमीन का वितरण :

विभिन्न आर्थिक समूहों के बीच जमीन का वितरण नीचे की तालिका में देखा जा सकता है :

आर्थिक समूह	परिवार संख्या	परिवार प्रतिशत	जमीन का रकबा (एकड़)	कुल जमीन में प्रतिशत	प्रति परिवार जोत का औसत आकार
जमींदार	75	10.3	1112.27	62.36	14.83
बड़े किसान	88	12.1	493.70	27.68	5.61
गरीब किसान (जमीन वाले)	193	26.5	177.54	9.95	0.91
गरीब किसान (भूमिहीन किसान)	280	38.4	—	—	—
गैर खेतिहर मजदूर	32	4.4	—	—	—
कारीगर	36	4.9	—	—	—
अन्य	25	3.4	—	—	—
योग :	729	100.0	1784	100	2.44

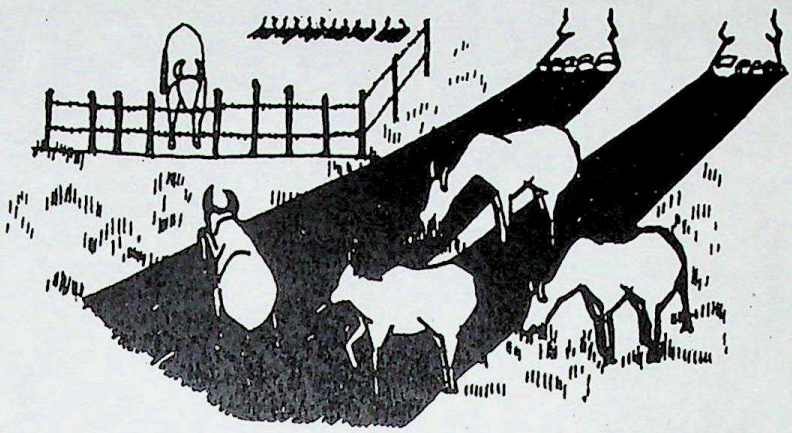

कुल आबादी में जमींदारों का प्रतिशत सिर्फ 10.3 है पर उनके कब्जे में गांव की 62.3 प्रतिशत जमीन है।

इसके विपरीत गरीब किसान 64.9 प्रतिशत हैं पर उनके पास कुल भूमिका मात्र 9.9 प्रतिशत है।

ग्रामीण आबादी के करीब 51 प्रतिशत परिवारों के पास जमीन है ही नहीं।

मवेशी

आमतौर पर इस इलाके में लोग गाय और भैंस पालते हैं। गरीब घरों में बकरियां पाली जाती है।

लभभग सभी परिवारों के पास एकाध जानवर तो है ही परन्तु प्रति परिवार सबसे ज्यादा मवेशी जमींदार वर्ग के पास है।

मवेशियों का वितरण

आर्थिक समूह	परिवारों की संख्या	भैंस	गाय	बैल	अन्य	कुल	प्रति परिवार मवेशियों की संख्या
जमींदार	75	53	51	86	39	229	3.05
बड़े किसान	88	71	34	96	34	235	2.67
गरीब किसान (जमीन वाले)	193	73	92	89	226	480	2.48
गरीब किसान (भूमिहीन)	280	11	33	9	66	119	0.42
गैर कृषि मजदूर	32	2	8	—	15	25	0.78
कारीगर	36	2	6	—	24	32	0.88
अन्य	25	1	3	—	11	15	0.60
कुल	729	213	227	280	415	1135	—

सामाजिक स्थिति

जातीय ढांचा

इन गांवों में अधिकांश परिवार (717) हिन्दू हैं। सिर्फ 12 मुस्लिम परिवार हैं। गांव में 15 जातियां हैं। जाति के अनुसार परिवारों का विवरण नीचे तालिका में दिया गया है। मुस्लिम परिवारों को मध्य जातियों में जोड़ दिया गया है।

जाति के अनुसार परिवारों का वितरण

जाति	परिवारों की संख्या	कुल में परिवारों प्रतिशत
ऊंची जातियां (ब्राह्मण, भूमिहार, कायस्थ)	141	19.35
मध्य जातियां (यादव, मल्ला, धानुक, नाई, धोबी, तेली, हलवाई, लोहार माली, कुम्हार)	427	58.57
निचली जातियां (पासवान, चमार)	161	22.08
योग	729	100.0

जाति और जमीन सम्बन्ध

अधिकांश जमीन (78.9 प्रतिशत) ऊंची जातियों के पास है। निचली जातियों के पास मात्र 1.8 प्रतिशत जमीन है। यह तथ्य उल्लेखनीय है कि ऊंची जातियों में एक भी घर ऐसा नहीं है, जिसके पास जमीन न हो। दरअसल, ऊंची जाति के अधिकांश परिवार जमींदार समूह में आते हैं।

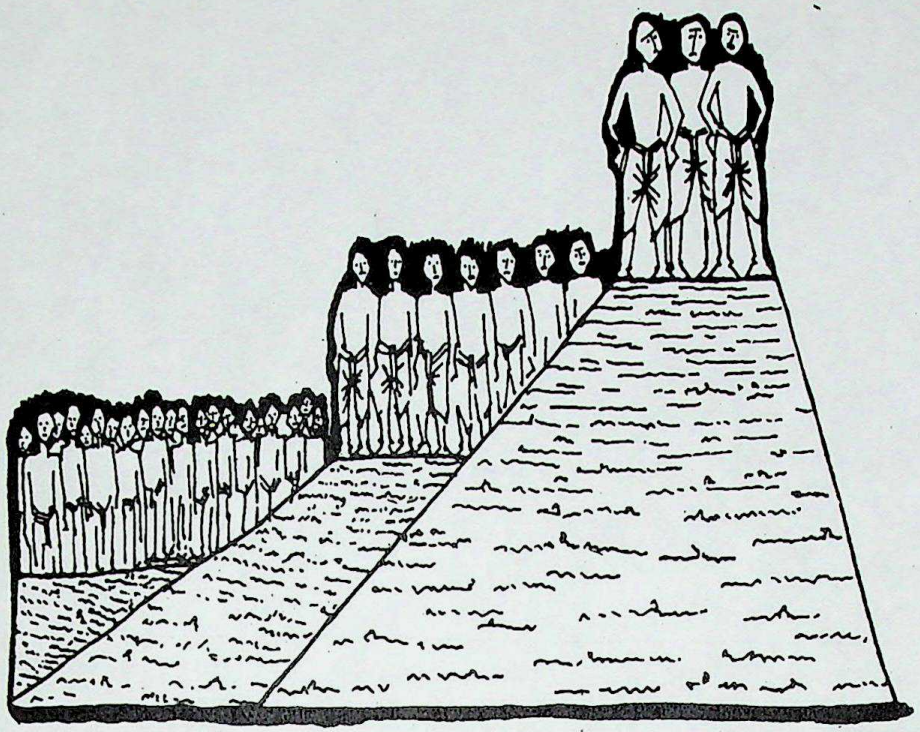

जाति के अनुसार जमीन का वितरण

जाति	परिवारों की संख्या	कुल परिवारों का प्रतिशत	कुल जमीन का प्रतिशत
ऊँची	141	19.35	78.9
मध्यम	427	58.57	18.5
निचली	161	22.08	1.8
कुल	729	100.0	100.0

शिक्षा

प्राथमिक, माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक स्कूल गांव के नजदीक ही हैं। इसके बावजूद, 6 साल से ज्यादा उम्र के 82.3 प्रतिशत लोग निरक्षर हैं। स्त्रियों में निरक्षरता का अनुपात तो और भी अधिक 93.9 प्रतिशत है।

आर्थिक समूह और साक्षरता

इस बाबत जानकारी 149 परिवारों (अर्थात् कुल परिवारों के 20 प्रतिशत) से ली गई है। यदि हम इस 20 प्रतिशत सैम्पल में साक्षरता और आर्थिक समूह का सम्बन्ध देखें तो निम्नलिखित चित्र उभरता है। *(साक्षर का अर्थ यह लगाया गया है कि जो भी 6 वर्ष से अधिक उम्र का व्यक्ति अभी स्कूल में है या अतीत में रहा है।)* कुल साक्षरों में से सबसे ज्यादा (58.19 प्रतिशत) जमींदार वर्ग के हैं। यदि हम यह देखें कि जमींदार वर्ग की कुल आबादी में से कितने साक्षर हैं तो पाते हैं कि 73.2 प्रतिशत लोग साक्षर हैं।

सैम्पल सर्वे के अनुसार विभिन्न आर्थिक समूहों में साक्षरता

आर्थिक समूह	सैम्पल में शामिल लोगों की संख्या	साक्षरों की संख्या संख्या	निरक्षरों की संख्या	आर्थिक समूह की कुल आबादी में साक्षरों का प्रतिशत	कुल साक्षरों में इस आर्थिक समूह के साक्षरों का प्रतशित
जमींदार	97	71	26	73.2	58.19
बड़े किसान	89	18	71	20.2	14.75
गरीब किसान जमीन वाले और भूमिहीन)	416	26	390	6.2	21.30
गैर खेतिहर मजदूर	27	1	26	3.7	0.80
कारीगर	37	2	35	5.4	1.60
अन्य	23	4	19	17.4	3.20
कुल	689	122	567	—	—

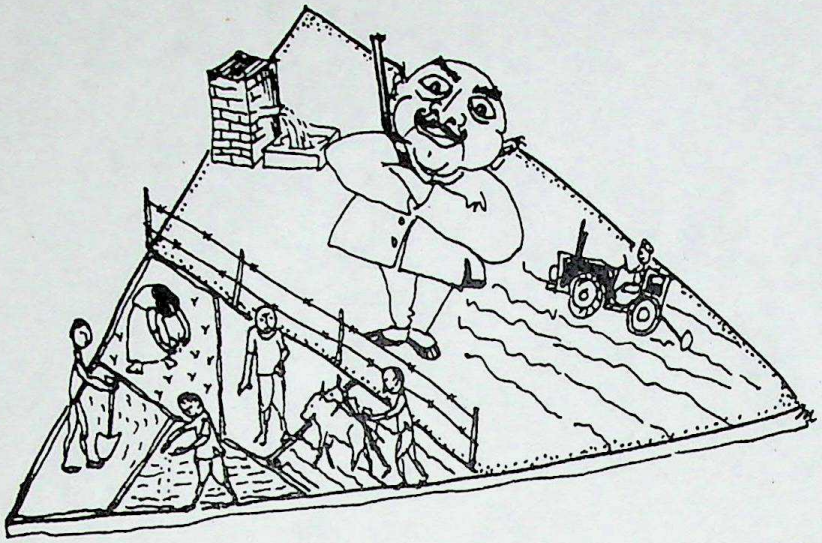

व्यवसाय व आमदनी

आर्थिक समूह	किसानी (खुद की जमीन पर काम)	किसानी (बटाईदार)	मजदूरी दूसरे की जमीन पर	मजदूरी खेतिहर	खेती से (रुपए)	खेती के अलावा (रुपये)	रोजगार
जमींदार	खुद काम नहीं करते				7126.0	3813.3	काम नहीं करते
बड़े किसान	हां	हां	नहीं	नहीं	5893.8	363.8	पूर्ण रोजगार
गरीब किसान (जमीन वाले)	हां	हां	हां	हां	2151.7	727.3	आंशिक बेरोजगारी
गरीब किसान (भूमिहीन)	नहीं	हां	हां	हां	1353.8	757.2	आंशिक बेरोजगारी
गैर खेतिहर मजदूर	नहीं	नहीं	नहीं	हां	35.7	1880.0	प्रायः बेरोजगारी
कारीगर	अपना व्यवसाय चलाते हैं				—	2700.0	पूर्ण रोजगार
अन्य					120.0	3727.0	आंशिक बेरोजगारी

व्यवसाय, रोजगार और आमदनी

चूंकि गांवों में मुख्य पेशा खेती है। इसलिए आमदनी इस बात पर निर्भर है कि—

(I) परिवार के पास जमीन कितनी है और

(II) खेती सम्बन्धी रोजगार कितना मिलता है।

तालिका में दिखाया गया है कि अलग-अलग आर्थिक समूह के लोगों को कितना रोजगार मिलता है और आमदनी कितनी होती है।

खेती पर निर्भर परिवारों की आमदनी में भारी अन्तर का मूल कारण जमीन की मिल्कीयत में अन्तर है। फिर गरीब किसान साल के कुछ महीने तो बेरोजगार ही रहते हैं हालांकि वे खेती के अलावा भी काम ढूंढने की काफी कोशिश करते हैं।

गांव के बारे में उपरोक्त जानकारियों के आधार पर हम यह तो समझ ही सकते हैं कि क्या चीज है जो कुछ लोगों के पास है और शेष के पास नहीं है।

☞ कुछ ही परिवारों (जमींदारों व बड़े किसानों) के पास अधिकांश जमीन, सिंचाई की सुविधाएं और पशु हैं। दूसरे शब्दों में, उनके पास आर्थिक सम्पदा है। ये लोग ऊंची जातियों के हैं और शिक्षित भी हैं। अर्थात् इनकी एक सामाजिक हैसियत है। इसी की बदौलत ये रोजगार और आमदनी की दृष्टि से काफी सुरक्षित हैं। इन्हीं लोगों के बड़े परिवार हैं और ये ही इतने बड़े परिवार का निर्वाह कर सकते हैं। बड़ा परिवार एक तरह से सम्पत्ति है क्योंकि घर में ही इतने सारे कामगार मौजूद होते हैं। हर मायने में जमींदारों और बड़े किसानों का यह छोटा-सा समूह ही शीर्ष पर है।

☞ दूसरी तरफ, गरीब किसानों और मजदूरों के पास सबसे कम साधन हैं और इनकी आमदनी भी सबसे कम है। जबकि कुल आबादी में इनका बहुमत है। उनकी एकमात्र सम्पत्ति है उनका श्रम। इसका भी वे पूरी तरह उपयोग नहीं कर पाते क्योंकि उन्हें पूरा रोजगार ही नहीं मिलता। हर तरह से ये सबसे निचले स्तर पर हैं।

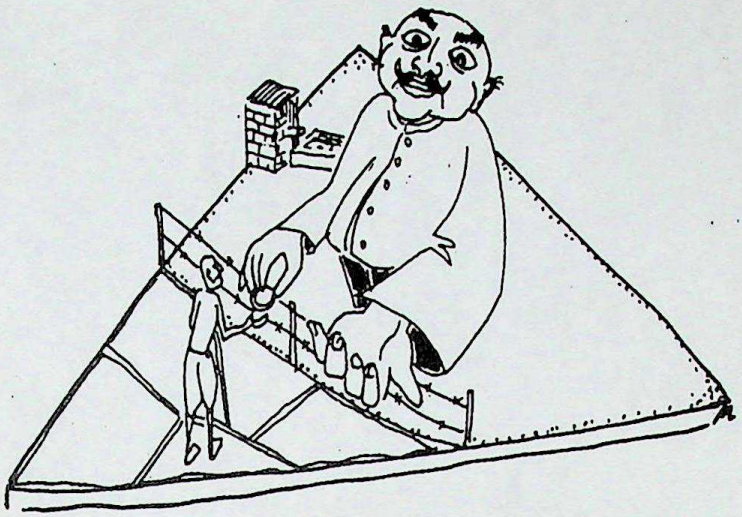

विभिन्न समूहों के बीच परस्पर सम्बन्ध क्या हैं ?

खेतीबाड़ी का सम्बन्ध

जमींदार खेतों में खुद काम नहीं करते । वे खेतीबाड़ी का सारा काम मजदूरों से करवाते हैं । केवल 21 जमींदार ऐसे हैं जो खुद इन मजदूरों के काम की निगरानी करते हैं । बाकी 54 जमींदार तो निगरानी का काम भी किसी और से करवाते हैं । जमींदारों की जमीन का मात्र 16.5 प्रतिशत ही बड़े किसानों या गरीब किसानों को बटाई पर दिया जाता है ।

बटाई व्यवस्था में जमीन तो जमींदार की मिल्कियत में ही रहती है । बटाईदार पूरा काम करता है और खेती का सारा खर्चा उठाता है । फसल कटने पर उत्पादन का आधा हिस्सा जमींदार को मिलता है । शेष 50 प्रतिशत बटाईदार को मिलता है । यदि उसने जमींदार से खेती के लिए यानि बीज, खाद, बिजली, डीज़ल इत्यादि के लिए कर्ज लिया हो, तो वह भी इसी में से कटता है । इसका मतलब यह हुआ कि बटाईदार को आधे हिस्से से भी कम ही मिलता है । बोवनी से कटाई तक का सारा काम करने के बाद भी उसकी यह हालत है । बिहार में कानूनी तौर पर जमींदार को मात्र 25 प्रतिशत हिस्सा मिलना चाहिए पर वास्तव में 50 प्रतिशत ही वसूल किया जाता है । इस प्रकार से बटाई व्यवस्था में बटाईदार की बनिस्पत जमींदार को ज्यादा फायदा है ।

बड़े भूस्वामियों (जमींदारों व बड़े किसानों) की खेती का दूसरा तरीका है मजदूरों के जरिये खेती । ये मजदूर या तो कम जमीन वाले गरीब किसान होते हैं या फिर भूमिहीन । ये मजदूर दो प्रकार के होते हैं— हरवाहे और दिहाड़ी पर । हरवाहों को थोड़ी मजदूरी मिलती है और जमीन का एक टुकड़ा दे दिया जाता है । इस पर वे अपने लिए फसल उगा सकते हैं । यह एक तरह की बन्धुआ मजदूरी ही है । दिहाड़ी मजदूरों को मजदूरी तो बेहतर मिलती है पर जमीन का टुकड़ा नहीं दिया जाता । कुछ मजदूर हरवाहे के रूपमें काम करना ज्यादा पसन्द करते हैं क्योंकि इसमें थोड़ी सी जमीन भी मिल जाती है ।

यदि हम गांव के अलग-अलग आर्थिक समूहों पर नजर दौड़ायें तो देखेंगे कि जमींदार सबसे सम्पन्न हैं क्योंकि अधिकांश जमीन उन्हीं के पास है । हमने अन्य समूहों के साथ उनके सम्बन्ध पर भी गौर किया । इससे स्पष्ट है कि अन्य लोगों पर उनका काफी दबदबा भी होता है । वही तय करते हैं कि बटाईदार से कितना हिस्सा वसूला जाएगा । मजदूरों की मजदूरी तय करने का अधिकार भी जमींदारों के हाथ में ही है ।

जमींदार की तुलना में बड़े किसानों के पास जमीन कम है । अतः वे कम समृद्ध हैं । बड़े किसान भी अपने खेतों पर मजदूर लगाते हैं । इस कारण से मजदूर इन्हें भी ताकतवर समझते हैं । परन्तु जो बड़े किसान जमींदारों से कटाई पर जमीन लेते हैं बटाई का हिस्सा तय करने के मामले में उनकी औकात भी अन्य बटाईदारों से बेहतर नहीं होती । अपनी जमीन होने पर भी गरीब किसान मजदूर नहीं लगाते हैं । इसलिए उनका किसी पर भी जोर नहीं चलता । मजदूर और बटाईदार के रूप में वे जमींदार और बड़े किसानों के सामने असहाय होते हैं ।

कर्ज लेने और देने का सम्बन्ध

गांव के जमींदार ही साहूकार भी हैं । एक-तिहाई परिवारों ने उनसे कर्ज लिया हुआ है । इनमें से अधिकांश गरीब किसान हैं । गरीब किसानों द्वारा लिये गये कर्ज का 63.6 प्रतिशत हिस्सा भोजन, कपड़ा दवाओं जैसी बुनियादी जरूरतों के लिए लिया गया है । बड़े किसान भी जमींदारों से कर्ज लेते हैं पर उसकी वजह अलग होती है । मसलन, जमीन को बेहतर बनाने या किसी उत्सव त्यौहार के लिए । बड़े किसानों को जीवन निर्वाह के लिए कर्ज की जरूरत नहीं पड़ती । आमतौर पर ब्याज की दर 36 प्रतिशत होती है पर कई मामलों में

50 प्रतिशत तक ब्याज भी वसूल किया जाता है। (ब्याज की ये दरें कम लगती हैं। हो सकता है कि जमींदार ने असली दर न बताई हो।) चूंकि गांव में जमींदारों के अलावा कर्ज देने वाला कोई दूसरा नहीं है, इसलिए इस मामले में भी जमींदार के हाथ में ही ताकत होती है। वे ही ब्याज की दर भी तय करते हैं और कर्ज वापसी का समय भी।

सामाजिक सम्बन्ध

तीनों गांव एक ही पंचायत के अन्तर्गत आते हैं। पंचायत की दो शाखाएं हैं— एक, न्याय परिषद और दूसरी, कार्यकारी परिषद। न्याय परिषद का काम है झगड़ों का निपटारा करना। इसका प्रमुख सरपंच होता है। कार्यकारी परिषद का काम विकास व नागरिक मामलों से सम्बन्धित है। इसका प्रमुख मुखिया कहलाता है। इन गांवों की पंचायत का सरपंच एक सम्पन्न मुस्लिम है और मुखिया एक सम्पन्न भूमिहार (ऊंची जाति का जमींदार) है। पंचायत की दोनों शाखाओं में तीन-तीन सदस्य मझोली जाति के और दो-दो सदस्य हरिजन हैं। इन सदस्यों से बात करने पर पता चला कि उन्हें कभी बैठकों में नहीं बुलाया जाता और न ही उन्हें पता था कि कभी बैठक हुई भी है या नहीं।

इन दोनों ही जातियों के लोगों ने यह बताया कि सरपंच और मुखिया के चुनाव में इन्हें वोट नहीं डालने दिया गया था। सरपंच और मुखिया के आफिस उनके अपने घरों में ही थे। पंचायत का अपना कोई आफिस भवन नहीं है। विकास कार्यों के बारे में पूछने पर पता चला कि पिछली पंचायत ने गांव की कुछ सड़कें बनवाई थीं और एक तालाब को गहरा करवाया था परन्तु वर्तमान पंचायत ने कोई काम नहीं किया। आजकल पंचायत का मुख्य काम जाति और आय वगैरह के प्रमाणपत्र जारी करना या राशन कार्ड के लिए सिफारिश करना भर रह गया है। (यह उल्लेखनीय है कि विकास कार्य के लिए पंचायत को हर साल पैसा मिलता है। पता नहीं इस पैसे का क्या हुआ ?)

इस इलाके में तीन सहकारी समितियां बनाई गई थीं। सर्वे के समय इनमें से एक भी काम नहीं कर रही थी। सर्वेक्षित परिवारों में से सिर्फ तीन परिवार ही इन समितियों के सदस्य थे। तीनों ही जमींदार वर्ग के थे। पहले 9 सदस्य (सारे जमींदार) थे, परन्तु आपसी झगड़े के कारण पांच ने इस्तीफा दे दिया। बड़े किसानों, गरीब किसानों या कारीगरों में से कोई भी समिति का सदस्य नहीं था।

सरकार ने खेतीबाड़ी के लिए मात्र 9 प्रतिशत ब्याज पर कुछ ऋण वितरित किए थे। ये सारे ऋण जमींदारों ने ले लिए। अन्य वर्ग के किसी भी परिवार को इसका लाभ नहीं मिला।

एक बार फिर हमें यही दिखाई देता है कि ऊंची जाति के जमींदार अन्य लोगों पर हावी हैं। जमींदार ही पंचायत के प्रमुख हैं। वे ही सहकारी समितियों के सदस्य हैं और वे ही सरकारी सुविधाओं का लाभ उठाते हैं।

लोगों के आपसी सम्बन्धों के आधार पर यह स्पष्ट है कि यह और कौन-सी चीज है जो कुछ लोगों के पास है, बाकियों के पास नहीं ?

जमींदार परिवारों के पास **ताकत** है, जिससे वे बाकी लोगों का जीवन नियंत्रित करते हैं। उनके पास खेतिहर मजदूरों की मजदूरी तय करने की ताकत है; उनके पास ब्याज की दर तय करने की ताकत है, दूसरे शब्दों में उनके पास **राजनैतिक ताकत** है।

यह ताकत आती कहां से है ? यह ताकत इस बात से आती है कि जमींदार गांव की अधिकतर सम्पत्ति के मालिक हैं यानि उनके पास **आर्थिक ताकत** है ।

जमींदारों के इसी गुट को सामाजिक प्रतिष्ठा मिली हुई है क्योंकि ये ऊंची जाति के हैं और शिक्षित हैं । इसके अलावा ये ही पंचायत के प्रमुख हैं, सहकारी समितियों के सदस्य हैं, और सरकारी सुविधाओं का लाभ भी उठाते हैं । संक्षेप में, इनके पास **सामाजिक ताकत** है ।

अधिकांश लोग (गरीब किसान और गैर खेतिहर मजदूर) निर्बल हैं । पर उनका अपने ही जीवन पर कोई नियंत्रण नहीं है । न तो इनके पास सम्पत्ति है और न ही सामाजिक प्रतिष्ठा । यह गांव का सबसे निर्बल समूह है ।

उपरोक्त विश्लेषण से हमें ग्रामीण समाज में लोगों के विभाजन का एक स्पष्ट चित्र मिलता है । यह विभाजन आर्थिक व सामाजिक हैसियत और शक्ति का है । इस विश्लेषण से हमें गांव में मौजूद गैर-बराबरी के सम्बन्धों का भी अहसास होता है । इससे पता चलता है कि थोड़े से लोग ही जीवन के हर पहलू में हावी हैं । जबकि शेष अधिकतर लोग हर पहलू में नीचे दबे हुए हैं ।

यदि हम समूचे देश को देखें, तो भी लगभग ऐसा ही चित्र उभरता है । देश की आबादी का एक छोटा-सा हिस्सा ऊपर शीर्ष पर विराजमान है । जबकि बहुजन पर्दे में हैं ।

8 ख : ऊपर के मुट्ठी भर लोग इतनी सम्पत्ति कैसे जोड़ लेते हैं ?

पिछले भाग में हमने देखा कि जमींदारों और बड़े किसानों का छोटा-सा समूह, अपनी सम्पत्ति, जाति और शिक्षा के बल पर शीर्ष पर है । उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा तो इन तीनों चीज़ों से मिलकर बनती है; परन्तु गांव के बाकी लोगों के जीवन पर नियंत्रण स्थापित करने में मूलतः उसकी सम्पत्ति और इस सम्पत्ति से जुड़ी ताकत ही काम आती है । यदि कोई सम्पन्न जमींदार नीची जाति का हो और निरक्षर हो, तो भी उसके पास इतनी ताकत होती है कि वह बटाई की शर्तें, ब्याज की दर और मजदूरी तय कर सके । इसका सीधा सा कारण यह है कि गरीब किसानों और मजदूरों का जीवन जमींदार पर निर्भर है । जमींदार की शर्तें मानने के सिवाय उनके पास कोई चारा ही नहीं है ।

सवाल यह है कि आखिर जमींदारों के पास यह सम्पत्ति आई कैसे ? इसे समझने के लिए हमें मुसहरी ब्लाक में कृषि-उत्पादन की प्रक्रिया पर ध्यान देना होगा ।

धान इस इलाके की एक प्रमुख फसल है । स्थानीय किसानों से प्राप्त जानकारी के मुताबिक धान की खेती में निम्नलिखित चीजें लगती हैं । *(खेतीबाड़ी के बारे में जानकारी विभिन्न आर्थिक समूहों के लोगों से ली गई थी । इस भाग में प्रस्तुत जानकारी बटाईदारों और छोटे किसानों से प्राप्त की गई है । यह जानकारी मार्च 1984 में ली गई थी ।)*

धान की एक फसल लेने के लिए चार बार **पर्याप्त पानी** की जरूरत

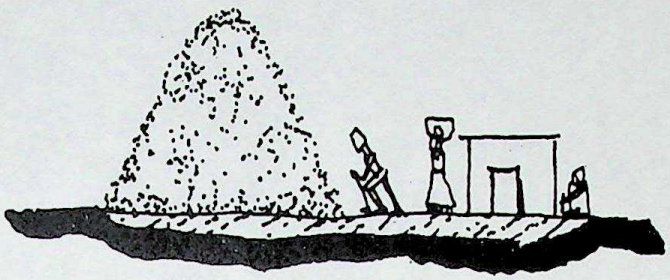

होती है । यदि बारिश अच्छी हो जाए, तो एक ही बार सिंचाई करनी पड़ती है । किन्तु आमतौर पर दो बार पानी देना पड़ता है । जिन के पास अपना कुआं न हो, वे पड़ोसी के पम्पसेट से पानी लेते हैं । इसकी कीमत 14 रुपये प्रति घण्टा होती है । इसमें डीजल व पम्प का किराया भी शामिल है । एक एकड़ समतल जमीन की सिंचाई के लिए औसतन 10 घण्टे पम्प चलता है । इस प्रकार से एक एकड़ जमीन में दो बार सिंचाई की लागत 280 रुपए पड़ती है ।

इस इलाके में धान का देसी **बीज** बोया जाता है । एक एकड़ में करीब 20 किलोग्राम बीज लगता है ।

इस इलाके में आमतौर पर देसी **खाद** और रासायनिक उर्वरक दोनों का उपयोग किया जाता है । साधारणतया एक एकड़ में 10 गाड़ी देसी खाद और 55 किलोग्राम रासायनिक उर्वरक डाला जाता है । इस खाद की कीमत करीब 290 रुपये होती है । इस तरह से धान की फसल में प्रति एकड़ निम्नलिखित चीज़ें लगती हैं :

वस्तु	कीमत नगद (रुपये)	अनाज
सिंचाई	280.00	—
बीज	—	20 कि. ग्रा.
खाद	290.00	—
कुल खर्च	570.00	20 कि. ग्रा.

अतः एक एकड़ में धान की फसल लेने के लिए किसान को 570 रुपये + 20 कि. ग्रा. अनाज **खर्च** करना होता है ।

सामान्य परिस्थिति में एक एकड़ में करीब 1600 कि. ग्रा. धान **पैदा** होता है ।

खर्च निकालकर किसान को 1295 कि. ग्रा. धान की **आमदनी** होती है । इसकी गणना निम्नानुसार की जा सकती है :

धान की कीमत 2 रुपए प्रति कि. ग्रा.

यदि किसान अपना नगद खर्च (570 रुपये) निकालने के लिए धान बेचे, तो उसे 570 रुपये ÷ 2 = 285 कि. ग्रा. धान बेचना होगा ।

इसके अलावा उसने 20 कि. ग्रा. बीज भी डाला था ।

अतः उसका कुल खर्च 285 + 20 = 305 कि. ग्रा. धान के बराबर हुआ ।

उपज 1600 कि. ग्रा. हुई ।

अतः कुल आमदनी प्रति एकड़ : 1600 कि. ग्रा. — 305 कि. ग्रा.

= 1295 कि. ग्रा. धान

इस पूरी गणना में **मानव-श्रम** के खर्च का हिसाब नहीं रखा गया है । यदि बाकी सारी चीज़ें मौजूद हों, तो भी बगैर मानव-श्रम के फसल नहीं उगेगी । हल चलाने, रोपा लगाने, निंदाई करने, कटाई करने आदि में श्रम लगता है । मतलब यह कि श्रम खेती का निहायत जरूरी अंग है । स्थानीय किसानों के मुताबिक एक एकड़ धान की फसल में श्रम की मात्रा इस प्रकार है :

काम	एक इन्सान इस काम को कितने दिन में पूरा करेगा (मानव दिन)
जुताई	10
रोपा लगाना	15
निंदाई	20
कटाई, दावन, वगैरह	10
कुल	55

(मानव दिन का मतलब है एक इन्सान द्वारा एक दिन में किया गया काम । 10 मानव दिनों का अर्थ है कि एक इन्सान 10 दिन में उतना काम कर सकता है, या 10 इन्सान एक दिन में उतना काम कर सकते हैं या 5 इन्सान 2 दिन में उतना कर सकते हैं ।)

अतः एक एकड़ में धान की एक फसल लेने के लिए 55 मानव दिन लगते हैं । जिन लोगों ने इस फसल को उगाया है, उनके श्रम की कीमत इसी में से निकालनी होगी । अन्य सारे खर्च निकालकर हमारे पास 1295 कि. ग्रा. धान बचा है । इसमें से कितना हिस्सा उन लोगों

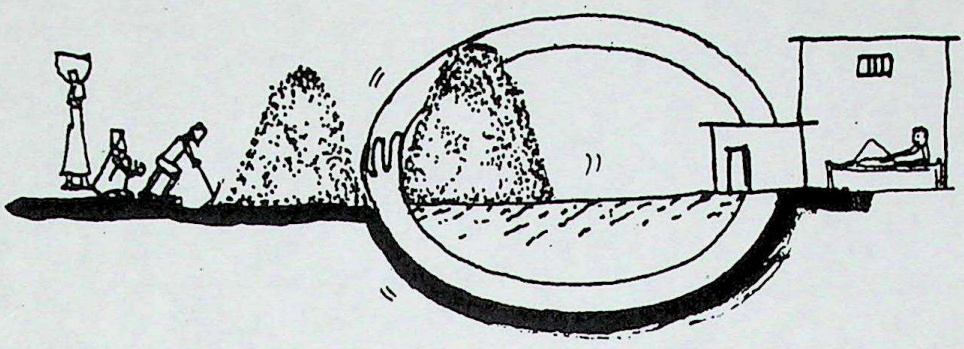

को मिलना चाहिए, जिन्होंने सारा काम किया ? हकीकत में उन लोगों को हिस्सा निम्नानुसार मिलता है :

यदि जमीन उसी परिवार की है जिसने सारी मेहनत की है, तो उन्हें पूरा 1295 कि. ग्रा. धान मिलता है ।

यदि यही परिवार किसी और की जमीन पर बटाईदार के रूप में इतनी ही मेहनत (55 मानव दिन) करे, तो उसे 495 कि. ग्रा. धान मिलता है । [बटाई की शर्तों के अनुसार उपज का आधा हिस्सा जमींदार को मिलता है यानि 1600 ÷ 2 = 800 कि. ग्रा. । शेष 800 कि. ग्रा. में से बटाईदार को सारा खर्च (305 कि. ग्रा.) निकालना होता है । यानि बटाईदार की शुद्ध आमदनी : 800 – 305 = 495 कि. ग्रा.] ।

यदि यही परिवार खेतिहर मजदूर के रूप में काम करे और पूरे 55 मानव दिन लगाए, तो उसे 297.5 कि. ग्रा. धान मिलता है । इसका हिसाब मजदूरी की दर के आधार पर लगाया गया है । इस इलाके में अलग-अलग कामों के लिए मजदूरी की दरें तालिका में दी गई हैं :

एक एकड़ धान की फसल के लिए जरूरी मजदूरी की दरें

काम	मानव दिन	प्रति मानव दिन मजदूरी		पूरा काम निपटाने पर मजदरी	
		नगद (रु.)	अनाज (कि. ग्रा.)	नगद (रु.)	अनाज (कि. ग्रा.)
जुताई	10	15.00	1/2	150.00	5
रोपा लगाना	15	10.00	1/2	150.00	7.5
निंदाई	20	7.00	1/2	140.00	10.0
कटाई व दावन	10	10.00	1/2	100.00	5.0
कुल	55			540.00	27.5

(हर व्यक्ति को उसकी मजदूरी और आधा किलो अनाज (भोजन के रूप में) दिया जाता है ।)

अतः एक एकड़ में धान की फसल के लिए कुल मजदूरी 540 रुपये + 27.5 कि. ग्रा. अनाज के रूप में दी जाती है । यदि नगद को हम (2 रु. प्रति कि. ग्रा. की दर से) धान में बदलें, तो यह 270 कि. ग्रा. धान के बराबर होगा । इस प्रकार से कुल मजदूरी, 270 कि. ग्रा. + 27.5 कि. ग्रा. = 297.5 कि. ग्रा. धान के बराबर होती है ।

उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट है कि अलग-अलग परिस्थितियों में 55 मानव दिन की कीमत एक-सी नहीं होती । एक काम की कीमत अलग-अलग होती है । यह इस बात पर निर्भर करता है कि जमीन खुद कामगार की है या किसी और की ।

बटाई व्यवस्था में, बिना कोई काम किए, जमींदार को 800 कि. ग्रा. धान मिल जाता है । उसे यह सिर्फ इसलिए मिल रहा है क्योंकि वह जमीन का मालिक है । खेतिहर मजदूरों से खेती करवाने में जमींदार को 997.5 कि. ग्रा. धान मिलेगा । इसमें भी जमींदार ने कोई काम नहीं किया है ।

इस प्रकार से, सिर्फ जमीन की मिल्कीयत के जोर पर, जमींदार उपज का 60 से 75 प्रतिशत हिस्सा ले लेते हैं । इतना बड़ा हिस्सा लेने का मतलब है मजदूरों को उनके वाजिब हिस्से से वंचित करना ।
इस प्रकार से मजदूरों को उनके हिस्से से वंचित करके ही जमींदार सम्पत्ति बटोरते हैं । दूसरे शब्दों में जमींदार शोषण के जरिए सम्पत्ति जोड़ रहे हैं ।

यदि जमीन खेतिहर परिवार की है और वही पूरा काम करे तो 100 प्रतिशत उपज उसी की होती है ।

यदि परिवार बटाई पर खेती करे तो उसे उपज का 38 प्रतिशत हिस्सा मिलता है और 60 प्रतिशत से ज्यादा हिस्सा जमींदार ले जाता है ।

यदि परिवार खेतिहर मजदूर के रूप में काम करे, तो उसे उपज का 23 प्रतिशत भाग मिलता है और 75 प्रतिशत से ज्यादा जमींदार रख लेता है ।

कुल जमा बात यह है कि खेती में कई चीजें लगती हैं । पर इनमें सबसे अहम चीज **मानव-श्रम** है । जमीन, सिंचाई, खाद, बीज, औजार, वगैरह सब मिलकर भी अन्न पैदा नहीं कर सकते । मानव-श्रम द्वारा इनका उपयोग होने पर ही फसल पैदा हो सकती है । इस श्रम की बदौलत तो आमदनी होती है ।

यदि यह आमदनी उन लोगों को मिले, जिन्होंने काम किया है, तो जमींदार सम्पत्ति नहीं जुटा पाएंगे । जमींदारों की सम्पदा मुख्यतः शोषण की उपज है । फसल का बड़ा हिस्सा हथियाकर जमींदार मजदूरों को उनके हक से वंचित करते हैं ।

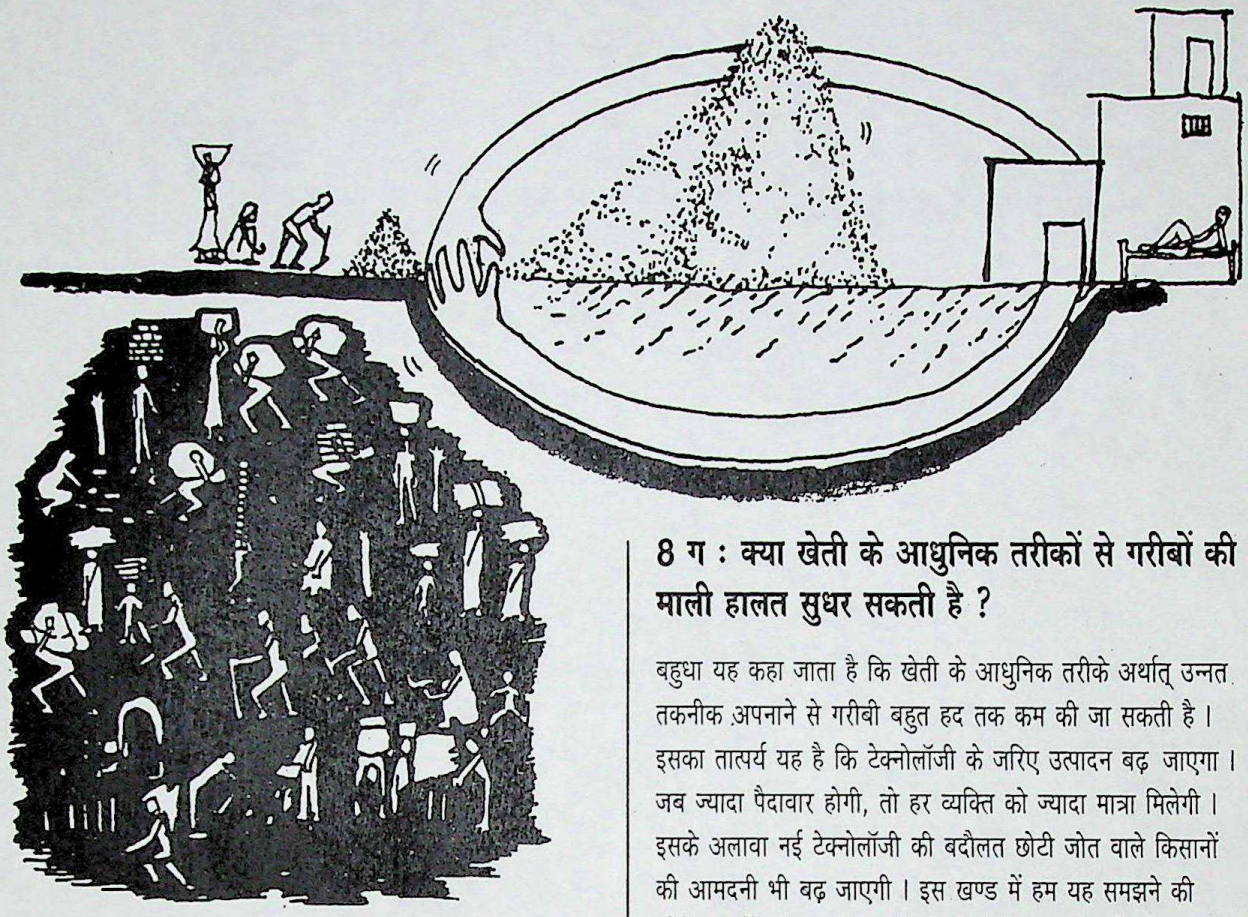

इस अध्याय के खण्ड–क में दिए गए विवरण को देखकर, अब हम समझ सकते हैं कि ज़मींदार और बड़े किसान किस तरह गरीब किसानों की जिन्दगी पर पूरा आर्थिक नियंत्रण रखते हैं।

मुसहरी ब्लाक के इन तीन गांवों में कुल खेती योग्य जमीन 1784 एकड़ है। खेती योग्य जमीन को और बढ़ाना संभव नहीं है। जमींदार और बड़े किसान इसमें से 90 प्रतिशत जमीन के मालिक हैं। चूंकि उनके पास अधिकतर जमीन है इसलिए वे ही तय करते हैं कि जमीन के मालिक और मजदूर के बीच उपज का बंटवारा कैसे होगा। इसका मतलब यह हुआ कि आज उपज चाहे जितनी भी हो, उसका 60 से 75 प्रतिशत हिस्सा जमीन के मालिक को ही मिलेगा।

कल यदि जमींदर तय कर लें कि वे उपज का 90 प्रतिशत हिस्सा रखेंगे, तो मजदूरों के पास यही विकल्प रह जाएगा कि वे बाकी के 10 प्रतिशत को आपस में बांट लें। जब तक गरीब किसान जमीन के मालिकों पर निर्भर हैं, तब तक वे हर शर्त मानने को मजबूर होंगे। इस तरह से जमीन के मालिक ही यह तय करते हैं कि कौन कितना गरीब होगा। जमींदारों की सम्पत्ति शोषण के जरिए बटोरी गई है। इसलिए शोषण ही लोगों की गरीबी का कारण है।

8 ग : क्या खेती के आधुनिक तरीकों से गरीबों की माली हालत सुधर सकती है ?

बहुधा यह कहा जाता है कि खेती के आधुनिक तरीके अर्थात् उन्नत तकनीक अपनाने से गरीबी बहुत हद तक कम की जा सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि टेक्नोलॉजी के जरिए उत्पादन बढ़ जाएगा। जब ज्यादा पैदावार होगी, तो हर व्यक्ति को ज्यादा मात्रा मिलेगी। इसके अलावा नई टेक्नोलॉजी की बदौलत छोटी जोत वाले किसानों की आमदनी भी बढ़ जाएगी। इस खण्ड में हम यह समझने की कोशिश करेंगे कि आखिर कृषि टेक्नोलॉजी क्या चीज है और इसका अलग-अलग आर्थिक समूहों के किसानों पर क्या असर पड़ता है।

कृषि टेक्नालाजी क्या चीज़ है ?

खेती में टेक्नोलॉजी का मतलब है—

- **मशीनें,** जैसे हार्वेस्टर, ट्रेक्टर, थ्रेशर आदि। ये मशीनें इन्सानों के मुकाबले कम समय में ज्यादा काम कर सकती हैं।
- **उन्नत बीज** (अधिक उपज वाली किस्में)। इनकी प्रति एकड़ उपज देसी किस्मों से ज्यादा होती है।
- **रासायनिक खाद,** जो जमीन को ज्यादा उपजाऊ बनाती है ।
- **कीटनाशक,** जो कीड़ों से फसल की रक्षा करते हैं।
- **सिंचाई,** अर्थात जब चाहिए तब भरपूर पानी।

इनमें से हरेक टेक्नोलॉजी अपने आप में उपयोगी है। परन्तु अधिकतम लाभ के लिए इनका मिला-जुला उपयोग करना होता है। मसलन, अधिक उपज वाले बीजों का विकास प्रयोगशाला में किया जाता है। इन प्रयोगशालाओं में मिट्टी व पानी की परिस्थिति सर्वोत्तम रखी जाती है। खेतों में ये बीज बढ़िया पैदावार तभी देंगे

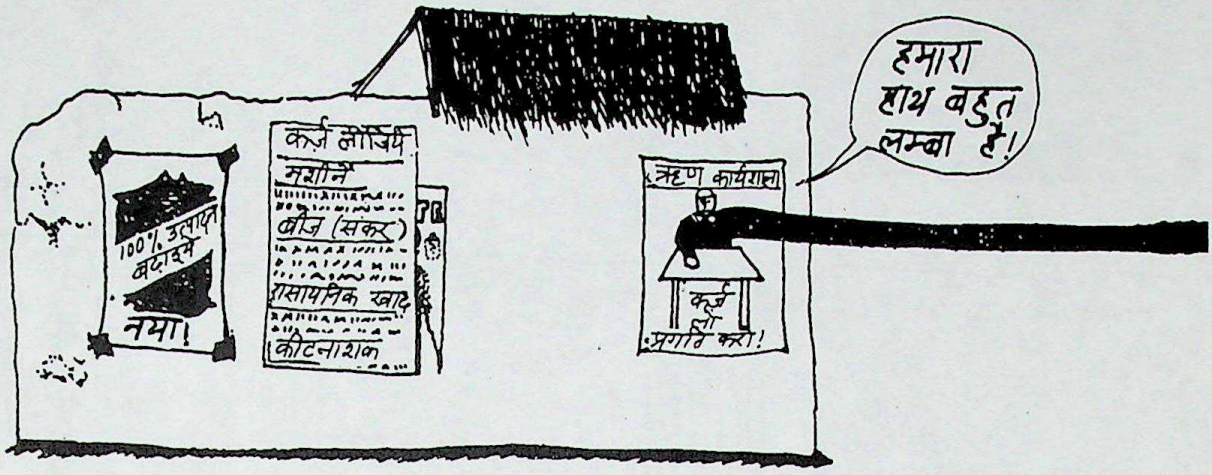

जब स्थितियां हूबहू प्रयोगशाला जैसी बना दी जाएं। मतलब यह कि किसान को उचित मात्रा में उर्वरक और सिंचाई का उपयोग करना पड़ेगा। तभी जाकर आदर्श परिस्थिति निर्मित होगी। प्रयोगशाला में बने होने के कारण ये बीज कीटों के प्रति भी सहनशील नहीं होते। देसी किस्मों में कुदरती सहनशीलता होती है। इसलिए उन्नत बीजों के साथ कीटनाशकों का इस्तेमाल जरूरी हो जाता है। इसी प्रकार से मशीनें उन देशों में बनी थीं जहां कामगारों की संख्या कम है और जो हैं, वे भी कारखानों में काम करते हैं।

उन देशों में आदर्श परिस्थिति यही है कि मजदूर कम से कम लगे और काम जल्दी से जल्दी निपटे। इसलिए खेतीबाड़ी के अलग-अलग कामों को निपटाने के लिए अलग-अलग मशीनें बनाई गईं। ये मशीनें महंगी होती हैं। इसलिए इनका प्रयोग तभी किया जा सकता है जब ढेर सारा काम निपटाना हो। खेत जितना बड़ा होगा और उत्पादन जितना ज्यादा होगा, ये मशीनें उतनी ही किफायती साबित होंगी।

उन्नत बीज , सिंचाई, उर्वरक और कीटनाशक से उत्पादकता बढ़ती है और मशीनों द्वारा खेतीबाड़ी के काम अपेक्षाकृत तेजी से निपटाए जाते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि ज्यादा फायदा उसी किसान को होगा जिसके खेत बड़े-बड़े हैं और जो इन सबका उपयोग एक साथ कर सके।

कृषि टेक्नोलॉजी का उपयोग कौन कर सकता है ?

यदि मुसहरी ब्लाक के तीन गांवों में ये टेक्नोलॉजी लाई जाए, तो क्या हर परिवार इनका समान रूप से उपयोग कर सकेगा ?

इन गांवों में :

- पंचायत के सदस्य कौन हैं ?
- क्या पंचायत की बैठकें बुलाई जाती हैं ?
- यदि इन टेक्नालाजी का उपयोग समझाने के लिए गांव की एक बैठक बुलाई जाए, तो कौन से लोग आएंगे ?
- ऐसी बैठक में कौन से लोग अपनी शंकाएं दूर करने के लिए सवाल पूछेंगे ?
- कौन से लोग सरकारी कर्मचारियों से सम्पर्क करके अतिरिक्त जानकारी लेंगे ?
- टेक्नोलॉजी का उपयोग करने के लिए आवश्यक धन किसके पास है ?
- सरकारी ऋण किनको मिलेगा ?

टेक्नोलॉजी का उपयोग करने के लिए :

- बड़े-बड़े खेत किनके पास हैं ?
- सिंचाई सुविधा किनके पास है ?
- मशीनें किनके पास हैं ?

यदि नई टेक्नोलॉजी नाकाम रही तो :

- नुकसान सहन करने की स्थिति में कौन है ?

टेक्नोलॉजी के सफल उपयोग से

- जमींदारों और बड़े किसानों पर क्या असर होगा ?
- थोड़ी जमीन वाले और भूमिहीन किसान वर्ग पर क्या असर होगा।

इन प्रश्नों का उत्तर पाठक स्वयं खोज सकते हैं। इसके लिए आवश्यक जानकारी गांवों के विवरण भाग–क में मौजूद हैं।

टेक्नोलॉजी का असर

हमारे देश में पिछले 30 सालों में इन टेक्नोलॉजी का उपयोग हो रहा है। परिणामों के विश्लेषण से पता चलता है कि इनकी सबसे बड़ी सफलता गेहूं व धान का उत्पादन बढ़ाने में रही है। उन्नत बीजों के उपयोग से बोवनी और कटाई के बीच का अन्तराल कम हो गया।

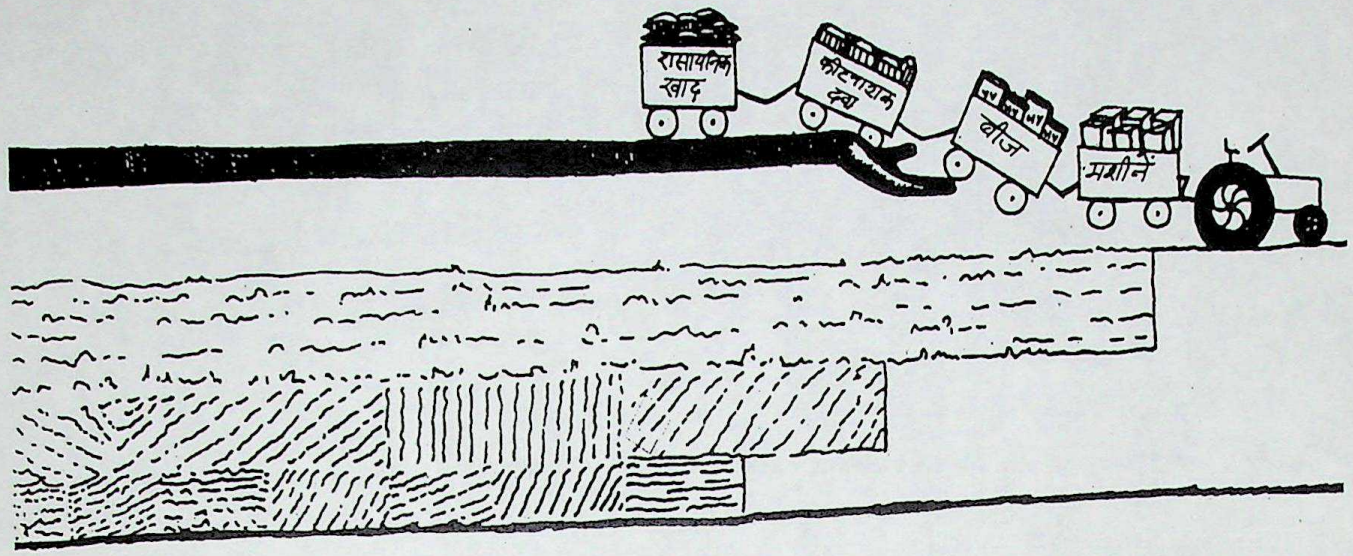

अतः एक साल में उसी जमीन पर एक से ज्यादा फसलें ली जा सकती हैं।

सबसे ज्यादा फायदा बड़ी जोत वाले किसानों को हुआ क्योंकि उनके पास नई टेक्नोलॉजी पर खर्च करने के लिए पैसा था और वे ही सरकारी कर्ज का लाभ उठा पाने की स्थिति में थे। इनके पास ही सिंचाई की सुविधा थी। यही बीज, खाद और कीटनाशकों का सही मात्रा में उपयोग कर सकते थे और मशीन भी खरीद सकते थे। यही लोग सारी उपलब्ध टेक्नोलॉजी का उपयोग सही अनुपात में कर सके। गांव के अलग-अलग आर्थिक समूहों के लोगों पर खेती में टेक्नोलॉजी के उपयोग का प्रभाव निम्नानुसार हुआ।

जमींदार

इन लोगों ने सारी टेक्नोलॉजी का सफलतापूर्वक इस्तेमाल करके अपनी आमदनी खूब बढ़ाई। परिणाम यह हुआ कि इन्होंने और जमीन खरीदी और हर साल दो-तीन फसलें लेने लगे। अलावा ये लोग नगद फसलें भी उगाने लगे और बाजार में अच्छे दामों पर बेचकर पैसा कमाने लगे।

इसका सीधा सा कारण यह था कि इन्हें अपने भोजन की चिन्ता तो थी नहीं। ये लोग अपने खाने के लिए अनाज बाजार से खरीद सकते थे, चाहे थोड़ा महंगा ही क्यों न खरीदना पड़े। इसके फलस्वरूप इस इलाके में बोई जाने वाली फसलों में बदलाव आया। उदाहरण के लिए उत्तरप्रदेश में जहां पहले गेहूं व धान की फसलें होती थीं वहीं आज यहां बहुतायत में गन्ने की खेती होती है।

बड़े किसान

इन्होंने भी अपनी जमीन के हिसाब से नई टेक्नोलॉजी का उपयोग किया। उसी अनुपात में इनकी आमदनी भी बढ़ी। पंजाब में किए गए एक अध्ययन से पता चलता है कि 20-35 एकड़ वाली जोत में मात्र 4 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई है जबकि 100-150 एकड़ वाली जोतें 40 प्रतिशत बड़ी हो गईं। अधिकतर बढ़ोतरी जमीन की खरीद के जरिये हुई।

बटाईदार और कौलीदार

जमीन से मिलने वाली आमदनी बढ़ जाने के कारण, जमीन की कीमतें बढ़ गई। कौली पर दी जाने वाली जमीन का दाम बढ़ गया। जो लोग बढ़ी हुई दर से दाम नहीं दे सकते थे, उन्हें बेदखल कर दिया गया। जमींदार अब बटाई पर जमीन देने से कतराने लगे। क्योंकि अब खुद खेती करना ज्यादा लाभदायक था। बड़े किसान, छोटे किसान और भूमिहीन किसान ही बटाईदार और कौलीदार थे। इन बदलावों का सबसे ज्यादा असर भूमिहीन छोटी जोत वाले किसानों पर हुआ। बड़े किसानों पर इतना ही असर हुआ कि पहले उन्हें बटाई के खेत से जो अतिरिक्त आमदनी हो जाती थी, वह अब बन्द हो गई। इस तरह से नई टेक्नोलॉजी के कारण इन तीनों समूहों की आमदनी में गिरावट आई।

छोटी जोत (2-3 एकड़) वाले किसान

थोड़ी बहुत रासायनिक खाद डालकर इन किसानों ने अपनी जमीन की प्रति एकड़ उपज तो बढ़ा ली पर आमदनी इतनी नहीं बढ़ी कि ये जमीन को बेहतर बनाने का प्रयास कर पाते। ये किसान उन लोगों में से थे जिन्होंने जमींदार से कर्ज लिए हुए थे। जमींदार इस कर्जे के एवज में इनकी जमीन हथियाने को आतुर थे और सक्षम भी थे। आखिर अब जमीन की कीमत जो बढ़ चुकी थी। नतीजा यह हुआ कि इस समूह के कई किसान भूमिहीन मजदूर बन गए।

टेक्नोलॉजी के असर के उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि दो बातें

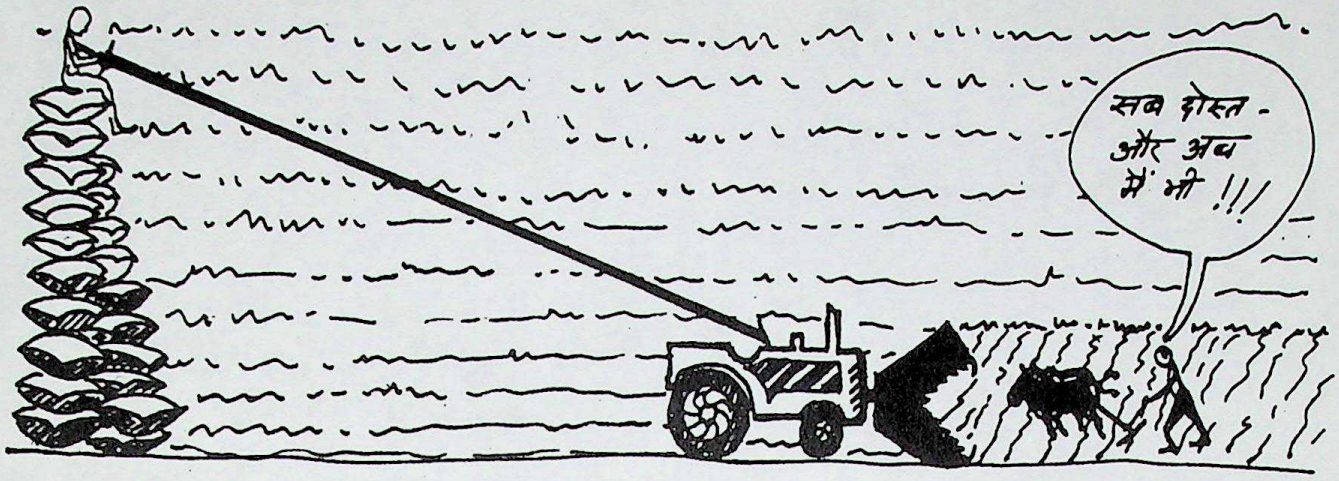

साथ-साथ हुईं। एक तो शीर्ष पर विराजमान जमींदारों और बड़े किसानों की आमदनी बेतहाशा बढ़ी जबकि निचले लोगों की आमदनी घट गई। दूसरे, ऊपरी और निचले तबके के बीच की खाई और बढ़ गई। अमीर और अमीर हो गए तथा गरीब और गरीब हो गए।

जमींदार और अमीर हो गए क्योंकि वे पहले से संचित सम्पत्ति की बदौलत नई टेक्नोलॉजी को खरीदने में समर्थ थे। जैसा कि हमने देखा था, यह सम्पत्ति पूर्णतः कामगारों का शोषण करके हासिल की गई थी। इसलिए इसी शोषण की बदौलत यह संभव हुआ कि जमींदार टेक्नोलॉजी के जरिए अपनी आमदनी और बढ़ा पाए।

छोटे किसानों का शोषण तो नई टेक्नोलॉजी आने से पहले भी जारी था। परन्तु गांव में टेक्नोलॉजी पहुंचने के बाद इनमें से कई किसान तो अपनी जमीन ही गंवा बैठे। अपनी जीविका के लिए ये अब जमींदारों पर पहले से भी ज्यादा निर्भर हो गए।

तो, टेक्नोलॉजी जैसी चीज, जिससे हरेक का जीवनस्तर बेहतर बनाया जा सकता है, वह भी जब गांव में प्रवेश करती है तो सब लोगों को बराबर लाभ नहीं मिलता। होता यह है कि पहले से मौजूद विषमताएं और बढ़ जाती हैं। अर्थात् नए साधनों से शीर्ष के मुट्ठी भर लोगों का फायदा और नीचे के अधिकांश लोगों का नुकसान होता है।

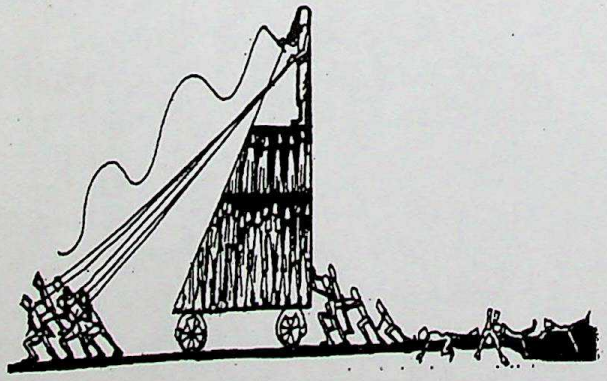

8 घ : यदि गरीबी की वजह शोषण है तो लोग इसे चलने क्यों देते हैं ?

अभी तक हमने इस अध्याय में देखा कि किस तरह ऊपरी तबके के लोग शोषण के जरिए सम्पत्ति बटोरते हैं। हमने यह भी देखा कि किस तरह से जमींदार अपनी आर्थिक ताकत के बल पर अधिकांश लोगों की जिन्दगी पर हावी रहते हैं और उनकी गरीबी का स्तर तक निर्धारित करते हैं। अतः यह समझना मुश्किल नहीं है कि शोषण जारी क्यों रहता है। शोषण जारी रहता है क्योंकि कामगार अपने जीवन निर्वाह के लिए पूरी तरह जमींदारों पर निर्भर हैं। जमींदार इस बात का भी ध्यान रखते हैं कि उनकी आर्थिक ताकत को कोई चुनौती न देने पाए। नीचे वर्णित सच्ची घटनाओं से इस बात की पुष्टि होती है।

किलवेनमणी तमिलनाडु के तंजोर जिले का एक गांव है। कुछ सालों पहले तक यहां ज्यादातर नीची जाति के खेतिहर मजदूर ही रहते थे। इन लोगों के पास बिलकुल जमीन नहीं थी और जीविका के लिए ये पूरी तरह जमींदारों पर निर्भर थे। जैसा कि तमिलनाडु में आमतौर पर होता है, जमींदार पास के एक गांव में रहते थे।

मजदूरी की बात को लेकर प्रायः जमींदारों और मजदूरों के बीच विवाद होता रहता था और कभी-कभी लड़ाई भी छिड़ जाती थी। ऐसी ही एक लड़ाई में एक जमींदार मारा गया। इसका बदला लेने की नीयत से एक रात को करीब 300 जमींदार बंदूकों, रायफलों और अन्य हथियारों से लैस होकर गांव पहुंचे। उनके पास मिट्टी का तेल और दूसरी ज्वलनशील चीजें भी थी। उन्होंने गांव के आदमियों पर गोलियां चलाना शुरू कर दिया। गोलियों की आवाज सुनकर कई लोग भाग निकले। पर औरतें और बच्चे नहीं भाग सके और एक झोंपड़ी में छिप गए। जमींदारों ने झोंपड़ी बाहर से बंद करके मिट्टी का तेल छिड़ककर आग लगा दी। अन्दर के सारे जिन्दा लोग जला दिए गए।

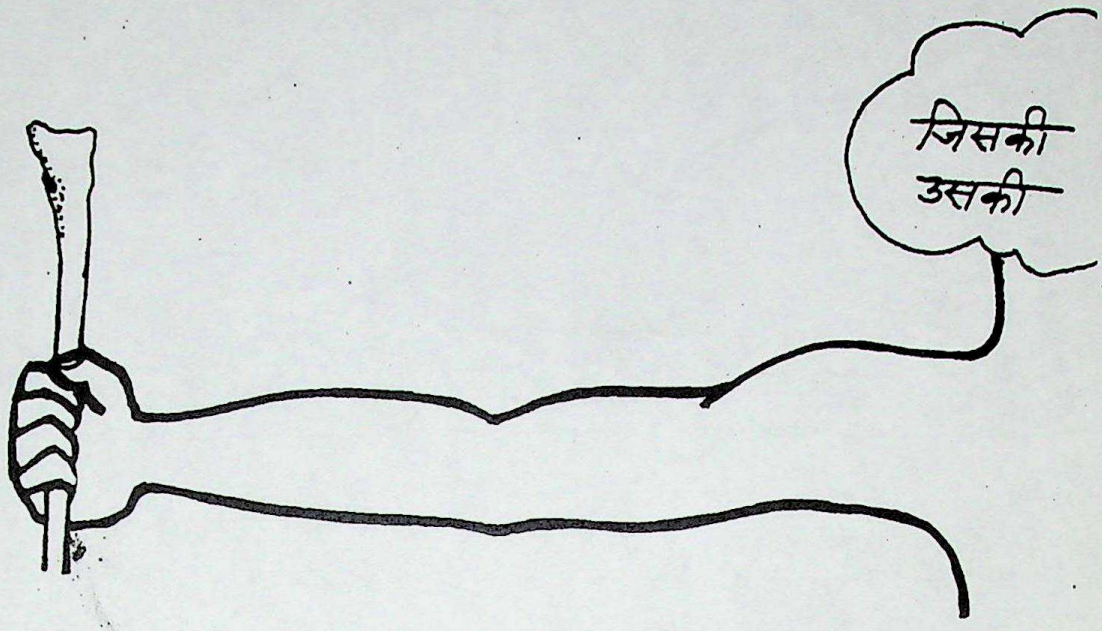

इस हादसे में जमींदारों ने अपने एक आदमी की जान के बदले 44 व्यक्तियों (27 बच्चे, 14 औरतें और 3 आदमियों) की जान ले ली। 28 झोंपड़ियां भी जला कर खाक कर दीं। आज भी किलवेनमणी गांव भूतहा नजर आता है। यहां अब कोई नहीं रहता। इस मामले के अभियुक्त जमींदारों को मद्रास उच्च न्यायालय ने बरी कर दिया।

(संदर्भ : क. भसीन व आर. विमला द्वारा संपादित पुस्तक "रीडिंग्स आन पावर्टी, पोलिटिक्स एण्ड डेवलपमेंट", एफ.ए.ओ., 1980)

दूसरी घटना बिहार की है। मुंगेर जिले के बन्ता रामपुर गांव के तीन जमींदारों से सरकार ने 3 एकड़ 66 डेसिमल जमीन अधिग्रहीत की थी। इसका पूरा मुआवजा भी दिया गया था। इस जमीन का अधिग्रहण कुछ हरिजन परिवारों को बसाने के उद्देश्य से किया गया था। सन् 1975 में कुछ हरिजन परिवार यहां बसाए गए। तभी से जमींदार लोग उनको परेशान करते आ रहे थे। 22 जनवरी 1981 के दिन जमींदारों ने 122 हरिजनों की झोंपड़ियां जला डालीं। जब यह सब हो रहा था, तब अनुविभागीय अधिकारी (एस. डी. ओ.) तथा पुलिस उप अधीक्षक वहां मौजूद थे।

(संदर्भ : हाउ, खण्ड 4, अंक 4, अप्रैल 1981)

तीसरी घटना दिल्ली के नजदीक घटी। सन् 1970 में दिल्ली प्रशासन ने दिल्ली के निकट खांजेवाला गांव में अनुसूचित जाति के 120 परिवारों को एक-एक एकड़ जमीन वितरित की थी। इस गांव में अनुसूचित जातियों के 150 परिवार और अन्य जातियों के करीब 700 परिवार थे। गांव पर जाटों का वर्चस्व था। गांव की 10,000 बीघा जमीन में से 7000 बीघा जमीन पर इन्हीं का कब्जा था। सन् 1970 तक हरिजनों के पास मात्र 9 बीघा जमीन थी। इसी साल जमीन वितरण का पहला चरण पूरा हुआ। जमीन 5 साल की लीज़ पर दी गई थी। यह तय किया गया था कि यदि इस अवधि के दौरान हरिजन लोग सफलतापूर्वक खेती कर पाए, तो उन्हें जमीन का मालिकाना हक दे दिया जाएगा।

जाट जमींदारों ने इस वितरण के खिलाफ अदालत में मुकदमा ठोंक दिया। अदालत ने लीज की अवधि को 5 साल और बढ़ा दिया।

तत्काल खांजेवाला में जाटों ने हिंसक उपद्रव शुरू कर दिए। हरिजनों को उक्त जमीन पर खेती करने दी गई। उन्हें मारपीटकर आतंकित किया गया। कई हरिजन गांव छोड़कर भाग गए। एक जाट जमींदार का कहना था कि "हम चाहें तो इन हरिजनों को चुटकी में मसल दें। हम अभी अदालत के फैसले का इंतजार कर रहे हैं।"

(संदर्भ : इण्डियन एक्सप्रेस 23.3.82 "बैटल ओवर लैण्ड रॉक्स डेल्ही विलेज")

हाल ही में एक नई बात देखने में आई है। कुछ व्यापारिक संस्थानों और राज्य सरकारों को इस बात का पता चल गया कि झींगा मछली पालन काफी फायदेमन्द है, विश्व बैंक ने भी आसान किस्तों में ऋण देकर इस काम को बढ़ावा देना शुरू किया है, फलस्वरूप अनेक समुद्रतटीय क्षेत्रों में झींगा मछली पालन के विशाल फार्म बन गए हैं।

कभी कभी ये फार्म स्थानीय किसानों के लिए सर दर्द का कारण बन जाते हैं। इन फार्मों से लगी हुई जमीन राजस्व और जंगलात विभागों के अन्तर्गत आती है। गांव वाले इन जमीनों का उपयोग चरागाह और दिशा मैदान जाने के लिए करते हैं। इन झींगा मछली फार्मों ने मछुआरों के जल मार्गों को भी बन्द कर दिया है, ये जल मार्ग मछुआरों के लिए बहुत जरूरी थे।

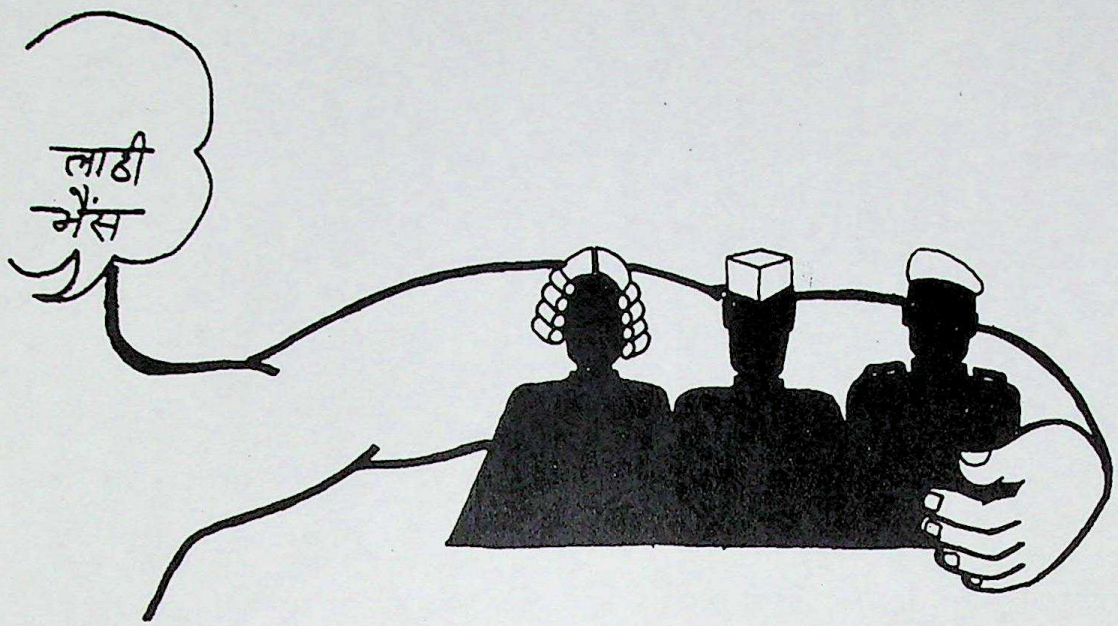

इन फार्मों ने खेती की जमीनों पर नमक फैलाकर उन्हें बंजर बना दिया है। इन फार्मों के अधिकांश मालिकों ने गैर कानूनी ढंग से सीमा से अधिक जमीनें घेर रखी हैं, राजस्व विभाग की अनुमति के बिना हरिजन आदिवासी जनता की जमीनों को इन मछली फार्मों के मालिकों को सौंप दिया गया है।

13 जनवरी, सन् 1995 के दिन उड़ीसा के समुद्रतटीय जिले भद्रक के अधौन ग्राम में पुलिस की गोलियों से दो मछुआरे मारे गए और छः गंभीर रूप से घायल हो गए। इस घटना से पहले रात्रि के समय मछुआरों ने पुलिस को कुछ साथियों को गिरफ्तार करने से रोका था। इन मछुआरों का केवल यही अपराध था कि उन्होंने मछली फार्मों के मालिकों के विरुद्ध प्रदर्शन किया था क्योंकि उन्होंने सरकारी जमीनों पर गैर कानूनी ढंग से कब्जा करके मछली फार्म स्थापित कर रखें थे। मछुआरों और गांववालों ने मछली फार्मों की सीमा बताने वाले खंबों को उखाड़ कर फेंक दिया था, इस पर मछली फार्मों के मालिकों ने पुलिस को शिकायत कर दी थी और पुलिस उन्हें गिरफ्तार करने आई थी।

(संदर्भ : फ्रन्ट लाइन, तापस राय, "प्रौन्स एण्ड डौलर्स : एट द कौस्ट ऑफ लैण्ड एण्ड इनवायरमेंट", 17.11.95)

इन उदाहरणों से साफ है कि जब जमींदारों की आर्थिक ताकत को चुनौती दी जाती है, तो वे कितने हिंसक हो उठते हैं। परन्तु ऐसा नहीं है कि सिर्फ आर्थिक सत्ता को खतरा होने पर ही जमींदार हिंसक हो उठते हैं। जमींदारों की ताकत तो कई वजहों से है : वे ऊँची जाति के हैं, शिक्षित हैं, पंचायत और अन्य स्थानीय संस्थाओं पर उनका वर्चस्व है। इनमें से किसी भी मामले में उनकी ताकत को चुनौती दी जाए, तो वे हिंसा से जवाब देते हैं। जिस तरह से वे अपनी आर्थिक ताकत के बल पर लोगों को रोजी-रोटी से वंचित करते हैं, उसी तरह अपनी सामाजिक ताकत के बल पर वे लोगों को मानवीय गरिमा व प्रतिष्ठा से भी वंचित करते हैं।

परम्परा के अनुसार हरिजन ही जचकी के बाद के सारे कामकाज निपटाते हैं और मृत पशुओं को ठिकाने लगाते हैं। जब जगरूपपुर गांव (जिला इलाहाबाद, उ. प्र.) के हरिजनों ने ये काम करने से इंकार कर दिया, तो करीब 3 दिन तक 200 ब्राह्मणों ने उनकी बस्ती का घेराव किया। घेराव इतना सख्त था कि कोई व्यक्ति शौच तक के लिए बस्ती से नहीं निकल सका। यदि एक हरिजन किसी तरह भागकर पुलिस को न बुला लाता, तो यह घेराव चलता रहता।

(संदर्भ : हाउ, खण्ड 4, अंक 6, जून 1981)

आन्ध्रप्रदेश में रजाक गांव के धोबी होते हैं। कपड़े धोने के अलावा उन्हें जन्म और मृत्यु के समय भी कुछ काम निपटाने पड़ते हैं। इस काम के बदले में उन्हें जूठा भोजन और सालाना कुछ आनाज दिया जाता है।

वे एक दिन भी छुट्टी नहीं कर सकते। कंड़लाकुन्ता गांव के लोगों ने यही 'नियम' तोड़ने की हिमाकत की। दिसम्बर 1981 में उन्होंने रोजमर्रा की तरह कपड़े नहीं धोए। कारण यह था कि वे अपने मुखिया की पन्द्रहवीं में शामिल होने गए थे। ऊँची जाति के लोगों ने इसे अपनी सामाजिक ताकत की खिलाफत माना।

गांव में रजाकों का पूर्ण बहिष्कार किया गया। व्यापारियों से कहा गया कि वे रजाकों को कोई चीज़ न बेचें, धान तक नहीं। धान साफ करने वालों से कहा गया कि वे रजाकों का धान न कूटें। गांव के कुम्हार, नाई, लोहार और वैद्यों को रजाकों का काम करने से मना कर दिया गया। यहां तक कि प्राइवेट बस मालिकों से भी कहा गया कि वे किसी रजाक को बस में न चढ़ने दें। पूर्ण बहिष्कार हुआ। और यह सब हुआ 'अवज्ञा' के सिर्फ एक कदम के कारण।

(संदर्भ : इण्डियन एक्सप्रेस, 8.1.82, "दी प्राइस आफ ह्यूमन बांडेज")

केशव शिंदे अलगड़ गांव (जिला बिदर, कर्नाटक) की पंचायत का हरिजन सदस्य था। वह मई 1980 में पंचायत की बैठक में गया। इस बैठक में अधिकांश सदस्य शक्तिशाली मराठा व लिंगायत समुदाय के थे। हमेशा की तरह, केशव शिंदे को अलग रखे कप में चाय दी गई क्योंकि वह हरिजन था। उसने थोड़ा-सा प्रतिवाद किया। मगर जब गांव की चाय की दुकान पर एक हरिजन को चाय देने से कई बार इंकार किया गया, तो केशव शिंदे ने पास के पुलिस थाने में रिपोर्ट लिखवाई।

30 अगस्त को सब इंस्पेक्टर कांबले इस मामले की छानबीन करने आया। वह भी हरिजन था। उसने उक्त चाय की दुकान पर चाय का आर्डर दिया। उसे भी हरिजनों के लिए अलग रखे कप में चाय दी गई। इस पर पुलिस अधिकारी ने शिवराज के खिलाफ मामला दायर कर दिया। शिवराज तो दुकान पर नौकर मात्र था। दुकान मालिक को भी गिरफ्तार किया गया। इस पर विवाद उत्पन्न हुआ, जिसमें सवर्णों ने शिवराज का साथ दिया और पुलिस अधिकारी पर हमला कर दिया। हरिजनों ने पुलिस अधिकारी का साथ दिया, जिसने 16 सवर्णों के विरुद्ध आक्रमण का मामला दायर किया था। एक मामला नागरिक अधिकार संरक्षण कानून के तहत भी दायर किया गया। गिरफ्तार लोग 3 सितम्बर को जमानत पर रिहा हुए। अगले दिन ऊंची जाति के लोगों ने मिलकर बहिष्कार का निर्णय लिया। उन्होंने तय किया कि हरिजनों को किसी दुकान पर चाय नहीं मिलेगी और उनके ढोरों को हिन्दुओं के खेतों में नहीं घुसने दिया जाएगा। हरिजन बच्चों को स्कूल नहीं जाने दिया जाएगा और हरिजनों को काम भी नहीं मिलेगा। जो इस बहिष्कार का उल्लंघन करेगा, उस पर 51 रुपए का दण्ड लगाया जाएगा। इससे डरकर हरिजन स्थानीय विधायक के पास पहुंचे। जिस दिन अखबारों में इस बहिष्कार की खबरें छपीं, उसी दिन मुख्यमंत्री ने बहिष्कार की खबर को गलत बताया।

जनवरी 1982 में सवर्णों के खिलाफ दोनों मामले खारिज कर दिये गये।

68 (संदर्भ : इण्डियन एक्सप्रेस, 18.4.82, "आफ्टर ऑल दिस, विल नथिंग बी डन")

परिस्थिति आज भी वैसी की वैसी ही है। पिछले दिनों घटी इस घटना का उदाहरण देखिए।

कर्नाटक के कोलार जिले के हराती गांव की यह घटना हमारे राजनैतिक क्षेत्रों में चर्चा का विषय बन गई। हराती में हर वर्ष दीपोत्सव नाम का एक स्थानीय त्योहार धूमधाम से मनाया जाता है। इस त्योहार की घोषणा आस पास के गांवों में डोंडी पिटवा कर की जाती है। डोंडी पीटने का काम एक हरिजन करता है। क्षेत्र के नेताओं के निर्णय के पश्चात यह निश्चित हुआ कि वर्ष का त्योहार 30 जनवरी, 1994 के दिन मनाया जायेगा, कनप्पा नाम के एक हरिजन को क्षेत्र के ग्रामों में 'दीपोत्सव' की सूचना डोंडी द्वारा करने का आदेश दिया गया। उसे इस काम के लिए बतौर मेहनताने के बीस रुपये दिए गए।

28 जनवरी, 94 की बात है। कनप्पा घर के लिए अनाज खरीदने बाज़ार गया हुआ था जहां उसकी भेंट एक स्थानीय नेता वेंकटराम गौडा से हुई। गौडा चाहता था कि वह त्योहार तीस दिसम्बर को न होकर 29 दिसम्बर के दिन हो। गौडा ने कनप्पा से कहा कि उसकी पार्टी इस त्योहार को 29 तारीख को मनाना चाहती है, इसलिए उसे क्षेत्र में घूम कर 29 तारीख को त्योहार मनाने की घोषणा करनी चाहिए। कनप्पा ने ऐसा करने में अपनी असमर्थता जताई, उसका कहना था कि वह पहले ही किसी को वादा कर चुका है, इसलिए उसके पास नई घोषणा करने के लिए समय नहीं है। गौडा ने गुस्से में कहा अगर वह ऐसा नहीं कर सकता है तो उसे बीस रुपया जो पेशगी में दिया गया है, लौटा देना चाहिए। कनप्पा ने पैसा लौटाने में अपनी असमर्थता जताई, बस फिर क्या था, गौडा गुस्से से भर गया, वह कनप्पा को घसीट कर अपने घर ले गया जो केवल पचास गज की दूरी पर था। वहां उसने कनप्पा को एक खम्बे से बांध दिया और उसके पेट में जोर से लात घूंसे मारे। गौडा की पत्नी और उसके रिश्तेदारों ने भी उसे पीटा। कनप्पा को इतना पीटा कि उसने डर कर वहीं मल त्याग दिया। गौडा और उसके परिवार को यह कैसे रास आता कि एक हरिजन उनके घर को मल त्याग कर अपवित्र कर दे। गौडा की पत्नी ने एक झाड़ू लेकर कनप्पा के मल को उसके सर और शरीर पर फैला दिया। गौडा ने एक छड़ी से वह मल कनफपा के मुंह में ठूंसा।

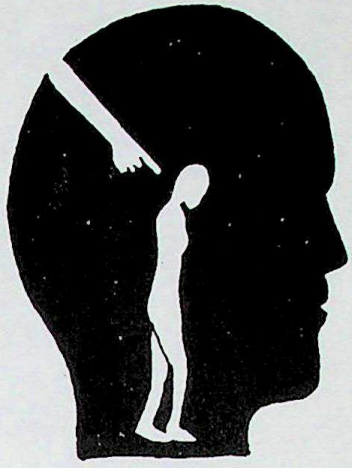

दलित संघर्ष समिति ने इस घटना पर एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसमें कहा गया था कि क्षेत्र में ऐसी कोई घटना नहीं घटी है। समिति का कहना था कि कुछ निहित स्वार्थ दलितों को मोहरा बना कर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं, उस का तर्क था कि इस जिले के सभी दलित सचेत हैं, इसलिए इस प्रकार की घटना यहां नहीं हो सकती।

(संदर्भ : सुधा सीता रमण, इकनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, जून 11, 1994)

उपरोक्त दृष्टांतों से साफ है कि ताकतवर लोग अपने वर्चस्व को जारी रखने के लिए किस हद तक जा सकते हैं। शारीरिक शक्ति का प्रदर्शन ही एकमात्र तरीका नहीं है। वे उनकी रोजी-रोटी बंद कर देते हैं और पूर्ण बहिष्कार तक करवाते हैं। वे पुलिस, कानून, राजनीतिज्ञों, गवाहों, वगैरह को पैसे से खरीदने से भी नहीं चूकते।

ताकतवर लोगों को प्रायः इनमें से कोई तरीका नहीं अपनाना पड़ता क्योंकि शोषित लोग कभी-कभार ही उनकी ताकत को चुनौती देते हैं। यह बात हर तरह के शोषण आधारित सम्बन्धों पर लागू होती है, चाहे वह ग्रामीण इलाका हो या शहरी। उदाहरण के लिए, अपने बीबी-बच्चों पर नियंत्रण रखने के लिए पति को कभी-कभार ही शारीरिक शक्ति का उपयोग करना पड़ता है। विद्यार्थियों पर अपना वर्चस्व जताने के लिए शिक्षक व प्रोफेसर उन्हें बार-बार फेल नहीं करते। नियोक्ता अपने मातहातों को रोज नौकरी से निकालने की धमकी नहीं देता। हालांकि इन तरीकों का उपयोग किया जाता है, पर रोज-रोज नहीं।

शोषण पर आधारित सम्बन्ध जीवन के इतने अभिन्न अंग बन जाते हैं कि लोग उन पर सवाल तक नहीं उठाते। इसकी वजह यह है कि हम सभी ने इंसानों की गैर-बराबरी की बात को प्राकृतिक मानकर आत्मसात् कर लिया है। इस समाज में हर व्यक्ति को यही सिखाया जाता है कि कुछ लोग कुदरती तौर पर ही श्रेष्ठ होते हैं।

इस श्रेष्ठता की वजह नस्ल, रंग, लिंग, जाति, व्यवसाय, शिक्षा या सम्पत्ति कुछ भी गढ़ ली जाती है। इन के आधार पर इन्सानों की गैर-बराबरी को स्वीकार कर लेना वैसा ही है जैसे यह कि गोरे लोग वाकी लोगों से श्रेष्ठ होते हैं, कि ब्राह्मण, हरिजनों से श्रेष्ठ हैं, कि पुरुष स्त्रियों से श्रेष्ठ हैं, कि शिक्षित व्यक्ति अनपढ़ व्यक्ति से श्रेष्ठ है, कि अमीर गरीब से श्रेष्ठ है। श्रेष्ठता की ये सारी कसौटियां जन्म से सम्बन्धित हैं, जिन पर व्यक्ति का कोई नियंत्रण नहीं। कोई व्यक्ति मनचाही नस्ल, जाति या लिंग का पैदा नहीं हो सकता। न ही कोई व्यक्ति अपनी मर्जी से अमीर परिवार में पैदा होकर अच्छी शिक्षा, बढ़िया नौकरी और सम्पत्ति का सुख प्राप्त कर सकता है।

परन्तु गैर-बराबरी को उचित ठहराने के लिए इन्हीं बातों का सहारा लिया जाता है। ये बहाने अलग-अलग देश-काल में अलग-अलग होते हैं पर बुनियादी धारणा वही रहती है। जैसे एक समय था जब घटनाओं की व्याख्या धर्म और पारलौकिक शक्तियों के आधार पर की जाती थी। उस समय इसाई धर्म ग्रंथों में पुरुष को स्त्री से श्रेष्ठ बताने के लिए कहा गया था कि—

> "महान ईश्वर ने आदमी को ईडन के उद्यान में माली बनाया ताकि वह उसकी देखभाल करे..... और महान ईश्वर ने कहा, 'आदमी के लिए अकेला होना अच्छा नहीं है, मैं उसको एक साथी बना दूंगा, जो उसकी जरूरत के अनुसार मदद करे।' तो ईश्वर ने मिट्टी से नाना प्रकार के जानवर और पक्षी बनाए और उन्हें आदमी के सामने रखा और देखा कि आदमी उन्हें क्या नाम देता है। यही उन चीजों के नाम हुए। मगर फिर भी आदमी के लिए सही सहचर न बना सका। तब ईश्वर ने आदमी को गहरी नींद में सुला दिया और उसकी एक पसली निकाल ली। जहां से पसली निकाली थी उस जगह को ठीक से बंद कर दिया। पसली से ईश्वर ने औरत बनाई और उसे आदमी के सामने रखा। आदमी चीखा 'यही तो है। यह मेरी हड्डी, मेरे शरीर का ही एक हिस्सा है।' उसका नाम औरत (वू-मैन) रखा गया क्योंकि वह एक आदमी में से बनाई गई थी।"

(संदर्भ : द लिविंग बाइबल, चित्रित कैथोलिक संस्करण, अध्याय 2)

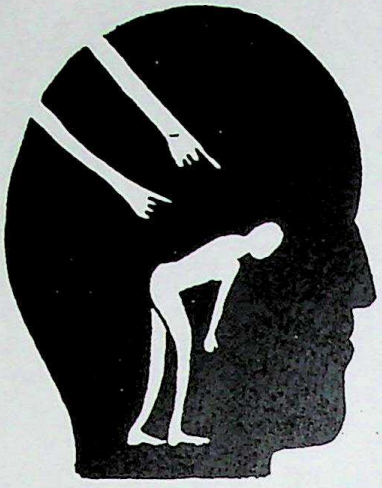

औरत आदमी के अंग से बनी है, यह कहकर धर्म ने औरत की तुच्छता को उचित ठहरा दिया। चूंकि औरत आदमी का मात्र एक भाग है इसलिए वह उसके बराबर तो हो ही नहीं सकती।

इसी तरह से ब्राह्मण व अन्य जातियों को शूद्रों से श्रेष्ठ बताने के लिए यजुर्वेद के एक श्लोक में कहा गया :

ब्राह्मणोऽस्य मुखामासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायतः॥
(यजुर्वेद 31वां अध्याय 11वां मंत्र)

अर्थात्

"जब देवताओं ने मनुष्य की बलि चढ़ाई..... जब उन्होंने मनुष्य को खण्डित किया, तो कितने हिस्से किए ? उसका मुख क्या कहलाया, उसकी भुजाएं, उसकी जांघें और उसके पैर क्या कहलाए ?

उसके मुख से ब्राह्मण, उसकी भुजाओं से क्षत्रिय, उसकी जांघों से वैश्य और पैर से शूद्र पैदा हुए।"

(संदर्भ : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, खंड 1, रोमिला थापर, 1979)

पैरों से उत्पत्ति बताकर, शूद्रों के तुच्छ सामाजिक दर्जे पर धर्म की मुहर लगा दी गई। चूंकि पैर शरीर का सबसे निचला हिस्सा है, इसलिए शूद्र समाज के निम्नतम अंग हो गए।

जब समाज पर विज्ञान का वर्चस्व होने लगा, तो घटनाओं की व्याख्या के लिए धर्म की भूमिका कम होती गई। ऐसे समाज में गैर-बराबरी की वैज्ञानिक व्याख्या की जरूरत आन पड़ी। जैसे आदमी को औरत से श्रेष्ठ साबित करने के लिए अपनाया गया एक वैज्ञानिक तरीका यह था कि दोनों के दिमागों का वजन लिया गया। फिर यह बताया गया कि चूंकि मर्दों का दिमाग औरतों की बनिस्पत ज्यादा वजनदार है इसलिए मर्द ज्यादा बुद्धिमान है। सच यह है कि दिमाग के कामकाज के बारे में हमारी समझ बहुत ही कम है। इसके बावजूद दिमाग के वजन और बुद्धि के परस्पर सम्बन्ध को एक तथ्य के रूप में पेश करने में कोई हिचक नहीं दिखाई गई।

गैर-बराबरी को उचित ठहराने के चक्कर में हम यह भूल जाते हैं कि भिन्नता का मतलब यह नहीं होता कि एक श्रेष्ठ और दूसरा तुच्छ ही हो। काला गोरे से भिन्न है, ब्राह्मण द्वारा किया गया काम हरिजन के काम से भिन्न है, मर्द औरत से भिन्न है, शिक्षित व अशिक्षित व्यक्तियों के ज्ञान में अन्तर होता है। परन्तु इससे यह साबित नहीं होता कि कोई एक दूसरे से बेहतर है। इसलिए यह कहने का कोई औचित्य ही नहीं है कि जन्म के आधार पर कोई व्यक्ति नीच या तुच्छ है।

चूंकि गैर-बराबरी की यह धारणा बेबुनियाद है, इसलिए यह खतरा हमेशा बना रहता है कि कोई इसे चुनौती दे देगा। यहीं पर परिवार, स्कूल, धर्म जैसी सामाजिक संस्थाओं की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो जाती है। ये संस्थाएं इंसानों के बीच की गैर-बराबरी की धारणा को पुष्ट करने का काम करती हैं। कहने का मतलब यह नहीं है कि इन संस्थाओं की कोई उपयोगी भूमिका है ही नहीं। मगर अपनी इस उपयोगी भूमिका के अलावा ये एक खास जीवनशैली को पुष्ट करने का काम भी करती हैं ताकि लोग कहीं इस मानव-निर्मित समाज व्यवस्था को चुनौती देना न सीख जाए।

इंसान सबसे पहले परिवार के संपर्क में आता है। परिवार के द्वारा ही व्यक्ति को समाज में जीने का ढंग सिखाया जाता है। इस दौरान बच्चे को सामाजिक रूप से स्वीकृत तौर-तरीकों में ढाला जाता है। परिवार में ही सबसे पहले हम सीखते हैं कि कुछ लोग दूसरों से श्रेष्ठ होते हैं। बच्चे सीखते हैं कि उनके पिता मां से बड़े हैं, श्रेष्ठ हैं। जब खाना अच्छा नहीं होता, तो पिता थाली उठाकर फेंक देता है, नाराज होकर पिता मां पर चिल्लाता है या मार भी देता है, पिता के आने पर मां बच्चों से चुपचाप रहने को कहती है, सारे झगड़ों के निपटारे में अन्तिम फैसला पिता का होता है।

बच्चे यह भी सीखते हैं कि उनके अभिभावक उनसे बड़े हैं / श्रेष्ठ

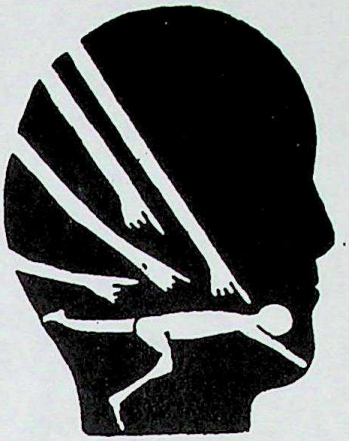

हैं। बच्चे बिना प्रश्न किए आदेशों का पालन करना भी परिवार में ही सीखते हैं। जब वे बार-बार इस तरह की बातें सुनते हैं : ''तुम्हें अमुक काम करना होगा, क्योंकि मैं कहता हं,'' ''सवाल मत करो'', ''मैं तुम्हारा भला-बुरा अच्छे से जानता हूं'' वगैरह। इसी से बच्चे यह भी सीख जाते हैं कि उन्हें खुद सोचने की जरूरत नहीं है। वे यह भी समझ जाते हैं कि जिसके हाथ में सत्ता की लाठी हो, वे आदेशों का कारण नहीं बताया करते। आंख मूंदकर आदेशों का पालन करने पर इनाम मिलते हैं और न करने पर सजा मिलती है। मां-बाप बच्चों को यह भी सिखाते हैं कि अलग-अलग आगंतुकों से अलग-अलग तरह का व्यवहार किया जाता है। कुछ लोगों को कुर्सी पर बिठाया जाता है, कुछ को नहीं। कुछ लोगों के साथ आदर से बात की जाती है, कुछ के साथ नहीं।

शिक्षा संस्थाएं (स्कूल, कॉलेज) इस तरह की मान्यताओं को पुष्ट करने के काम करती हैं। यहां भी यही सिखाया जाता है कि अधिकारी व्यक्ति की बात पर सवाल नहीं करना है। विद्यार्थियों को बताया जाता है कि शिक्षक सब कुछ जानते हैं। शिक्षक भी कभी यह नहीं कहते कि उनके पास विद्यार्थियों के सारे सवालों के जवाब नहीं हैं। शिक्षक सोचते हैं कि ऐसा कहने से विद्यार्थी उनका सम्मान नहीं करेंगे और नियंत्रण कमज़ोर हो जाएगा।

शिक्षण सामग्री (जैसे पाठ्य पुस्तकें, कहानियां, चित्र, गीत, खेल, आदि) भी गैर-बराबरी की धारणा को पुख्ता करने का काम करती हैं। स्कूल में एक नई बात यह सीखी जाती है कि हमें आपस में होड़ लगानी है। सबके ऊपर पहुंचना ही सफलता का पर्याय माना जाता है। जो ऊपर पहुंच जाएं, उसे श्रेष्ठ माना जाता है। विद्यार्थी ज्ञान प्राप्त करें, यही पर्याप्त नहीं होता। उनके ज्ञान की परस्पर तुलना करके उन्हें श्रेणियों में बांटना भी जरूरी समझा जाता है। इस सफलता को आंकने के लिए परीक्षा, प्राप्तांक, श्रेणी, पुरस्कार, प्रवीण्य-सूची आदि तरीके इज़ाद किए गए हैं। इस प्रकार से प्रतिस्पर्धा या होड़ में दूसरे को पीछे छोड़कर शीर्ष पर पहुंचना, यही ध्येय बन जाता है।

मानव व्यवहार को ढालने में धर्म की भूमिका सदा से महत्त्वपूर्ण रही है। जीवन व मृत्यु के अर्थ को समझना सारे धार्मिक विचारों के मूल में रहा है। यही प्राचीन धर्म-ग्रंथों का सार है। इसका यह अर्थ नहीं है कि धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन होता ही नहीं। धार्मिक संस्थाओं ने हमेशा व्याख्या कुछ इस तरह से की है कि समाज के स्थापित मूल्यों और धार्मिक मूल्यों के बीच तालमेल बना रहे। धार्मिक संस्थाओं की ऊंच-नीच से भरपूर संरचना, पूर्ण आज्ञाकारिता और धार्मिक विचारों के प्रति पूर्ण समर्पण का आग्रह भी नियंत्रण की धारणा का समर्थन करते हैं।

''इस जीवन के कष्ट पिछले जीवन के कर्मों का फल है'' या ''कर्म करो, बाकी सब भगवान पर छोड़ दो'' या ''कोई एक थप्पड़ मारे, तो दूसरा गाल सामने कर दो'' या ''फल की अभिलाषा मत करो'' जैसी उक्तियां अन्याय को स्वीकार करने के उपदेश हैं। धर्म के माध्यम से नियतिवाद का भी प्रसार किया जाता है। कहा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए समाज में स्थान निर्धारित है और हमें आंख मूंदकर इसी के अनुरूप अपने कर्तव्य का पालन करते जाना चाहिए। अर्थात् हरिजन की नियति मेहतर बनने की है और ब्राह्मण की पुरोहित बनने की। ये स्थान अटल हैं, अचल हैं।

समाज की विभिन्न संस्थाओं के इन प्रयासों का असर यह होता है कि हम धीरे-धीरे सारे इंसानों को दो भागों में बांटने लगते हैं— एक, वे जो श्रेष्ठ हैं और दूसरे वे जो तुच्छ हैं।

जिन लोगों को श्रेष्ठ की श्रेणी में रखा जाता है वे अपने अहंकार, आक्रामकता, वर्चस्व एवं दूसरों के प्रति तिरस्कार-प्रदर्शन को उचित समझने लगते हैं कि उन्हें निष्क्रिय, पराधीन और दब्बू बने रहना है। श्रेष्ठ लोगों द्वारा अपने जीवन पर नियंत्रण को ये लोग भी उचित

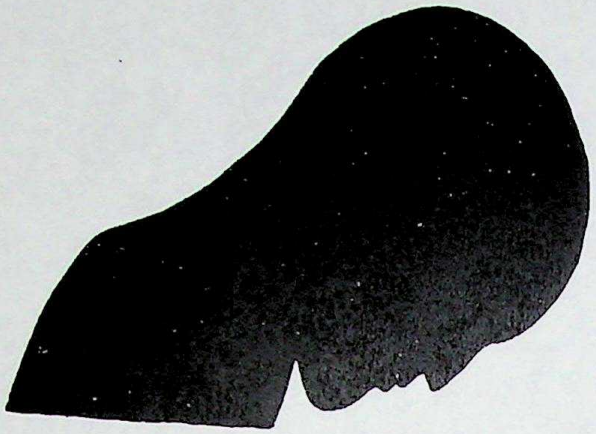

मानने लगते हैं। ये लोग ही शोषित हैं।

आज भी इन कसौटियों के आधार पर लोगों को श्रेष्ठ व तुच्छ की श्रेणियों में बांटा जाता है। इसका सीधा सा अर्थ यह है कि इन मिथकों से अवश्य ही किसी उद्देश्य की पूर्ति होती है। वास्तव में ये मिथक शोषक व शोषित दोनों को शोषण की परिस्थिति स्वीकार करने का आधार प्रदान करते हैं। शोषक के लिए दूसरों के जीवन पर हावी होने का बहाना इनमें छिपा है। शोषित लोग शोषण पर सवाल खड़े नहीं करते, क्योंकि वे इसे 'कुदरती नियम' मान लेते हैं। इस प्रकार से शोषण चलता रहता है।

इस अध्ययन के बाद यह समझना मुश्किल नहीं है कि क्यों कुछ लोगों के पास इतना कुछ है जबकि बाकी के पास इतना कम।

कुछ लोग जीवन के हर क्षेत्र में समाज के शीर्ष पर हैं जबकि शेष लोग काफी पीछे हैं। फिर भी शीर्ष के लोग अपनी सम्पत्ति के बल पर, नए अवसरों का उपयोग करके और सम्पत्ति बटोर लेते हैं। यही सम्पत्ति दूसरों के जीवन पर हावी होने का हथियार बन जाती है। जैसा कि हम पहले पढ़ ही चुके हैं कि सम्पत्ति का संग्रह शोषण के जरिए किया जाता है।

अतः शीर्ष के लोग इसलिए ऊपर नहीं बैठे हैं कि वे बेहतर इन्सान हैं या उनकी व्यक्तिगत काबिलियत ज्यादा है। न ही निचले लोग इसलिए नीचे हैं कि वे निकृष्ट हैं। ये असमानताएं इसलिए हैं क्योंकि सबको समान अवसर नहीं मिलते। दरअसल मुट्ठी भर लोग शीर्ष पर इसीलिए चढ़ बैठे हैं क्योंकि वे नीचे के बहुजन का शोषण करते हैं। जो व्यवस्था कुदरती नजर आती है, वह वास्तव में इंसानों द्वारा बनाई गई व्यवस्था है। यह व्यवस्था अन्याय और शोषण पर टिकी है।

शोषण हमारे रोजमर्रा के जीवन का अंग है, परन्तु अक्सर इस पर सवाल खड़े नहीं होते। इसका कारण यह है कि एक ताकतवर वर्ग ने समाज के जीवन पर अपना पूरा वर्चस्व बना रखा है। इसके जारी रहने का एक कारण यह भी है कि शोषक और शोषित दोनों ही मानते हैं कि गैर बराबरी एक कुदरती नियम है।

हम सभी इस अन्यायपूर्ण समाज के अंग हैं। परन्तु हम क्या करते हैं? जब अन्याय की कोई चौकाने वाली घटना हो जाती है, तो हम बेशक अफसोस तो जाहिर करते हैं परन्तु सामान्यतया हम इसके बारे में करते कुछ नहीं। हम ऐसा मान लेते हैं कि न तो हम किसी का शोषण कर रहे हैं और न हमारा शोषण हो रहा है। इसका मतलब है कि हम मान लेते हैं कि इसे रोकना हमारी जिम्मेदारी नहीं है या जब तक हम खुद शिकार न हों, तब तक हमें कुछ करने की जरूरत नहीं है। हम ऊपर देख चुके हैं कि शोषण जारी रहने का एक कारण यह है कि समाज में इंसानों के बीच 'कुदरती गैर-बराबरी' की गहरी मान्यताएं हैं। सच पूछा जाए, तो हम सभी ने इस मान्यता को आत्मसात कर लिया है और इस तरह से हम सभी शोषण के लिए जिम्मेदार हैं। हम सभी समाज में प्रचलित श्रेष्ठता व तुच्छता के मापदण्डों को स्वीकार किए बैठे हैं।

जीवन में प्रतिदिन हम कई भूमिकाएं अदा करते हैं। कुछ भूमिकाओं में हमारा शोषण होता है तो कुछ में हम दूसरों का शोषण करते हैं। रोजमर्रा के जीवन में शोषण चलता रहता है क्योंकि हम अपनी बुनियादी धारणाओं पर सवाल नहीं करते। और यह तब तक चलता रहेगा जब तक हम यह न समझ लें कि "मौनं स्वीकृति लक्षणम्" यानी हमारा मौन इस अन्याय को स्वीकृति देता है।

नौ

श्यामा चली गई। राधा को वापस अपने रोजमर्रा के काम में जुटने में थोड़ी समस्या हुई। श्यामा के आने से पहले भी राधा थोड़ी हताश और परेशान-सी थी पर अब तो उसे अकेलापन भी सताने लगा। पिछले कुछ महीनों से वह अपने पुराने मित्रों को नियमित रूप से पत्र लिखने लगी थी। उनके पत्र आने से उसे थोड़ा बहुत सुकून मिलता था।

एक दिन पहले वाले अस्पताल की मैट्रन का पत्र आया। राधा ने उन्हें काफी दिनों पहले पत्र लिखा था पर उसे आशा नहीं थी कि जवाब आएगा। मैट्रन ने लिखा कि यदि राधा इस नौकरी से खुश न हो, तो वे उसे वापस अस्पताल में नौकरी दिलवा सकती हैं। राधा को अस्पताल के अहाते में ही घर भी मिल जाएगा।

राधा दुविधा में पड़ गई। अगले कुछ दिनों वह काफी उखड़ी-उखड़ी सी रही और कोई निर्णय न कर सकी। अस्पताल में फिर से काम करने का विचार उसे अच्छा लगा। उसका ख्याल था कि वहां वह ज्यादा काम भी कर पाएगी और ज्यादा संतोष भी मिलेगा। परन्तु दूसरी तरफ गांव छोड़ने के विचार से ही वह दुखी हो जाती थी। उसे लगा कि यह तो गांव के लोगों को धोखा देना होगा। परन्तु वह यहां के काम में हताशा की भावना को नकार भी नहीं पा रही थी। यहां रुक भी गई, तो होना-जाना क्या है ? अभी तक वह कुछ भी तो नहीं कर पाई थी। ये लोग उसे कितने अच्छे लगते थे, पर इनके लिए वह क्या कर पाई।

अगली बार जब वह घर गई तो उसने माता-पिता से बात की। उनका विचार था कि अस्पताल में काम करना अच्छा रहेगा और फिर घर भी तो मिल रहा है, सब लोग इकट्ठे वहीं रहेंगे। यदि राधा अस्पताल में रहेगी, तो मां का इलाज भी अच्छे से हो जाएगा।

सब सोचकर, राधा ने मैट्रन को पत्र लिखकर पूछा कि क्या वह सचमुच सपरिवार वहां आ सकती है। राधा ने सोच लिया था कि पत्र का जवाब आने तक वह किसी से इस विषय में बात नहीं करेगी। परन्तु एक दिन अचानक चमेलीबाई ने उससे पूछ लिया कि क्या वह गांव छोड़कर जा रही है। राधा चौंकी। उसने चमेलीबाई को गौर से देखा। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि आखिर चमेलीबाई को मालूम कैसे हुआ। चमेलीबाई ने धीरे से हंसकर कहा कि उसने इतने साल यों ही नहीं गंवाए हैं। चमेलीबाई ने राधा की बेचैनी से अंदाज लगा लिया था कि अब राधा नहीं रुकेगी। आखिर पहले भी कौन टिक पाया था। चमेलीबाई ने जिस ढंग से पूछा था वह तो राधा की समझ में नहीं आया पर वह रुआंसी हो गई। उसे एक बार फिर लगा कि वह लोगों को धोखा दे रही है। परन्तु वह और सोचना नहीं चाहती थी। वह सोच-विचार से थक चुकी थी। उसे लगता था कि इन विचारों से जूझना उसकी शक्ति से परे है। उसने मन ही मन निर्णय कर लिया कि मैट्रन का पत्र आते ही वह चली जाएगी।

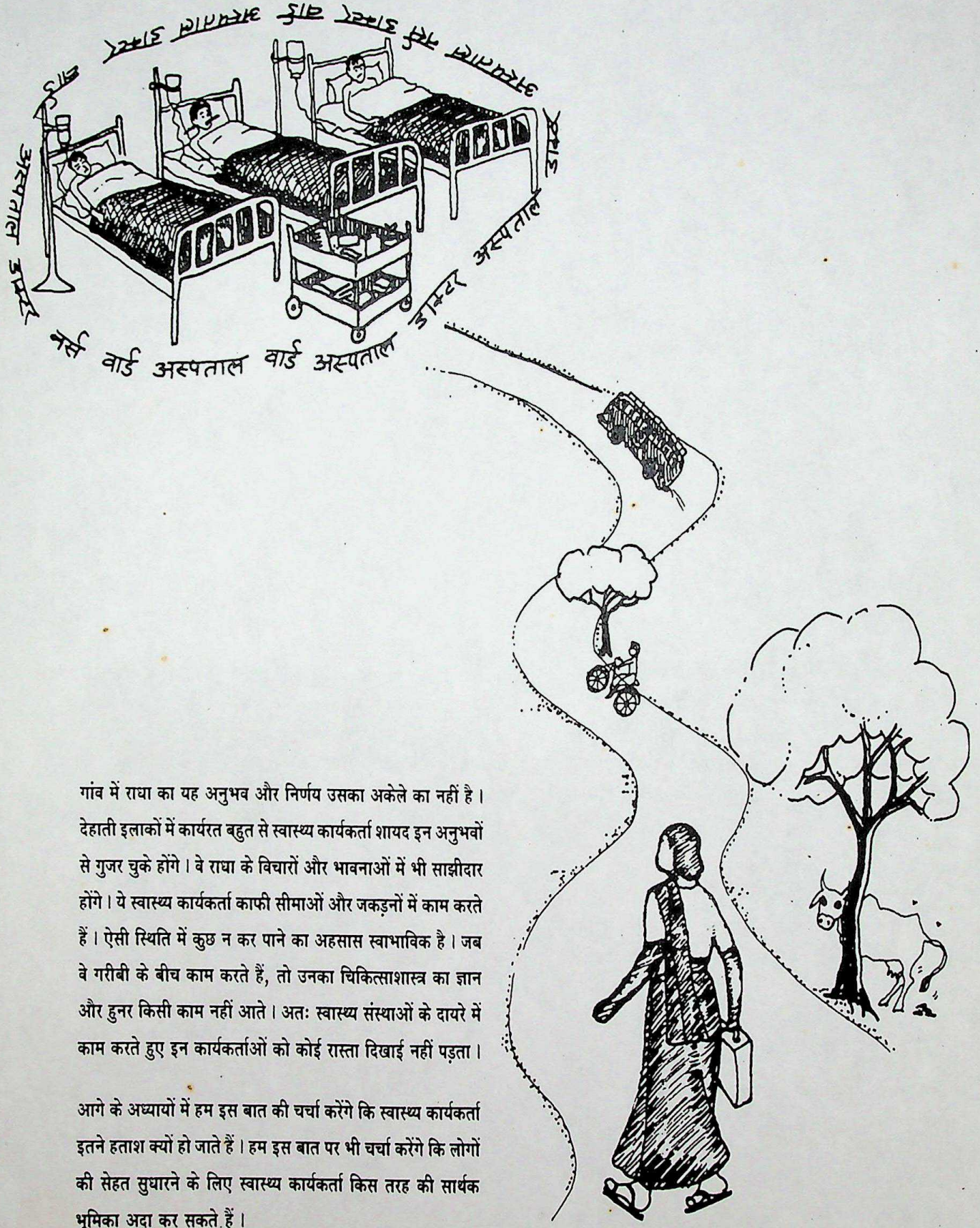

गांव में राधा का यह अनुभव और निर्णय उसका अकेले का नहीं है। देहाती इलाकों में कार्यरत बहुत से स्वास्थ्य कार्यकर्ता शायद इन अनुभवों से गुजर चुके होंगे। वे राधा के विचारों और भावनाओं में भी साझीदार होंगे। ये स्वास्थ्य कार्यकर्ता काफी सीमाओं और जकड़नों में काम करते हैं। ऐसी स्थिति में कुछ न कर पाने का अहसास स्वाभाविक है। जब वे गरीबी के बीच काम करते हैं, तो उनका चिकित्साशास्त्र का ज्ञान और हुनर किसी काम नहीं आते। अतः स्वास्थ्य संस्थाओं के दायरे में काम करते हुए इन कार्यकर्ताओं को कोई रास्ता दिखाई नहीं पड़ता।

आगे के अध्यायों में हम इस बात की चर्चा करेंगे कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता इतने हताश क्यों हो जाते हैं। हम इस बात पर भी चर्चा करेंगे कि लोगों की सेहत सुधारने के लिए स्वास्थ्य कार्यकर्ता किस तरह की सार्थक भूमिका अदा कर सकते हैं।

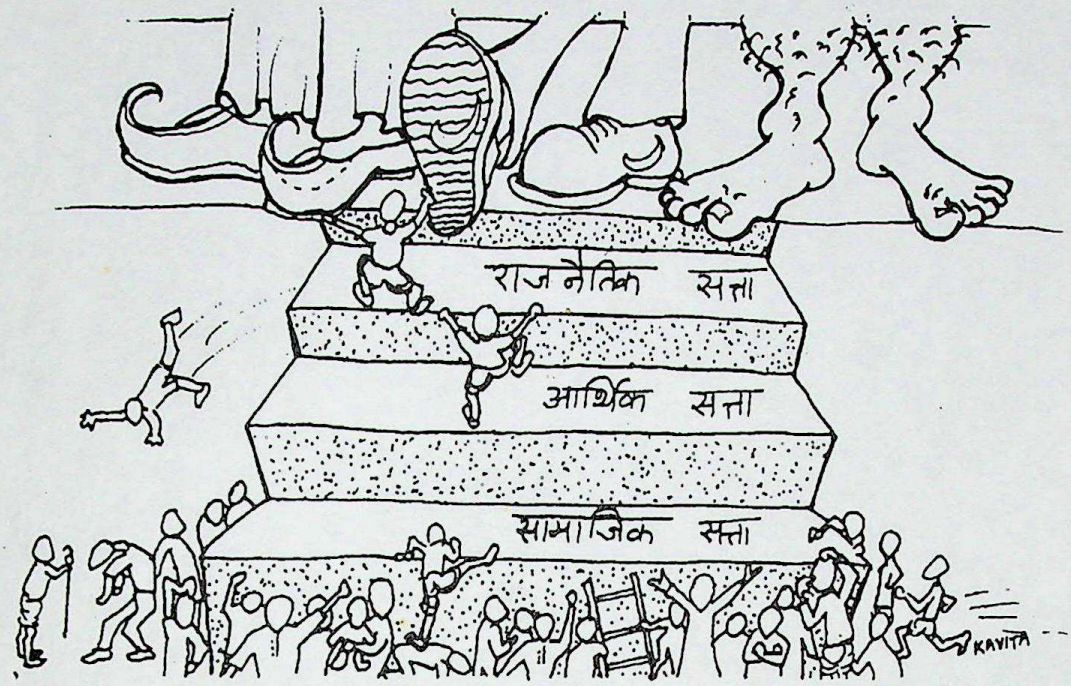

इस खण्ड में हमने देखा कि आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक कारक किस तरह से लोगों के स्वास्थ्य पर असर डालते हैं। हमने यह भी देखा कि इन्हीं कारकों की वजह से लोग स्वास्थ्य कार्यक्रमों के प्रति एक निश्चित नजरिया बना लेते हैं।

देहाती इलाकों में लोगों के स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाला सबसे बड़ा कारक गरीबी है। चूंकि गरीबी का कारण शोषण है इसलिए बुरी सेहत का कारण भी यही है। परन्तु अधिकांश लोग जीवन के हालातों में बदलाव लाने में असमर्थ महसूस करते हैं क्योंकि समाज के शक्तिशाली लोग उन पर बुरी तरह हावी हैं।

स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं को लगता है कि उनकी सलाह मानकर लोग अपने स्वास्थ्य की स्थिति सुधार सकते हैं। अधिकांश लोगों के लिए यह संभव नहीं होता। इसलिए राधा जैसे कई स्वास्थ्य कार्यकर्ता निराश हो जाते हैं। इस असफलता के लिए या तो वे खुद को 'दोषी' मान लेते हैं या इसका दोष लोगों के पिछड़ेपन और 'अज्ञान' के मत्थे मढ़ देते हैं। वे कभी आधुनिक चिकित्साशास्त्र की बुनियादी धारणाओं पर सवाल नहीं उठाते। न ही वे कभी यह सोचते हैं कि स्वास्थ्य की समस्याओं के तथाकथित समाधानों में कुछ गड़बड़ हो सकती है।

अगले खंड में हम देखेंगे कि आधुनिक चिकित्साशास्त्र का विकास किस तरह हुआ। हम यह भी दिखाने की कोशिश करेंगे कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता की 'असफलता' उसकी निजी असफलता नहीं है बल्कि यह काफी हद तक आधुनिक चिकित्सा प्रणाली की खामियों की वजह से है।

खण्ड II :
भूमिका

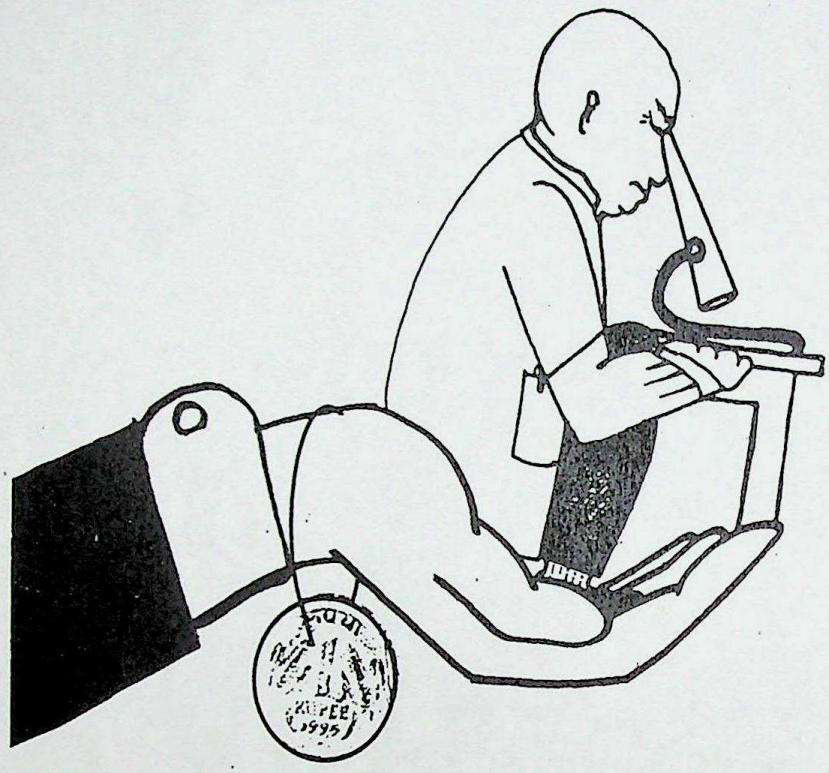

जहां एक ओर आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं को अपने ज्ञान की उपयोगिता के बारे में कोई शक नहीं है वहीं दूसरी ओर बाकी समाज भी इसकी उपयोगिता का लोहा मान चुका है। इसका एक कारण तो यह भी है कि लोग आधुनिक प्रणाली के जादुई असर को देख चुके हैं। एक और कारण यह भी है कि आधुनिक प्रणाली बीमारी की वैज्ञानिक व तार्किक समझ पर आधारित है।

हम यह विश्वास करने लगे हैं कि आधुनिक चिकित्सा प्रणाली के विकास की प्रक्रिया में कोई पूर्वाग्रह या पक्षपात नहीं रहा है। परन्तु इस प्रणाली के विकास का अध्ययन करने से पता चलता है कि इसको बढ़ावा देने में समाज के शक्तिशाली आर्थिक व राजनैतिक गुटों का हाथ रहा है। यह सही है कि आधुनिक चिकित्सा प्रणाली वैज्ञानिक व तार्किक सिद्धांतों पर आधारित है। परन्तु यह भी उतना ही सही है कि इसके विकास का मार्ग समाज के शक्तिशाली वर्गों ने निर्धारित किया और इसे अपने हितों के रूप में ढाला। इसी वजह से आधुनिक प्रणाली में बीमारी के कुछ ही पहलुओं पर ध्यान दिया गया जबकि अन्य पहलू कमोबेश उपेक्षित रहे।

इस खण्ड में हम आधुनिक चिकित्सा प्रणाली के विकास की चर्चा करेंगे और यह दिखाने की कोशिश करेंगे कि किस तरह से डाक्टरों और व्यापारियों ने, अपने स्वार्थों की खातिर, इसके विकास में योगदान दिया। नतीजा यह हुआ कि स्वास्थ्य, बीमारी और स्वस्थ होने की प्रक्रिया का एक संकीर्ण व अधूरा नजरिया उभरा।

1 : स्वास्थ्य सम्बन्धी सारी बातों पर आधुनिक डाक्टर कैसे हावी हो गए ?

आधुनिक चिकित्साशास्त्र पर आधारित स्वास्थ्य प्रणाली के सारे पहलुओं में डाक्टर की भूमिका सबसे महत्त्वपूर्ण होती है। अव्वल तो डाक्टर ही बीमारी की परिभाषा तय करते हैं, फिर वे ही यह भी तय करते हैं कि उस बीमारी के लिए कौन-सा नुस्खा दिया जाए। इस प्रकार से स्वास्थ्य से सम्बन्धित हर बात पर डाक्टरों का नियंत्रण होता है और उनकी सत्ता को चुनौती देना आसान नहीं होता।

सवाल यह है कि डाक्टरों के हाथ में इतनी ताकत आई कैसे ? इसका कारण यह है कि आज चिकित्सा सम्बन्धी ज्ञान और हुनर थोड़े से लोगों के हाथों में केन्द्रित है। चिकित्साशास्त्र बहुत आगे बढ़ चुका है। इस स्थिति में यह उचित ही लगता है कि कुछ ही लोग इस विशिष्ट ज्ञान को हासिल करें। परन्तु इस ज्ञान को कुछ ही लोगों तक सीमित करने का कारण सिर्फ इतना ही नहीं है। इस प्रवृत्ति की जड़ें आपको पश्चिमी देशों में सौ साल से स्थापित परम्परा में मिलेंगी।

उस समय आधुनिक चिकित्साशास्त्र न तो इतना आगे बढ़ा हुआ था और न इतना जटिल था। उस समय आजकल जैसी 'जादुई' औषधियां भी नहीं थीं। वास्तव में इस ज्ञान और उसके कारोबार पर नियंत्रण की जड़ में डाक्टरों के आर्थिक स्वार्थ थे। डाक्टर चाहते थे कि अन्य प्रकार के चिकित्सक मैदान छोड़ दें। इसके लिए डाक्टरों ने समाज के अन्य शक्तिशाली तबकों से हाथ मिलाया। इस तरह से चिकित्सा का ज्ञान और उसका कारोबार कुछेक लोगों के हाथों में सिमट गया। समय बीतने के साथ-साथ यह बात सर्वमान्य सत्य बन गई कि कुछ ही लोग इस विशिष्ट ज्ञान को हासिल कर सकते हैं।

इस अध्याय में बताया जाएगा कि किस तरह से डाक्टरों ने यूरोप और अमरीका में चिकित्सा-कारोबार पर कब्जा जमाया और वर्तमान स्वास्थ्य प्रणाली पर इसके किस ढंग के असर पड़े।

आधुनिक चिकित्साशास्त्र के विकास से पहले यूरोप में तीन किस्म के चिकित्सक होते थे : गिरजाघर (चर्च), आम चिकित्सक और विश्वविद्यालय में प्रशिक्षित फिजिशियन।

चर्च एक ताकतवर संस्था थी जो जिन्दगी के हर पहलू को प्रभावित करती थी। चर्च का कहना था कि बीमारी एवं अन्य मानवीय कष्ट व्यक्ति के पापों की सजा है।

इस व्याख्या के मुताबिक बीमारी हो जाने पर प्रार्थना और पश्चाताप का नुस्खा दिया जाता था और कहा जाता था कि इन्सान को ईश्वर की इच्छा को विनम्र भाव से स्वीकार करना चाहिए।

आम चिकित्सक प्रायः बुजुर्ग महिलाएं या यदा-कदा पुरुष होते थे, जिन्हें जड़ी-बूटियों का ज्ञान होता था। उनका ज्ञान बरसों में संचित किया हुआ होता था। यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी चला आ रहा था। इन महिलाओं को आगे चलकर 'डायन' कहा गया। इनका कामकाज अधिकतर खेतिहर समाज में चलता था।

तीसरी किस्म के चिकित्सक थे विश्वविद्यालय में प्रशिक्षित पुरुष फिजिशियन। इनका विश्वास अरबी प्रणाली पर था। इनका अधिकतर कारोबार उच्च वर्ग के लोगों और राजा-महाराजाओं के दरबार में चलता था।

इन तीनों किस्मों में से शायद बुजुर्ग महिलाएं ही सबसे ज्यादा कारगर होती थीं।

"इन बुजुर्ग महिलाओं, या डायनों के पास नाना प्रकार के नुस्खे होते थे। ये नुस्खे समय की कसौटी पर परखे गए थे। डायनों द्वारा विकसित कई जड़ी-बूटियां आज आधुनिक चिकित्सा का अंग हैं। उनके पास दर्द-निवारक, पाचक व जलन मिटाने की दवाइयां होती थीं। चर्च जहां प्रसव पीड़ा को हव्वा (स्त्री) के मूल पाप की उचित सजा मानता था, वहीं डायनें इस दर्द को कम करने के लिए एर्गाट का उपयोग करती थीं। एर्गाट से बनी दवाएं आज भी प्रसव को जल्दी करवाने और जचकी के प्रभावों को समाप्त करने में काम आती हैं। इसी प्रकार से बेलाडोना आज मांसपेशियों के संकुचन को रोकने के लिए प्रयोग की जाती है। गर्भपात की आशंका होने पर डायन चिकित्सक बेलाडोना का उपयोग बच्चेदानी का संकुचन रोकने के लिए करती थीं। डिजिटेलिन दिल की बीमारियों में आज भी प्रयुक्त होती है। कहा जाता है कि इसकी खोज एक अंग्रेज डायन ने की थी। बेशक, डायनों की कुछ दवाइयां मात्र चमत्कार होती थीं और उनका प्रभाव सिर्फ डायन की साख के कारण होता था।

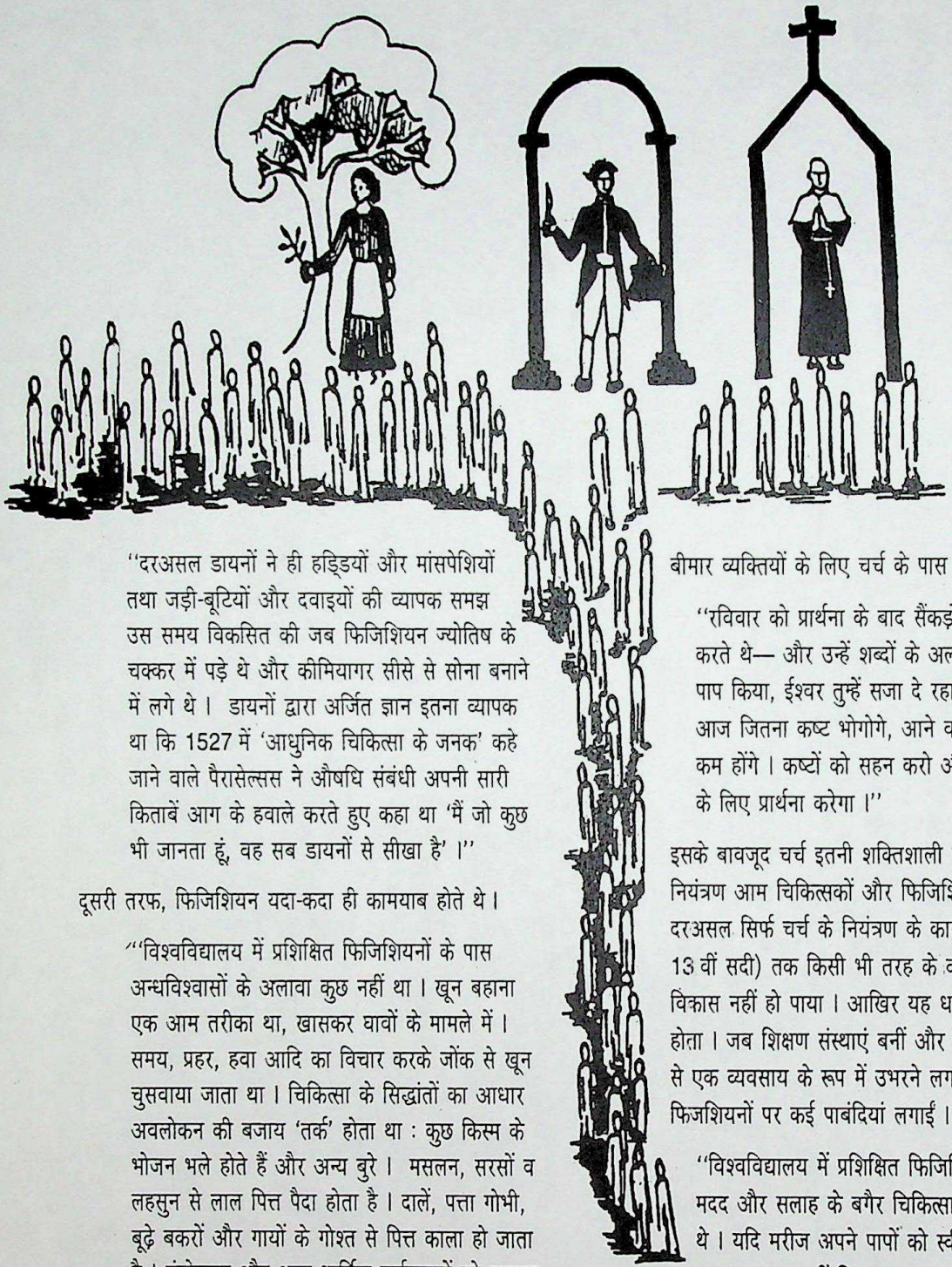

"दरअसल डायनों ने ही हड्डियों और मांसपेशियों तथा जड़ी-बूटियों और दवाइयों की व्यापक समझ उस समय विकसित की जब फिजिशियन ज्योतिष के चक्कर में पड़े थे और कीमियागर सीसे से सोना बनाने में लगे थे। डायनों द्वारा अर्जित ज्ञान इतना व्यापक था कि 1527 में 'आधुनिक चिकित्सा के जनक' कहे जाने वाले पैरासेल्सस ने औषधि संबंधी अपनी सारी किताबें आग के हवाले करते हुए कहा था 'मैं जो कुछ भी जानता हूं, वह सब डायनों से सीखा है'।"

दूसरी तरफ, फिजिशियन यदा-कदा ही कामयाब होते थे।

"'विश्वविद्यालय में प्रशिक्षित फिजिशियनों के पास अन्धविश्वासों के अलावा कुछ नहीं था। खून बहाना एक आम तरीका था, खासकर घावों के मामले में। समय, प्रहर, हवा आदि का विचार करके जोंक से खून चुसवाया जाता था। चिकित्सा के सिद्धांतों का आधार अवलोकन की बजाय 'तर्क' होता था : कुछ किस्म के भोजन भले होते हैं और अन्य बुरे। मसलन, सरसों व लहसुन से लाल पित्त पैदा होता है। दालें, पत्ता गोभी, बूढ़े बकरों और गायों के गोश्त से पित्त काला हो जाता है। मंत्रोच्चार और अन्य धार्मिक कर्मकाण्डों को कारगर माना जाता था। एडवर्ड द्वितीय का फिजिशियन धर्मशास्त्र का स्नातक था और चिकित्साशास्त्र में डाक्टरेट। दांत के दर्द के लिये वह मरीज के जबड़े पर लिखवाता था : 'इन दी नेम आफ़ फादर, सन एण्ड दी होली घोस्ट, आमीन' (पिता, पुत्र और पवित्र प्रेतात्मा के नाम, आमीन)। या एक सुई को किसी झल्ली से छुआकर, फिर दांतों से छुआता था। कोढ़ की प्रचलित औषधि थी— सूखे इलाके में पत्थरों के बीच से पकड़े गए काले सांप के मांस का शोरबा।"

बीमार व्यक्तियों के लिए चर्च के पास भी कुछ नहीं था।

"रविवार को प्रार्थना के बाद सैंकड़ों लोग सहायता की पुकार करते थे— और उन्हें शब्दों के अलावा कुछ न मिलता : तुमने पाप किया, ईश्वर तुम्हें सजा दे रहा है। उसे धन्यवाद दो। आज जितना कष्ट भोगोगे, आने वाले जीवन में दुख उतने ही कम होंगे। कष्टों को सहन करो और मर जाओ। चर्च मृतक के लिए प्रार्थना करेगा।"

इसके बावजूद चर्च इतनी शक्तिशाली संस्था थी कि उसका नियंत्रण आम चिकित्सकों और फिजिशियनों दोनों पर चलता था। दरअसल सिर्फ चर्च के नियंत्रण के कारण ही कई सदियों (5 वीं से 13 वीं सदी) तक किसी भी तरह के व्यवस्थित चिकित्साशास्त्र का विकास नहीं हो पाया। आखिर यह धार्मिक विचारों के विरुद्ध जो होता। जब शिक्षण संस्थाएं बनीं और चिकित्सा का कारोबार फिर से एक व्यवसाय के रूप में उभरने लगा तब भी चर्च ने फिजशियनों पर कई पाबंदियां लगाईं।

"विश्वविद्यालय में प्रशिक्षित फिजिशियन, पादरी की उपस्थिति, मदद और सलाह के बगैर चिकित्सा का काम नहीं कर सकते थे। यदि मरीज अपने पापों को स्वीकार (कन्फेशन) न करे, तो उसका इलाज नहीं किया जा सकता था।"

आम चिकित्सकों के बारे में चर्च का मानना था कि उनको इलाज की ताकत शैतान से मिली है। फिजिशियनों के लिए तो आम चिकित्सक व्यवसायिक प्रतिद्वंद्वी थे ही। अतः चर्च और फिजिशियन दोनों का ही स्वार्थ इन महिला चिकित्सकों को बदनाम करने में था।

पहला कदम यह उठाया गया कि चिकित्सा का कामकाज करने के लिए विश्वविद्यालय की उपाधि अनिवार्य कर दी गई। इससे औरतों के लिए चिकित्सा का पेशा करना असंभव हो गया क्योंकि उस जमाने में औरतों को विश्वविद्यालय में दाखिले की अनुमति नहीं थी। परन्तु

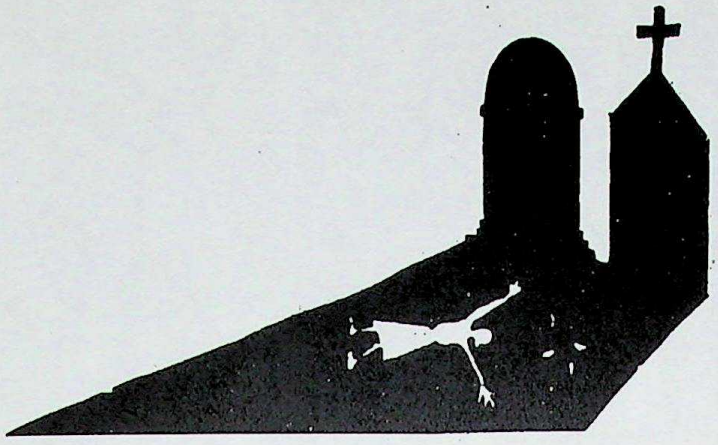

इससे खेतिहर समुदाय में से देसी चिकित्सक पूरी तरह समाप्त नहीं हुए। अतः उन्हें डायन करार देकर उनको प्रताड़ित करना शुरू हुआ। डायनों का शिकार (विच हंट) इसी का परिणाम था जो 14वीं शताब्दी तक चला और लाखों औरतों को यातनाएं दे-देकर मार डाला गया। डायनों के शिकार की इस कार्यवाही में चर्च और चिकित्सा जगत दोनों ने सक्रिय भूमिका निभाई। डाक्टर लोग डायन को ढूंढ़ निकालते थे और चर्च उनको फैसला सुनाता था। फैसले में कहा जाता था कि जो भी व्यक्ति बगैर औपचारिक प्रशिक्षण के चिकित्सा-का काम करने की जुर्रत करेगा, वह शैतान का साथी है।

डायनों के खिलाफ ये अभियान उस समय हुए जब शोषण आधारित आर्थिक व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह हो रहे थे। चर्च उस समय का सबसे बड़ा जमींदार था। चर्च की सत्ता डगमगाने लगी थी। गरीबी बहुत ज्यादा थी और डायनों के मामले से बुनियादी आर्थिक मुद्दों पर से ध्यान हटाने में मदद मिली।

डायनों के शिकार बहुत बड़े पैमाने पर आयोजित किए गए। इसके बावजूद भी महिला चिकित्सकों का पूरी तरह सफाया न हो सका। परन्तु इसका एक परिणाम यह जरूर हुआ कि औरतें आतंकित होकर चिकित्सा का पेशा करने से डरने लगीं। इसके अलावा उन पर अन्धविश्वास, दुर्भावना और शैतानी की मुहर लग गई। अब चर्च की मदद से फिजिशियनों ने चिकित्सा के कारोबार पर पूरा कब्जा जमा लिया। यहां मुख्य बात यह है कि फिजिशियनों ने अपने बेहतर कौशल का प्रदर्शन करके बाजी नहीं मारी थी। उन्होंने बलपूर्वक अपने प्रतिद्वन्द्वियों—देसी चिकित्सकों का सफाया कर दिया था। ये प्रतिद्वन्द्वी शायद डाक्टरों से ज्यादा सक्षम थे।

अमरीका में भी चिकित्सा के कारोबार पर उच्चवर्गीय पुरुषों का नियंत्रण था, हालांकि इसके लिए डायनों के शिकार का सहारा नहीं लिया गया था। सन् 1800 में यहां कोई भी व्यक्ति चिकित्सा का पेशा अपना सकता था, बशर्ते कि वह इलाज करना जानता हो। इसमें औपचारिक प्रशिक्षण की कोई शर्त नहीं थी और न ही नस्ल या लिंग की कोई बाधा थी। लोग व्यवसाय के विचार के खिलाफ थे और उच्च शिक्षा की कुछेक ही संस्थाएं थी। बहुत थोड़े से मेडिकल स्कूल थे और मेडिकल प्रशिक्षण की अवधि चंद महीनों से लेकर दो साल तक की होती थी। इन महाविद्यालयों में मरीजों की जांच की व्यवहारिक शिक्षा की सुविधाएं नहीं होती थीं। दाखिले के लिए हाई स्कूल पास होना भी जरूरी नहीं था। यहां से प्रशिक्षण प्राप्त चिकित्सक 'हिरोइक' नामक इलाज पद्धति का प्रयोग करते थे। इस में खून बहाना, उल्टी कराना, दस्त कराना, आदि क्रियाएं शामिल थीं। ये उपाय अक्सर खतरनाक साबित होते थे। देसी चिकित्सकों की जड़ी-बूटियां इनसे कहीं बेहतर साबित होती थीं।

19वीं सदी के शुरूआती सालों में औपचारिक रूप से प्रशिक्षित डाक्टरों ने अपने आपको देसी चिकित्सकों से अलग दिखाने की कोशिशें कीं। अब वे स्वयं को 'नियमित' डाक्टर कहने लगे। 'नियमित' डाक्टर मध्यमवर्गीय थे और उनके मरीज भी अधिकतर उच्च या मध्यवर्गीय ही होते थे।

चिकित्सा के कारोबार को सम्मानजनक बनाने के ख्याल से 'नियमित' डाक्टरों ने ऐसे कानून बनवाए जिनसे चिकित्सा कारोबार सिर्फ औपचारिक रूप से प्रशिक्षित व्यक्ति ही कर सकें। आम लोगों ने इन कानूनों का व्यापक विरोध किया। अव्वल तो लोग व्यवसायीकरण के ही खिलाफ थे। दूसरी बात थी कि 'नियमित' डाक्टरों द्वारा प्रयुक्त विधियां अक्सर खतरनाक और जानलेवा होती थीं। तीसरी बात थी कि लोगों का विश्वास देसी चिकित्सकों पर ज्यादा था। इस विरोध ने धीरे-धीरे एक लोकप्रिय स्वास्थ्य आंदोलन का रूप ले लिया। यह महिला आंदोलन और श्रमिक आंदोलन का महत्त्वपूर्ण हिस्सा बन गया।

चिकित्सा कारोबार को औपचारिक रूप से प्रशिक्षित व्यक्तियों तक सीमित करने के इस प्रयास के जवाब में अन्य किस्म के चिकित्सकों ने खुद के चिकित्सा महाविद्यालय शुरू किये। इनमें उनकी पद्धति के अनुरूप शिक्षा दी जाती थी। इन महाविद्यालयों में औरतों और हर नस्ल के लोगों को प्रवेश दिया जाता था। परिणाम यह हुआ कि औपचारिक रूप से प्रशिक्षित चिकित्सकों का एक बड़ा समुदाय बन गया। 'नियमित' डाक्टर इसका एक अंश मात्र रह गए।

सन् 1840 में सरकार को लायसेंस का कानून वापस लेना पड़ा। इसके बावजूद 'नियमित' डाक्टर बाकी सारे चिकित्सकों को अनियमित

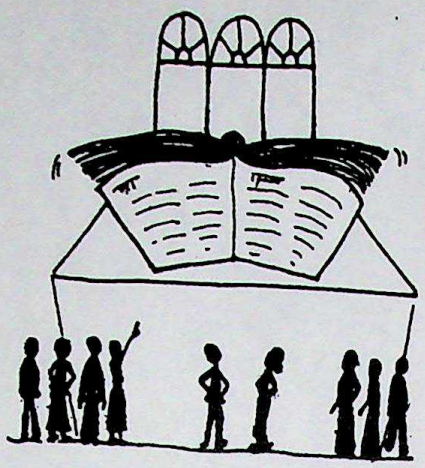

मानते रहे। परन्तु इसके बावजूद कठोर प्रतिस्पर्धा से वे बच नहीं सके। 'नियमित' डाक्टर चिकित्सा को जीविका का साधन भी बनाना चाहते थे। इसके विपरीत अन्य चिकित्सक यह काम पार्ट टाइम ही करते थे।

अपने-आपको बाकी चिकित्सकों से अलग दिखाने के एक और प्रयास में 'नियमित' डाक्टरों ने अपना एक संगठन बनाया जिसे अमेरिकन मेडिकल एसोसिएशन का नाम दिया गया। परन्तु मात्र इस संगठन के बन जाने से उनकी साख बढ़ना सम्भव नहीं था। आखिर नियमित डाक्टरों की इलाज पद्धति दूसरों के मुकाबले ज्यादा कारगर तो थी नहीं।

बहरहाल 19वीं सदी का अन्त आते-आते हालात बदल गए। इसी समय यह सिद्धांत प्रतिपादित हुआ कि बीमारी का कारण कीटाणु होते हैं। इसे बीमारी का कीटाणु सिद्धांत कहा गया। कुछेक नियमित डाक्टर इस नए विज्ञान के अध्ययन हेतु यूरोप गए। वापस आने पर इन विदेश-प्रशिक्षित डाक्टरों को कुछ अमीर उद्योगपतियों ने मदद दी। इसके फलस्वरूप जॉन्स हापकिन्स मेडिकल स्कूल की स्थापना हुई। यह स्कूल उस समय के बाकी सारे संस्थानों से इस मायने में अलग किस्म का था कि इसमें प्रायोगिक विज्ञान और वास्तविक मरीजों के अध्ययन को भी शामिल किया गया था।

इसके अलावा इस स्कूल में दाखिले के लिए कालेज की उपाधि अनिवार्य थी। चिकित्सा शिक्षा की अवधि भी बढ़ाकर चार साल कर दी गई। इन परिवर्तनों की बदौलत चिकित्सा-शिक्षा वैज्ञानिक नजर आने लगी। हालांकि इलाज की पद्धति वही पुरानी थी। उद्योगपति भी चिकित्सा की इस नई अवधारणा को बढ़ावा देना चाहते थे। उनके अपने कारण थे (अगला अध्याय देखें)। अतः रॉकफेलर और कार्नेगी जैसे उद्योगपतियों ने चिकित्सा शिक्षा और अनुसंधान में पैसा झोंकना शुरू किया। वे खासतौर से उन्हीं चिकित्सा विद्यालयों को पैसा देते थे, जो प्रयोगशाला आधारित नई चिकित्सा पद्धति अपनाने को तैयार हों।

कार्नेगी प्रतिष्ठान के एक प्रतिनिधि फ्लेक्सनर को देश के सारे चिकित्सा विद्यालयों का दौरा करने का काम सौंपा गया। उसे यह तय करना था कि कौन-कौन से विद्यालय वित्तीय मदद के काबिल हैं।

सन् 1910 में फ्लेक्सनर ने सुझाव दिया कि सारे चिकित्सा विद्यालयों का पाठ्यक्रम एक-सा होना चाहिए। अतः उसका सुझाव था कि उन सारे चिकित्सा विद्यालयों को बन्द कर दिया जाना चाहिए, जिनमें चिकित्सा के सिद्धांत व व्यवहार 'वैज्ञानिक चिकित्साशास्त्र' से भिन्न हैं।

फ्लेक्सनर की रिपोर्ट के परिणामस्वरूप कई चिकित्सा विद्यालय बन्द कर दिए गए। इनमें से अधिकांश विद्यालय औरतों व श्रमिकों को प्रशिक्षण देते थे। इन विद्यालयों के बन्द हो जाने के बाद ये लोग नए विद्यालयों में प्रवेश नहीं ले सके क्योंकि प्रशिक्षण की अवधि और खर्चा बहुत ज्यादा था।

अन्ततः 'नियमित' डाक्टर चिकित्सा शिक्षा और कारोबार पर आधिपत्य जमाने में सफल रहे। उद्योगपतियों से मिली वित्तीय सहायता की बदौलत एक बार फिर उन्होंने सरकार पर दबाव डाल कर चिकित्सा कारोबार को नए विद्यालयों में प्रशिक्षित लोगों तक सीमित करने सम्बन्धी कानून पारित करवाया।

☞ अमरीका में भी नियमित डाक्टरों का एकाधिकार किसी बेहतर कौशल की वजह से नहीं बना। यूरोप की तरह, यहां भी हर तरह के प्रतिद्वन्द्वियों का सफाया करके ही यह विजय प्राप्त की गई। इस प्रकार से चिकित्सा के कारोबार पर शिक्षित उच्च व मध्यमवर्गीय पुरुषों का कब्जा हो गया।

डाक्टरों के एकाधिकार का चिकित्सा के तौर-तरीकों पर असर

एक बार वर्चस्व हो जाने पर डाक्टर अपनी शर्तें लागू करने लगे।

एक, चिकित्सा के कारोबार को पूर्णकालिक व्यवसाय का दर्जा मिल गया और कई लोगों की जीविका पूरी तरह इसी पर निर्भर हो गई अर्थात् कानूनन अब डाक्टर अपनी सेवाओं के बदले मनचाही फीस वसूल सकते थे। अर्थात् चिकित्सा सेवा एक ऐसी वस्तु बन गई, जिसकी खरीद-फरोख्त हो सकती थी। बाजार में उपलब्ध अन्य वस्तुओं की तरह ही चिकित्सा सेवा भी वही व्यक्ति खरीद सकते थे जो इसका मूल्य चुका सकें।

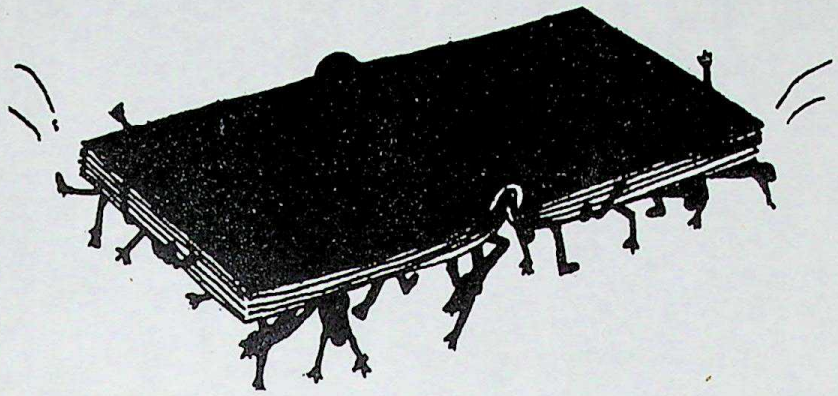

दो, अब मेडिकल कॉलेजों में प्रवेश को डाक्टरों द्वारा नियंत्रित किया जा सकता था। मेडिकल कॉलेज में प्रवेश के लिए न्यूनतम शैक्षणिक योग्यता निर्धारित कर दी गई। इसके कारण अब मात्र सम्पन्न तबके के लोग ही इन कालेजों में प्रवेश ले पाते थे। अतः पूरा कारोबार सम्पन्न तबके के हाथों में ही सिमटा रहा। इसके अलावा, कुछ वैज्ञानिक से दिखने वाले सिद्धांत भी पेश किये गए जिनके मुताबिक औरतें उच्च शिक्षा पाने की दृष्टि से शारीरिक रूप से अयोग्य होती हैं। इस प्रकार से औरतों को मेडिकल कॉलेज में पहुंचने से रोका गया। कोई भी इन सिद्धांतों को चुनौती नहीं दे सकता था क्योंकि डाक्टर मानव शरीर सम्बन्धी बातों के विशेषज्ञ बन बैठे थे। *(अध्याय 3 भी देखें)*

तीन, अब डाक्टर मरीज से आंख मूंदकर निर्देशों का पालन करने की मांग करने लगे। मरीज न तो प्रश्न पूछ सकते थे और न ही इलाज के बारे में कुछ कह सकते थे। नई-नई निदान तकनीकों के आ जाने से मरीज के अपने अहसास का कोई महत्त्व नहीं रह गया। इसके कारण बीमार व्यक्ति में लाचारी का भाव और बढ़ गया। मरीजों से कहा जाने लगा कि वे चुपचाप डाक्टर के आदेशों का पालन करें। मरीजों पर इस तरह का पूरा नियंत्रण आवश्यक था अन्यथा डाक्टरों की क्षमता पर सवाल उठने का खतरा बना रहता। यदि गलत निदान या इलाज के कारण किसी मरीज को कष्ट होता, तो इस बात को व्यवसायिक गोपनीयता के तहत छुपाकर रखा जाता। यह धीरे-धीरे चिकित्सा की आचरण संहिता का हिस्सा बन गया — किसी भी डाक्टर की वफादारी पहले अपने व्यवसाय के प्रति होगी, उसके बाद मरीज के प्रति।

चार, इस प्रकार से बाकी सारी इलाज प्रणालियों की साख गिराकर उनका सफाया करने के बाद, डाक्टरों ने आगे भी वैकल्पिक प्रणालियों के विकास को रोकने के प्रयास किए। इसी वजह से आज आधुनिक चिकित्सा प्रणाली ही एकमात्र प्रणाली के रूप में प्रचलित है। इसी वजह से इस प्रणाली की खामियां भी आमतौर पर पता नहीं चलती। *(विस्तृत चर्चा के लिए देखें अध्याय 4.)*

एक बार चिकित्सा के कारोबार पर एकाधिकार स्थापित करने के बाद डाक्टरों ने अपने आर्थिक हितों के मुताबिक तौर-तरीके बनाए।

यह ढर्रा इस शताब्दी की शुरूआत में बना था और भारत में इसे ज्यों का त्यों अपना लिया गया। यह तब की बात है जब आधुनिक प्रणाली भारत में सरकारी मान्यता प्राप्त प्रणाली बनी, तो भारत में आधुनिक प्रणाली का वर्चस्व कानून के जरिए स्थापित हुआ। नतीजा यह हुआ कि हमारे देश में :

- **प्राइवेट प्रैक्टिस कानूनन वैध है।**
- **प्राइवेट डाक्टरों द्वारा वसूल की गई फीस पर कोई पाबन्दी नहीं है।**
- **ज्यादा डाक्टर प्राइवेट प्रैक्टिस में जाते हैं।**
- **सरकार डाक्टरों को वहां काम पर नहीं लगा पाती जहां उनकी सबसे ज्यादा जरूरत है।**
- **कई समितियां बता चुकी हैं कि इस तरह की चिकित्सा शिक्षा हमारे देश की जरूरतों के अनुरूप नहीं है। इसके बावजूद भी चिकित्सा शिक्षा में उच्च वर्ग के मुट्ठी भर लोगों की जरूरतों को ही मद्देनजर रखा जाता है।**
- **डाक्टर पूर्ण आदेश पालन की अपेक्षा करते हैं और इलाज दिए चले जाते हैं, चाहे वह मरीज के बूते से बाहर ही क्यों न हो।**
- **डाक्टर गैर-एलोपैथी प्रणालियों को हिकारत की नजर से देखते हैं।**
- **डाक्टर सारे रोगों से निपटने का एकमात्र तरीका आधुनिक प्रणाली को ही मानते हैं। हालांकि यह सिद्ध हो चुका है कि हमारे देश में बीमारियों के मूल कारण से निपटने में यह प्रणाली सक्षम नहीं है।**

(खण्ड I, अध्याय 3 व 4 और खण्ड III का अध्याय 1 भी देखें।)

इस अध्याय के सारे उदाहरण बारबरा एरेनराइख और डेयरड्रे इंगलिश की पुस्तक "विचेज़, मिडवाइव्स एण्ड नर्सेस : ए हिस्ट्री ऑफ वीमेन हीलर्स" (डायन, दाई और नर्सें : महिला चिकित्सकों का इतिहास) से लिये गए हैं। प्रकाशक : फेमिनिस्ट प्रेस, 1973.

2 : आधुनिक चिकित्सा प्रणाली को बढ़ावा देने में व्यापारियों की रुचि क्यों थी ?

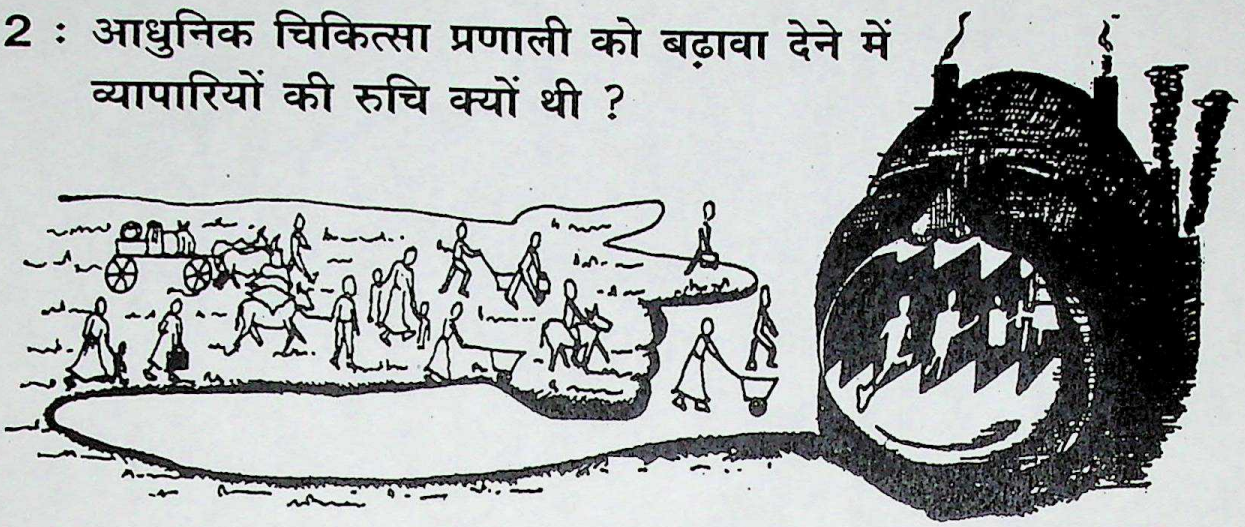

पिछले अध्याय में हमने देखा कि किस तरह से चर्च और बड़े व्यापारियों जैसे ताकतवर सामाजिक समूहों की मदद से डाक्टरों ने चिकित्सा के कारोबार पर कब्जा जमाया। डाक्टरों का एकाधिकार स्थापित होने में यों तो चर्च की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही किन्तु चिकित्सा शिक्षा व अनुसंधान को बढ़ावा देने में मूलतः व्यापारियों ने ही अहम भूमिका अदा की। डाक्टरों और चर्च का स्वार्थ समझना तो आसान है परन्तु इसमें व्यापारियों का क्या स्वार्थ था ? उन्होंने क्यों चिकित्सा शिक्षा व अनुसंधान में पैसा लगाया ? इस अध्याय में हम इन्हीं बातों की छानबीन करेंगे। हम पश्चिमी देशों में आधुनिक प्रणाली के विकास के उस दौर पर गौर करेंगे जब व्यापारी समाज के शक्तिशाली तबके के रूप में उभर रहे थे।

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का विकास ऐसे वक्त में हुआ जब पश्चिमी देशों के लोगों की जीवन शैली में जबर्दस्त बदलाव आ रहे थे। पहले जीविका का प्रमुख आधार खेती था। अब इसका स्थान व्यापार और कारखाने ले रहे थे। व्यापारी और उद्योगपति समाज के नए शक्तिशाली वर्ग के रूप में उभर रहे थे। जीविका के आधार में इस परिवर्तन के फलस्वरूप लोगों के जीवन में अन्य बदलाव भी आए।

पहले जब खेती जीविका का प्रमुख साधन थी तब अधिकतर लोग काश्तकार या बंधुआ मजदूर के रूप में खेतीबाड़ी का काम करते थे। लगभग सारी उपज पर भूमिस्वामी का अधिकार होता था। परिवार को अपनी जरूरतें खुद ही पूरी करनी होती थीं। अतः लोग अपनी जरूरत का अनाज, कपड़े, साबुन, मोमबत्तियां वगैरह सभी खुद पैदा करते थे। परिवार खुद जो चीज़ें पैदा न कर पाता, वे गांव से वस्तु-विनियम के आधार पर प्राप्त कर ली जातीं। बीमारी के इलाज का इंतजाम भी परिवार को खुद ही करना होता था। घरेलू उपचार और जड़ी-बूटियों की जानकारी पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती थी। मरीज की देखभाल और इलाज के इस काम में औरतों की सक्रिय भूमिका होती थी।

यूरोप और अमरीका में, धीरे-धीरे खेतीबाड़ी की जगह व्यापार और कारखाने जीविका के आधार बनने लगे। यह बदलाव कई तरह से आया। कई देशों में जमीन काश्तकारों से छीन ली गई और खेती का कामकाज मजदूरों से करवाया जाने लगा। कुछ जगहों पर जो स्वतंत्र किसान थे, वे कर्ज के कारण अपनी जमीन गंवा बैठे। कुछ देशों में खेती के लिए बड़े पैमाने पर मशीनों का उपयोग होने लगा तथा श्रमिकों की जरूरत कम हो गई। कुछ देशों में जमींदारों ने खेती करना ही बन्द कर दिया। इसके स्थान पर वे भेड़ें पालने लगे ताकि बाजार के लिए ऊन का उत्पादन कर सकें। जो भी कारण रहे हों, पर कुल मिलाकर बात यह है कि बड़ी संख्या में ग्रामीण लोगों को खेती छोड़कर रोजगार की तलाश में निकलना पड़ा। नौकरियां सिर्फ नये कारखानों में ही उपलब्ध थीं। तो, जमींदार के लिए काम करने की बजाय अब ये लोग कारखाना मालिकों के लिए काम करने लगे।

अब लोग अपनी जरूरत की चीज़ें खाना, कपड़ा, वगैरह खुद पैदा नहीं करते थे। सारे उत्पादन पर कारखाने के मालिक का हक होता था। वह इन सारी वस्तुओं को बाजार में बेचता था। अतः लोग मजदूरी के बदले अपना श्रम बेचने पर मजबूर हो गए। इस मजदूरी से वे अपनी जरूरत की वस्तुएं बाजार से खरीदते थे। इस तरह कामगारों का एक नया समूह मजदूर वर्ग उभरा, जो अपनी जीविका के लिए कारखाने के मालिक पर निर्भर था, ठीक उसी तरह जैसे कारखाने के मालिकों और व्यापारियों के शक्तिशाली समूह उभरे।

कारखाने के मालिक मजदूरों की मजबूरी का फायदा उठाकर कम-से-कम मजदूरी के बदले ज्यादा-से-ज्यादा काम करवाते थे। चूंकि कारखानों में लोग काम करने पर मजबूर थे। इसलिए मालिक लोग काम की मनमानी शर्तें तय करते थे। मालिकों का स्वार्थ यह था कि मजदूरों को कम-से-कम मजदूरी देकर अधिक-से-अधिक घण्टे काम करवाएं। आखिर मालिकों का मुनाफा मजदूरों द्वारा किए गए काम में से ही तो निकलता है। इसलिए मजदूरी इतनी कम होती थी कि पूरा परिवार कमाए, तो भी बुनियादी जरूरतें पूरी नहीं होती थीं।

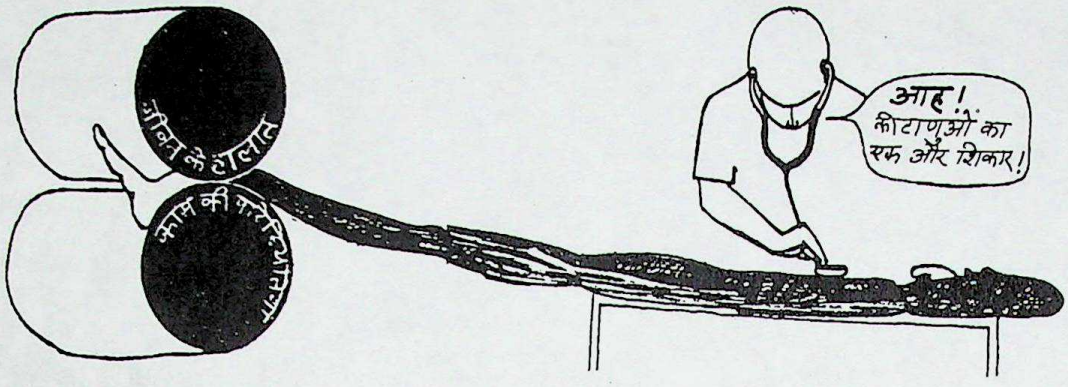

काम की परिस्थितियां भी भयानक थीं। लोगों को दिन में सोलह-सोलह घण्टे काम करना पड़ता था। सुरक्षा के कोई उपाय नहीं होते थे। कारखानों में भीड़, शोरगुल, कम रोशनी और घुटन का वातावरण होता था। जैसे-जैसे ज्यादा लोग काम की तलाश में शहर पहुंचने लगे, वैसे-वैसे रहन-सहन के हालातों में भी गिरावट आई। शहर की बस्तियां घनी होती गईं, कूड़ा जमा होने लगा, वगैरह। गांवों से शहर की तरफ पलायन के कारण पारिवारिक सम्बन्ध टूटने लगे। गांवों में कई तरह से लोग एक-दूसरे को सहारा देते थे। अब यह भी टूटने लगा।

इन सब बातों का मिला-जुला असर यह हुआ कि बीमारिया तेजी से बढ़ीं। महामारियां बढ़ गईं। मृत्यु दर भी बढ़ गई और कामगारों की औसत आयु कम हो गई। मसलन, बावरिया में शिशु मृत्यु दर प्रति हजार जीवित जन्म पर 449 तक पहुंच गई। 1852 में यूरोप में कपड़ा मिलों की मजदूरिनों में टी. बी. की दर 22 प्रति 1000 थी जो 1861 में बढ़कर 125 प्रति हजार तक पहुंच गई।

व्यापारियों ने आधुनिक चिकित्सा को बढ़ावा क्यों दिया ?

शहरों में बीमारी और मृत्यु की बढ़ी हुई दर से लोगों में चिन्ता व्याप्त थी। यह वह समय था जब बीमारियों और गंदगी, गंदे पानी, अस्वच्छ वातावरण आदि का सम्बन्ध साफ दिखने लगा था। साथ ही साथ यह भी स्पष्ट होने लगा था कि झोंपड़पट्टियों में जन्मी बीमारियां उन जगहों पर भी पहुंचेंगी जहां सम्पन्न लोग रहते थे। प्लेग और हैजे की महामारियों से यह बात साबित हो चुकी थी। तो, एक डर तो यह था कि अमीर लोग भी बीमार होंगे और मरेंगे। अमीर लोगों को दूसरी चिन्ता यह भी सताती थी कि बीमारी के कारण मजदूरों की कार्यक्षमता कम हो जाएगी।

शुरूआत में तो कारखाना मालिकों ने इस समस्या का हल यह निकाला कि वे देहातों से नए तंदरुस्त मजदूर ले आते। परन्तु बिगड़ती परिस्थितियों के फलस्वरूप मजदूरों के संगठन उभरने लगे। ये संगठन बेहतर मजदूरी और बेहतर कार्य परिस्थितियों की मांग करते थे। इन संगठनों ने बाहर से मजदूर लाने पर रोक लगवाकर बेहतर मज़दूरी पाने और काम के घण्टे कम करवाने में सफलता प्राप्त की। परन्तु इसके कारण मालिक का मुनाफा कम हो गया क्योंकि अब मजदूरी ज्यादा देनी पड़ती थी और बदले में काम कम होता था। इसके अलावा मजदूर कई बार बीमारी के कारण काम पर नहीं आ पाते थे। इससे भी मुनाफे में कमी हो जाती थी। इन सारे कारणों की वजह से कारखाना मालिकों को मजदूरों के स्वास्थ्य पर ध्यान देना पड़ा। बीमारी की रोकथाम से उत्पादन भी बढ़ेगा और अमीर लोगों तक बीमारी के पहुंचने का खतरा भी कम हो जाएगा। यह सोचकर कारखाने के मालिकों ने सरकार पर दबाव डाला कि वह पानी, साफ-सफाई, आवास आदि सुविधाओं पर पैसा लगाए।

इसी समय चिकित्सा विज्ञान के कई क्षेत्रों में विकास हो रहा था, (जैसे बेक्टीरिया विज्ञान, मानव शरीर क्रिया विज्ञान, रोग निदान विज्ञान, पेथालाजी, चिकित्सा टेक्नोलॉजी वगैरह)। इसी समय बीमारी का कीटाणु सिद्धांत भी लोकप्रिय होने लगा था। इन सबकी बदौलत बीमारियों का प्रत्यक्ष कारण पहचानकर उसका इलाज करना संभव हो चला था। कारखाना मालिक तो चाहते ही थे कि बीमारियों पर नियंत्रण किया जाए और बीमारी की अवधि को कम किया जाए। वे यह भी चाहते थे कि इंसान की शक्ति का ज्यादा से ज्यादा इस्तेमाल हो सके। इसलिए उन्होंने आधुनिक चिकित्साशास्त्र के विकास और अनुसंधान में बड़े पैमाने पर पैसा लगाना शुरू किया। वे समझ चुके थे कि स्वास्थ्य सुविधाओं के विकास पर पैसा लगाने में अन्ततः उनका ही फायदा है। **आधुनिक चिकित्साशास्त्र के विकास को बढ़ावा देने का एक और भी फायदा था। इससे पूरा ध्यान बीमारी के मूल कारणों यानि सामाजिक परिस्थितियों पर से हटकर तात्कालिक कारण यानी कीटाणु पर केन्द्रित हो गया।** कीटाणु सिद्धांत से समाज में व्याप्त शोषण पर पर्दा डालने में मदद मिली। बीमारी का कारण अपर्याप्त भोजन, रहन-सहन और काम के बुरे हालातों में खोजने की बजाय अब यह कहा जाने लगा कि बीमारी तो कीटाणु की वजह से होती है। काम की शोचनीय परिस्थिति के लिए मालिक को दोष देने की बजाय अब लोगों को ही दोषी ठहराया जा सकता था कि वे अपने अज्ञान के कारण साफ-सफाई की तरफ ध्यान नहीं देते। इस प्रकार से बीमारी का दोष लोगों पर डाला जा सकता था। चिकित्साविज्ञान

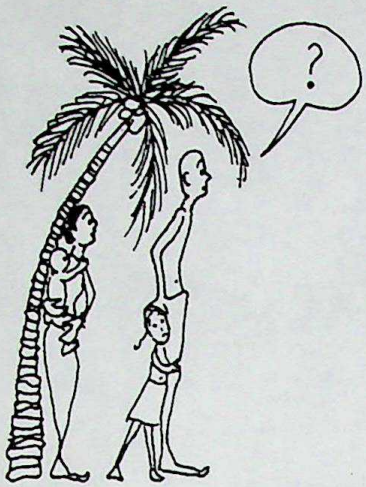

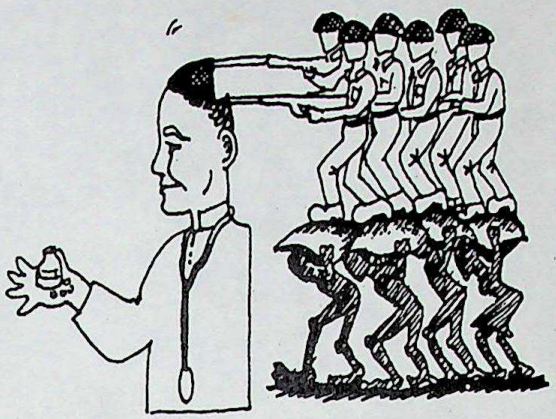

ने तो बीमारी का प्रत्यक्ष कारण कीटाणु खोज निकाला था। परन्तु इसके कारण अस्वस्थता की जिम्मेदारी समाज से हटकर खुद व्यक्ति पर आ पड़ी। स्वास्थ्य शिक्षा, स्कूलों, संचार माध्यमों, आदि के जरिये इस नए सिद्धांत का जोरशोर से प्रचार किया गया। बीमारी अब खुद व्यक्ति की जिम्मेदारी बन गई और व्यक्ति का इलाज करने वाली अस्पताली स्वास्थ्य प्रणाली चल निकली। स्वास्थ्य समाज से स्वतंत्र और निरपेक्ष विषय हो गया, मानों व्यापारिक जीवन शैली और उससे पैदा होने वाली समस्याओं से उसका कुछ लेना-देना ही न हो। पहले ही कहा जा चुका है कि मजदूरों का स्वास्थ्य मालिकों के लिए महत्त्वपूर्ण था। अतः उन्होंने सरकार पर दबाव डालकर अस्पताल खुलवाए। मजदूरों के स्वास्थ्य में सुधार लाने के लिए उन्होंने अनुसंधान पर खुद भी पैसा खर्च किया।

व्यापारियों ने आधुनिक चिकित्साशास्त्र का अपने आर्थिक हितों के लिए कैसे उपयोग किया ?

टीकों व बीमारी की रोकथाम के अन्य उपाय विकसित हो जाने पर कारखाने के मालिक और व्यापारी बीमारी के खिलाफ मुहिम में पैसा लगाने लगे, बशर्ते कि इसमें उन्हें फायदा दिखे। हालांकि ये लोग-मजदूरों की कार्यक्षमता और उत्पादन बढ़ाने की दृष्टि से पैसा खर्च करते थे परन्तु इससे उनकी दयालु छवि बनती थी। माल उत्पादन की शोषणपूर्ण प्रक्रिया में कई बार मालिकों और मजदूरों के बीच टकराव की स्थिति बन जाती थी। ऐसी स्थिति में स्वास्थ्य सुविधा मुहैया करवाकर शोषण के मुद्दे से ध्यान हटाने में सफलता मिली। तो, स्वास्थ्य सुविधा एक ऐसा औजार बन गई जिसके माध्यम से मजदूरों के असंतोष को दबाया जा सकता था।

यह बात राकफेलर के उदाहरण से और स्पष्ट हो जाती है। राकफेलर एक बड़ा उद्योगपति था। उसने अमरीका के दक्षिणी प्रांतों में सार्वजनिक स्वास्थ्य कार्यक्रम विकसित किए। 1860-65 के गृह युद्ध के बाद दास प्रथा समाप्त हो जाने से इन प्रांतों की अर्थव्यवस्था चौपट हो गई थी। पिछली सदी के अन्तिम सालों में राकफेलर जैसे व्यापारी अपना कारोबार इन प्रांतों में फैलाना चाहते थे। खेतों और कारखानों दोनों जगह मजदूरों की उत्पादकता बहुत कम थी। इसका मुख्य कारण बीमारियां थीं जिनकी वजह से मजदूरों का बहुत सारा वक्त जाया होता था।

बेहतरीन व्यापारिक समझ !

देहाती इलाकों में अंकुश कृमि (हुक वर्म) सबसे बड़ी समस्या थी। राकफेलर स्वच्छता आयोग (सेनिटरी कमीशन) ने इस बीमारी के खिलाफ एक जन अभियान शुरू किया। अकुंश कृमि विरोधी अभियान में, स्थानीय किसान संगठनों को भी शामिल किया गया। ये संगठन इससे पहले कई लोकप्रिय विद्रोहों के अगुआ रहे थे। इन किसान संगठनों को साथ लेने और किसानों के स्वास्थ्य सुधार में मदद देने के कारण, किसानों के मन में बड़े व्यापारियों के प्रति जो रोष था उसे कम करने में सफलता मिली।

इन अभियानों से मजदूरों की उत्पादकता में तेजी से वृद्धि हुई। "अंकुश कृमि के इलाज का आर्थिक महत्त्व" नामक रिपोर्ट (1918) में यह बात साफ उभर कर आती है। कोस्टारिका के दो चाय बागानों में 320 मजदूर काम करते थे। इस रिपोर्ट के अनुसार उनकी उत्पादकता में नाटकीय वृद्धि हुई। एक अन्य बागान में उतने ही मजदूर अब 50 प्रतिशत ज्यादा भूमि पर काम करते थे। इसके अलावा इलाज की वजह से मजदूरों की ताकत भी बढ़ी। इसके फलस्वरूप ये मजदूर अब पहले से ज्यादा घण्टे ज्यादा कड़ी मेहनत कर सकते थे। इस प्रकार से बागान मालिक का खर्चा कम हो गया। बढ़ी हुई उत्पादकता से कामगारों की मजदूरी तो बढ़ी पर ज्यादा फायदा मालिक को मिला।

तो, यह स्पष्ट है कि स्वास्थ्य अभियान का प्रमुख लक्ष्य अंकुश कृमि नहीं था। ये अभियान मूलतः उत्पादकता और मुनाफा बढ़ाने के लिए चलाए गए थे। इसके अलावा इनसे मालिकों और मजदूरों दोनों की एक सामान्य जरूरत पूरी होती थी। इससे मजदूरों और मालिकों के बीच टकराव कम करने में भी मदद मिली।

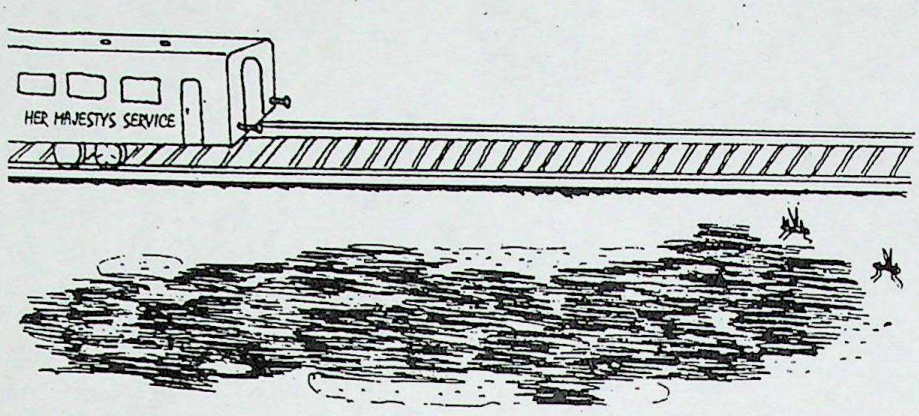

जब पश्चिमी देशों ने औपनिवेशिकता के जरिये अन्य देशों में अपनी आर्थिक गतिविधियां फैलाना शुरू कीं, तो वहां भी यही रणनीति अपनायी गई। पश्चिमी देशों ने अन्य देशों को अपना उपनिवेश बनाया। *(उपनिवेश का अर्थ होता है कि एक देश द्वारा दूसरे पर अधिकार जमाना और उसके संसाधनों का बलपूर्वक दोहन करना। जो देश अधिकार करते हैं उन्हें उपनिवेशवादी कहा जाता है और जिन देशों पर अधिकार किया जाता है वे उपनिवेश कहलाते हैं।)* पश्चिमी देशों ने अन्य देशों को फतह किया ताकि उनके संसाधनों व सस्ते श्रम का दोहन कर सकें। उपनिवेशवादी देशों ने अन्य देशों में फसल चक्र बदले, जंगल काटे, बांध बनाए और परिणामस्वरूप नई-नई स्वास्थ्य समस्याएं पैदा कीं।'' फिर जब कभी भी बीमारियों के कारण उनकी आर्थिक गतिविधियों में रुकावट आई, तो दवाइयों का उपयोग किया। सारे देशों में उन्होंने स्थानीय लोगों का शोषण किया और साथ-साथ स्वास्थ्य सुविधाएं देकर दयालु होने का श्रेय भी लूटा।

चेतावनी व्यापारिक स्वास्थ्य

जहां एक तरफ आर्थिक शोषण और फौजी घुसपैठ, अमरीकी व्यापार के फैलाव के घृणास्पद पहलू थे, वहीं दूसरी तरफ, स्वास्थ्य सुविधा और सार्वजनिक स्वास्थ्य के उपायों को अमरीकी हस्तक्षेप के मानवीय पहलू के रूप में पेश किया गया और इसे प्रायः मान्यता भी मिली।

(एच. कलेवर)

तीसरी दुनिया के देशों में अपने आर्थिक हितों को फैलाने के सिलसिले में उपनिवेशवादियों को नई उष्णकटिबंधीय बीमारियों का सामना करना पड़ा। उनके शरीर इन बीमारियों के आदी नहीं थे। अतः उन पर ज्यादा असर होता था। दूसरी बात यह थी कि अपने आर्थिक हितों को साधने के चक्कर में वे कई बार ऐसे क्रियाकलाप करते थे कि इन बीमारियों का प्रकोप बढ़ जाता था। उदाहरण के लिए, स्लीपिंग सिकनेस (निद्रा रोग) अफ्रीका की स्थानीय बीमारी थी। परन्तु यह कोई बड़ी समस्या नहीं थी। इस बीमारी को फैलाने वाली त्से त्से मक्खी झाड़ियों के कारण नियंत्रण में रहती थी। अफ्रीकी लोग उन इलाकों में रहते भी नहीं थे, जहां त्से-त्से मक्खी ज्यादा हों। उपनिवेशवादियों ने खेती करने हेतु अन्धाधुन्ध जंगल काटे और झाड़ियां साफ कर दीं। इसकी वजह से निद्रा रोग एक महामारी बन गया। इसलिए निद्रा रोग पर काबू पाना जरूरी हो गया क्योंकि उपनिवेशवादी अफ्रीका के सस्ते मजदूरों का शोषण करना चाहते थे। यही कारण था कि पश्चिमी देशों में उष्ण-कटिबन्धीय रोगों के संस्थान बनाए गए। इन संस्थानों के लिए पश्चिमी देशों की सरकारों और व्यापारियों ने पैसा दिया।

भारत में ब्रिटिश हुकूमत के दौरान भी यही किस्सा दोहराया गया। भारत के प्राकृतिक संसाधनों, कच्चे माल और सस्ते श्रम का दोहन करने के लिए ब्रिटेन ने भारत पर अपना राज जमाया। उन्होंने भारत में यातायात के साधनों, जैसे सड़कों, रेलवे, पुलों आदि का निर्माण भी इसी उद्देश्य से किया। बांध और सिंचाई की सुविधाएं विकसित की गईं, ताकि फसल पैदा करके देश से बाहर भेजी जा सके। अपने आर्थिक हितों को पूरा करने के चक्कर में ब्रिटिश लोग बहुधा ऐसे काम करते थे, जिनसे बीमारियां बढ़ती थीं।

ब्रिटिश शासकों द्वारा स्थापित एक समिति का निष्कर्ष था कि भारत में मलेरिया, टी. बी., अंकुश कृमि, कोढ़ और यौन रोगों के प्रकोप में वृद्धि हुई है। समिति का मत था कि इस वृद्धि का कारण ब्रिटिश शासन द्वारा किए गए सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन हैं। मसलन, मलेरिया के बारे में समिति ने कहा कि,

''त्रासदी यह है कि घनी आबादी वाले इलाकों में मलेरिया का प्रकोप मानव निर्मित है। कई मामलों में इसका श्रेय सड़कों और रेलवे को जाता है। इनके बनने से पानी का स्वाभाविक बहाव रुकता है और मच्छर के लिए अनुकूल परिस्थिति बन जाती है। इसके अलावा खन्तियां भी मच्छरों के प्रजनन के उपयुक्त स्थल हैं। सुक्कर बराज और मेत्तूर सिंचाई परियोजनाएं इस तरह के (मलेरिया रोधी) उपायों के अभाव की मिसाल हैं। दोनों ही मामलों में बड़े पैमाने पर मलेरिया फैला, जबकि पहले ये इलाके मलेरिया से मुक्त थे।''

(भोर समिति)

हालांकि भारत में बीमारियों की वृद्धि के लिए ब्रिटिश जिम्मेदार थे परन्तु उन्होंने स्वास्थ्य सम्बन्धी उपाय तभी किए जब खुद उन पर इसका प्रभाव पड़ने लगा। जैसे, 1859 में भारत में नियुक्त ब्रिटिश फौज की सेहत की शोचनीय स्थिति की जांच के लिए एक आयोग बनाया गया। इस आयोग ने प्रत्येक प्रेसिडेन्सी में एक सार्वजनिक स्वास्थ्य आयोग की स्थापना का सुझाव दिया। आयोग ने सुरक्षित की पानी की सप्लाई और नालियां बनाने के महत्त्व पर भी जोर दिया। आयोग का मत था कि ब्रिटिश फौज की सेहत की सुरक्षा की दृष्टि से जरूरी है कि आम आबादी में भी बीमारियों को फैलने से रोका जाए।

आयोग की रिपोर्ट के बावजूद सार्वजनिक स्वास्थ्य सम्बन्धी उपायों को लागू करने की कोई गम्भीर कोशिश नहीं की गई। सिर्फ 1880 में एक कानून बनाकर आम लोगों के लिए चेचक व हैजे के टीके लगवाना अनिवार्य कर दिया गया । गम्भीर प्रयास सिर्फ उन इलाकों में किए गए, जहां बीमारियों के कारण आर्थिक क्रियाकलापों पर असर पड़ने लगा, जैसे रायपुर-विशाखापट्टनम रेल लाइन का निर्माण तभी संभव हो पाया, जब मलेरिया पर काबू पा लिया गया। इसी प्रकार से मेत्तूर बांध और सारदा नहर का निर्माण मलेरिया नियंत्रण कार्यक्रम की मदद से ही पूरा हो सका।

देश के शेष इलाकों में बीमारियों की रोकथाम में ब्रिटिश सरकार की कोई दिलचस्पी नहीं थी, हालांकि उसके पास साधन थे। इसका एक सबूत यह है कि ब्रिटिश सरकार ने उन बीमारियों की रोकथाम का कभी कोई प्रयास नहीं किया, जो उसके **प्रोजेक्टों की वजह** से पैदा हुई थीं। जैसे मेत्तूर बांध बनाने के लिए ब्रिटिश सरकार ने मलेरिया पर नियंत्रण किया। परन्तु बांध बन जाने के बाद जब मलेरिया फैला तो सरकार ने रोकथाम की कोई कोशिश नहीं की। सन् 1946 में भोर समिति की रिपोर्ट से भी यह बात जाहिर है—

> "अधिकारियों द्वारा मलेरिया नियंत्रण की कार्यवाही की समीक्षा में यह कहना जरूरी है कि ये प्रयास अपर्याप्त रहे हैं और इनसे राष्ट्रीय स्तर पर मलेरिया के प्रकोप पर न के बराबर असर हुआ है। ...खदानों और बागानों में अंकुश कृमि के व्यापक प्रकोप से साफ है कि इन इलाकों में मजदूरों से सम्बन्धित अधिकारी स्वच्छता सम्बन्धी उपायों का कितना ध्यान रखते हैं।"

इसी रिपोर्ट के मुताबिक ब्रिटिश शासन द्वारा टी. बी. नियंत्रण के पर्याप्त उपाय न किए जाने का कारण यह है कि :

> "टी. बी. जैसी समाज-जनित बीमारी का सामना व्यापक पैमाने पर ऐसे उपायों से ही संभव है जिनसे लोगों के सामान्य जीवन स्तर, जैसे आवास, पोषण, घर व काम की जगह पर स्वच्छता आदि में सुधार आए। स्वस्थ पर्यावरण की दिशा में प्रयास अभी शुरू भी नहीं हो पाए हैं क्योंकि एक तो इसकी लागत बहुत ज्यादा है और दूसरा लोगों में शिक्षा का प्रसार भी नहीं हुआ है कि वे इसके महत्त्व को समझें और बेहतर जीवन स्तर की मांग करें।"

अमरीका के दक्षिणी प्रान्त के कामगारों की तरह भारतीय मजदूर विद्रोह करने की स्थिति में नहीं थे क्योंकि यहां पर अंग्रेजी फौज का नियंत्रण था। इसलिए अंग्रेजों ने स्वास्थ्य कार्यक्रमों पर पैसा अपनी प्राथमिकताओं के अनुसार लगाया। चेचक, प्लेग और हैजा उनकी तीन प्राथमिकताएं थीं। 19वीं सदी में तीन-चार बार हैजे की विश्वव्यापी महामारी फैली थी। यूरोप, ब्रिटिश द्वीप समूह और अमरीका भी इनकी चपेट में आ गए थे। ऐसा माना जाता है कि इन महामारियों की शुरूआत भारत से हुई थी।

भारत के व्यापारिक रिश्ते कई देशों से थे। बीमारियों की वजह से इनमें कई देशों ने भारत से आए जहाजों पर स्वास्थ्य सम्बन्धी निरोधात्मक प्रतिबन्ध लगा दिये थे। इन प्रतिबन्धों के कारण ब्रिटिश शासकों को काफी समय व धन का नुकसान उठाना पड़ता था क्योंकि कई बार उनके जहाज विदेशी बन्दरगारों पर लम्बे समय के लिए पड़े रहते थे। इसलिए सार्वजनिक स्वास्थ्य संगठनों ने अपना पूरा ध्यान इन बीमारियों की रोकथाम पर लगाया। यह उल्लेखनीय है कि उस

समय भारत में कुल मौतों में से मात्र 4 प्रतिशत ही इन बीमारियों की वजह से होती थी।

संक्षेप में, व्यापारियों ने मुख्यतः अपने आर्थिक हितों की खातिर आधुनिक चिकित्सा प्रणाली को बढ़ावा दिया। उनकी दिलचस्पी यह थी कि किसी भी तरह बीमारियों पर नियंत्रण किया जाए और अस्वस्थता की अवधि कम हो जाए, ताकि मजदूरों की उत्पादन क्षमता बढ़े। आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में यह संभावना थी कि बीमारी के विशिष्ट कारकों को पहचानकर उनका इलाज किया जा सके। इसीलिए व्यापारी इसके विकास में दिलचस्पी रखते थे। इसके अलावा इस नई प्रणाली में अस्वस्थता के मूल कारणों की बनिस्पत बीमारी के प्रत्यक्ष कारकों पर ज्यादा जोर दिया था। इससे समाज की शोषण मूलक प्रकृति और इसमें व्यापारियों की भूमिका पर से ध्यान हटाने में मदद मिलती थी। इसलिए व्यापारियों और उद्योगपतियों ने इसका खूब प्रचार-प्रसार किया। आधुनिक चिकित्सा की सुविधाएं देने से दयालुता की छवि भी बन गई और शोषितों का रोष भी कम हुआ।

आधुनिक चिकित्सा को बढ़ावा देने में व्यापारियों की भूमिका के परिणाम

ऐसा नहीं है कि अस्वस्थता की व्याख्या करने के लिए कीटाणु सिद्धांत ही एकमात्र सिद्धांत था। इस बात के मद्देनजर देखें तो पता चलता है कि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के विकास में व्यापारियों की भूमिका का कितना महत्त्व था।

सन् 1848 में भी वैज्ञानिक समझ चुके थे कि स्वास्थ्य और बीमारी का सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों से गहरा सम्बन्ध होता है। उसी समय से चिकित्सा जगत का एक तबका चिकित्सा सम्बन्धी सोच में बदलाव के लिए प्रयत्नशील रहा है। इन्हीं प्रयासों के कारण 'सामाजिक चिकित्सा' जैसा शब्द अस्तित्व में आया। इन चिकित्सकों के अनुसार, सामाजिक चिकित्सा का उद्देश्य इन्सान के स्वास्थ्य का समाज के संदर्भ में अध्ययन करना है। इसमें विशेष ध्यान उन सामाजिक व आर्थिक शक्तियों पर दिया जाता है जो स्वास्थ्य पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभाव डालती हों।

परन्तु ऐसा सिद्धांत सम्पन्न व ताकतवर लोगों के हित में नहीं था। यदि यह सिद्धांत प्रचलित हो जाता, तो अस्वस्थता के मूल कारणों गरीबी व शोषण पर ध्यान केन्द्रित हो जाता। बीमारियों की रोकथाम व नियंत्रण के लिए सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन की जरूरत स्पष्ट हो जाती। कीटाणु सिद्धांत में समाज में व्याप्त शोषण व दमन का कोई जिक्र नहीं था। इसमें अस्वस्थता के लिए खुद लोगों को दोषी ठहराया जा सकता था। इसलिए कीटाणु सिद्धांत ज्यादा स्वीकार्य था। इस सिद्धांत से डाक्टरों का स्वार्थ भी पूरा होता था। वे भी ऊंचे तबके के थे। जब तक कीटाणु का बोलबाला है, तब तक बीमारी की पूरी प्रक्रिया डाक्टरों की मुट्ठी में है। डाक्टर ऐसी दवाइयां दे सकते थे कि मरीज कुछ समय के लिए ठीक-ठाक हो जाए।

अतः व्यापारियों ने चिकित्सा के उन्हीं क्षेत्रों में धन लगाया जो उनके लिए अनुकूल थे। डाक्टरों ने भी इन्हीं क्षेत्रों में अनुसंधान किया।

आजाद भारत में

एक बार ब्रिटिश राज खत्म हो जाने के बाद, पश्चिमी देश भारत सरकार की नीतियों में सीधे दखल नहीं दे सकते थे। परन्तु अब भी वे भारत से कच्चा माल लेकर, अपना निर्मित माल यहां बेचना चाहते थे। यही वह समय था जब विश्व स्वास्थ्य संगठन, यूनिसेफ, खाद्य व कृषि संगठन आदि जैसे 'विशेषज्ञ' संगठन अस्तित्व में आए। इनमें से अधिकतर संगठन पश्चिमी देशों की वित्तीय सहायता से चलते हैं। ये संगठन नव स्वतंत्र देशों की सरकारों को 'विशेषज्ञ' सलाह देने के बहाने उनकी नीतियों व कार्यक्रमों पर सीधा प्रभाव डालते थे। सलाह हर मसले पर दी जाती थी। इसमें स्वास्थ्य भी शामिल था। इन संगठनों के गठन को पश्चिमी देशों की 'सद्भावना' के रूप में देखा जाता था।

आपको याद होगा कि स्वास्थ्य सुविधाएं देकर किस तरह व्यापारियों ने दक्षिण अमरीकी किसान संगठनों का रोष कम

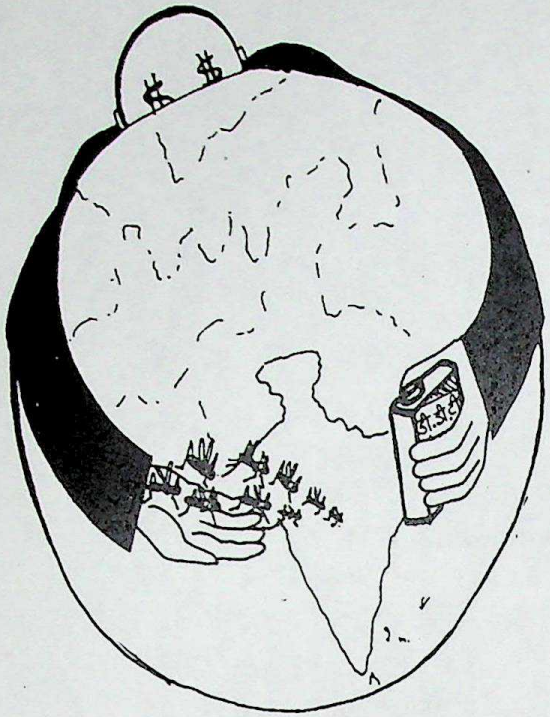

किया था। उपनिवेश रहे देशों में भी अपने भूतपूर्व विदेशी शासकों के प्रति रोष था। 'विशेषज्ञ' संगठनों की मदद के बहाने इस रोष को कम करने का वही नुस्खा अपनाया गया। उदाहरणार्थ, विश्व स्वास्थ्य संगठन के दक्षिण-पूर्व एशियाई क्षेत्रीय केन्द्र के गठन के लिए बुलाए गए सम्मेलन में भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री नेहरू ने कहा था :

> "दुनिया में राजनैतिक टकराव मुख्यतः डर की वजह से होते हैं। अतः स्वास्थ्य जैसे मामलों, जिनमें टकराव का कोई कारण नहीं है, पर बेहतर अंतर्राष्ट्रीय सहयोग से राजनैतिक व आर्थिक मसले सुलझाने में मदद मिल सकती है।"

ऐसी सद्भावना बनाना बहुत जरूरी है क्योंकि तभी विकसित देश अपने आर्थिक क्रियाकलाप बेरोकटोक चला सकेंगे। भारत जैसे देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बहुत जरूरी हैं क्योंकि कारखानों के लिए धातुएं, लकड़ी, रबर, आदि संसाधनों की जरूरत पड़ती ही है। फिर इन कारखानों में बने माल के लिए बाजार भी चाहिए। यह स्पष्ट हो चुका था कि भारत जैसे देश ऐसा बाजार प्रदान कर सकते हैं, बशर्ते कि यहां के लोगों की क्रय शक्ति और राष्ट्रीय आमदनी बढ़ाई जाए।

मजदूरों की उत्पादकता बढ़ाने की दृष्टि से, स्वास्थ्य सम्बन्धी दो अड़चनें पहचानी गईं। पहली यह कि इन देशों में उपनिवेशवादियों की आर्थिक नीतियों के फलस्वरूप बीमारी का प्रकोप ज्यादा होता है। दूसरी यह कि व्यापक रूप से फैलने वाली अधिकांश बीमारियां संक्रामक थीं। *(ऐसे रोग जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक किसी माध्यम के जरिये फैल सकते हैं।)* इसलिए व्यापारिक भागों से बीमारी के प्रसार को रोकने के लिए स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रतिबन्ध क्वारेन्टाइन *(संक्रामक रोग के संपर्क में आए व्यक्तियों को निश्चित अवधि तक लोगों के संपर्क में न आने देने का तरीका)* जरूरी थे। किन्तु इससे व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता था। इन दोनों कारणों से पश्चिमी देशों और उनके विशेषज्ञ संगठनों ने रोग-नियंत्रण को महत्त्व देना शुरू किया। यह बात भारत जैसे देशों के भी आर्थिक हित में थी।

तो, संक्रामक रोगों पर नियंत्रण एक प्राथमिकता बन गई। यह दौर "व्यापारिक मांगों से बीमारियों के प्रसार को रोकने के प्रतिबन्धात्मक तरीकों की बजाय बीमारी से उसके उद्गम पर ही निपटने की दिशा में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग" (वि. स्वा. सं.) का दौर रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत जैसे देशों को अपने संसाधन का काफी हिस्सा संक्रामक रोगों के नियंत्रण पर खर्च करना पड़ा, क्योंकि इन्हीं देशों में बड़ी संख्या में ऐसे रोग मौजूद थे। यह जानने-समझने का कोई प्रयास नहीं किया गया कि सम्बन्धित देश की सेहत में इस रोग का कोई महत्त्व भी है या नहीं। मसलन विश्व स्वास्थ्य संगठन की जिद के कारण भारत को चेचक उन्मूलन कार्यक्रम चलाना पड़ा। तथ्य यह है कि कुल मौतों में से चेचक मात्र 0.4 प्रतिशत के लिए जिम्मेदार थी।

बीमारियों की रोकथाम के लिए अपनाए गए तरीके भी काबिले गौर हैं। मलेरिया को ही लें। हमारे देश में रुग्णता और मृत्यु की एक बड़ी वजह मलेरिया है। मलेरिया एक ऐसी बीमारी मानी जाती है जिससे खेती-बाड़ी, उद्योग और व्यापार का विकास ठप्प पड़ जाता है। इस बीमारी के कारण देश को होने वाले आर्थिक नुकसान की विस्तृत गणनाएं भी की जा चुकी हैं। मलेरिया नियंत्रण कार्यक्रम का प्रभाव 1949 में चलाए गए पहले प्रोजेक्ट से ही नजर आने लगा था। यह प्रोजेक्ट विश्व स्वास्थ्य संगठन की मदद से चलाया गया था।

इस प्रोजेक्ट के लिए उत्तरप्रदेश में टिहरी-गढ़वाल इलाके को चुना गया। मलेरियाग्रस्त होने के कारण यहां ज्यादा घनी आबादी नहीं थी। मलेरिया नियंत्रण कार्यक्रम के परिणामस्वरूप लोग स्थायी तौर पर रहकर खेती-बाड़ी करने लगे। शीघ्र ही यह इलाका समृद्ध हो गया और जमीन की कीमतें बढ़ने लगीं। इस प्रोजेक्ट का लक्ष्य यह दिखाना था कि मलेरिया नियंत्रण के जरिए खेती का विस्तार संभव है। यह बात गौर करने योग्य है कि प्रोजेक्ट का लक्ष्य प्रभावित आबादी में मलेरिया कम करना नहीं था।

मलेरिया नियंत्रण कार्यक्रम जिस ढंग से बनाया गया, उसमें भारत सरकार और पश्चिमी देशों की सरकार दोनों को फायदा था। कार्यक्रम के तहत मलेरियाग्रस्त इलाकों में दो बार डी. डी. टी. का छिड़काव किया जाना था। एक भारतीय मलेरियाविद् ने इस रणनीति की उपयोगिता बताते हुए कहा था, "टैक्स वसूली को छोड़ दें, तो डी. डी. टी. छिड़काव के अलावा कोई भी (सरकारी) सुविधा हर घर तक साल में दो बार नहीं पहुंचती है।" *(एच. कलेवर)*

इस रणनीति का महत्त्व तब समझ में आता है जब हम यह ध्यान रखें कि तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति आइजनहोवर ने सन् 1956 में विश्वव्यापी मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम के लिए धन आवंटित करते हुए कहा था कि "भारत, थाइलैण्ड और फिलिपाइन्स की वर्तमान सरकारों ने कम्युनिस्ट घुसपैठ के खिलाफ लड़ने के लिए राजनैतिक ताकत जुटाने हेतु मलेरिया कार्यक्रम हाथ में लिया है।"

(एच. कलेवर)

मतलब औपनिवेशिक शासन खत्म होने के बाद भी पश्चिमी देशों के व्यापारियों ने अपने आर्थिक हित साधने के लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का इस्तेमाल जारी रखा। इसके लिए उन्होंने अपने देशों की सरकार या अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का सहारा लिया। भारत सरकार भी अपने आर्थिक हित साधने की दृष्टि से इन्हीं स्वास्थ्य कार्यक्रमों में दिलचस्पी ले रही थी।

यह सच है कि इन स्वास्थ्य कार्यक्रमों की वजह से कुछ बीमारियों से अस्थायी राहत मिली। परन्तु इनसे पूरी आबादी के स्वास्थ्य के हालात सुधारने में कोई मदद नहीं मिली।

इसका कारण यह है कि इन कार्यक्रमों का लक्ष्य बीमारी के मूल कारणों को दूर करने का नहीं था। ये तो सिर्फ बीमारी के तात्कालिक कारकों को नजर में रखकर बनाए गए थे। *(इस तरह के कार्यक्रमों की सीमाओं पर इस खण्ड के अध्याय 4 में विस्तार से चर्चा की जाएगी।)*

स्वास्थ्य कार्यक्रमों का प्रभाव खेती के फैलाव, उत्पादकता और राष्ट्रीय आय पर भी पड़ा। परन्तु भारत सरकार को मिलने वाले लाभ की तुलना में पश्चिमी देशों का मुनाफा कहीं ज्यादा रहा है। इसके अलावा भारत के अधिकांश लोगों की माली हालत में तो कोई खास बदलाव नहीं आया जबकि इन्हीं लोगों के श्रम से राष्ट्रीय आय और विदेशी सरकारों व उद्योगपतियों के मुनाफे में इजाफा हुआ।

दरअसल 'विशेषज्ञों' की सलाह के आधार पर बनी इन नीतियों के फलस्वरूप आबादी के काफी बड़े हिस्से की माली हालत बदतर हो गई, खासकर देहाती इलाकों में। माली हालत में गिरावट के कारण उनके स्वास्थ्य में भी गिरावट आई।

आगमन विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष का

सन् 1960 और सन् 1970 के मध्य की अवधि में बहुत से गरीब देशों ने अपनी गरीबी दूर करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों के उस विकास 'मॉडल' को स्वीकार कर लिया जिसकी सिफारिश इन विशेषज्ञों ने की थी। आर्थिक विकास के इस नए 'मॉडल' के अनुसार गरीब देशों को पश्चिमी देशों से उनकी महंगी तकनीक खरीदना आवश्यक था। ये गरीब देश उस महंगी तकनीक को खरीद नहीं सकते थे इस लिए उन्हें पश्चिमी देशों से ऋण लेना आवश्यक हो गया ताकि वे उस महंगी तकनीक की कीमत चुका सकें।

जिस प्रकार एक बड़ा जमींदार छोटे किसान को उसके संकट के समय इतने ऊंचे ब्याज पर अधिक ऋण देता है जो वह कभी न चुका सके और अन्त में उस गरीब किसान की सारी जमीन हड़प लेता है, *(खण्ड I के छठे अध्याय में बसन्त की कहानी पढ़े)* ठीक यही हालत उन गरीब देशों की हो गई जो पश्चिम से ऋण ले रहे हैं। लगातार कर्ज लेने के कारण सन् 1980 तक गरीब देशों पर केवल ब्याज की ही रकम इतनी अधिक बन गई कि आर्थिक विकास होने के उपरान्त भी उन्हें लाभ नहीं हो रहा था। पश्चिम के बैंकों द्वारा दिए गए ऋण की यह राशि इतनी बड़ी थी कि बैंकों को भी यह भय सताने लगा था यदि गरीब देशों ने यह राशि उन्हें नहीं लौटाई तो उनकी आर्थिक स्थिति भी डांवाडोल हो जायेगी। तब इस विकट समय पर विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष उद्धारक के रूप में सामने प्रकट हुए। इन 'उद्धारकों' अर्थात् बैंकों ने उन गरीब कर्जवान देशों को आपातकालीन

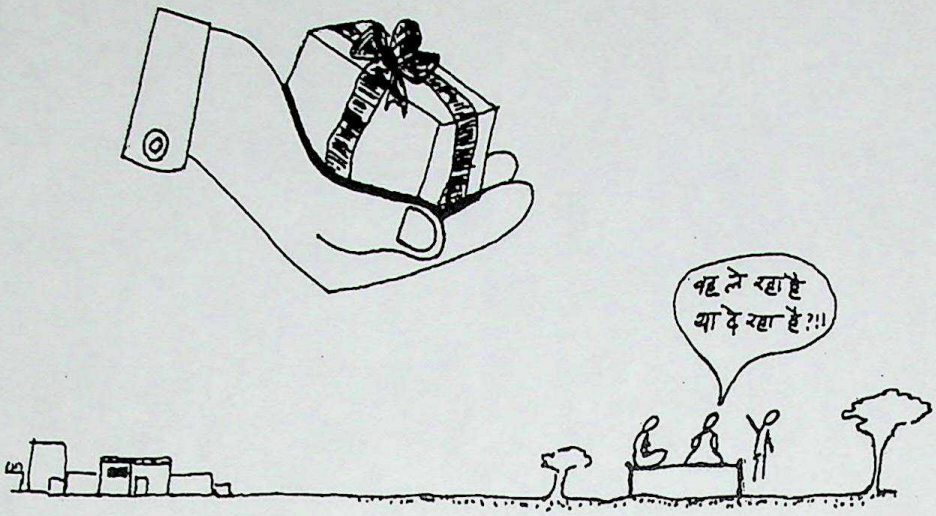

ऋण दिये ताकि वे लिए हुए कर्ज का कुछ अंश चुका दें और उन देशों में विकास की गति भी बनी रहे।

पर इन संस्थाओं ने आपातकालीन ऋण देते समय ऋण के साथ कुछ शर्तें भी जोड़ दीं, *(इन शर्तों को इन संस्थानों की शब्दावली में 'स्ट्रक्चरल एडजस्टमेन्ट प्रोग्राम'–या संक्षेप में 'सैप' कहते हैं)*। इन शर्तों के कारण आपात्कालीन ऋण प्राप्त करने वाले देशों को ऐसे व्यापारिक सम्बन्ध बनाना अब लाजिमी हो गया है जिनसे बहुराष्ट्रीय व्यापारिक संस्थानों को लाभ पहुंचता हो।

विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष ने ऋण लेने वाले गरीब देशों को यह सलाह भी दी कि वे निजी व्यापार पर जोर दें और 'अनावश्यक' खर्च कम करें। उनकी यह भी राय थी कि गरीब देश शिक्षा और स्वास्थ जैसे अनुत्पादक कामों में अधिक खर्च करते हैं, जिसे कम करना चाहिये। गरीब देश तो इन मदों में पहले ही बहुत कम खर्च करते थे, अब यह खर्च और भी कम कर दिया गया, आम जनता के लिए बनाए गए अस्पताल और स्वास्थ्य केन्द्र गैर सरकारी संस्थाओं को सौंप दिए गये या निजी संस्थानों को बेच दिए गए। दवाओं की कीमतों पर जो रोक लगी हुई थी, वह हटा दी गई। इस तरह अब दवाइयां बनाने वाली कंपनियां अपनी दवाइयों की कीमतें स्वयं तय कर चाहे जितना मुनाफा लूट सकती हैं।

विकास की नई नीतियों के लागू हो जाने से गरीब देशों में भारी मशीनों का आयात बढ़ गया, मशीनों के आने से जमीन की कमी, बेकारी और भुखमरी, मजदूरी में गिरावट जैसी समस्याएं पैदा हो गईं, गरीबी में इजाफा हुआ, नई नीतियों ने अमीर और गरीब के भेद को कम करने के बदले और बड़ा कर दिया, इसने असंतोष और अशांति के वातावरण में भी वृद्धि की, अशांति के कारण सरकारों को दमनकारी नीतियां अपनानी पड़ीं, प्रशासन ने भी कड़ाई बरतना आरंभ किया।

नई आर्थिक नीतियों का कुप्रभाव लातिन अमरीका तथा अफ्रीका के अनेक देशों में स्पष्ट रूप से नजर आता है। इन देशों में नई आर्थिक नीतियां सन् 80 के दशक में ही लागू हो गई थीं, इनके कारण वहां बच्चों की मृत्यु दर कम होने के बदले बढ़ गई। 'पीत ज्वर' जो लगभग समाप्त हो गया था फिर से प्रकट हो गया। जाम्बिया ने सन् 1980-84 की अवधि में अपने यहां नई नीतियां लागू की थीं, यहां नवजात शिशुओं की मृत्यु दर 2 प्रतिशत से 6 प्रतिशत हो गई और एक से चार वर्ष के बच्चों की मृत्यु दर पहले 38 प्रतिशत थी जो अब 62 प्रतिशत हो गई।

जैसे-जैसे विभिन्न शोधों से यह पता चलने लगा कि इन देशों के स्वास्थ्य में गिरावट आती जा रही है, नई नीतियों, विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की कड़ी आलोचना के स्वर उभरने लगे। विश्व बैंक की छवि में गिरावट आई। इसलिए उसने 1993 में एक दस्तावेज प्रकाशित किया जिसमें यह सुझाया कि 'सैप' की नई नीतियां लागू करते समय स्वास्थ्य को कैसे ठीक रखा जा सकता है।

विश्व बैंक तो वास्तव में एक बैंक है, जो पश्चिम के बड़े व्यापारिक संस्थानों के हितों को देखते हुए काम करता है। लेकिन अब वह हमारे सामने एक स्वास्थ्य विशेषज्ञ के रूप में प्रकट हुआ है। उसके नए प्रतिवेदन 'इन्वेस्टिंग इन हैल्थ' अर्थात् 'स्वास्थ्य एक निवेश' के आधार पर तीसरी दुनिया के अनेक देश अब अपनी स्वास्थ्य सम्बन्धी योजनाएं बना रहे हैं। ये वे देश हैं जिन्होंने विश्व बैंक के सुझावों अर्थात् 'सैप' को स्वीकार किया है। भारत भी अब 'सैप' अर्थात विश्व बैंक द्वारा सुझाई गई नीतियों पर अमल कर रहा है। उसने ये नीतियां सन् 1991 में लागू की थी। आज हमारी स्वास्थ्य सम्बन्धी नीतियों का आधार विश्व बैंक है न कि हम। वह हमें सलाह देता है।

अब यह बात साफ हो गई है कि पश्चिम के तथाकथित विशेषज्ञों की सलाह के बाद भी जनता की आर्थिक तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं में कोई सुधार नहीं हुआ है। हमने परतंत्रता के दिनों में कठिन संघर्ष करके पश्चिम के साम्राज्यवाद से मुक्ति पाई थी। लगता है वही साम्राज्यवाद फिर लौट आया है, अब हम विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के साम्राज्य के अंग बन गए हैं, ये संस्थान पश्चिम के व्यापारियों के हित में काम करते हैं और दिखावा करते हैं कि हमारी गरीबी, दुख दर्द और बीमारियों से हमें निजात दिलाने के लिए प्रकट हुए हैं।

3 : आधुनिक चिकित्साशास्त्र के द्वारा समाज में मौजूद गैर-बराबरी को कैसे जायज ठहराया जाता है ?

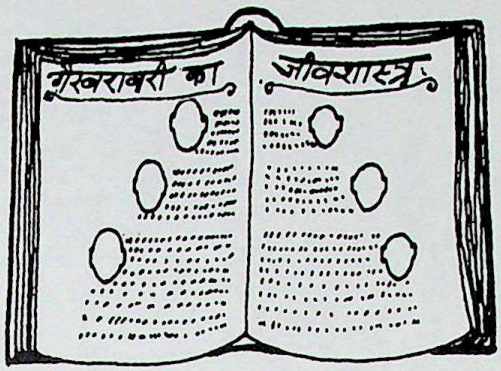

पिछले अध्याय में हमने देखा कि आधुनिक चिकित्साशास्त्र कैसे ताकतवर तबके के हितों की रक्षा करता है। इस तबके के हितों की रक्षा के लिए आधुनिक चिकित्साशास्त्र में और भी रास्ते हैं। एक रास्ता यह है कि समाज में व्याप्त गैर-बराबरी की ऐसी व्याख्या करना जो देखने में वैज्ञानिक प्रतीत हो। इस अध्याय में हम एक उदाहरण के माध्यम से देखेंगे कि यह कैसे किया जाता है। हम यह दिखाने की कोशिश करेंगे कि गैर-बराबरी को कुदरती सिद्ध करने के लिए चिकित्साविज्ञान ने किस तरह सिद्धांत-पर-सिद्धांत गढ़े।

कोई भी शोषणपूर्ण समाज इस धारणा पर टिका होता है कि सारे इन्सान बराबर नहीं है। इस धारणा को मान्यता मिलने पर ही यह संभव है कि एक छोटा-सा वर्ग बाकी लोगों का शोषण करके सम्पत्ति बटोरता रहे *(खण्ड I का अध्याय 8 घ देखें।)*

इसलिए इस धारणा को प्रचारित व सुदृढ़ करना उस छोटे से वर्ग के हित में है।

परन्तु यदि गैर-बराबरी को कुदरती नियम न माना जाए, तो कभी भी इस धारणा पर सवाल खड़े हो सकते हैं। अतः यह जरूरी हो जाता है कि गैर-बराबरी की व्याख्या कुछ इस ढंग से की जाए कि वह तर्कसंगत लगे और उसे चुनौती न दी जा सके। विज्ञान के विकास से पूर्व व्याख्या करने का काम धर्म करता था। परन्तु विज्ञान के विकास के बाद 'विश्व दृष्टि' में बदलाव आया। अब ज्यादा 'तर्कसंगत' और 'वस्तुनिष्ठ' व्याख्या की जरूरत आन पड़ी। चिकित्साशास्त्र का नजरिया वैज्ञानिक तो लगता ही था। चिकित्साशास्त्र ने यह बीड़ा उठाया। चिकित्साशास्त्र ने सामाजिक यथार्थ की व्याख्या के लिए जीवविज्ञान का सहारा लिया। गैर बराबरी को जैविक अंतरों से जोड़कर चिकित्साशास्त्र ने समाज के शोषणपूर्ण ढांचे को जायज ठहराया और आज भी ठहरा रहा है। ऐसा करके, चिकित्साशास्त्र ने एक बार फिर समाज के शक्तिशाली वर्ग के हितों की पूर्ति की।

एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी। पिछली दो सदियों से चिकित्साशास्त्र का औरतों के प्रति जो दृष्टिकोण रहा है, उस पर गौर करें। औरतों के लिए निर्धारित सामाजिक भूमिका को सही ठहराने के लिए चिकित्साशास्त्र ने सिद्धांत-पर-सिद्धांत पेश किये हैं। औरतों और मर्दों के बीच स्पष्ट शारीरिक अन्तर है, खासकर उनके 'प्रजनन अंगों' में। इसलिए औरत को हीन बताने वाले चिकित्साशास्त्रीय सिद्धांत इसी अन्तर पर आधारित रहे हैं।

औरतों की सामाजिक भूमिका पर चिकित्साशास्त्र की मुहर

औद्योगीकरण से पहले पश्चिमी देशों में अधिकांश आर्थिक गतिविधियां घर में की जाती थीं। बच्चे जनने की अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका के अलावा, औरतें परिवार की आर्थिक गतिविधियों में पूरा हाथ बंटाती थीं। अपनी बच्चियों के सहयोग से वे सारी बुनियादी जरूरतें जुटाती थीं और जब जरूरी हो, अनाज उत्पादन में भी हाथ बटाती थीं। अतः औद्योगीकरण के पूर्व समाज में औरतों को उनके प्रजनन व आर्थिक कामों, दोनों के लिए मान दिया जाता था।

औद्योगीकरण के बाद औरतों द्वारा किये जाने वाले कई काम कारखानों ने हथिया लिए। कपड़ों से लेकर मोमबत्ती तक सारी चीजें अब कारखानों में बड़े पैमाने और सस्ती दरों पर बनने लगीं। गरीब परिवारों की औरतों के लिए इसका तात्पर्य था कि अब घर की बजाय कारखानों में काम करना। परन्तु सम्पन्न परिवार की औरतों के लिए इसका मतलब हुआ ज्यादा फुरसत। ऊपरी तबके की औरतें अब सिलाई या चित्रकला जैसे कामों में ही अपना समय गुजारती थीं।

वास्तव में उच्च वर्ग के आदमी के लिए यह एक प्रतिष्ठा का प्रतीक बन गया कि वह एक बीबी पाल सकता है, जो कोई उपयोगी काम नहीं करती और मात्र सजावट की चीज है। इन औरतों के लिए बच्चे जनना ही एकमात्र काम रह गया था। इन्सानों की 'श्रेष्ठ' नस्ल को बढ़ाने के लिए प्रजनन कार्य को बहुत जरूरी माना जाता था। चिकित्साशास्त्र के सिद्धांतों ने इस बात पर जोर दिया कि इस वर्ग की औरतों को अपनी पूरी ऊर्जा इसी में लगानी चाहिए।

चिकित्साशास्त्र का मत था कि औरतें स्वभाव से ही बीमार, कमजोर और नाजुक होती हैं और प्रजनन के अलावा कुछ भी करने के काबिल नहीं होती। चिकित्साशास्त्रियों ने 'ऊर्जा संरक्षण या बचत' का

3 : आधुनिक चिकित्साशास्त्र के द्वारा समाज में मौजूद गैर-बराबरी को कैसे जायज ठहराया जाता है ?

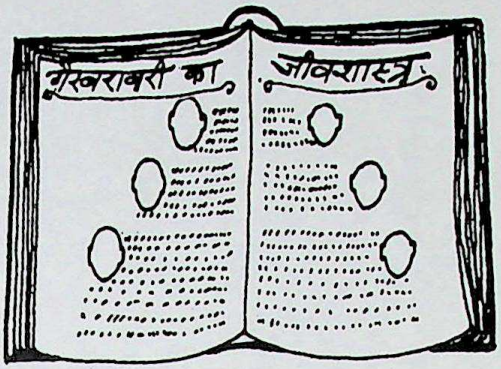

पिछले अध्याय में हमने देखा कि आधुनिक चिकित्साशास्त्र कैसे ताकतवर तबके के हितों की रक्षा करता है। इस तबके के हितों की रक्षा के लिए आधुनिक चिकित्साशास्त्र में और भी रास्ते हैं। एक रास्ता यह है कि समाज में व्याप्त गैर-बराबरी की ऐसी व्याख्या करना जो देखने में वैज्ञानिक प्रतीत हो। इस अध्याय में हम एक उदाहरण के माध्यम से देखेंगे कि यह कैसे किया जाता है। हम यह दिखाने की कोशिश करेंगे कि गैर-बराबरी को कुदरती सिद्ध करने के लिए चिकित्साविज्ञान ने किस तरह सिद्धांत-पर-सिद्धांत गढ़े।

कोई भी शोषणपूर्ण समाज इस धारणा पर टिका होता है कि सारे इन्सान बराबर नहीं है। इस धारणा को मान्यता मिलने पर ही यह संभव है कि एक छोटा-सा वर्ग बाकी लोगों का शोषण करके सम्पत्ति बटोरता रहे *(खण्ड I का अध्याय 8 घ देखें !)*

इसलिए इस धारणा को प्रचारित व सुदृढ़ करना उस छोटे से वर्ग के हित में है।

परन्तु यदि गैर-बराबरी को कुदरती नियम न माना जाए, तो कभी भी इस धारणा पर सवाल खड़े हो सकते हैं। अतः यह जरूरी हो जाता है कि गैर-बराबरी की व्याख्या कुछ इस ढंग से की जाए कि वह तर्कसंगत लगे और उसे चुनौती न दी जा सके। विज्ञान के विकास से पूर्व व्याख्या करने का काम धर्म करता था। परन्तु विज्ञान के विकास के बाद 'विश्व दृष्टि' में बदलाव आया। अब ज्यादा 'तर्कसंगत' और 'वस्तुनिष्ठ' व्याख्या की जरूरत आन पड़ी। चिकित्साशास्त्र का नजरिया वैज्ञानिक तो लगता ही था। चिकित्साशास्त्र ने यह बीड़ा उठाया। चिकित्साशास्त्र ने सामाजिक यथार्थ की व्याख्या के लिए जीवविज्ञान का सहारा लिया। गैर बराबरी को जैविक अंतरों से जोड़कर चिकित्साशास्त्र ने समाज के शोषणपूर्ण ढांचे को जायज ठहराया और आज भी ठहरा रहा है। ऐसा करके, चिकित्साशास्त्र ने एक बार फिर समाज के शक्तिशाली वर्ग के हितों की पूर्ति की।

एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी। पिछली दो सदियों से चिकित्साशास्त्र का औरतों के प्रति जो दृष्टिकोण रहा है, उस पर गौर करें। औरतों के लिए निर्धारित सामाजिक भूमिका को सही ठहराने के लिए चिकित्साशास्त्र ने सिद्धांत-पर-सिद्धांत पेश किये हैं। औरतों और मर्दों के बीच स्पष्ट शारीरिक अन्तर है, खासकर उनके 'प्रजनन अंगों' में। इसलिए औरत को हीन बताने वाले चिकित्साशास्त्रीय सिद्धांत इसी अन्तर पर आधारित रहे हैं।

औरतों की सामाजिक भूमिका पर चिकित्साशास्त्र की मुहर

औद्योगीकरण से पहले पश्चिमी देशों में अधिकांश आर्थिक गतिविधियां घर में की जाती थीं। बच्चे जनने की अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका के अलावा, औरतें परिवार की आर्थिक गतिविधियों में पूरा हाथ बंटाती थीं। अपनी बच्चियों के सहयोग से वे सारी बुनियादी जरूरतें जुटाती थीं और जब जरूरी हो, अनाज उत्पादन में भी हाथ बटाती थीं। अतः औद्योगीकरण के पूर्व समाज में औरतों को उनके प्रजनन व आर्थिक कामों, दोनों के लिए मान दिया जाता था।

औद्योगीकरण के बाद औरतों द्वारा किये जाने वाले कई काम कारखानों ने हथिया लिए। कपड़ों से लेकर मोमबत्ती तक सारी चीजें अब कारखानों में बड़े पैमाने और सस्ती दरों पर बनने लगीं। गरीब परिवारों की औरतों के लिए इसका तात्पर्य था कि अब घर की बजाय कारखानों में काम करना। परन्तु सम्पन्न परिवार की औरतों के लिए इसका मतलब हुआ ज्यादा फुरसत। ऊपरी तबके की औरतें अब सिलाई या चित्रकला जैसे कामों में ही अपना समय गुजारती थीं।

वास्तव में उच्च वर्ग के आदमी के लिए यह एक प्रतिष्ठा का प्रतीक बन गया कि वह एक बीबी पाल सकता है, जो कोई उपयोगी काम नहीं करती और मात्र सजावट की चीज है। इन औरतों के लिए बच्चे जनना ही एकमात्र काम रह गया था। इन्सानों की 'श्रेष्ठ' नस्ल को बढ़ाने के लिए प्रजनन कार्य को बहुत जरूरी माना जाता था। चिकित्साशास्त्र के सिद्धांतों ने इस बात पर जोर दिया कि इस वर्ग की औरतों को अपनी पूरी ऊर्जा इसी में लगानी चाहिए।

चिकित्साशास्त्र का मत था कि औरतें स्वभाव से ही बीमार, कमजोर और नाजुक होती हैं और प्रजनन के अलावा कुछ भी करने के काबिल नहीं होती। चिकित्साशास्त्रियों ने 'ऊर्जा संरक्षण या बचत' का

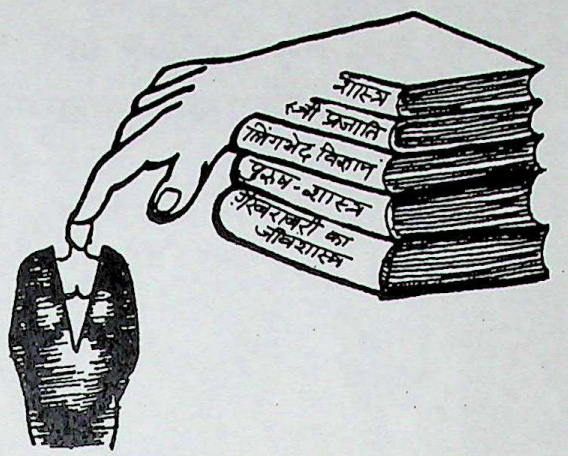

एक तथाकथित मनोवैज्ञानिक सिद्धांत प्रतिपादित किया । इसके अनुसार प्रत्येक इंसान के शरीर में एक निश्चित मात्रा में ऊर्जा होती है । यह ऊर्जा शरीर के विभिन्न अंगों में बंटी होती है । अब यदि किसी अंग का ठीक तरह से विकास होना है, तो दूसरे अंगों से ऊर्जा लेनी पड़ेगी । औरतों का प्रमुख काम तो प्रजनन का है । और प्रजनन अंगों का विकास शरीर के बाकी अंगों, खासकर दिमाग की कीमत पर ही संभव है । इसी कारण से औरतों का दिमाग अल्पविकसित रह जाता है ।

इसी सिद्धांत को थोड़ा आगे बढ़ाकर यों प्रस्तुत किया गया : यदि कोई औरत अपने दिमाग से काम ले (जैसे बौद्धिक काम करके) या खेलकूद वगैरह में मांसपेशियों का इस्तेमाल करे, तो प्रजनन अंगों के विकास के लिए ऊर्जा नहीं मिल पाएगी । डाक्टरों का कहना था कि प्रजजन अंग कमजोर रह जाएंगे । यह भी कहा जाता था उच्च वर्ग की महिलाओं को होने वाली कई शारीरिक व मानसिक बीमारियां, ऐसी ही गतिविधियों की वजह से होती है । अतः औरतों को सलाह दी जाती थी कि वे एकाग्रचित्त होकर प्रजनन के काम में लगी रहें और अपने 'खूबसूरत दिमाग' को अन्य मामलों पर जाया न करें । ये मामले वैसे भी मर्दों के दायरे में आते हैं । (दूसरी तरफ पुरुषों को कहा जाता था कि वे अपनी प्रजनन शक्ति को जाया न करें ताकि दिमागीशक्ति को अधिक-से-अधिक बढ़ा सकें ।)

तो, चिकित्साशास्त्र ने औरत-मर्द के शरीरों में अन्तर के आधार पर 'साबित' कर दिया कि आर्थिक गतिविधियों में भाग लेना औरत की प्रकृति के अनुकूल नहीं है । प्रकृति ने ही यह तय कर दिया है वे मात्र प्रजनन करती रहें और मानव जाति का प्रसार करती रहें ।

परन्तु श्रमिक वर्ग की औरतें तो इस तरह की फुरसत की जिन्दगी नहीं जी सकती थीं । चिकित्साशास्त्र के सिद्धांत इन औरतों की स्थिति की व्याख्या करने में नाकाम रहे । इन गरीब औरतों को तो जीविका चलाने के लिए घंटों मेहनत करनी पड़ती थी । वे या तो कारखानों में मजदूरी करती थीं या अमीर घरों में नौकरानी का काम । कारखानों में इनकी मेहनत से ही मालिक का मुनाफा बनता था । अमीर घरों में इनके काम की बदौलत ही उन घरों की औरतें आराम का जीवन बिता पाती थीं । तत्कालीन चिकित्साशास्त्र के हिसाब से रोजाना 12-16 घंटे काम करने के बाद इन गरीब औरतों में प्रजनन के लिए ऊर्जा नहीं बचनी चाहिये थी । परन्तु इतनी मेहनत-मशक्कत करने के बाद भी ये प्रजनन तो करती ही थीं, बल्कि अमीर औरतों के मुकाबले ज्यादा तेज गति से ।

इस विरोधाभास को निपटाने के लिए चिकित्साशास्त्र ने एक नया वैकल्पिक सिद्धांत पेश किया । डाक्टरों ने देखा कि श्रमिक वर्ग की औरतें तन्दरुस्त और मजबूत हैं । उनके मुताबिक यह शायद कोई अनुवांशिक गुण होगा । जैसे अफ्रीकी मूल की औरतें, जो अमरीका में गुलाम की हैसियत से लाई गई थीं, वे कड़ी मेहनत के लिए उपयुक्त मानी जाती थीं । उनकी मांसपेशियां सुगठित होती थीं । यह उनका अनुवांशिक लक्षण था । परन्तु इसे कोई बेहतर गुण नहीं माना गया ।

डाक्टरों ने उच्च वर्ग को आगाह कर दिया कि निम्न वर्ग की औरतें तन्दरुस्त दिखती हैं और बच्चादानी के रोगों से मुक्त भी होती हैं पर फिर भी वे 'नीच' हैं । क्योंकि वे बीमारियां फैलाती हैं । ये औरतें सम्पन्न घरों में आया या नौकरानी वगैरह का काम करती थीं । खतरा यह था कि वे पुरुषों को वेश्यावृत्ति के माध्यम से लुभा सकती थीं । इससे उच्च वर्ग के प्रदूषित होने का खतरा था । डाक्टरों के अनुसार ये औरतें खुद तो बीमार नहीं थीं पर उच्च वर्ग के लिए रोग का कारण बन जाती थीं । इस प्रकार से दो अलग-अलग वर्ग की औरतों की स्थिति को जायज ठहराने के लिए चिकित्साशास्त्र ने दो अलग-अलग सिद्धांत पेश किए ।

औरतों की स्वास्थ्य समस्याओं पर चिकित्साशास्त्र का नजरिया

उपरोक्त दोनों स्थितियां शोषणपूर्ण थीं और उनका औरतों के स्वास्थ्य पर असर होता था । ऊब और चारदीवारी की कैद के कारण उच्च वर्ग की औरतों में,

> 'रोगग्रस्तता के वहम' की एक बीमार संस्कृति पनपी जिसे स्त्री अक्षमतावाद कहा गया । यह वहम उन्नीसवीं सदी के मध्य में

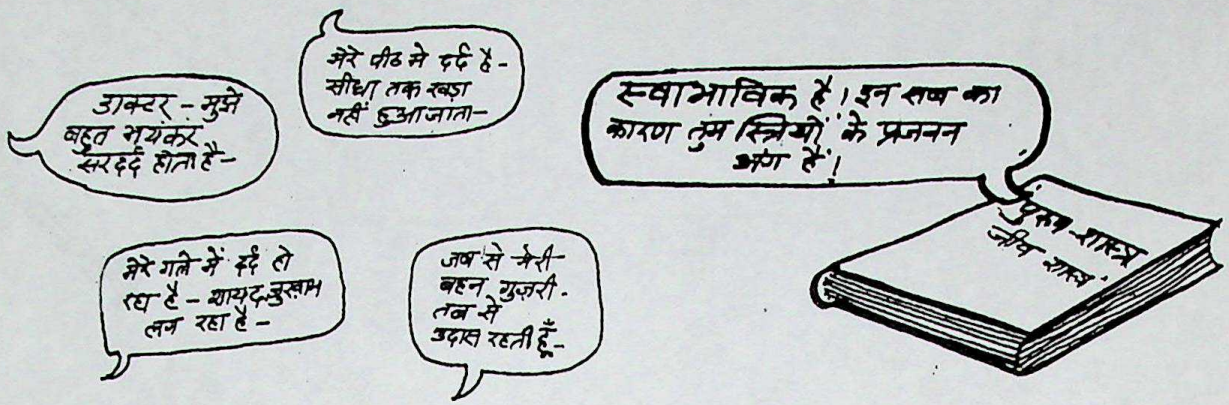

शुरू होकर कमोबेश 1910 तक बना रहा। बीमार पड़ना उच्च व मध्यमवर्गीय स्त्रियों की संस्कृति का हिस्सा था। स्वास्थ्य-घर और स्त्री-विशेषज्ञ जगह-जगह पनपे और फैशनेबल औरतों के जीवन के अभिन्न अंग बन गए। 'सिरदर्द', 'बेचैनी' एवं अन्य ढेरों रहस्यमयी बीमारियों की वजह से बिस्तर पकड़ना मामूली और यहां तक कि फैशन की बात हो गई।

(एरेनराइख और इंगलिश)

उस समय चिकित्सा जगत ने स्त्री अक्षमतावाद को बढ़ावा दिया क्योंकि ये उनके आर्थिक हित में था। डाक्टरों के लिए यह कमाई का अच्छा साधन था। अधिकांश बीमार औरतें उच्च वर्ग की होती थीं और लम्बे समय तक डाक्टरी इलाज का खर्चा आसानी से वहन कर सकती थीं। चिकित्सा जगत ने 'स्त्री अक्षमतावाद' को यह कहकर हवा दी कि बीमार रहना उच्च वर्ग की औरतों की प्रकृति में ही शामिल है। इस सिद्धांत के मुताबिक अण्डाशय और बच्चादानी औरतों के पूरे शरीर पर हावी हो जाते हैं। नतीजा यह होता है कि वह लगातार बीमार रहने लगती हैं। (मर्दों की दुनिया में उसके प्रवेश पर रोक लगाने के लिए यही कारण पर्याप्त था।) सिरदर्द, गले में खराश, अपच, गलत आसन के कारण झुकती रीढ़ आदि सभी शिकायतों के लिए प्रजनन अंगों को दोषी ठहराया गया।

दूसरी तरफ रहन-सहन के घटिया हालातों के कारण श्रमिक स्त्रियों को कई बीमारियों का सामना करना पड़ता था। दरअसल ये औरतें कुपोषण, घटिया रहन सहन और काम के बुरे हालात के कारण अस्वस्थ थीं। परन्तु इस वर्ग की आबादी की स्वास्थ्य समस्याओं के मूल कारणों पर ध्यान देना डाक्टरों और व्यापारियों के आर्थिक हित में नहीं था, यह हम इस खण्ड के अध्याय 2 में देख चुके हैं। इसके बजाय डाक्टरों ने उच्च वर्ग के लोगों को आगाह कर दिया कि निम्न वर्ग की औरतों से मेलजोल न रखें क्योंकि वो बीमारी फैला सकती हैं।

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम सालों और बीसवीं सदी की शुरूआत तक 'स्त्री अक्षमतावाद' का बोलबाला रहा। इस दौरान जीव वैज्ञानिक व्याख्याएं बदलती रहीं। मनोविश्लेषण के विकास के बाद औरतों को प्रकृति से ही कमजोर या बीमार मानना बन्द हो गया। नए सिद्धांत के अनुसार, अधिकतर बीमारियों का सम्बन्ध शारीरिक स्थिति से नहीं अचेतन मस्तिष्क से था। मसलन पहले हिस्टीरिया का सम्बन्ध बच्चादानी की गड़बड़ी से जोड़ा जाता था। नए सिद्धांत के अनुसार कहा जाने लगा कि यह उन औरतों के विद्रोह की एक अभिव्यक्ति है, जो निर्धारित सामाजिक भूमिका को मंजूर नहीं कर पातीं। अतः इसका उपचार यह होता था कि उक्त औरत को अपने रोष व विद्रोह का 'पाप स्वीकार' करने को कहा जाए और वह अपनी निर्धारित भूमिका मंजूर करे।

तो, मनोविश्लेषण के सिद्धांत ने भी औरत की प्राथमिक भूमिका यानी प्रजनन सम्बन्धी विचारों में कोई बुनियादी फेरबदल नहीं किया। इन सिद्धांतों में भी इस नजरिए को मान्यता दी गई कि औरतों के व्यक्तित्व में खामियां होती हैं। परन्तु इस बार एक नई व्याख्या का सहारा लिया गया : कि खामी का कारण यह है कि औरतें अपने शरीर में पुरुष यौनांग (लिंग) के अभाव में अधूरापन महसूस करती हैं। अब बीमारी की वजह औरतों पर प्रजननांगों का हावी होना नहीं रह गया।

बहरहाल मनोविश्लेषण का सिद्धांत एक तरह से औरतों के लिए लाभदायक भी साबित हुआ। वे समझ गईं कि उनमें कोई शारीरिक कमी नहीं है। उनका बीमार पड़ना वास्तव में उन पर थोपी गई (मां व पत्नी की) भूमिका के विरुद्ध उनकी भावनाओं की अभिव्यक्ति है। परन्तु इस दमनपूर्ण भूमिका से उबरने में मनोविश्लेषण के सिद्धांत से कोई मदद नहीं मिली। उल्टे इन सिद्धांतों ने तो इस भूमिका को यह कहकर और सुदृढ़ बना दिया कि 'कुदरती भूमिका' के खिलाफ विद्रोह करना ठीक नहीं है।

अतः उच्च वर्ग की औरतों के पास करने को कुछ नहीं बचा। उन्हें जानबूझकर आर्थिक व बौद्धिक क्रियाकलापों से बाहर रखा गया। 'बीमार पात्र' का अभिनय भी कोई सुखद अनुभव नहीं होता था। क्योंकि इलाज में कई बार हफ्तों तक अलग पड़े रहना होता था या ऑपरेशन करके अण्डाशय निकाल दिया जाता था। जो औरतें न तो 'बीमार पात्र' बनना चाहती थी और न ही सिर्फ बच्चे पैदा करके संतुष्ट होती थीं, उनके लिए कोई अधिक रास्ते उपलब्ध नहीं थे।

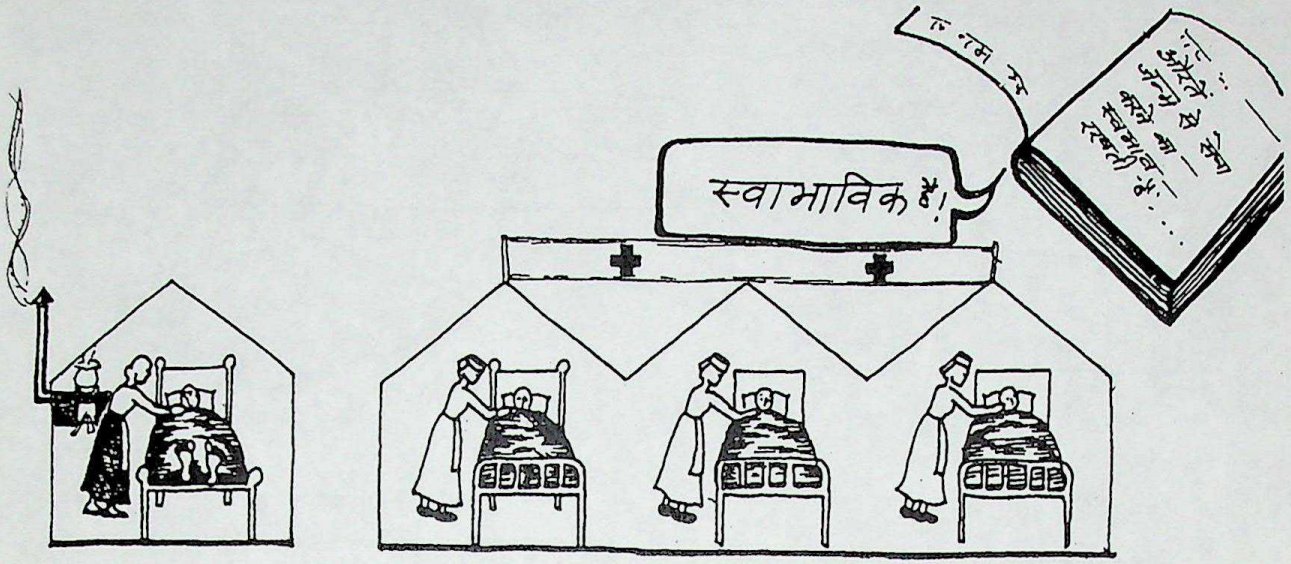

औरतों के लिए उपयुक्त काम के रूप में नर्सिंग का उभरना

तो, इस सामाजिक स्थिति में स्त्रियोचित व्यवसाय उभरने शुरू हुए। वास्तव में ये वही काम थे जो औरतें परिवार में करती आ रहीं थीं। अर्थात् औरत की पारिवारिक भूमिका को ही नया विस्तार मिला। नर्सिंग इसी तरह का व्यवसाय था जिसे उच्च वर्ग की औरतों के लिए सम्मानजनक माना गया। इस समय तक उच्चवर्गीय 'नियमित' डाक्टरों ने महिला चिकित्सकों का तो सफाया कर ही दिया था। डाक्टरों ने चिकित्सा के कारोबार पर वर्चस्व तो जरूर कायम कर लिया था परन्तु मरीज की देखभाल का काम तो घरों में ही होता था।

डाक्टर मरीज को देखने घर जाते थे और परिवार के सदस्यों को समझा देते थे कि मरीज की देखभाल किस तरह की जाए। घरवाले, खासकर औरतें ही मरीज के भोजन और अन्य बातों की देखभाल करती थीं। अस्पताल थोड़े से ही थे। इनमें गरीब वर्ग के मरीजों की भीड़ होती थी। अस्पतालों की हालत बहुत ही दयनीय थी। सन् 1870 में एक जांच समिति ने पाया था कि न्यूयार्क के एक अस्पताल में साबुन की टिकिया तक नहीं थी। इन अस्पतालों में मृतप्राय मरीजों की देखभाल के लिए कुछ औरतों को भी नियुक्त किया गया था। मगर ये औरतें अक्सर नशे में रहती थीं और वेश्यावृत्ति व चोरी में लिप्त रहती थीं।

फ्लोरेंस नाइटेंगल ने इन अस्पतालों की स्थिति में सुधार का बीड़ा उठाया। फ्लोरेंस नाइटेंगल आधुनिक नर्स व्यवसाय की जननी समझी जाती हैं। वे उच्च वर्ग में पैदा हुई थीं। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं इस वर्ग की औरतों को घर से बाहर सक्रिय जीवन जीने का कोई अवसर नहीं दिया जाता था। तीस साल की उम्र तक वे कुंवारी ही रहीं। अपने अकेलेपन का सामना करने के लिए उन्होंने तय किया कि वे अपना ध्यान मरीजों की देखभाल पर लगाएंगी। यह तो स्पष्ट था कि अस्पतालों को रहने के काबिल बनाने के लिए बहुत काम करना होगा। कमरों की सफाई, चादरों की धुलाई, मरीजों की देखभाल, और पता नहीं क्या-क्या किया जाना था। ये काम आमतौर पर औरतें ही करती हैं। इसलिए माना गया कि ये औरत की 'कुदरती' क्षमताओं का ही विस्तार है।

डाक्टरों को राजी करने एवं अन्य उच्चवर्गीय औरतों को आकर्षित करने की दृष्टि से फ्लोरेंस नाइटेंगल ने इस पेशे को एक बिलकुल नया रूप दिया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि नए पेशे में आने वाली औरतों को डाक्टर के प्रति पूर्ण आज्ञाकारिणी होना चाहिए और 'अच्छे चरित्र' का होना चाहिए। शुरूआत में इस पेशे में औरतों के प्रवेश को लेकर पुरुष डाक्टर थोड़े शंकित थे। परन्तु जब इन औरतों ने डाक्टरों के अधिकार को मानने की बात साबित कर दी, तो डाक्टरों की शंका दूर हो गई। उदाहरण के लिए, सन् 1854 के क्रिमिया युद्ध के मोर्चे पर नाइटेंगल कुछ औरतों को मरीजों की देखभाल के लिए ले गई।

> "जब वे पहली बार अपनी प्रशिक्षित नर्सों के साथ क्रिमिया पहुंची तो डाक्टरों ने उनकी उपेक्षा की। नाइटेंगल ने कहा कि जब तक डाक्टर आदेश नहीं देंगे, तब तक वे (नर्सें) हजारों बीमार और घायल सैनिकों की मदद के लिए कुछ नहीं करेंगी। इससे प्रभावित होकर डाक्टरों ने अन्ततः नर्सों को अस्पताल साफ करने के काम में लगा दिया।"
>
> *(एरेनराइख और इंगलिश)*

इस प्रकार से नर्सिंग उच्चवर्गीय औरतों के लिए एक मान्य पेशा बन गया। इसे औरतों के लिए 'प्राकृतिक' व्यवसाय माना जाने लगा क्योंकि मरीज की देखभाल करना स्त्री सुलभ गुण है। औरतें बच्चों की परवरिश करती ही हैं। इसलिए वे अपने इसी गुण का उपयोग मरीजों की देखभाल में कर सकती हैं। औरत को 'स्वभाव से ही' नर्स समझा जाता था और माना जाता था कि यह 'स्वभाव' मातृत्व से मिलता है।

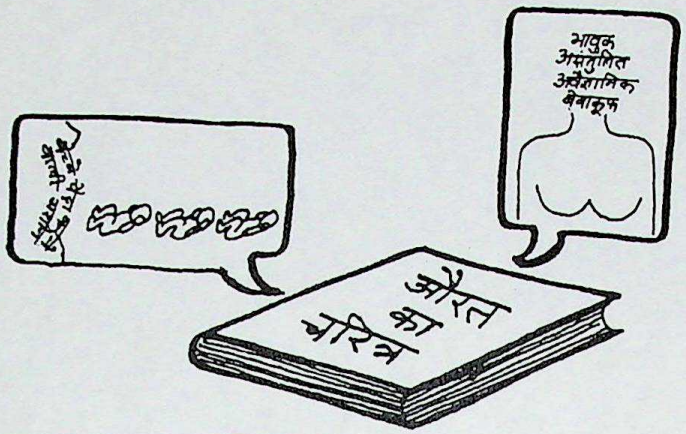

आज भी यह कहा जाता है कि नर्सों का चरित्रवान होना आवश्यक है। सन् 1987 के सितम्बर माह में कुछ समाचार पत्रों में यह सनसनीखेज समाचार छपा था कि रायपुर के सरकारी डी. के. हस्पताल में 18 अविवाहित प्रशिक्षार्थी नर्सों का जबरन कौमार्य परीक्षण किया गया। इस बात को लेकर जब नर्सों और जूनियर डाक्टरों ने हड़ताल की धमकी दी तो सरकार ने मजिस्ट्रेटी जांच की आदेश दे दिए, हड़ताल के बाद सुपरिंटेंडेंट को लम्बे अवकाश पर भेज दिया गया।

इस घटना के बाद महिला जागृति संघठन के द्वारा क्षेत्र में किए गए एक सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ कि 56% पुरुष और 65% महिलाओं की धारणा थी कि नर्सों का पेशा सम्मानित नहीं है, वे दया की पात्र और भोग की वस्तुएं हैं।

रायपुर में जो कुछ हुआ उसे हम अकेला उदाहरण नहीं कह सकते। यह (एक प्रकार की दिखावटी प्रयास था) इस मान्यता की ही तार्किक परिणति है कि समाज में नैतिकता का बना रहना आवश्यक है, इसीलिए नर्सों का कौमार्य परीक्षण किया गया ! कुछ कह सकते हैं कि यह स्त्री की वासना को लगाम लगाने की एक चेष्टा मात्र थी। पर वास्तव में देखा जाय तो यह पुरुषों के द्वारा महिलाओं के यौन शोषण का एक उदाहरण मात्र था। यह एक सोचनीय विषय है क्योंकि अधिकांश नर्सें, महिला डाक्टरों की तुलना में, गरीब तथा निम्न स्तर के घरों से आती हैं जब कि महिला डाक्टरों के साथ ऐसा सलूक होते हुए नहीं देखा गया है। कुछ मेडिकल कॉलेजों में स्नातकोत्तर कक्षाओं में अध्ययनरत महिला डाक्टरों को मातृत्व परीक्षण करवाना पड़ता है क्योंकि अस्पतालों के अधिकारी यह नहीं चाहते कि समय आने पर महिला डाक्टर लम्बे अवकाश पर चली जाय।

यह भी कहा गया कि नर्सिंग से दिमाग पर कोई दबाव नहीं पड़ता और इसलिए शारीरिक दृष्टि से यह औरतों की सामर्थ्य में आता है। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि औरतों को नर्सिंग के लिए तो ठीक समझा गया पर डाक्टरी के लिए नहीं। फ्लोरेंस नाइटेंगल ने भी औरतों के डाक्टर बनने की बात पर एतराज किया था। उन्होंने अपने जमाने की कुछेक महिला डाक्टरों के बारे में लिखा कि "उन्होंने सिर्फ मर्द बनने की कोशिश की है और वे घटिया दर्जे की मर्द भी नहीं बन पायीं।" *(एरेनराइख और इंगलिश)*

चूंकि नर्सिंग का काम औरतों को 'प्राकृतिक' रूप से आता था, इसलिए इसकी वैसी प्रतिष्ठा नहीं बन पाई जैसी डाक्टरों की थी। नर्सों का काम डाक्टर के हुक्म की तामील करना था। तो, डाक्टर उनको रोग-निदान एवं उपचार के बारे में कुछ भी बताना आवश्यक नहीं समझते थे। डाक्टरों को नर्सों से फायदा भी था। अब वे रोजमर्रा के सारे उबाऊ और नीरस काम नर्सों पर डाल सकते थे।

> "नया फिजिशियन अपनी चिकित्सा के परिणाम की प्रतीक्षा नहीं करता। वह तो रोग पहचानकर नुस्खा लिखकर आगे बढ़ जाता है। वह अपनी प्रतिभा, अपनी महंगी ट्रेनिंग को मरीज की देखभाल की बारीकियों में खर्च नहीं कर सकता। इसके लिए उसे एक धैर्यवान और आज्ञाकारी सहायक की जरूरत होती है जो छोटे-से-छोटा काम करने से भी न कतराए। संक्षेप में उसे नर्स की जरूरत है।"
>
> *(एरेनराइख और इंगलिश)*

तो जब उच्च वर्ग की औरतें घर से निकलीं भी, तो उन्हें वही व्यवसाय अपनाना पड़ा जो उनके घरेलू काम से मेल खाता था। मां या बीवी के रूप में उनका अपने जीवन पर कोई अधिकार नहीं था। इस नए व्यवसाय में भी उन्हें निर्णय लेने का कोई अधिकार नहीं था। गरीब औरत पर ये प्रतिबन्ध लागू नहीं होते थे। उन्हें तो किसी भी कीमत पर अपना श्रम बेचना था, ताकि सम्पन्न वर्ग सम्पत्ति बटोर सके।

पहले के समाज में औरत की जिस बीमार भूमिका को मान्यता थी, वह आज नहीं है। पश्चिमी देशों में महिलाओं की सामाजिक भूमिका में बदलाव के साथ-साथ औरतों से की जानें वाली अपेक्षाओं में भी परिवर्तन हुआ है। आज औरत से उम्मीद की जाती है कि वह अपने बच्चों में सक्रिय दिलचस्पी ले, पति के साथ उन्मुक्त यौन सम्बन्ध रखे,

घर के सारे कामों पर ध्यान दे और जरूरी हो तो घर से बाहर भी काम करे। यदि औरत बीमार-सी रहेगी तो ये सारे काम नहीं कर पाएगी। तो, जब डाक्टर औरत की किसी तकलीफ की वजह नहीं पहचान पाते, तो तुरंत उसे मनोशारीरिक विकार का नाम दे देते हैं। इन मामलों में उपचार के लिए दर्द निवारक औषधियां या नींद की गोलियां दे दी जाती हैं। ज्यादा काम की वजह से थकान का भी यही इलाज किया जाता है।

सार यह है कि औरतों के लिए समाज में निर्धारित भूमिका को जायज ठहराने के लिए चिकित्साशास्त्र में लगातार सिद्धांत पर सिद्धांत पेश किए गए। पहले औरतें बीमार समझी जाती थीं। अब उनकी बीमारी को उनके दिमाग का फितूर बताया जाता है। पहले डाक्टर कहते थे कि औरतों को अपनी सारी ऊर्जा बचाकर प्रजनन में लगानी चाहिए। आज डाक्टर कहते हैं कि औरतों को अपनी प्रजनन की भूमिका के खिलाफ विद्रोह न करके उसे जैविक नियति मानकर स्वीकार कर लेना चाहिए। दूसरी तरफ, चिकित्साशास्त्र के सिद्धांतों में गरीब औरतों के लिए कुछ नहीं है।

बीमारियों के मूल कारणों को पहचानकर इस शोषणपूर्ण भूमिका को तोड़ने में चिकित्साशास्त्र ने गरीब औरतों की कोई सहायता नहीं की। इसके बजाय चिकित्साशास्त्र ने इस मान्यता को ही पुष्ट किया कि गरीब वर्ग की औरतें खूब बच्चे पैदा करती हैं। परिवार नियोजन की खूब जोर-शोर से प्रचारित विधियों में यही बात नजर आती है। इन विधियों का निशाना यही गरीब औरतें होती हैं। परिवार नियोजन कार्यक्रमों के लिए उनकी बुनियादी स्वास्थ्य जरूरतों की बलि चढ़ाई गई। *(खण्ड III के अध्याय 7 में इसकी विस्तृत चर्चा की गई है।)*

औरतों के बारे में चिकित्साशास्त्र के दृष्टिकोण का यह विवेचन इसका एक उदाहरण मात्र है कि किस तरह से इंसानों की गैर-बराबरी को जायज ठहराने की कोशिशें की गईं। चिकित्साशास्त्र ने विभिन्न नस्लों एवं अमीर-गरीब के बीच की गैर-बराबरी को जायज बताने के लिए भी जीववैज्ञानिक व्याख्याएं पेश की हैं।

इन सिद्धांतों का स्वास्थ्य सेवाओं पर असर

औरतों के प्रति इस नजरिये का असर यह हुआ कि चिकित्सा की शिक्षा और कारोबार दोनों में ही औरतों के प्रति एक पूर्वाग्रह बन गया। यदि हम वर्तमान चिकित्सा-साहित्य पर नजर डालें, तो पता चलता है कि यह पूर्वाग्रह आज भी मौजूद है।

आज भी डाक्टर औरतों को उन्मादी, विवेकहीन और निर्णय लेने में अक्षम मान कर चलते हैं।

> ".....मेडिकल कॉलेज की पढ़ाई में मरीज को हमेशा पुल्लिंग माना जाता है। इसका एक उल्लेखनीय अपवाद है : जब मरीज ऐसा हो, जिसकी बीमारी मनोवैज्ञानिक कारणों से है, तो शिक्षक प्रायः मरीज को स्त्रीलिंग से सम्बोधित करने लगते हैं। यहां पढ़ाया जाता है कि स्त्री मरीजों की बीमारियां दिलचस्प नहीं होती, स्त्रियों द्वारा दिये गये बीमारी के विवरण अविश्वसनीय होते हैं और वे इस कदर भावुक होती हैं कि उनके बताए गए लक्षणों का वास्तविक बीमारी से कोई सम्बन्ध नहीं होता।" *(हॉवेल)*

आंकड़ों से भी यह बात प्रमाणित होती है कि पुरुष डाक्टर पुरुषों की बीमारियों को ज्यादा गंभीरता से लेते हैं। 52 विवाहित जोड़ों (104 लोगों) की पांच आम शिकायतों पर डाक्टरों के रवैये का एक अध्ययन किया गया था। अध्ययन के लिए डाक्टर द्वारा बनाई गई पर्चियों को देखा गया। यह पाया गया कि पांचों बीमारियों (कमर दर्द, सिरदर्द, चक्कर, छाती में दर्द और थकान) को लेकर डाक्टरों ने आदमियों के मामलों को ज्यादा विस्तार से ब्यौरा दिया था *(आर्मिटेज व अन्य)*।

4 : सेहत के आम हालातों को सुधारने में आधुनिक चिकित्साशास्त्र कितना कारगर है ?

अभी तक हमने देखा कि आधुनिक चिकित्सा ने किस तरह समाज के शक्तिशाली वर्गों के आर्थिक व राजनैतिक स्वार्थों की पूर्ति की । एक दलील यह भी दी जा सकती है कि व्यापारियों के वित्तीय समर्थन की बदौलत ही आधुनिक चिकित्साशास्त्र का इतना विकास सम्भव हो पाया । इसी विकास के कारण आज आधुनिक चिकित्सा पद्धति में कारगर इलाज और तकनीकें मौजूद हैं । अतः ऐसा लगना स्वाभाविक है कि चाहे आधुनिक चिकित्सा प्रणाली से शक्तिशाली लोगों के स्वार्थ पूरे हुए हों, परन्तु इससे बीमारी और मृत्यु कम करने में भी मदद मिली ही है । इस अध्याय में यही विचार किया जायेगा कि आधुनिक चिकित्सा पद्धति इन्सानों की सेहत सुधारने में किस हद तक जिम्मेदार रही है ।

पश्चिमी देशों के लोगों के स्वास्थ्य पर आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का असर

पश्चिमी देशों में लोगों के स्वास्थ्य की स्थिति में उस वक्त काफी सुधार आया, जब आधुनिक चिकित्सा प्रणाली विकसित हो रही थी । इसलिए यह मान लिया जाता है कि इस सुधार का कारण आधुनिक प्रणाली ही रही होगी । परन्तु प्रमाणों से पता चलता है कि इन देशों में मृत्यु दर कम करने में आधुनिक प्रणाली की बहुत ही नगण्य भूमिका थी । मसलन इस सदी की शुरूआत में संयुक्त राज्य अमरीका में बीमारी व मृत्यु का प्रमुख कारण संक्रामक रोग थे । फिर इन बीमारियों से होने वाली मौतों में नाटकीय रूप से कमी आई । इसी कमी के कारण कुल मृत्यु दर में भी तेजी से गिरावट हुई (ग्राफ 1 देखें) ।

ऐसा मान लिया गया कि चिकित्सा टेक्नोलॉजी (जैसे दवाएं, टीके, रोग-निदान साधन, शल्य-क्रिया उपकरण, आदि) की वजह से ही यह कमी आयी । आधुनिक प्रणाली में आस्था का प्रमुख कारण यही है । किन्तु आंकड़ों से पता चलता है कि वास्तव में हरेक बीमारी से सम्बन्धित टेक्नोलॉजी, बीमारी और मृत्यु की दर कम हो जाने के बाद विकसित हुई है । प्रमुख संक्रामक रोगों से होने वाली मौतों के ग्राफ से यह बात विकसित हुई है । प्रमुख संक्रामक रोगों से होने वाली मौतों के ग्राफ से यह बात साफ दिखाई पड़ती है ।

ग्राफ 1 : अमरीका में मृत्यु दर (1900-1973)

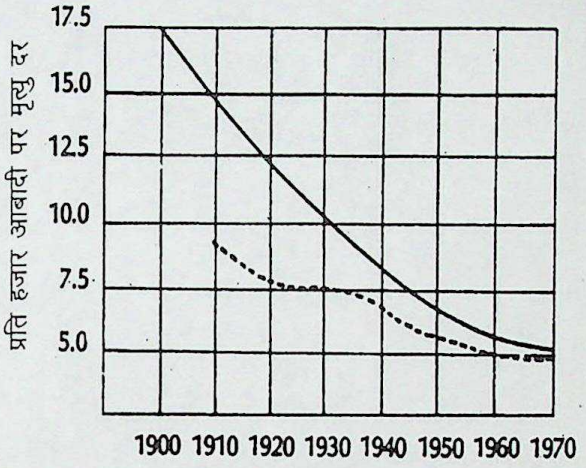

— मृत्यु दर, जिसमें ग्यारह प्रमुख संक्रामक रोग शामिल हैं ।

... मृत्यु दर, जिसमें ग्यारह प्रमुख संक्रामक रोग शामिल नहीं हैं ।

स्रोत : द सोश्यॉलॉजी ऑफ हैल्थ एण्ड इलनेस, कानरैड व कर्न, 1981.

टी. बी., टायफाइड, खसरा और स्कार्लेट फीवर का इलाज खोजे जाने से पहले ही इन बीमारियों से होने वाली मौतों की संख्या नगण्य हो चुकी थी । अन्य बीमारियों का इलाज जब शुरू किया गया उस वक्त उनसे होने वाली मृत्यु दर काफी ऊंची थी । यदि चिकित्सकीय हस्तक्षेप का असर होता, तो इन बीमारियों की मृत्यु दर में तेजी से गिरावट आनी चाहिए थी । पोलियो के अलावा किसी भी अन्य बीमारी में ऐसा नहीं हुआ (देखें ग्राफ 2) यह अनुमान लगाया गया है कि दरअसल चिकित्सकीय हस्तक्षेप के कारण संक्रामक रोगों की मृत्यु दर में मात्र 3.5 प्रतिशत कमी आई है ।

आज अमरीका में संक्रामक रोग 'जानलेवा' नहीं हैं । परन्तु इनका स्थान कैन्सर, एड्स, हृदय रोगों जैसी जानलेवा बीमारियों ने ले लिया है । इन नई बीमारियों के कारण आज वहां मृत्यु की दर फिर से बढ़ने लगी है । वर्तमान में चिकित्सा टेक्नोलॉजी के पास इन समस्याओं का कोई कारगर हल नहीं है ।

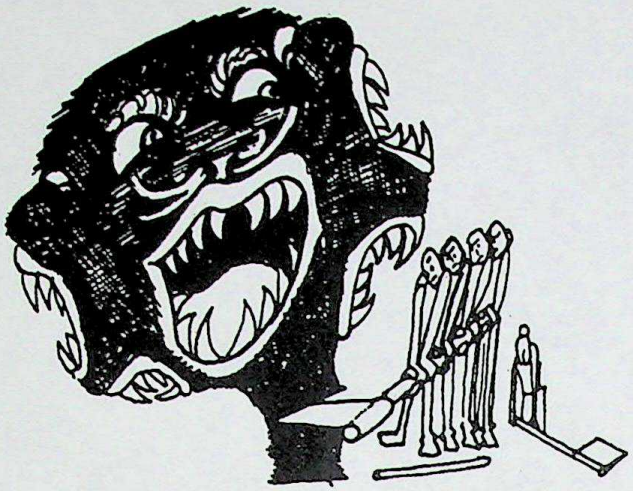

ग्राफ 2 : अमरीका में संक्रामक रोगों से होने वाली मौतों में कमी और चिकित्सा के विशिष्ट उपायों के बीच सम्बन्ध (1900-1973)

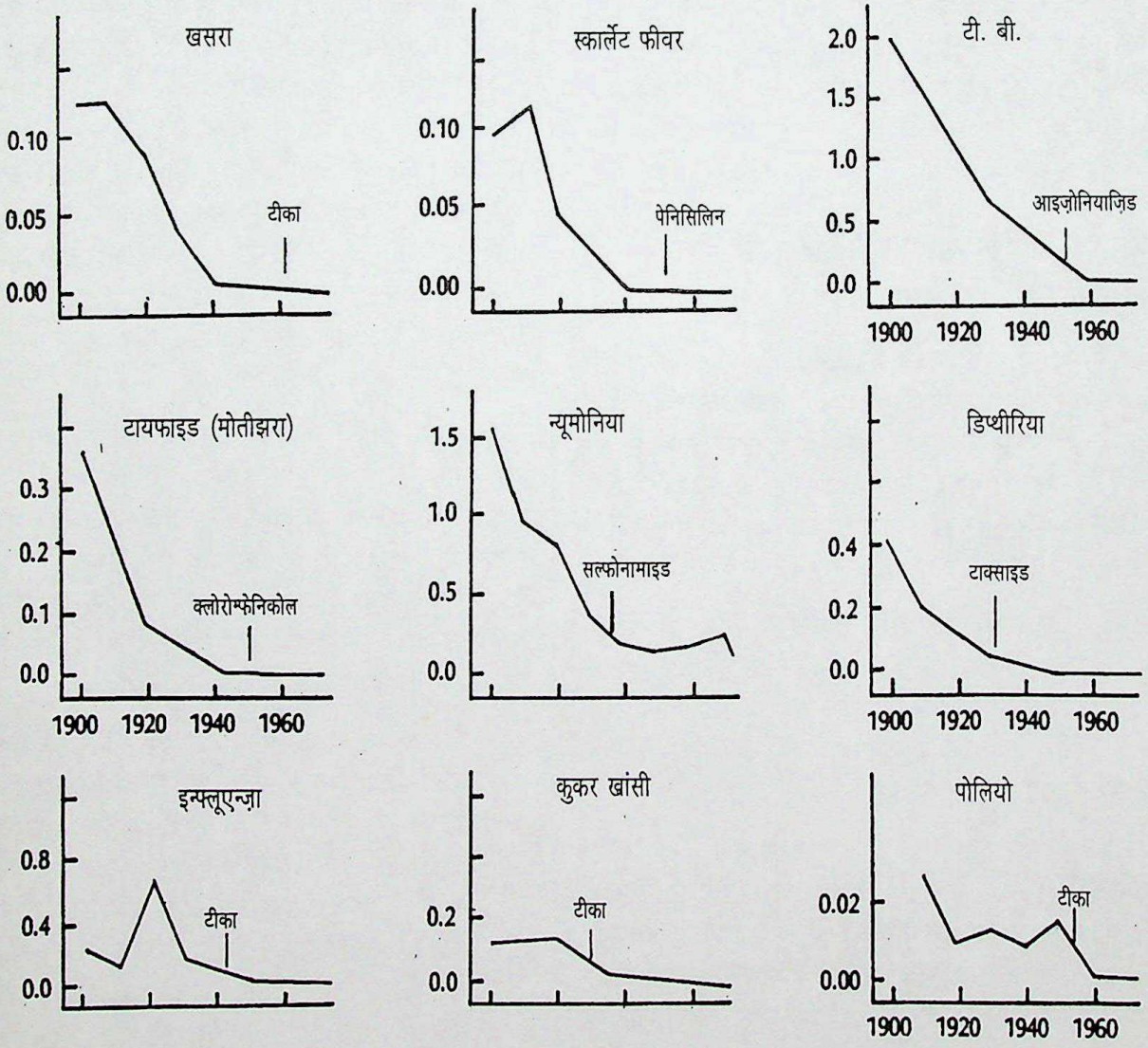

स्रोत : द सोश्यॉलॉजी ऑफ हैल्थ एण्ड इलनेस, कानरैड व कर्न, 1981.

कुल मिलाकर देखें, तो पश्चिमी देशों की स्वास्थ्य स्थिति पर आधुनिक चिकित्सा पद्धति का कोई खास असर नहीं हुआ है। न तो इससे संक्रामक रोगों की मृत्यु दर पर काबू पाया गया (जैसा कि विश्वास किया जाता है) और न ही नई जानलेवा बीमारियों पर काबू पाया जा सका है।

भारत के लोगों के स्वास्थ्य की स्थिति पर आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का असर

आमतौर पर यह माना जाता है कि चेचक, हैजा, प्लेग, मलेरिया आदि पर नियंत्रण के व्यापक उपायों और एण्टीबायोटिक प्रतिजैविकी दवाओं, कीटनाशक एवं अन्य टेक्नोलॅजी के उपयोग से भारत में लोगों के स्वास्थ्य में सुधार हुआ है। ऐसा माना जाता है कि इसके परिणामस्वरूप मृत्यु दर में कमी आयी है और भारतीय व्यक्ति की औसत आयु बढ़ी है।

परन्तु आंकड़ों से पता चलता है कि भारत में भी मृत्यु-दर का ढर्रा वही रहा, जैसा कि हम अमरीका के मामले में देख चुके हैं। भारत में भी चिकित्सा टेक्नोलॉजी लागू किए जाने के बहुत पहले ही मृत्यु दर में कमी शुरू हो गई थी। अर्थात् कमी का श्रेय आधुनिक चिकित्सा प्रणाली को नहीं दिया जा सकता।

जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, प्रचलित बीमारियों के उपचार की टेक्नोलॉजी (जैसे डी. पी. टी. का टीका या एण्टीबायोटिक) का आविष्कार इस सदी के शुरू में हुआ। उस समय आधुनिक चिकित्सा का उपयोग भारत में रह रहे ब्रिटिश लोगों या सम्पन्न भारतीयों के लिए ही किया जाता था। चेचक और हैजे के टीके ही आम भारतीय आबादी तक पहुंचाए गए थे।

चेचक के टीके का इस्तेमाल भारत में 1830 के दशक में शुरू किया गया। सन् 1880 में टीका कानून बना। परन्तु सन् 1940 तक मात्र 81 प्रतिशत शहरों और 62 प्रतिशत गांवों में ही टीका लगाने को अनिवार्य बनाया गया था। हालांकि चेचक को एक बड़ी व प्रमुख बीमारी माना जाता था परन्तु सन् 1880 से 1940 के बीच इससे होने वाली सालाना मौतों की संख्या 0.1 से 0.8 प्रति हजार जनसंख्या ही थी। चेचक को प्रमुख बीमारी मानने का कारण शायद यह हो सकता है कि *लीग ऑफ नेशन्स* ने पाया था कि भारत में चेचक का प्रकोप बाकी देशों से ज्यादा था। 'बाकी देश' का मतलब उन देशों से है जिनके बारे में आंकड़े उपलब्ध थे। परन्तु भारत की कुल मृत्यु दर की तुलना में चेचक कोई बड़ी बीमारी नहीं थी।

हैजा एक और महत्त्वपूर्ण बीमारी थी, जिससे महामारी फैलती थी। इस बीमारी का टीका सन् 1892 में खोज लिया गया था। हैजा का टीका लगवाना अनिवार्य नहीं था। परन्तु यह काफी लोकप्रिय था। महामारियों के वक्त में लोग स्वेच्छा से यह टीका लगवाते थे। हैजा से होने वाली मृत्यु दर चेचक की तुलना में 2 से 8 गुना तक थी परन्तु हाल के अनुसंधान से पता चला है कि महामारियों की रोकथाम में हैजे के टीके का महत्त्व बहुत कम है।

> "हाल के वर्षों में रोकथाम के उपाय के रूप में हैजे के टीके की उपयोगिता पर काफी शंकाएं उठायी गयी हैं। मौजूदा टीकों से हैजे को रोका नहीं जा सकता। ये टीके महामारी पर काबू पाने में भी कारगर नहीं हैं। और न ही इस टीके से बीमारी की गंभीरता (भयंकरता) को कम किया जा सकता है। इनसे अदृश्य संक्रमण की निरंतरता पर भी कोई असर नहीं पड़ता। इसके अलावा टीका लगाने का कार्यक्रम आबादी के सबसे संवेदनशील तबके तक पहुंचता भी नहीं है। दूसरी तरफ हैजे के टीकों के कारण लोगों व स्वास्थ्य प्रशासन दोनों में सुरक्षा का मुगालता बनता है।" *(पार्क व पार्क)*

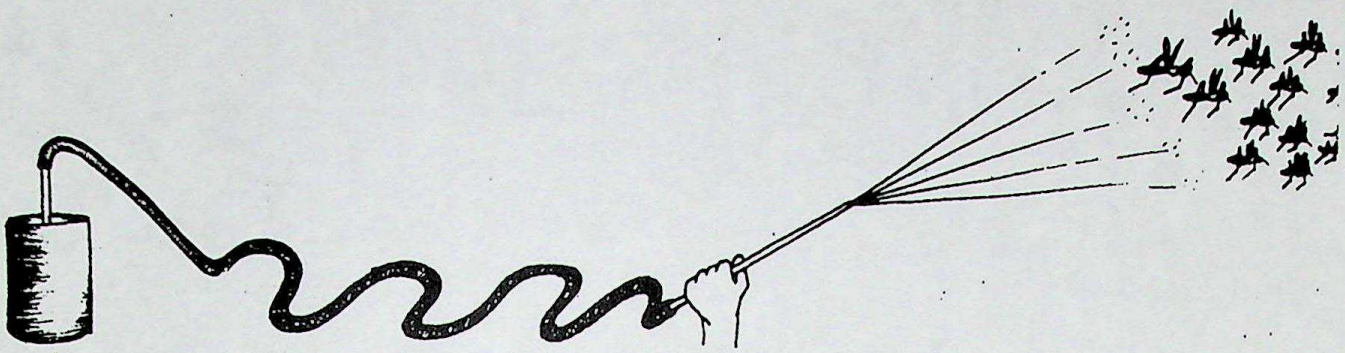

हैजा कई बार महामारी के रूप में फैला और उसकी रोकथाम के लिए बड़े पैमाने पर टीके भी लगाये गये। फिर भी महामारी के दौरान मौत को टालने में इन टीकों की भूमिका नगण्य रही।

इसी प्रकार से भारत की दूसरी बड़ी बीमारी प्लेग की रोकथाम भी चिकित्सा टेक्नोलॉजी के द्वारा नहीं हुई। अव्वल तो प्लेग-रोधी टीका लोकप्रिय होने के कारण प्लेग का प्रकोप वैसे ही कम होने लगा था। दूसरे चूहा-नियंत्रण कार्यक्रम पर बहुत ही कम ध्यान दिया गया।

अव्वल तो भारत में चिकित्सा टेक्नोलॉजी उपलब्ध नहीं थी। यदि उपलब्ध थी भी तो कारगर नहीं थी या पूरी आबादी को मिलती नहीं थी। इसके बावजूद भी भारत में मृत्यु दर सन् 1921 के बाद से कम होनी शुरू हो गई थी, जैसा कि ग्राफ 3 से साफ है।

चिकित्सा टेक्नोलॉजी की सुविधा आम आबादी को सन् 1947 में आजादी के बाद ही मिली। यदि देश की स्वास्थ्य की स्थिति पर चिकित्सा टेक्नोलॉजी का असर हुआ होता, तो सन् 1947 के बाद से मृत्यु दर में तेजी से गिरावट आती। ग्राफ से पता चलता है कि ऐसा नहीं हुआ। वास्तविकता तो यह है कि आजादी के बाद के पचास सालों में मृत्यु दर में कमी उसके पहले के तीस सालों के मुकाबले में धीमी रही है।

ब्रिटिश भारत में सालाना औसत मृत्यु दर (बर्मा को छोड़कर) 1932-1941

बीमारी	सालाना औसतन मृत्यु	प्रतिशत
बुखार (मलेरिया सहित)	36,22,869	58.4
श्वसन तंत्र के रोग (टी. बी, सहित)	4,71,802	7.6
दस्त व आँव	2,61,924	4.2
हैजा	1,44,924	2.4
चेचक	69,474	1.1
प्लेग	30,932	0.5
अन्य कारण	15,99,490	25.8
कुल	62,01,434	100.0

1932-41 की अवधि में हैजा, चेचक व प्लेग कुल मिलाकर 4.0 प्रतिशत मृत्यु के कारण बने।

स्रोत : भोर समिति, खण्ड 1, 1946.

ग्राफ 3 : भारत में कुल मृत्यु दर, 1901-1991

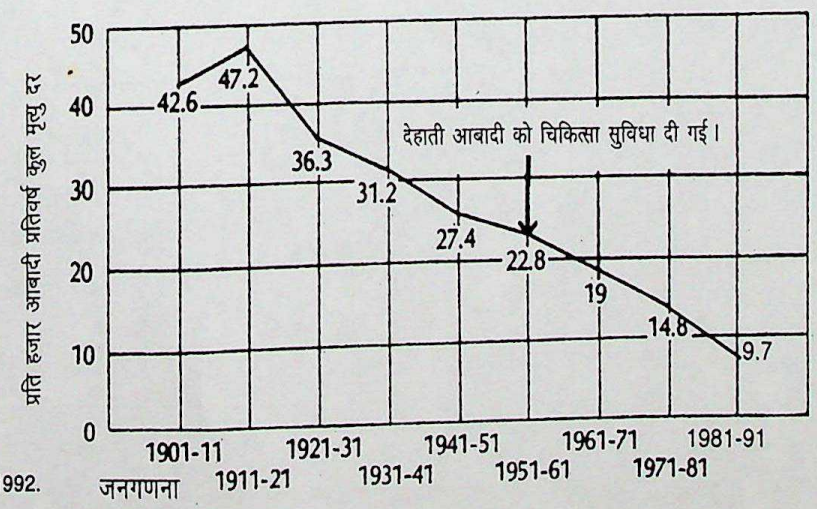

स्रोत : हैल्थ इन्फार्मेशन ऑफ इण्डिया, भारत सरकार, 1992.

COMMUNITY HEALTH CELL LIBRARY AND INFORMATION CENTRE
PH-100
11646 N96

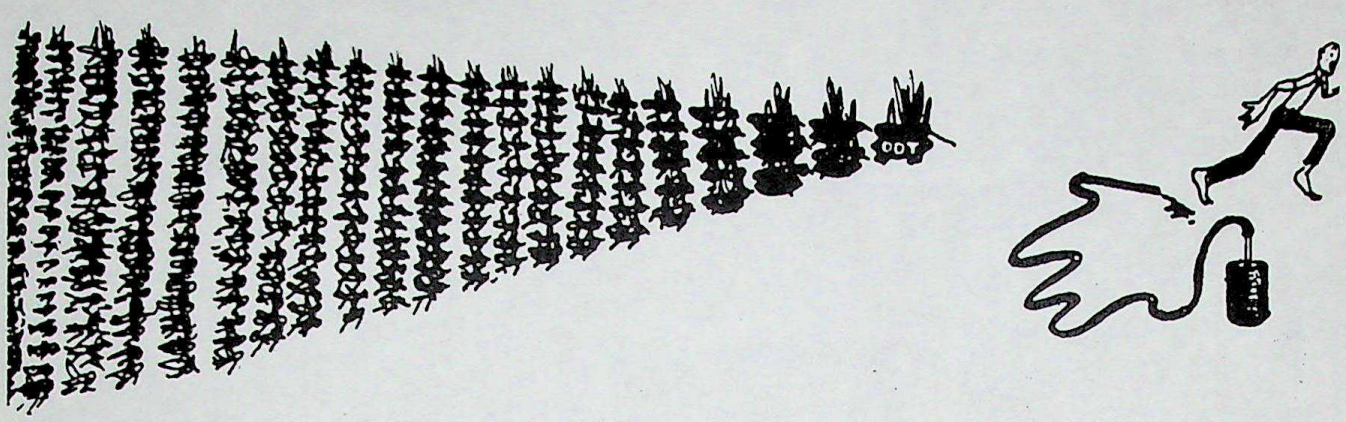

भारत जैसे विकासशील देशों में मृत्यु दर पर काबू पाने में चिकित्सा टेक्नोलॉजी की प्रभावहीनता का मतलब प्रायः यह लगाया जाता है कि इन देशों में चिकित्सा सुविधाएं पर्याप्त नहीं हैं। यह दलील अक्सर दी जाती है कि हमारा देश इतना गरीब है कि हम चिकित्सा टेक्नोलॉजी का समुचित उपयोग नहीं कर पाते। परन्तु निम्नलिखित उदाहरण से पता चलता है कि एक खास कार्यक्रम में पर्याप्त संसाधन लगाने पर भी टेक्नालॉजी का असर सीमति ही रहा।

मलेरिया नियंत्रण कार्यक्रम

सन् 1932 से 1941 के बीच भारत में मृत्यु का प्रमुख कारण मलेरिया था। इस समय तक मलेरिया के लिए कुनीन एवं मेपाक्रिन जैसी दवाइयों की खोज हो चुकी थी। परन्तु ये आबादी के एक छोटे हिस्से को ही उपलब्ध थीं। सन् 1939 में यह पता चला कि डी. डी. टी. से मलेरिया फैलाने वाले एनाफीलिस मच्छर का सफाया किया जा सकता है। यह एक जबर्दस्त खोज थी और जिन देशों में मलेरिया का प्रकोप ज्यादा था, वहां डी. डी. टी. को अपनाया गया। भारत में भी इस विधि के असर को परखने के लिए व्यापक अध्ययन किए गए। यह देखा गया कि संक्रमण की अवधि (जुलाई से नवम्बर के बीच) में दो बार डी. डी. टी. का छिड़काव करने से मलेरिया पर नियंत्रण किया जा सकता है। इस पर खर्च भी अधिक नहीं आता।

सन् 1953 में भारत में **राष्ट्रीय मलेरिया नियंत्रण कार्यक्रम** लागू किया गया। यह कार्यक्रम बहुत कारगर साबित हुआ और मलेरिया का प्रकोप काफी कम हो गया। परन्तु इसी विधि को अपनाने वाले अन्य देशों से मच्छरों में डी. डी. टी. के खिलाफ प्रतिरोधक शक्ति विकसित होने की खबरें आने लगी थीं। इन खबरों को देखते हुए विश्व स्वास्थ्य संगठन ने दुनिया भर में मलेरिया को खत्म करने की मुहिम चलाने का निर्णय लिया।

भारत ने भी सन् 1958 मे अपनी रणनीति बदली। अब नियंत्रण की जगह उन्मूलन (या खात्मे) की बातें होने लगी। बहरहाल भारत में भी मच्छर डी. डी. टी. के आदी होते गए। इस प्रकार से मलेरिया उन्मूलन की आशाओं पर पानी फिर गया। मलेरिया की दवाओं के व्यापक उपयोग के कारण मलेरिया के रोगाणु में भी प्रतिरोधक क्षमता विकसित होने लगी। इन दोनों कारणों की वजह से भारत में मलेरिया का प्रकोप फिर बढ़ने लगा। परन्तु इस बार न तो पुरानी दवा कारगर साबित हुई और न पुराना कीटनाशक। सन् 1984 में विश्व स्वास्थ्य संगठन ने फिर से नियंत्रण कार्यक्रम चलाने का निर्णय लिया।

मलेरिया नियंत्रण (उन्मूलन) कार्यक्रम एक ऐसा कार्यक्रम है जिसमें बेतहाशा पैसा व मानव संसाधन लगाए गए। इसके बावजूद इसका अपेक्षित असर नहीं हुआ। उल्टा यह हुआ कि इसके कारण डी. डी. टी. प्रतिरोधी मच्छर और क्लोरोक्विन प्रतिरोधी परजीवी पैदा हो गए और मलेरिया का प्रकोप बढ़ता गया।

डी. डी. टी. और दूसरे कीटनाशकों के बहुत अधिक उपयोग करने से एक और समस्या सामने आकर खड़ी हो गई है। इन कीटनाशकों ने हमारे खाद्य पदार्थों को भी प्रभावित कर दिया है। हमारे देश में जितने भी कीटनाशक प्रयोग में आ रहे हैं, उनमें 70% डी. डी. टी. और बी. एच. सी. हैं। पंजाब कृषि विश्वविद्यालय के एक सर्वेक्षण में गेहूं और उसके आटे, चावल, मक्का के आटे के 80% नमूनों में डी. डी. टी. पाया गया। यह जहर मान्य सीमा अर्थात् 0.1 पी. पी. एम. (पार्ट्स पर मिलियन) से बहुत अधिक था। आटे को गूंधने के बाद यह चपातियों में भी पाया गया। विभिन्न प्रकार की सब्जियों जैसे गोभी, आलू और गाजर में भी डी. डी. टी. मौजूद था। भेड़, बकरी, मुर्गी और सूअर के गोश्त में डी. डी. टी. की मात्रा पाई गई। आजकल औसत बच्चा भी माता के दूध से 13-24 गुना अधिक डी. डी. टी. पी जाता है जो उसके बर्दाश्त करने की सीमा से अधिक है।

चिकित्सा टेक्नोलॉजी के बेतहाशा उपयोग के कारण प्रतिरोधी की समस्या अन्य बीमारियों के मामलों में भी सामने आई है। उदाहरण के लिए टायफाइड के खिलाफ एकमात्र असरकारक दल क्लोरेम्फेनिकोल के अत्यधिक उपयोग के कारण सन् 1972 में केरल प्रान्त में बड़ी समस्या खड़ी हो गई। उस वक्त टायफाइड की महामारी चल रही थी और कालीकट के आसपास टायफाइड के 3000 ऐसे मामले पाए गए जो क्लोरेम्फिनेकोल प्रतिरोधी थे। यह महामारी तो सन् 1972 के साथ खत्म हो गई पर उत्तरी केरल का यह असरग्रस्त इलाका

एण्टीबायोटिक दवाइयों के प्रतिरोधी जीवाणुओं का इलाका बन गया। एक बार फिर सन् 1976 में गतिरोधी टायफाइड की महामारी फैली। सन् 1978 के बाद देश के अन्य भागों में भी दवा प्रतिरोधी टायफाइड बुखार के मामले प्रकाश में आए हैं। ऐसे मामले मद्रास, बम्बई, चण्डीगढ़ जैसे शहरों में भी देखने को मिले हैं। मेक्सिको में भी सन् 1975 में 2000 लोग क्लोरेम्फेनिकोल प्रतिरोध के कारण मौत के शिकार हो गए थे।

टीकाकरण कार्यक्रम

टीकाकरण एक ऐसी चिकित्सा तकनीक है जिसके बारे में यह प्रचारित किया गया है कि वह बच्चों में बीमारियों व मृत्यु की रोकथाम का सबसे कारगर उपाय है। टीकाकरण का 'विस्तारित कार्यक्रम' भारत सरकार ने सन् 1978 में शुरू किया था।

कार्यक्रम का मकसद यह था कि डिप्थीरिया, काली खांसी, टिटेनस, पोलियो, टी. बी. और टायफाइड की वजह से बच्चों में होने वाली रुग्णता व मृत्यु दर को कम किया जाए। इसके लिए समस्त बच्चों व गर्भवती स्त्रियों का मुफ्त टीकाकरण का प्रस्ताव था। आगे चलकर इस कार्यक्रम को 'सभी बच्चों के टीकाकरण' के कार्यक्रम में तबदील कर दिया गया। सन् 1985 में कार्यक्रम को और महत्त्व देने की दृष्टि से इसे 'टीकाकरण टेक्नोलॉजी मिशन' का रूप दिया गया। खसरा का टीका कार्यक्रम सन् 1985-86 में शामिल किया गया। इनमें से टी. बी. का टीका (बी. सी. जी.) विवादास्पद हो गया है। भारत में किए गए अध्ययनों से पता चला है कि बचपन में बी. सी.जी. टीका देने से टी. बी. की कारगर रोकथाम नहीं होती। पोलियो और खसरा के टीकों के रख रखाव हेतु शीतलक-शृंखला की जरूरत होती है। इसके अलावा खसरा का टीका तभी कारगर होता है जब यह 9 से 12 माह की आयु के दौरान दिया जाए।

कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य बच्चों में रुग्णता व मृत्यु दर को कम करना है। परन्तु अनुमान यह है कि भारत में ऐसी बीमारियां मात्र 10-12 प्रतिशत बाल मृत्यु के लिए जिम्मेदार हैं, जिनकी रोकथाम टीके द्वारा संभव है। ये बीमारियां हैं डिप्थीरिया, काली खांसी, टिटेनस, खसरा और पोलियो। शेष तकरीबन 90 प्रतिशत मौतें दस्त और सांस सम्बन्धी रोगों से होती हैं। दस्त और सांस सम्बन्धी बीमारियों की रोकथाम के लिए अभी कोई टीका उपलब्ध नहीं है। यदि सब बच्चों के टीकाकरण का कार्यक्रम पूरी मुस्तैदी से क्रियान्वित किया जाए, तो भी बच्चों की मृत्यु दर में मात्र 10 प्रतिशत की ही कमी आएगी।

बहरहाल, टीके द्वारा रोकथाम योग्य पांच बीमारियों के संदर्भ में भी कार्यक्रम का असर इस बात पर निर्भर करेगा कि इस कार्यक्रम में बच्चों की जोखिमग्रस्त आबादी (यानी जिन्हें टीका नहीं लगा है) को किस हद तक 'कवर' किया जाता है। कोई भी बच्चा किसी बीमारी के खिलाफ प्रतिरोध दो तरह से अर्जित करता है : या तो प्राकृतिक रूप से (स्तनपान, पर्याप्त पोषण), या कृत्रिम तरीके से (जैसे टीका)। जो आबादी प्रतिरोध क्षमता अर्जन के लिए टीकाकरण कार्यक्रम पर निर्भर होती है, उसमें रोग प्रतिरोध की कुदरती प्रक्रियाएं तहस-नहस हो जाती हैं। कार्यक्रम की सफलता के लिए जरूरी है कि 90 प्रतिशत से ज्यादा बच्चों को टीकों की सही खुराक मिले और इतना कवरेज होने के बाद भी कार्यक्रम को जारी रखा जाना चाहिए। टीकाकरण का कोई जोरदार कार्यक्रम, यदि जारी न रखा जाए तो वह उतनी ही ज़ोरदार महामारी को जन्म दे सकता है। थोड़े समय के लिए टीककरण का उच्च स्तर अस्थाई रूप से ही बीमारी को फैलने से रोकने में सक्षम होता है। यदि टीकाकरण के इस स्तर को न बनाए रखा गया, तो गैर-टीकाकृत बच्चों की संख्या बढ़ती जाएगी जो 'जोखिमग्रस्त' बच्चे होंगे। तब बीमारी आसानी से फैल सकेगी और महामारी का रूप ले लेगी।

तमिलनाडु के सिंगानीकुप्पम गांव में यही हुआ था। सिंगानीकुप्पम गांव की आबादी 700 है तथा यह तमिलनाडु में तिंदीवनम तालुका अस्पताल से कोई 15 कि. मी. की दूरी पर है। सन् 1983 में रोटरी क्लब ने इस गांव में खसरा के टीके सबको लगाने का एक कार्यक्रम आयोजित किया था। टीकाकरण कार्यक्रम को सन् 1984 व 1985 में जारी नहीं रखा गया। टीकाकरण कार्यक्रम के दो वर्ष बाद अगस्त 1985 में इस गांव में खसरा का जबर्दस्त प्रकोप हुआ। इस छोटे से गांव के 27 बच्चे मौत के शिकार हुए और 72 बच्चों को गंभीर स्थिति में अस्पताल में दाखिल किया गया।

इस बात की भी आशंका व्यक्त की गई है कि आंशिक या पूर्ण टीकाकरण कार्यक्रम के बाद पोलियो के प्रकोप की संभावना हो सकती है। भारत में यह देखा गया है कि जिन इलाकों में वार्षिक रूप से पोलियो का टीका दिया जाता है वहां वास्तव में पोलियो के मामले बढ़े हैं। मसलन बम्बई में कक्षा I के 54 प्रतिशत, कक्षा II के 47 प्रतिशत, कक्षा III के 46 प्रतिशत और कक्षा IV के 37 प्रतिशत बच्चों को बचपन में पोलियो का टीका दिया जा चुका था। परन्तु बम्बई में पोलियो का प्रकोप लगातार बढ़ता जा रहा है। ऐसे ही हालात दिल्ली, अमदाबाद, मद्रास व त्रिवेन्द्रम जैसे शहरी इलाकों में भी नजर आते हैं।

पुणे में किए गए एक अध्ययन के मुताबिक सन् 1983 में पुणे की एक बस्ती में 90 प्रतिशत बच्चों को पोलियो टीका दिया जा चुका था। परन्तु अस्पतालों में भर्त्ती किए गए लकवाग्रस्त बच्चों की संख्या सन् 1983 में 44 थी और सन् 1984 में बढ़कर 84 हो गई। फरीदाबाद ज़िले के दयालपुर गांव में भी सन् 1987 में पोलियो का प्रकोप हुआ था। पोलियो के टीका शुदा 36 मामलों में से 18 को पोलियो हुआ।

अस्सी के दशक के आरम्भ से ही विश्व स्वास्थ्य संगठन अपने सदस्य देशों से आग्रह करता रहा है कि वे दुनिया से खसरा मिटाने के लिए एक कार्यक्रम शुरू करें। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि विश्वस्तर पर खसरा उन्मूलन के फलस्वरूप अमरीका जैसे पश्चिमी देशों को (1982 के मान से) 50 करोड़ डॉलर की बचत होगी। कारण यह है कि जब तक पूरी दुनिया से खसरा का सफाया नहीं हो जाता तब तक अमरीकी सरकार को खसरा टीकाकरण कार्यक्रम पर सालाना 1 से 2.5 करोड़ डालर खर्च करते जाना होगा, हालांकि अमरीका से इस बीमारी का सफाया पहले ही हो चुका है।

यानी टीके से रोकथाम योग्य पांच बीमारियां दरअसल पांच वर्ष से छोटे बच्चों में बीमारी व मृत्यु के एक छोटे हिस्से की जिम्मेदार हैं। दस्त और सांस सम्बन्धी रोग, जो मृत्यु के आम कारण हैं, आज उपलब्ध टीकों से नहीं रोके जा सकते। गरीबी पर हमला किए बगैर इन बीमारियों पर हमला संभव नहीं है। खसरा तथा पोलियो जैसे टीके से बचाव योग्य रोग भी गरीबी और वंचना के हालातों में फैलते हैं। गरीबी पर हमला होगा, तो इन सभी बीमारियों के प्रकोप में कमी आएगी। अर्थात् बीमारियों के एक छोटे से हिस्से की रोकथाम हेतु टीकाकरण जैसी टेक्नोलॉजी का चुनाव एक राजनैतिक निर्णय है। टीकाकरण एक चिकित्सा टेक्नोलॉजी है जिसका उपयोग करने के लिए बीमारी के सामाजिक व आर्थिक कारणों की चुनौती का मुकाबला नहीं करना पड़ता।

टीकाकरण कार्यक्रम आयोजित करके सरकार और अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियां यह दिखावा करने में सफल हो जाती हैं कि वे रुग्णता व कष्टों को कम करने के लिए हर संभव प्रयास कर रही हैं। यही टीकाकरण कार्यक्रम के प्रति आकर्षण की मुख्य वजह है। हर बच्चे के स्तर पर टीकाकरण बेशक जरूरी है तथा यह प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा का अनिवार्य अंग है। मगर यह समाज में बुनियादी ढांचागत बदलावों का स्थान नहीं ले सकता।

टेक्नोलॉजी : एकमात्र समाधान नहीं

तो, चिकित्सा टेक्नोलॉजी का भारत जैसे देश में भी खास असर नहीं हुआ है। आज भी हमारे देश में संक्रामक व परजीवी जन्य रोग मृत्यु के प्रमुख कारण हैं। हालांकि इन में से कई बीमारियों को नियंत्रित करने की टेक्नोलॉजी विकसित हो चुकी है। परन्तु इनका हमारे देश के बीमारी के मान चित्र पर कुछ खास असर नहीं हुआ है। संसाधनों की कमी इस समस्या का मात्र एक पहलू है। जैसा कि हम देख चुके हैं एक खास बीमारी (मलेरिया) पर नियंत्रण के लिए 40 सालों तक बेतहाशा संसाधन लगाने के बावजूद तात्कालिक सफलता ही प्राप्त हुई। आधुनिक चिकित्सा पद्धति के प्रचलन के बाद मृत्यु दर में तेजी से कमी आनी चाहिये थी। किन्तु यह कमी कमोबेश पहले की दर से ही हो रही है।

जैसा कि उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है, अधिकांश चिकित्सकीय हस्तक्षेपों का असर बहुत कम होता है। या तो ये टेक्नोलॉजी उस समय आई जब मृत्यु दर किसी अन्य वजह से वैसे ही काफी कम हो चुकी थी, या ये स्वास्थ्य समस्याओं से निपटने में असरहीन रहीं, या कोई देश इनके समुचित उपयोग के उपयोग पर्याप्त संसाधन नहीं जुटा पाया, या दुरुपयोग या अति-उपयोग के कारण ये टेक्नोलॉजी महामारी के मौके पर असरहीन साबित हुई।

इन तमाम सीमाओं के बावजूद, आधुनिक चिकित्सा प्रणाली को 'अस्वस्थता का एकमात्र तर्कसंगत समाधान' कहकर बढ़ावा दिया जा रहा है। यह तो साफ है कि आधुनिक प्रणाली 'एकमात्र समाधान' हो ही नहीं सकती, क्योंकि यह तो मात्र सौ वर्ष पूर्व अस्तित्व में आई है। इससे पहले भी मानव सभ्यताएं एकदम विपरीत पर्यावरणों में भी जिन्दा रहने में सफल रही हैं। यह कैसे संभव हुआ, हमें इसे समझना होगा। तभी हम आधुनिक प्रणाली की सीमाओं को समझकर एक वैकल्पिक प्रणाली का विकास कर पाएंगे।

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली के विकास से पहले लोग बीमारियों से कैसे निपटते थे ?

इन्सान की जीवनशैली लगातार बदलती रही है। इसके कारण वे विभिन्न प्रकार की बीमारियों के संपर्क में आते रहे हैं। इन बदलावों के अनुरूप अपने-आपको ढालने की जबर्दस्त क्षमता की बदौलत ही मानव जाति आज तक जीवित है। ढालने (या अनुकूलन) की ये क्रियाएं जैविक और सांस्कृतिक दोनों तरह की होती हैं। इनमें सबसे जानी-मानी क्रिया है कि अपने भौतिक वातावरण (गर्मी, सर्दी, नमी, ऊंचाई आदि) में परिवर्तनों के बावजूद मनुष्य अपना मानसिक शारीरिक कार्य जारी रख पाते हैं। उनमें एक कुदरती बचाव प्रणाली भी होती है, जिसके जरिये वे अपने पर्यावरण में मौजूद रोगाणुओं के खिलाफ प्रतिरोध क्षमता विकसित कर लेते हैं।

'जीन' में परिवर्तन (म्यूटेशन) भी अनुकूलन का एक तरीका है। यह लम्बे समय में होता है। उदाहरण के लिए कुछ अफ्रीकी लोगों में एक असामान्य हीमोग्लोबीन पाया जाता है। कुछ व्यक्तियों में यह असामान्यता एक किस्म की बीमारी के रूप में परिलक्षित होती है, जिसे सिकल सेल एनीमिया कहते हैं। परन्तु अन्य लोगों में इसकी बदौलत मलेरिया के खिलाफ प्रतिरोधक क्षमता बन जाती है। यह एक मान्य परिकल्पना है कि सिकल सेल वाला हीमोग्लोबिन मलेरिया परजीवी को रास नहीं आता। अतः ऐसा माना जाता है कि सिकल सेल वाला हीमोग्लोबिन इन अफ्रीकी आबादियों में जीन का अनुकूलन है।

ये सारे अनुकूलन जैविक है। ये रोग के प्रति मानव शरीर का कुदरती जवाब है।-इन जैविक तरीकों के अलावा इन्सानों में एक और अनूठी क्षमता होती है। वे ऐसे रिवाज और पाबन्दियां बनाते हैं जिनसे रोग के कारकों से सम्पर्क कम-से-कम हो। यह सांस्कृतिक अनुकूलन लम्बे समय के अवलोकन और निष्कर्षों के आधार पर होता है। उदाहरण के लिए, हमने खण्ड। के अध्याय 2 में जिक्र किया था कि आदि-सभ्यताओं में रोग से सम्पर्क कम करने हेतु जनजातियों ने घूमने-फिरने और परस्पर मेलजेल पर कठोर प्रतिबन्ध रखे थे।

इन रीति-रिवाजों का औचित्य अब वैज्ञानिक विश्लेषण से सिद्ध हो गया है। हर जनजाति में अपने पर्यावरण में मौजूद रोग के कारकों के विरुद्ध प्रतिरोध विकसित हो चुका था। जब ये जनजातियां नए पर्यावरण में पहुंचती या किसी अन्य जनजाति के सम्पर्क में आती तो इनका सम्पर्क नए रोग-कारकों से होता था। इन नई बीमारियों के विरुद्ध प्रतिरोधक क्षमता न होने के कारण, नई बीमारियां महामारी के रूप में फैल जाती थीं। इस प्रकार से बगैर 'वैज्ञानिक' समझ के भी ये जनजातियां सामाजिक रिवाजों के जरिये बीमारी से निपटती थीं।

ये अनुकूलन तभी तक कारगर होते थे जब तक पर्यावरण एक-सा बना रहे। मगर परिवर्तन तो होते ही रहते थे क्योंकि मानव समाज हमेशा अपना जीवन बेहतर बनाने के लिए संघर्षरत रहता था। जीवनशैली में परिवर्तन के साथ-साथ नई-नई बीमारियों से सम्पर्क होता था। अतः हर बार अनुकूलन के नए तरीके खोजने पड़ते थे।

बीमारी और जीवनशैली की कड़ी

कुछ विशेष बीमारियों की उत्पत्ति का पता लगाने के लिए किए गए अध्ययनों से पता चलता है कि किसी भी समाज में बीमारियों का सम्बन्ध उस समाज की जीवनशैली से जुड़ा होता है। शिकारी-संग्रहकर्ता, खेतिहर और औद्योगिक सभ्यताओं में बीमारी के पैटर्न अलग-अलग रहे हैं।

शिकारी संग्रहकर्ता समाज में लोगों के छोटे-छोटे समूह होते थे जो हमेशा इधर-उधर घूमते रहते थे, और जो कुछ मिल जाए खा लेते थे। ये समूह ऐसी बीमारियों के शिकार होते थे जो व्यक्ति से व्यक्ति

तक (बगैर किसी मध्यवर्ती जीव जैसे खुजली, जूं, घुन, आदि के माध्यम बने) पहुंचती हैं। लगातार घूमते रहने के कारण मल के माध्यम से होने वाली बीमारियों और किसी अन्य जीव के माध्यम से होने वाली बीमारियों से ये लोग मुक्त रहते थे। इसका कारण यह था कि लगातार घूमते रहने के कारण मल से छूत की संभावना कम हो जाती है। जो समूह स्थायी रूप से एक ही जगह रहते हैं और एक ही स्थान पर मल त्याग करते हैं उनमें यह संभावना ज्यादा होती है।

इसी प्रकार से जिन बीमारियों के फैलने के लिए माध्यम के रूप में कोई वाहक जीव जरूरी है (जैसे मलेरिया), वे भी इन समूहों में कम होती थी। इसका कारण यह था कि मलेरिया का वाहक मच्छर हर उस जगह पर नहीं होता था जहां ये समूह टिकते थे। घूमते रहने के कारण ये समूह नाना प्रकार की बीमारियों के सम्पर्क में आते थे। परन्तु ये कभी महामारी नहीं बन पाती थीं।

जब लोगों ने **खेतीबाड़ी** पर आधारित जीवनशैली को अपनाया, तो बीमारियों का स्वरूप बदल गया। अब आबादी स्थायी रूप से एक जगह रहती थी और बार-बार उन्हीं बीमारियों के सम्पर्क में आती थी। जो बीमारियां मल से संपर्क के कारण होती थीं (जैसे हुकवर्म, गोल कृमि या अमीबा द्वारा होने वाली बीमारियां) वे ज्यादा होने लगीं। कटाई के बाद अनाज के भण्डारण के फलस्वरूप कई जीव जन्तु आकर्षित हुए, जैसे चूहे, तिलचट्टे, घुन, वगैरह। इनके साथ-साथ नए परजीवी भी आए। फिर इन्सान ने बकरी, सुअर, गाय, मुर्गी आदि को पालतू बनाया। ये जानवर भी रोग-कारकों के नए स्रोत बने।

उदाहरण के लिए अधपका सुअर का मांस खाने से फीता कृमि (टेप वर्म) परजीवी मानव शरीर में दाखिल हुआ। इसके साथ बारम्बार संक्रमण का एक सिलसिला शुरू हो गया क्योंकि टेपवर्म का वाहक सुअर तो खेतिहर परिवार का हिस्सा ही था। जानवरों के पालतू बनाए जाने के फलस्वरूप बोवाइन (गोजातीय) टी. बी. एन्थ्रेक्स, रेबीज़ आदि बीमारियां फैली। तो, शिकारी घुमक्कड़ समाज के मुकाबले में खेतिहर समाज में बीमारियों की किस्में कम थी। परन्तु स्थायी जीवन शैली के कारण एक ही तरह की बीमारियां बार-बार पूरी आबादी में फैलती थीं।

औद्योगिक समाज में बीमारी का पैटर्न फिर बदला। अब आबादी का एक बड़ा हिस्सा खेतीबाड़ी से नहीं जुड़ा था। अतः अब आबादी का बड़ा हिस्सा खेतीबाड़ी के पर्यावरण से जुड़े रोग-कारकों के संपर्क में नहीं आता था। अनाज का उत्पादन बड़े पैमाने पर होने लगा। इसके लिए कृत्रिम खाद और कीटनाशक रसायनो का उपयोग करना जरूरी था। इस प्रकार से उत्पन्न अनाज में ये रसायन भी मिल जाते हैं। अतः भोजन के साथ-साथ रोगजनक रसायन भी शरीर में पहुंचे। इनके कारण शरीर मे ऐसे जैव-रासायनिक परिवर्तन होने लगे जिनका मानव शरीर को कोई अनुभव नहीं है।

औद्योगिक समाज में लोग अनाज (भोजन) खुद पैदा नहीं करते। उन्हें अपना भोजन खरीदना होता है। वे कितना भोजन खरीद पाएंगे, यह उनकी मजदूरी (या वेतन) पर निर्भर करता है। वेतन में घोर असमानता के कारण कुछ लोग तो जरूरत से बहुत ज्यादा चट कर जाते हैं जबकि अन्य लोग अपनी जरूरत का भोजन भी नहीं खरीद पाते। अतः इस समाज में पोषण सम्बन्धी बीमारियां मामूली बात हैं।

धुंआधार विज्ञापनों की मदद से कृत्रिम खाद्य पदार्थों का प्रचार किया गया। इन कृत्रिम खाद्य पदार्थों के रंगीन रसायन, रक्षक-रसायन (प्रिजरवेटिव) आदि भी स्वास्थ्य की समस्याएं पैदा करते हैं। इन खाद्य पदार्थों से पोषण तो कम मिलता है और कैंसर पैदा होने की संभावना अधिक होती है।

औद्योगिक समाज का एक और लक्षण है शहरों में आबादी का बढ़ता घनत्व। इस बढ़ते घनत्व के फलस्वरूप संक्रामक रोगों मसलन खसरा, गलसुआ, कुकर खांसी, फ्लू आदि के लिए अनुकूल परिस्थिति बन जाती है। उदाहरण के लिए, यह अनुमान लगाया गया है कि कम-से-कम 10 लाख लोगों की आबादी होने पर ही खसरा की महामारी के लिये उपयुक्त परिस्थिति बनती है।

खेतिहर व शिकारी-संग्रहकर्ता समाज में शारीरिक श्रम अनिवार्य था। औद्योगिक समाज में इसकी जरूरत कम हो गई। ज्यादा खाने व शारीरिक श्रम की कमी के कारण दिल के रोग व स्ट्रोक जैसी बीमारियां काफी बढ़ी हैं। कारखानों के पर्यावरण में मजदूर कई किस्म के रसायनों (जैसे धूल, कपास के रेशे, तेजाब, धातुओं) व असामान्य भौतिक परिस्थितियों (शोर, कम्पन, गर्मी, नमी) के संपर्क में आते हैं। इनमें से एकाधिक कारकों की वजह से मजदूर कई बीमारियों से ग्रस्त हो जाते हैं। इनमें शारीरिक अपंगता से लेकर कैंसर तक शामिल है।

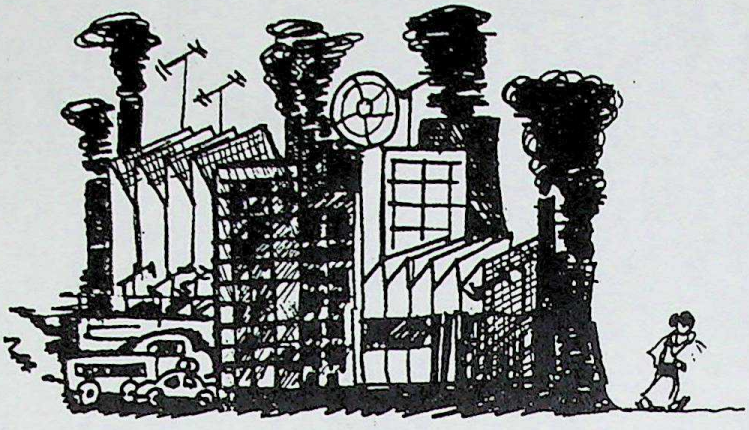

औद्योगिक सभ्यता में निहित मूल्यों ने भी कई बीमारियों को जन्म दिया है। लोगों का बेगानापन, पारिवारिक रिश्तों की टूटन, सतत् प्रतिस्पर्धा और धन-संचय की भावना, आदि के कारण इन्सान का दिमाग तनावग्रस्त रहता है। इंसान की सेहत पर तनाव के असर का अध्ययन हाल ही में शुरू हुआ है। उच्च रक्तचाप, पेप्टिक अलसर आदि इसी तनाव के कारण पैदा होते हैं।

औद्योगिक सभ्यता इस मायने में अनूठी है कि इसकी ज्यादातर बीमारियां मानव-निर्मित हैं। तीनों तरह की सभ्यताओं के उदाहरणों से लगता है कि ये बीमारियां तीनों में मौजूद रही होंगी। परन्तु प्रत्येक समाज की जीवनशैली ने एक खास तरह की परिस्थितियां पैदा की। इन परिस्थितियों की वजह से प्रत्येक में कुछ ही बीमारियों का प्रकोप ज्यादा रहा। बीमारियों का प्रकोप या रुग्णता दर दो जीवनशैलियों के सन्धि काल के दौरान सबसे ज्यादा रहीं।

जब तक लोग नए पर्यावरण से तालमेल न बैठा पाए, तब तक रुग्णता दर ऊंची रही। एक बार आबादी में स्थायित्व आने पर जीवन के हालात, पोषण का स्तर, गतिशीलता, बीमारी के कारकों से सम्पर्क का स्तर, जनसंख्या घनत्व, व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्ध और अन्य कई बातों की परस्पर अंतर्क्रिया हुई। जब इन चीजों के परस्पर सम्बन्ध से किसी विशेष बीमारी के अनुकूल परिस्थिति बनी, तो वह बीमारी बढ़ी। चीन के मन्चूरिया प्रान्त में सन् 1910 में फैला न्यूमोनिक प्लेग इसका एक स्पष्ट उदाहरण है।

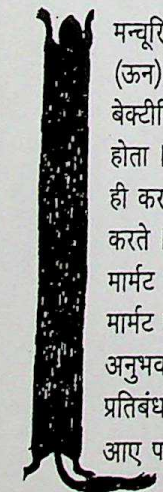

मन्चूरियाई मार्मट एक जंगली गिलहरी है। इसके फर (ऊन) से कपड़े बनाए जाते हैं। ये मार्मट प्लेग के बेक्टीरिया के वाहक हैं, परन्तु इन्हें खुद प्रायः रोग नहीं होता। आमतौर पर मार्मट का शिकार सिर्फ मन्चूरियावासी ही करते थे। वे बीमार जानवर का शिकार कदापि नहीं करते। 1910 में यूरोप के बदलते फैशन के फलस्वरूप मार्मट ऊन की मांग में अचानक वृद्धि हुई। इसके कारण मार्मट का अन्धाधुन्ध शिकार शुरू हुआ। यह काम अनुभवहीन चीनवासियों द्वारा किया गया। ये लोग कोई प्रतिबंध नहीं मानते थे। ये लोग तो जो भी मार्मट हाथ आए पकड़ लेते थे। खासकर बीमार मार्मट इनका शिकार बनते थे क्योंकि ये सुस्त होते थे और आसानी से पकड़े जाते थे। दुर्भाग्यवश ये मार्मट प्लेगग्रस्त थे। परिणामस्वरूप बहुत से चीनी शिकारी प्लेग का शिकार हो गये। ये चीनी शिकारी सरायों में ठहरते थे। सरायें भीड़ भरी थीं और हवा वगैरह का ठीक प्रबंध नहीं होता था। इन परिस्थितियों में प्लेग तेजी से फैला और जल्दी ही उसने महामारी का रूप ले लिया। इस प्रकार से यूरोप में फैशन परिवर्तन को मन्चूरिया न्यूमोनिक प्लेग के लिए दोषी ठहराया जा सकता है।

इस उदाहरण से हम देख सकते हैं कि मन्चूरिया में प्लेग फैलने की सारी परिस्थितियां 1910 से पहले भी मौजूद थीं। मार्मट प्लेग-बेक्टीरिया का वाहक था, मन्चूरियावासी मार्मट का शिकार करते थे, शिकारी लोग भीड़-भरी सरायों में इकट्ठे भी होते थे। परन्तु इस सबके बावजूद भी प्लेग की बीमारी कभी महामारी नहीं बनी। जब फर (ऊन) की मांग में वृद्धि के कारण मार्मट का अन्धाधुन्ध शिकार शुरू हुआ और बीमार जानवर भी मारे जाने लगे, तभी जाकर प्लेग फैलने के लिए अनुकूल हालात बने और तभी महामारी फैली।

हाल ही की बात है, सन् 1994 के सितम्बर माह में महाराष्ट्र के बीड जिले में प्लेग फैल गया। प्लेग जंगली चूहों और गिलहरियों तथा कुतरने वाले जानवरों की बीमारी है। इस बीमारी का जीवाणु इन जानवरों के शरीर में रहता है।

जब किसी क्षेत्र में बाढ़, भूकम्प जैसी कोई प्राकृतिक आपदा टूट पड़ती है तो उस क्षेत्र में रहने वाले चूहे इंसानों के रिहाशी इलाकों में आकर रहने लगते हैं। वे अपने साथ प्लेग के जीवाणु भी लाते हैं और उन्हें पिस्सुओं के द्वारा रिहायशी क्षेत्र में रहने वाले चूहों के शरीर मे पहुंचा देते हैं। रिहायशी क्षेत्र के चूहे प्लेग के जीवाणुओं को बर्दाश्त नहीं कर पाते और बड़ी संख्या में मरने लगते हैं। चूहों के प्लेग से बड़ी संख्या में मरने को 'रैट फॉल' कहते हैं।

जब किसी किसी इलाके में प्लेग की महामारी फैल जाती है और इंसान बड़ी संख्या में इस बीमारी से पीड़ित हो जाते हैं तो

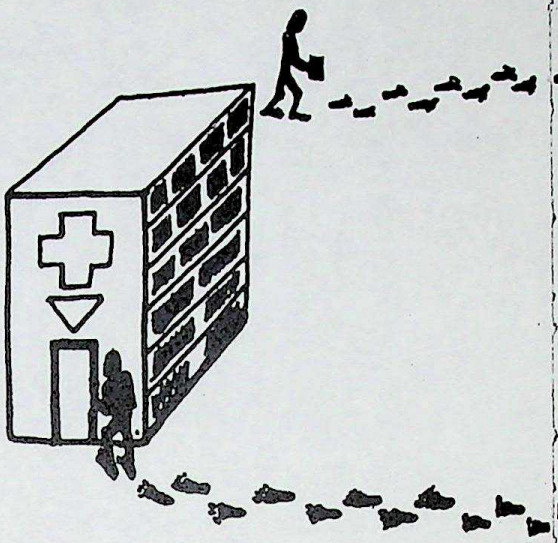

यह निश्चित होता है कि इससे पहले वहां बड़ी संख्या में 'रैट फॉल' अर्थात् चूहों की मृत्यु हुई होगी।

महाराष्ट्र का बीड जिला ऐसे क्षेत्र में स्थित है जहां प्लेग की बीमारी का फैलना कोई नई बात नहीं है, यहां सन् 1993 में भीषण भूचाल आया था, तब जंगली चूहे अपने रिहायशी स्थानों को छोड़ कर यहां आ बसे थे। उन दिनों भूकम्प के भय से कुछ लोग यह क्षेत्र छोड़कर दूसरी जगहों पर चले गए। इन लोगों के मकान खाली थे और इन खाली मकानों को अनाज के गोदामों के रूप में इस्तेमाल किया जाने लगा। जहां अनाज होता है, वहां चूहे भी हो जाते हैं। ये गोदाम जंगली चूहों और गांवों के चूहों के घर बन गए। जंगली चूहे बीमार थे, उन्होंने गांव के चूहों को भी बीमार कर दिया। सन् 1994 के अगस्त माह में बीड जिले के मामला ग्राम में कुछ स्वास्थ्य कर्मचारियों ने चूहों को भारी संख्या में मरते देखा, उन्होंने इसकी सूचना ऊपर के अधिकारियों को दी पर उस सूचना पर किसी भी प्रकार की कार्यवाही नहीं की गई। इसी वर्ष सितम्बर माह में एक बन्द घर को, जिस का अनाज के गोदाम के रूप में इस्तेमाल हो रहा था, खोला गया। उस घर के दरवाजे और खिड़कियों के खुलते ही, उससे पिस्सुओं का झुन्ड निकल कर सारे क्षेत्र में फैल गया। इन प्लेग वाहक पिस्सुओं ने मामला ग्राम के इर्द गिर्द फैलकर भीषण तबाही मचा दी। क्षेत्र में एक वर्ष पहले भूचाल से भीषण तबाही हुई थी, इस भूचाल के ठीक एक वर्ष बाद यहां प्लेग ने महामारी के रूप में फैलकर तबाही मचाई।

इन उदाहरणों से यह भी सिद्ध होता है कि मनुष्य बीमारी के कारकों के बीच रहते हुए भी बीमारी से बचे रह सकते हैं। हर बीमारी के फैलने की कई शर्तें होती हैं और इनमें से एक भी पूरी न हो, तो बीमारी नहीं फैल पाती। इसी प्रक्रिया के कारण यह संभव हुआ कि मनुष्य अपने आपको जैविक और सांस्कृतिक रूप से परिस्थितियों के अनुकूल बना सके और जिन्दा रहे। इसी प्रक्रिया की समझ के फलस्वरूप पारंपरिक सभ्यताओं में बीमारी की यह समझ बनी कि बुरी सेहत प्रकृति के साथ सामंजस्य टूटने का परिणाम है। इसी समझ के अभाव के कारण औद्योगिक सभ्यता में यह अहसास नहीं बन पा रहा है कि तकनीकी समाधान अपनाने के फलस्वरूप किस तरह के असंतुलन पैदा हुए हैं।

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली की सीमाएं

यदि हम किसी समाज में सेहत की समस्या पर गौर करें तो पाएंगे कि किसी भी बीमारी से निपटने के दो पहलू होते हैं। एक पहलू है, बीमारी हो जाने के बाद उससे निपटना एवं दूसरा पहलू है बीमारी को होने से पहले ही रोकना।

प्रथम पहलू यानि बीमारी के उपचार की पूर्ति के लिए जरूरी है कि **बीमारी की प्रक्रिया** की समझ बने। अर्थात् हमें यह समझना होगा कि बीमारी के कारण शरीर में क्या-क्या परिवर्तन होते हैं। फिर इन परिवर्तनों को ठीक करने के उपाय ढूंढने होंगे।

दूसरे पहलू यानि बीमारी की रोकथाम करने के लिए हमें बीमारी के कारणों का पता लगाना होगा। दूसरे शब्दों में हमें उन सारी परिस्थितियों का पता लगाना होगा जिनसे यह बीमारी होती है। फिर इन परिस्थितियों को बदलने के तरीके खोजने होंगे।

अतः बीमारी से निपटने के उपाय विभिन्न स्तरों पर किए जा सकते हैं:

- **व्यक्तिगत स्तर पर उपाय ताकि शरीर में ऐसे परिवर्तन लाए जा सकें जिनसे बीमारी के लक्षणों से राहत मिले, या बीमारी का उपचार हो या रोकथाम की जा सके।**

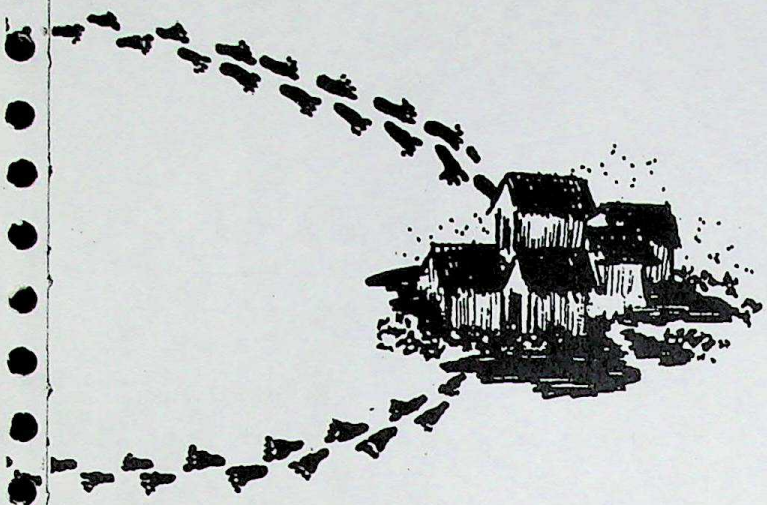

- **ऐसे मध्यवर्ती उपाय जिनसे पर्यावरण में बदलाव आए।**
- **ऐसे आधारभूत उपाय जिनसे समाज में बदलाव आए।**

उदाहरण के लिये मलेरिया के मामले में उपाय निम्नलिखित हो सकते हैं :

1. क्लोरोक्विन जैसी दवाइयां देकर शरीर में अंदरूनी परिवर्तन।
2. मच्छरों को मारकर या उनके प्रजनन को रोक कर पर्यावरण में परिवर्तन।
3. समाज में इस तरह के परिवर्तन लाए जाएं जिससे बांध और सिंचाई परियोजनाओं जैसे विकास कार्यक्रमों के कारण मच्छर न बढ़ने पाएं।

इसी प्रकार से अलसर जैसे संक्रामक रोग के मामले में निम्नलिखित उपाय किए जा सकते हैं—

1. एण्टासिड जैसी दवाओं, शल्य क्रिया या उचित आहार के माध्यम से शरीर में परिवर्तन।
2. पर्यावरण में इस तरह के परिवर्तन जिनसे परिवार एवं काम की जगह पर सम्बन्धों में तनाव कम हो।
3. समाज में इस तरह के परिवर्तन जिनसे पूरी जीवनशैली तनावमुक्त हो जाए।

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली के विकास से पूर्व बीमारी हो जाने के बाद इससे निपटने के कारगर उपाय नहीं थे। इसलिए बीमारी का कारण समझना और सामाजिक स्तर पर उससे निपटने के उपाय खोजना जरूरी था। इसका मतलब था सामाजिक प्रतिबन्ध, वगैरह। आधुनिक वैज्ञानिक तरीकों (जिसमें जानकारी का व्यवस्थित संग्रह और सूक्ष्मदर्शी जैसे उपकरण, शामिल हैं) का विकास हो जाने से यह संभव हो गया कि बीमारी की प्रक्रिया को व्यक्ति के स्तर पर समझकर उसका उपचार किया जा सके।

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में शक्तिशाली औषधियां और उपचार तकनीकों (जैसे दवा, शल्य क्रिया आदि) का विकास हुआ। ये सारी चीजें मनुष्य शरीर में बीमारी से निपटने के लिए उपयुक्त थीं। टीकों और रसायनों के माध्यम से रोकथाम के उपाय भी व्यक्ति के स्तर पर ही प्रयुक्त होते हैं। परन्तु आधुनिक चिकित्सा प्रणाली की कोई तकनीक ऐसी नहीं है, जो बीमारी का मुकाबला बुनियादी स्तर यानि सामाजिक स्तर पर करे।

अतः आधुनिक चिकित्सा प्रणाली से यह धारणा बनी कि व्यक्तिगत स्तर पर, शरीर के अन्दर और आसपास के पर्यावरण में परिवर्तन के द्वारा बीमारी पर काबू पाना संभव है।

परन्तु व्यक्ति शून्य में नहीं जीते। उन पर सामाजिक व्यवस्था का गहरा असर पड़ता है। इसलिए व्यक्तिगत या मध्यवर्ती स्तर पर उपाय भी किसी अकेले व्यक्ति के बस में नहीं हैं। उदाहरण के लिए, तकनीकी दृष्टि से कोई भी व्यक्ति टीका लगवाकर बीमारी से बच सकता है। परन्तु शर्त यह है कि सामाजिक व्यवस्था ऐसी हो जिसमें हर व्यक्ति को टीके की सुविधा उपलब्ध हो।

हम देख ही चुके हैं कि हमारे देश की बहुसंख्यक आबादी को ये सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं। ऐसी परिस्थिति में टीके जैसी तकनीकें निरर्थक हो जाती हैं। व्यक्ति की सेहत और खुशहाली समाज से जुड़ी है। इसलिए किसी भी स्तर का हस्तक्षेप तभी सार्थक है जब सामाजिक परिस्थितियां सेहत के लिए अनुकूल हों।

दूसरी बात यह है कि एक ही स्तर पर हस्तक्षेप के कारण कई अन्य समस्याएं पैदा हो जाती हैं। उदाहरणस्वरूप—

> "सन् 1945 और सन् 1970 के बीच संयुक्त राज्य अमरीका में 30 लाख औरतों को गर्भपात रोकने के लिए एक कृत्रिम हारमोन डाइएथिल स्टिल्बेस्ट्राल (डी. ई. एस.) दिया गया, जबकि चिकित्सा साहित्य में प्रकाशित छः पर्चों में यह बात दर्ज

हो चुकी थी कि स्वतः गर्भपात को रोकने में डी. इ. एस. कारगर नहीं है ।

जिन औरतों ने गर्भावस्था के दौरान यह दवाई ली थी उनकी बच्चियों में एक विरले किस्म का योनि कैंसर देखा गया । यह 1970 की बात है । इस समय तक इस तरह का कैंसर किशोरियों में नहीं पाया जाता था और प्रौढ़ औरतों में भी बहुत कम होता था । यह कैंसर लाइलाज और जल्दी ही साबित होता है । इस कैंसर से ग्रस्त एक-चौथाई लड़कियां रोग पता लगने के 18 महीने के अन्दर मौत की शिकार हो गई ।

मोटे अनुमान के मुताबिक डी. ई. एस. के इस्तेमाल के बाद पैदा होने वाली हर 250 पुत्रियों में से 1 कैंसर से ग्रस्त होगी । हर 25 डी. ई. एस. पुत्रियों में एक इस कैंसर का थोड़ा कम घातक रूप उभरेगा । कुल मिलाकर डी. ई. एस. पुत्रियों में से आधी को 20 से 30 साल की उम्र तक छोटी-मोटी शल्यक्रिया की जरूरत तो होगी ही ।'' *(रूज़ेक)*

तो, डी. ई. एस. से शायद गर्भपात की समस्या हल हुई होगी परन्तु इस चक्कर में एक ज्यादा गम्भीर समस्या पैदा हो गई जो कि पहले कभी नहीं हुई थी । एक और उदाहरण लें,

''बोर्नियों में मलेरिया नियंत्रण के लिए डी. डी. टी. जैसे कीटनाशक, मच्छर मारने के लिए प्रयुक्त किय गये । मच्छर मारने के अलावा, डी. डी. टी. अन्य कीटों, जैसे तिलचट्टों के शरीर में भी पहुंच गया । तिलचट्टों पर तो डी. डी. टी. का कोई प्रभाव नहीं पड़ा परन्तु ये गेक्कोस नामक एक छिपकली का भोजन थे । ये छिपकलियां (डी. डी. टी. के प्रभाव से) सुस्त पड़ गई और आसानी से बिल्लियों की पकड़ में आ जाती थीं ।

''जिन बिल्लियों ने गेक्कोस को खाया, वे डी. डी. टी. के कारण मर गई । बिल्लियों की जनसंख्या कम हो जाने से चूहों की संख्या बढ़ने लगी । इससे प्लेग फैलने का खतरा हो गया । यह मसला इतना गंभीर हो गया कि फौज को इन जंगल में बसे गांवों में पैराशूट से बिल्लियां छोड़नी पड़ीं ।'' *(इलिच)*

तो, मलेरिया रोकने के चक्कर में डी. डी. टी. से ब्यूबोनिक प्लेग की महामारी का खतरा पैदा हो गया ।

ऊपर के दो उदाहरणों से स्पष्ट है कि बीमारी का होना एक पूरी शृंखला है । मानव शरीर पर प्रभाव होना तो इस शृंखला की मात्र एक कड़ी है । चिकित्सकीय हस्तक्षेप से इस शृंखला को तोड़ने की कोशिश की जाती है । परन्तु चूंकि ये हस्तक्षेप पूरी शृंखला की समझ पर आधारित नहीं होते, इसलिए बीमारी के पूरे चक्र पर इनके असर का पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता । परिणाम यह होता है कि आधुनिक चिकित्सा से तत्काल राहत तो मिलती है पर साथ ही साथ ऐसी स्थितियां भी निर्मित हो जाती हैं जिनसे नई बीमारी पैदा हो सकती हैं । यानि कुल मिलाकर बीमारियों की संख्या कम नहीं होती । एक खत्म होती है तो दूसरी पैदा हो जाती है । यही कारण है कि आधुनिक चिकित्सा प्रणाली से लोगों के स्वास्थ्य में कुल मिलाकर कोई सुधार नहीं आया ।

बहरहाल, इन दिक्कतों के बावजूद भी आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का जोर इसी बात पर रहा है कि बीमारी को व्यक्ति या उसके आसापास के पर्यावरण के स्तर पर नियंत्रित किया जाए । वजह यह है कि आधुनिक चिकित्सा प्रणाली ऐसे वैज्ञानिक सिद्धांतों पर आधारित है, जो खुद ही बहुत सीमित हैं । इसका परिणाम यह होता है कि स्वास्थ्य, बीमारी और स्वस्थ होने की प्रक्रिया का एक बहुत ही संकीर्ण नजरिया उभरता है ।

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का वैज्ञानिक आधार

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का विकास 19 वीं सदी में हुआ । यह ऐसा समय था, जब वैज्ञानिक सोच के आधार पर 'विश्व दृष्टि' विकसित हो रही थी । वैज्ञानिक बता रहे थे कि प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या गणित के सूत्रों से की जा सकती है । यह विश्वास बनने लगा था कि यदि प्रकृति का अध्ययन इस तरीके से किया जाए, तो प्राकृतिक घटनाओं की भविष्यवाणी करना और उन्हें नियंत्रित करना संभव हो जाएगा । अतः प्रकृति के उन पहलुओं का अध्ययन करने की कोशिश हुई जिनका नाप-तोल (या मापन) करके संख्या में व्यक्त किया जा सकता था । इस प्रक्रिया का प्रमुख लक्षण यह था कि ये समग्रता को छोटे-छोटे हिस्सों में बांटती थी । तो, सारी प्राकृतिक घटनाओं को छोटी-छोटी इकाइयों के रूप में बांटकर देखा गया मानों वे एक बड़ी मशीन के छोटे-छोटे कलपुर्जे हों । इस चक्कर में, इन इकाइयों के परस्पर सम्बन्धों और प्रत्येक इकाई के समग्रता के सम्बन्ध को बहुत कम महत्त्व दिया गया । दूसरी बात यह हुई कि प्रकृति के जिन पहलुओं को मापा नहीं जा सका उन्हें 'आत्मपरक' (सब्जेक्टिव) कह दिया गया और उन्हें कोई महत्त्व नहीं दिया गया । सत्रहवीं सदी के एक दार्शनिक दकार्ते के शब्दों में,

''निश्चयात्मक व प्रत्यक्ष ज्ञान ही विज्ञान है । हम ऐसे सारे ज्ञान को अस्वीकार करते हैं जो मात्र संभाव्य है । हमारा यह

मत है कि सिर्फ उसी ज्ञान पर विश्वास करना चाहिये जो पूरी तरह ज्ञात हो और जिसमें शंका की कोई गुंजाइश न हो।"

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का विकास इन्हीं वैज्ञानिक सिद्धांतों के आधार पर हुआ। मानव शरीर को एक मशीन के रूप में देखा गया। यह मान लिया गया कि शरीर के विभिन्न अंगों की कार्य प्रणाली का अलग-अलग अध्ययन करके पूरे शरीर को समझा जा सकता है। बीमारी का मतलब यह लगाया गया कि किसी अंग की कार्य प्रणाली में गड़बड़ है। इसका उपचार यह था कि उस गड़बड़ी को दुरूस्त करने के लिए भौतिक या रासायनिक हस्तक्षेप करना। ऐसा विश्वास किया जाने लगा कि जिस तरह से किसी मशीन के ठप्प हो जाने पर कोई एक कारण ढूंढा जाता है, उसी तरह इंसानों की बीमारी का भी एक कारण ढूंढा जा सकता है।

बीमारी पैदा करने वाले सूक्ष्मजीवी (रोगाणु) की खोज इस पूरे खाके में फिट बैठ गई। बीमारी का मतलब यह हो गया कि शरीर की कार्यप्रणाली में कोई ऐसी गड़बड़ी, जो दिखाई पड़े और जिसे नापा जा सके। बाकी सारी तकलीफों को, जिन्हें मापा नहीं जा सकता था, इन्सानी दिमाग का फितूर कहकर उनके अस्तित्व को ही नकार दिया गया। प्राकृतिक घटनाओं को नापने की इस सनक में दिमाग और शरीर का अलगाव पैदा किया गया। दिमाग एक ऐसी चीज थी जो न तो दिखाई पड़ती थी, न उसका अवलोकन हो सकता था और न ही उसे अवयवों में बांटा जा सकता था। इसलिए उसे समझा भी नहीं जा सकता था।

दिमाग और शरीर को अलग-अलग देखने के कारण बीमारी पैदा होने व ठीक होने में दिमाग की भूमिका को समझने की कोई कोशिश ही नहीं हुई। उल्टा वैज्ञानिकों ने दिमाग और शरीर के परस्पर सम्बन्ध को नकारने की भरसक कोशिश की। प्लेसिबो* प्रभाव में उपलब्ध पुख्ता सबूतों पर ध्यान न देना इस बात का एक प्रमाण है। *(*ऐसी औषधियां जिनका शरीर पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं होता किन्तु बीमारी ठीक हो जाती है। मरीज को ये औषधियां यही कहकर दी जाती हैं कि इनका प्रभाव होगा।)*

बीमारी के एकमेव कारक की खोज के चक्कर में चिकित्सा वैज्ञानिकों ने उन ढेर सारे कारकों को पर ध्यान ही नहीं दिया जिनसे शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता कम हो जाती है और बीमारी होने की संभावना बढ़ जाती है। इसी प्रकार से वैज्ञानिकों ने इस बात पर भी ध्यान नहीं दिया कि सारे जीवों में, चाहे मनुष्य हों या बीमारी पैदा करने वाले रोगाणु, अनुकूलन की प्रक्रिया चलती रहती है। (इसी प्रक्रिया के कारण प्रतिरोधक क्षमता विकसित होती है।)

बुनियादी तौर पर वैज्ञानिकों ने बीमारी के अनगिनत कारकों और मानव आबादी के बीच स्थापित गतिशील संतुलन पर भी ध्यान नहीं दिया। इस संतुलन में गड़बड़ी से बीमारियों का प्रकोप होता है।

इस तरह से मानव शरीर और बीमारी होने की प्रक्रिया की एक संकीर्ण समझ बनी। इस संकीर्ण समझ का ही परिणाम था कि इस प्रणाली में जो समाधान सुझाए गए उनकी भी सीमाएं थीं। चिकित्सा शास्त्र ने एक बहुत ही संकीर्ण नजरिया अपनाया जिसमें एक ही कारक पर ध्यान दिया जाता था। मसलन दर्द के लिए एक ही उपचार है — दर्दनाशक। टिटेनस का एक ही जवाब है— सब लोगों को टिटेनस टाक्साइड का टीका लगवाना — चाहे किसी व्यक्ति को टिटेनस होने वाला हो या नहीं। कुल मिलाकर वैज्ञानिक सोच का चिकित्सा प्रणाली पर यह असर हुआ कि स्वास्थ्य, बीमारी और इलाज की प्रक्रिया के बारे में एक अति संकीर्ण नजरिया बना।

व्यापारियों और अन्य शक्तिशाली समूहों की भूमिका

आधुनिक चिकित्सा के इस संकीर्ण नजरिये को समाज के प्रभावशाली समूहों (जैसे बड़े व्यापारियों, डाक्टरों, वगैरह) ने बढ़ावा दिया क्योंकि यह उनके आर्थिक हित में था। आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का मुख्य जोर इस बात पर था कि बीमारी की एक प्रत्यक्ष वजह होती है और उसी स्तर पर उपाय किये जाने चाहिए। अतः बीमारी के नियंत्रण हेतु सामाजिक स्थिति बदलना जरूरी नहीं है।

यदि आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में बीमारी के मूल कारण पर भी इतना ही जोर दिया जाता, तो इसका अर्थ यह होता कि समाज की आर्थिक व सामाजिक स्थिति बदली जाए।

अतः संकीर्ण समझ वाली आधुनिक चिकित्सा प्रणाली को बढ़ावा देना व्यापारियों के हित में ही था।

आधुनिक युग के नए रोग

इस अध्याय में कही गई वे सब बातें तब और भी अधिक स्पष्ट हो जाती हैं जब हम उन नई बीमारियों पर अपनी नजर दौड़ाते हैं जो भोपाल गैस दुर्घटना, चेरनोबिल परमाणु बिजलीघर दुर्घटना और एड्स की महामारी के कारण प्रकट हुई हैं। ये मात्र केवल उदाहरण है, उदाहरण तो और भी हो सकते हैं।

भोपाल गैस दुर्घटना

2 दिसम्बर सन् 1984 की रात को यूनियन कार्बाइड के भोपाल स्थित कारखाने से 40 टन मिथाइल आइसोसयनेट नाम का महाघातक विष

रिसा। यूनियन कार्बाइड एक अमरीकी बहुराष्ट्रीय कंपनी है जो भारत भर में अपने एक घरेलू उत्पाद 'एवरेडी' बैट्री के लिए प्रसिद्ध है। सन् 1969 में इस कंपनी ने मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल में अपना एक विशाल कारखाना स्थापित किया था। कंपनी को सरकारी जमीन पर इस कारखाने को बनाना की आज्ञा दे दी गई, और यह कारखाना भोपाल के रेलवे स्टेशन के निकट, पुराने भोपाल की एक घनी बस्ती के पास स्थापित हो गया। सन् 1984 तक इस कारखाना ने धीरे-धीरे 80 एकड़ से भी अधिक जमीन घेर ली। यह कारखाना 'सेविन' नाम के कीटनाशक का उत्पादन करने के लिए स्थापित किया गया था। सेविन कीटनाशक के निर्माण में मिथाइल आइसोसयनेट, (एम. आई. सी.) का इस्तेमाल किया जाता है। एम. आई. सी. एक बहुत ही खतरनाक घातक विष है। यही यूनियन कार्बाइड के कारखाने से हवा में रिसकर हजारों लोगों की मौत का कारण बना।

सन् 1980 में कृषि क्षेत्र के आर्थिक संकटों के कारण किसानों का ध्यान सस्ते कीटनाशकों की तरफ गया था। बाजार में तब सस्ते और कम जहरीले कीटनाशक भी मिलने लगे थे जिसके कारण यूनियन कार्बाइड के कीटनाशक 'सेविन' की बिक्री बहुत कम हो गई थी। सन् 1984 तक कंपनी को 40 लाख डालर का घाटा हो चुका था। कंपनी ने खर्च कम करने के लिए कारखाने में छटनी शुरू कर दी और कारखाने की सुरक्षा व्यवस्था पर खर्च बहुत कम कर दिया। गैस दुर्घटना की रात्रि को कारखाने की शीतलीकरण मशीन काम नहीं कर रही थी, सुरक्षा उपकरण (गैस स्क्रबर, फ्लेयर टावर) खराब हो गए थे और उन्हें मरम्मत करने के लिए बन्द कर रखा था।

2 दिसम्बर, सन् 1984 की रात को कारखाने की एक टंकी में तेजी से बाहर का पानी रिसने लगा। इस टंकी में एम. आई. सी. तरल पदार्थ के रूप में भरा हुआ था। टंकी में बाहर का पानी रिसने के कारण एक जबर्दस्त रासायनिक प्रतिक्रिया हुई और एम. आई. सी. गैस के रूप में तेजी से बाहर आकर हवा में घुलने लगा।

जहरीली एम. आई. सी. गैस के कारण तुरन्त अथवा कुछ समय बाद मारे गए लोगों की संख्या 2500 (सरकारी आंकड़ों के अनुसार) 10,000 (गैर सरकारी आंकड़ों के अनुसार) तक थी। गैस के कारण अस्पतालों में बीमारों का ताता बंध गया, अस्पतालों के डाक्टर और कर्मचारी लाचार हो गए क्योंकि बीमारों की इतनी बड़ी भीड़ को संभालना असंभव था। एम. आई. सी. से पीड़ित बीमारों का इलाज क्या होना चाहिए, यह किसी भी डाक्टरी की किताब में नहीं लिखा हुआ था, एम. आई. सी. जहर की प्रतिरोधक दवा क्या हो सकती है, यह भी कोई नहीं जानता था। चिकित्सा टेक्नोलॉजी यहां केवल रोग के बाहरी लक्षणों से राहत देने तक ही सीमित थी। रोग का इलाज तो दूर, टेक्नोलॉजी तो इसका प्रसार भी नहीं रोक सकती थी।

भोपाल की गैस दुर्घटना को दस वर्ष से अधिक हो गया है, इस दुर्घटना से पीड़ित लोगों पर जो विविध अध्ययन किए गए हैं, उनसे स्पष्ट होता है कि यह कोई छोटी दुर्घटना नहीं बल्कि एक बहुत बड़ा हादसा था। एम. आई. सी. एक घातक जहर है। जो इस दुर्घटना के तुरन्त बाद मरे नहीं, वे इससे सदा के लिए बीमार हो गए। गैस ने उनकी आंखों, फेफड़ों, आमाशय, आंतों और स्नायुतंत्र को सदा के लिए क्षतिग्रस्त कर दिया। ऐसे भी उदाहरण देखने को मिले जिनमें पीड़ित व्यक्ति के मस्तिष्क को आघात पहुंचा है। कुछ ने अपनी याददाश्त खो दी है। बहुत से लोग मानसिक आघात पहुंचने से मनो रोगी हो गए। स्त्रियों को प्रजनन सम्बन्धी रोग हो गए। स्वतः गर्भपात और बाल मृत्यु दर में भी दो गुना बढ़ोत्तरी हो गई। शरीर में रोगों से लड़ने की जो ताकत होती है अनेक लोगों में वह समाप्त हो गई। जो इस भयानक हादसे से किसी प्रकार बच गए हैं वे भविष्य में कैंसर और ऐसे आनुवांशिक रोगों से ग्रस्त हो जाएंगे जो पीढ़ी दर पीढ़ी चलते हैं।

सन् 1984 में भोपाल की आबादी छः लाख थी, इसमें से दो लाख अब उन गंभीर बीमारियों से जूझ रहे हैं जो गैस दुर्घटना से फैली हैं। ये बीमारियां स्थाई हैं और धीरे-धीरे बढ़ती हैं। आधुनिक चिकित्सा टेक्नोलॉजी के पास भोपाल दुर्घटना के पीड़ितों के लिए कोई जवाब नहीं है।

चेरनोबिल दुर्घटना

आरंभ में परमाणु रिएक्टरों का निर्माण आणुविक हथियारों (बमों) के लिए ईंधन प्राप्त करने के लिए किया गया था। पर बाद में विद्युत ऊर्जा प्राप्त करने के लिए भी इनका उपयोग किया जाने लगा। पर्यावरणविद् तथा पर्यावरण के क्षेत्र में काम करने वाले विश्व भर के संगठनों ने इन परमाणु संयत्रों पर सवाल उठाए हैं। उनका कहना है

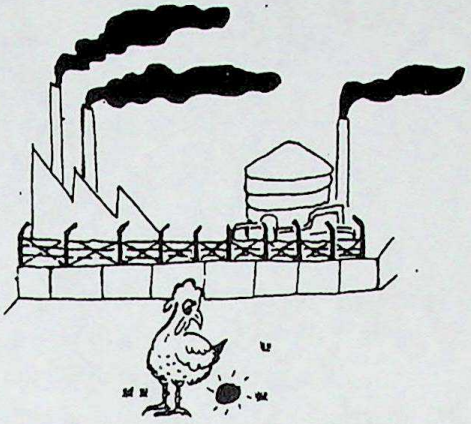

कि परमाणु बिजलीघरों से उत्पन्न होने वाले खतरों से बचना असंभव है। इन बिजलीघरों से निकलने वाले कचरे को ठिकाने लगाना बहुत कठिन होगा और यह समस्या हमेशा बनी रहेगी। कचरा भी सदियों तक रेडियोधर्मी बना रहेगा। इसकी रेडियोधर्मिता मिट्टी में रिसकर हमारे खाद्य पदार्थों में जाएगी। यह इन्सानों सहित सभी छोटे बड़े जीवों को भी प्रभावित करेगी, ये प्रभाव भी ऐसे होंगे जिन्हें पलटना असंभव होगा। रेडियोधर्मिता के कारण शरीर रोगों से लड़ने में असमर्थ हो जाता है और यह कैंसरकारक भी है और उम्र को भी कम करती है।

रेडियाधर्मिता गुणसूत्रों अर्थात् क्रोमोसोम्स को बदल कर अनेक प्रकार की जन्म-जात बीमारियों को जन्म देती है, 'डाउन्स सिन्ड्रोम', जन्म से हृदय रोग और मन्दबुद्धि, इसके उदाहरण हैं। रेडियोधर्मिता के कारण इंसान जिन रोगों से ग्रस्त हो जाता है, उनका उपचार करने में आधुनिक चिकित्सा टेक्नोलॉजी असमर्थ है।

25 अप्रैल, सन् 1986 के दिन चेरनोबिल के परमाणु बिजलीघर में भयंकर विस्फोट हो गया और फिर आग लग गई। चेरनोबिल रूस में है। इस दुर्घटना के होते ही परमाणु बिजलीघर से एक रेडियोधर्मी धुएं का विशाल बादल उठा, इस बादल की ऊंचाई कई किलोमीटर थी। इसका ऊपरी हिस्सा दूर-दूर तक अर्थात् जापान और संयुक्त राष्ट्र अमरीका तक फैल गया, इसके निचले हिस्से ने नार्वे, स्वीडन, फिनलैन्ड जैसे स्केन्डीनेवियाई देशों के अतिरिक्त यूरोप के बहुत से देशों को ढक दिया।

अनुमान लगाया गया है कि केवल चेरनोबिल में ही 40,000 व्यक्ति रेडियोधर्मिता के कारण भविष्य में काल का ग्रास बनेंगे। अगले कुछ वर्षों में 5,300 ऐसे व्यक्ति कैंसर रोग से मरेंगे जिन पर रेडियोधर्मिता का सीधा प्रभाव पड़ा था, अनुमानतः 5,000 व्यक्ति विभिन्न प्रकार के साधारण किस्म के कैंसर रोगों का शिकार बन जाएंगे। हवा के कारण निकटवर्ती ग्रामों में रेडियोधर्मी तत्त्व धूल के रूप में फैल गए थे इसलिए लम्बे अरसे तक इन गांवों में पैदा होने वाले खाद्य पदार्थों पर रेडियोधर्मिता का प्रभाव रहेगा। ये खाद्य पदार्थ जब गांवों से शहरों में पहुंचेंगे तो वहां भी अपना प्रभाव छोड़ेंगें। हवा और खाद्य पदार्थ दोनों ही रेडियोधर्मिता को बहुत थोड़े समय में बहुत दूर तक फैला देते हैं, इसलिए चेरनोबिल दुर्घटना का जीवधारियों और पर्यावरण पर क्या असर पड़ा है, इसका पूरा आकलन करना अभी संभव नहीं है।

चेरनोबिल परमाणु दुर्घटना के पश्चात् बहुत से देशों ने यूरोप से आने वाले खाद्य पदार्थों पर रोक लगा दी। सिंगापुर ने यूरोपीय खाद्य-पदार्थों का आयात रोक दिया। मलेशिया ने यूरोप से आयातित 45,000 किलोग्राम मक्खन लौटा दिया था। श्रीलंका, बांग्लादेश और नेपाल ने भी यूरोप से आयातित खाद्य पदार्थों में भारी मात्रा में रेडियोधर्मिता पाई। भारत भी 'आपरेशन फ्लड' योजना के अन्तर्गत यूरोप में बहुत सारा दूध आयात करता है। कुछ अन्य सरकारी संगठन भी समय समय पर दूध का आयात करते रहते हैं ताकि उसे पौष्टिक आहार के रूप में लोगों में बांट सकें। आश्चर्यजनक रूप से चेरनोबिल दुर्घटना के बाद भी भारत में यूरोप के देशों से दूध और उससे बने पदार्थ बिना रोकटोक आते रहे।

चेरनोबिल काण्ड के बाद परमाणु उद्योग की चारों तरफ बदनामी हुई पर भारत का परमाणु कार्यक्रम पहले के समान ही बिना किसी रुकावट के लगातार चल रहा है। भारत में परमाणु कार्यक्रम शायद इसलिए निर्बाध चलता जा रहा है क्योंकि रेडियोधर्मिता का प्रभाव गैस काण्ड के प्रभाव से कुछ भिन्न होता है। इसका प्रभाव बहुत गंभीर होता है मगर इससे पीड़ित रोगी को वर्षों तक यह पता नहीं चलता कि वह रेडियोधर्मिता का शिकार हो गया है। रेडियोधर्मिता अपना काम चुपचाप छिप कर करती है।

एड्स की महामारी

संयुक्त राज्य अमरीका के सान फ्रांसिस्को नगर में अक्तूबर 1980 और मई 1981 के बीच पांच समलैंगिक नवयुवकों की एक विशेष प्रकार के न्यूमोनिया से मृत्यु हो गई। इस प्रकार का न्यूमोनिया 'निमोसिस्टिस केरीनी' नाम के जीवाणु से फैलता है। डाक्टरों के अनुसार उनका रोग असाधारण था क्योंकि ऐसा रोग कैंसर से पीड़ित पुराने रोगियों को ही होता है। लगातार कैंसर की दवाइयां लेते रहें तो कभी कभी रोगी की रोग से लड़ने की ताकत समाप्त हो जाती है। इन पांचों नवयुवकों का रोग कुछ इसी प्रकार का था।

सन् 1981 में अमरीका में कुछ और नवयुवक रोगी देखने में आए जो एक असाधारण कैंसर से पीड़ित थे। ऐसा कैंसर भी बहुत कम देखने

में आता है। यह चमड़ी का कैंसर था और 'कपोसिस सारकोमा' कहलाता है। ये सभी नवयुवक भी समलैंगिक यौन सम्बन्धों के आदी थे। उसी वर्ष अर्थात् सन् 1981 में डाक्टरों ने एक नए रोग के आने की घोषणा कर दी और यह नया रोग था एड्स अर्थात् 'एक्वायर्ड इम्यून डेफीसिएंसी सिन्ड्रोम'। 'एड्स' तो इस बड़े डाक्टरी बोलचाल के नाम का संक्षिप्त रूप है।

सन् 1984 में पहली बार एड्स के विषाणु (वायरस) का पता चला। डाक्टर इस विषाणु को 'एच. आई. वी' अर्थात् 'ह्यूमन इम्यूनो-डेफीसिएन्सी वायरस' कहते हैं। यह वायरस शरीर की उस कुव्वत को समाप्त कर देता है जिसके द्वारा हमारा शरीर हर प्रकार की बीमारी से लड़ने में समर्थ रहता है। जिस किसी के शरीर में यह 'वायरस' या विषाणु पहुंच जाता है, वह व्यक्ति किसी भी समय ऐसे किसी भी रोग से बीमार हो सकता है जिन्हें चिकित्सा की भाषा में 'मौका परस्त' संक्रमण कहते हैं। *(मौका परस्त संक्रमण उन संक्रमणों को कहा जाता है जो आम तौर पर तो अदृश्य या हल्के-फुल्के रहते हैं मगर यदि शरीर की प्रतिरोध क्षमता किसी कारण से कमज़ोर पड़ जाए तो यही संक्रमण गंभीर रूप धारण कर लेते हैं।)*

एच. आई. वी. ग्रसित व्यक्ति कुछ खास तरह के कैंसर और तपेदिक जैसे छुतहा रोगों के आक्रमण का शिकार बन जाता है। वायरस ग्रस्त कुछ व्यक्तियों में प्रतिरोध प्रणाली की क्षति थोड़े कम स्तर की होती है तथा इन व्यक्तियों में एड्स-सम्बन्धित कुछ कम गंभीर रोग हो जाते हैं। ऐसे वायरस ग्रस्त व्यक्ति भी हैं जिन में लम्बे समय तक किसी बीमारी का प्रकोप नहीं हुआ है। इसके कारण अभी पता नहीं है। एच. आई. वी. स्वयं कोई रोग पैदा नहीं करता परन्तु इसके कारण शरीर अन्य रोगों के प्रति कमजोर हो जाता है। इन सारे लक्षणों व बीमारियों के मिले जुले रूप को एड्स कहा जाता है।

व्यक्ति के शरीर में एच. आई. वी. विषाणु आ जाने के बावजूद हो सकता है वह जल्दी बीमार न पड़े। उसे पता भी नहीं चलता कि वह ऐसे संक्रमण का शिकार हो चुका है। वायरस चुपचाप बढ़ता रहता है। किसी एक खास समय वह विषाणु शरीर के प्रतिरोध तंत्र को नष्ट करना आरंभ करता है। संक्रमण और रोग के पहले लक्षण प्रकट होने के बीच में 2 से 10 वर्ष तक की भी अवधि ठहरती है। इसलिए यह बताना बहुत कठिन होता है कि रोग के विषाणु ने कब उसके शरीर में प्रवेश किया था। ऐसा व्यक्ति जिसके शरीर में यह विषाणु मौजूद है, वह अनजाने में भी इस विषाणु को किसी दूसरे व्यक्ति के शरीर में भी फैला सकता है। और यह सब चुपचाप होता है।

अब तक जो जानकारी प्राप्त हो सकी है, उसके अनुसार यह विषाणु शरीर में तीन प्रकार से प्रवेश करता है। यौन द्वारा, रक्त द्वारा और कभी कभी इस विषाणु को कोई गर्भवती स्त्री जिसके शरीर में यह होता है गर्भ में स्थित बच्चे के शरीर में प्रवेश करा देती है। गर्भ से बाहर आने के उपरान्त भी यह विषाणु उस बच्चे के रक्त में बना रहेगा।

पहले यह धारणा थी कि एड्स के फैलने का कारण समलैंगिक सम्बन्ध है। पर फिर नई जानकारी मिली कि इस विषाणु से संक्रमित कोई भी व्यक्ति –वह पुरुष हो या स्त्री–परस्पर यौन सम्बन्धों द्वारा इसे फैला सकते हैं। संक्रामित पुरुष से यह स्त्री को लग सकता है, संक्रामित स्त्री से पुरुष को, संक्रामित पुरुष से पुरुष को भी। वैसे यौन संपर्क से इस विषाणु को पाने का खतरा कम ही है। वैसे भी यह केवल एक बार के संपर्क से भी लग सकता है।

एड्स के विषाणु से दूषित रक्त यदि किसी ऐसे व्यक्ति के शरीर में पहुंच जाता है जिसका रक्त शुद्ध है, तो वह व्यक्ति भी एड्स का रोगी हो जाएगा अर्थात् दूषित रक्त भी इस बीमारी को फैलाता है। संक्रमित व्यक्ति का रक्त यदि ऐसे रोगियों को नियमित दिया जाए (जैसे हीमोफिल्किस रोगी), दूषित रक्त वाली सूइयां और सिरिंज का परस्पर उपयोग (जैसे नसों के जरिए नशीली दवाएं लेने वाले), अस्पताल में दूषित सूइयों द्वारा सिरिंज का उपयोग (टीकाकरण आदि के दौरान) और इसी तरह आपरेशन आदि में विषाणु रहित किए बिना शल्य औजारों के उपयोग (जैसे नसबंदी अभियान)–इनसे भी यह रोग फैलता है। यह विषाणु संक्रमित गर्भवती से उसकी संतान में प्रसव से पहले या प्रसव के बाद भी फैल सकता है।

वर्तमान में यह नहीं बताया जा सकता कि वायरसग्रस्त व्यक्तियों में से भविष्य में एड्स के रोगियों का क्या प्रतिशत होगा। बहरहाल यह कहा जा सकता है कि इन में दस से तीस प्रतिशत व्यक्ति संक्रमण के बाद पांच वर्षों में एड्स से बीमार पड़ जाएंगे। बीस से पचास प्रतिशत व्यक्तियों के शरीरों में ऐसे लक्षण उभर आएंगे जिनका सम्बन्ध एड्स से होता है। यह निश्चित है कि वे सभी जिनके शरीर में एड्स का विषाणु पहुंच गया है, एक दिन इस रोग से पीड़ित हो जाएंगे।

चिन्ता की बात तो यह है कि आज एड्स एक लाइलाज रोग है जिसमें मृत्यु अनिवार्य होती है। इस रोग के अस्सी प्रतिशत रोगी निदान के दो वर्ष पश्चात् ही मृत्यु के मुंह में पहुंच जाते हैं। इस रोग के विषय में पन्द्रह वर्ष पूर्व पता चला था और इसे महामारी घोषित कर दिया गया था। पर तब से आज तक इसका कोई अचूक इलाज नहीं मिल पाया है। ऐसा कोई टीका भी ईजाद नहीं हुआ है जिसको लगाने से इस रोग से बचा जा सके। यों यह विषाणु कोई नया नहीं है, सबूत है कि यह विषाणु 1950 में भी थे। पर इसने महामारी का रूप बहुत

वर्षों बाद ही धारण किया। यह रोग क्यों होता है, इसके सम्बन्ध में कई मत हैं। फिर भी यह कैसे आरंभ हुआ, इसका वर्तमान रूप जिन घटनाओं से सामने आया, यह भी अभी तक अज्ञात है।

आदिम समाज में किसी रोग से बचने के लिए सामाजिक नियंत्रण के कुछ अनिवार्य नियम बना दिए जाते थे। आज आधुनिक चिकित्सा विज्ञानी इस रोग से बचने के लिए कुछ सामाजिक बंधन सुझा रहे हैं। आधुनिक विज्ञान ने इस रोग की पहचान कर ली है। यह रोग किसके द्वारा फैलता है, उसकी पहचान भी हो गई है। यह कैसे फैलता है, यह भी जान लिया गया है पर इसकी अचूक दवा अब तक नहीं मिली है। इसलिए इससे बचने के लिए सामाजिक स्तर पर कुछ सुझाव दिए गए हैं। एड्स से बचना है तो 'सेफ सैक्स' यानी सुरक्षित यौन संपर्क तथा रक्त सम्बन्धित मामलों में पूरी निगरानी रखने पर जोर दिया जा रहा है।

आधुनिक युग की महामारी एड्स ने चिकित्सा विज्ञान को भी बाध्य कर दिया है कि वह रोग के पैटर्न का अध्ययन करे, समाज के तौर तरीके और रोग से उनका सम्बन्ध खोजें। इसने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि रोगों की रोकथाम करनी है तो समाज की जीवन पद्धति भी बदलनी होगी।

डॉ. जे. मैन जो विश्व स्वास्थ्य संघ में एड्स से सम्बन्ध रखने वाले विभाग में निदेशक हैं, अपने एक वक्तव्य में कहते हैं,

> "एड्स से लड़ने की प्रक्रिया में हमें स्वास्थ्य व सामाजिक व्यवस्था के कई पहलुओं पर फिर से गौर करना पड़ रहा है। एक कसौटी की तरह एड्स ने हमें स्वास्थ्य प्रणाली की खामियों व विषमताओं को देखने पर मजबूर किया है। एड्स का सामना करने के लिए हमें नए सिरे से और शायद अलग ढंग से कई सामाजिक समस्याओं के बारे में सोचना होगा। मसलन औरतों, पुरुषों व बच्चों की वेश्यावृत्ति, सीधे नसों में (इन्ट्रावीनस) औषधि का इस्तेमाल। हमें खून, सुइयों व अन्य शरीर प्रवेशी क्रियाओं के सम्बन्ध में लम्बे समय से चली आ रही कमजोरी को पहचानना होगा : हम यह भी देखते हैं कि जिस ढंग से हम स्वास्थ्य के बारे में परस्पर बातचीत करते हैं, सूचनाएं देते हैं और शिक्षा देते हैं उस पर भी हमें फिर से गौर करना पड़ रहा है। एड्स लगातार हमारी सबसे पेचीदा समस्याओं को उजागर कर रहा है, हमारी मान्यताओं का चुनौती दे रहा है और हमारा मुगालता तोड़ रहा है।"

सन् 1991 में यह आशंका व्यक्त की गई थी कि एड्स के कारण अगले कुछ वर्षों में पश्चिमी देशों में 25 से 34 वर्षों के व्यक्तियों की मृत्यु दर 60 प्रतिशत से भी अधिक बढ़ जाएगी। इस उम्र के लोग हृदय रोग, कैंन्सर, आत्महत्या, ट्रैफिक दुर्घटनाओं से इतना नहीं मरेंगे जितने कि एड्स से।

कभी पश्चिमी देशों में क्षय रोग से मरने वालों की संख्या बहुत अधिक थी, तब क्षय रोग विरोधी दवाओं का भी ज्ञान नहीं था। क्षय रोग की दवाओं का आविष्कार बहुत बाद में हुआ, तब तक यह रोग पश्चिम में समाप्त हो गया था। लगता है एड्स के साथ भी कुछ ऐसा ही होगा। जब यह रोग कम होने लगेगा, तब इसकी दवा का आविष्कार हो जायेगा। यह रोग अब विश्व के कुछ भागों में कम होने लगा है, मसलन ज़ाइर (अफ्रीका) में यह रोग अब पहले से कम हो रहा है, ऐसा क्यों हो रहा है, यह मालूम नहीं है।

छूत के रोग ने फिर सिर उठाया

सन् 1980 के दशक के आरंभिक चरण से ही पश्चिमी देशों में छूत के रोगों का प्रकोप बढ़ने लगा है। जो रोग वहां समाप्त हो गए थे, फिर प्रकट होने लगे हैं।

संयुक्त राज्य अमरीका में सन् 1882 के बाद क्षय रोग घटने लगा था। पर सन् 1970 के पश्चात् फिर प्रकट होकर तेजी से बढ़ने लगा। सन् 1985 और सन् 1992 के बीच अमरीका में इसकी 18 प्रतिशत बढ़ोतरी हुई। अकेले न्यूयार्क शहर में इसकी आश्चर्यजनक बढ़ोतरी हुई है। वहां इसकी सन् 1980 के पश्चात् 150 प्रतिशत बढ़ोतरी अंकित की गई। इस शहर की हार्लेम बस्ती जहां पिछड़ी और गरीब जनता रहती है, जो इस महानगर का गन्दा इलाका समझा जाता है, वहां यह रोग शहर के दूसरे इलाकों से अधिक हुआ। विशेषज्ञों का कहना है कि मध्य हार्लेम में इस रोग का प्रकोप बढ़ने के अनेक कारण हैं। गरीबी में इजाफा, बेघरों की संख्या में वृद्धि, नशीली दवाओं का अधिक सेवन करना और एड्स की छूत, इन सबने यहां क्षय के प्रतिशत में बढोतरी की। इटली में भी टी. बी. के मामलों में सन् 1988 से 1990 के बीच 18 प्रतिशत की वृद्धि हुई और स्विट्ज़रलैण्ड में 5 सालों के दरमियान 33 प्रतिशत वृद्धि हुई।

अमरीका में क्षय रोग की बढोतरी का एक कारण और है। वहां स्वास्थ्य सेवा के वजट में कटौती कर दी गई, विशेषकर उस राशि में जो टी. बी. के उन्मूलन के लिए रखी गई थी। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने यह स्वीकार किया है कि टी. बी. अब विश्व के बहुत से हिस्सों में काबू से बाहर हो गया है। एक नई बात और देखने में आई है, टी. बी. की जो दवाइयां बाजार में आज उपलब्ध हैं, वे रोग का उन्मूलन करने में कमजोर हो गई हैं और असर नहीं कर रही हैं।

डिप्थीरिया एक और छूत का रोग है, जो पूर्ववर्ती सोवियत संघ में

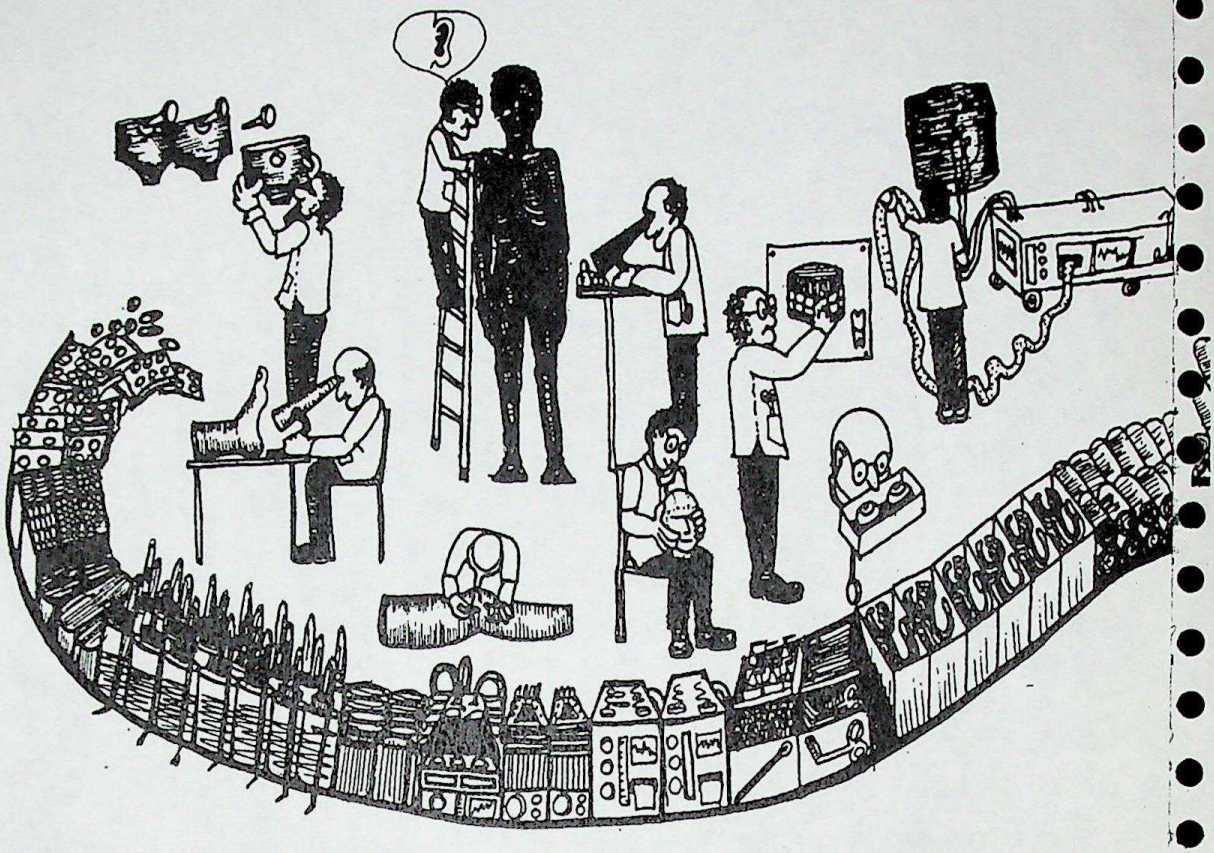

प्रकट हुआ है, वहां यह घातक सिद्ध हुआ है। सन् 1985 और सन् 1992 के दरमियान यह वहां दो गुना बढ़ा।

भारत में भी छूत के रोगों में बढ़ोतरी हुई है। भारत की राजधानी दिल्ली में ही सन् 1988 में 1500 व्यक्तियों की हैजे से मृत्यु हुई। ये दिल्ली की पुनर्वास बस्तियों में रहते थे। सन् 1984 से ही मलेरिया ने अपना सर उठाना आरंभ किया। अब कहा जा रहा है कि सारा भारत इस रोग के चंगुल में आ गया है। उत्तर प्रदेश, बिहार, हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान, पंजाब, असम के अनेक भाग मलेरिया की एक किस्म 'प्लासमोडियम फेल्सीपेरम'की गिरफ्त में फंसे हुए हैं।

राजस्थान में इन्दिरा गांधी नहर के निर्माण के पश्चात् अनेक स्थानों में पानी के जमा हो जाने तथा दलदलीकरण के कारण मलेरिया तेजी से फैला क्योंकि मलेरिया के मच्छर ऐसी ही जगहों में पलते और बढ़ते हैं। केवल सन् 1994 में ही राजस्थान में पांच हजार से अधिक मौते मलेरिया फैलाने वाले रोग से हुईं। कहा जाता है कि मच्छरनाशक दवाई का छिड़काव कम करने के कारण ऐसा हुआ। छिड़काव करने का काम प्राइवेट कंपनियों को सौंपने का यह नतीजा है।

काला आज़ार रोग में भी वृद्धि हुई है यह यद्यपि समाप्त हो गया था। कहा जाता है कि कुपोषण के कारण यह रोग बढ़ता है। एड्स रोगी जल्दी ही काला-आज़ार के भी रोगी हो सकते हैं।

देश आज अनेक प्रकार के नए और पुराने रोगों का घर बन गया है। हालात सुधरने के बदले और बिगड़ेंगे क्योंकि विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की सिफारिशों के फलस्वरूप स्वास्थ्य सुरक्षा के बजट में कटौती कर दी गई है। दुर्भाग्य यह है कि आज बहुत से रोगों का अचूक इलाज मौजूद है पर वह भी नई परिस्थितियों के कारण कारगर सिद्ध नहीं हो रहा है।

सार

संक्षेप में, किसी भी समाज में बीमारियों का स्वरूप उस समाज की जीवनशैली पर निर्भर करता है। हर जीवनशैली के अनुसार एक आर्थिक व सामाजिक वातावरण बन जाता है। आधुनिक चिकित्सा प्रणाली के विकास से पहले की सभ्यताओं में बीमारी का सामना सामाजिक स्तर पर करना होता था क्योंकि बीमारी हो जाने के बाद उसे नियंत्रित करने के साधन बहुत सीमित थे।

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में बीमारी हो जाने के बाद उसे नियंत्रित करने के शक्तिशाली उपाय विकसित हुए क्योंकि एक तो यह प्रणाली उस समय विकसित हुई जब विश्व दृष्टि पर वैज्ञानिक सोच का असर पड़ रहा था और दूसरा समाज के शक्तिशाली वर्गों का प्रभाव रहा कि प्रणाली में सामाजिक स्तर पर बीमारी का सामना करने पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया गया।

इन सब कारणों से आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में स्वास्थ्य, बीमारी और स्वस्थ होने की प्रक्रिया की समझ बहुत ही संकीर्ण है। इस संकीर्ण समझ के कारण ही, इस प्रणाली द्वारा दिए गए समाधान भी बहुत संकीर्ण और अदूरदर्शी हैं। तात्कालीक फायदों के लिए प्रायः दूरगामी लाभ की बलि दे दी जाती है। इन कारणों की वजह से ही आम लोगों की सेहत सुधारने में आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का योगदान बहुत सीमति रहा है।

इस खण्ड में हमने देखा कि आधुनिक चिकित्सा प्रणाली के विकास पर किस तरह समाज के शक्तिशाली वर्गों का नियंत्रण रहा। चिकित्सा के तौर-तरीकों और अनुसंधान पर चिकित्सा और व्यापार का परस्पर सम्बन्ध हावी रहा। व्यापारियों की वित्तीय मदद की बदौलत ही डाक्टर शक्तिशाली बने। इस व्यक्ति के बल पर उन्होंने बाकी सारी स्वास्थ्य प्रणालियों को बेकार साबित किया और चिकित्सा जगत पर एकछत्र आधिपत्य कायम कर लिया।

इस तरह के शक्तिशाली रोग निवारक तरीके अपने आप में उपयोगी हैं और कष्ट से राहत भी देते हैं। परन्तु ये फायदे थोड़े समय के लिए ही होते हैं और इनसे स्वास्थ्य की सामान्य स्थिति को बेहतर बनाने में कोई मदद नहीं मिलती। इस तरह के दूरगामी परिणाम हासिल करने के लिए बीमारी का सामना सामाजिक स्तर पर भी करना होगा।

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली के विकास से पहले, बीमारी का सामना सामाजिक स्तर पर ही करना होता था क्योंकि एक बार बीमारी हो जाने के बाद उसे नियंत्रित करने के उपाय मौजूद नहीं थे। पश्चिमी देशों के अनुभवों से पता चलता है कि वहां चिकित्सा की तकनीक ईजाद होने से पहले ही स्वास्थ्य की स्थिति में सुधार आने लगा था। इससे स्पष्ट है कि वर्तमान समाज में भी बीमारियों का सामना सामाजिक स्तर पर किया जा सकता है।

जिस तरह से आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में वैज्ञानिक सिद्धांतों के आधार पर प्रत्यक्ष स्तर पर हस्तक्षेप के उपाय विकसित किए गए , उसी तरह से सामाजिक स्तर पर भी बीमारी-नियंत्रण के वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत उपाय विकसित किए जा सकते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जब तक प्रणाली मुट्ठी भर लोगों के स्वार्थ सिद्ध करती रहेगी, तब तक यह प्रणाली रोग से लड़ने का एक भी वैकल्पिक उपाय विकसित नहीं होने देगी।

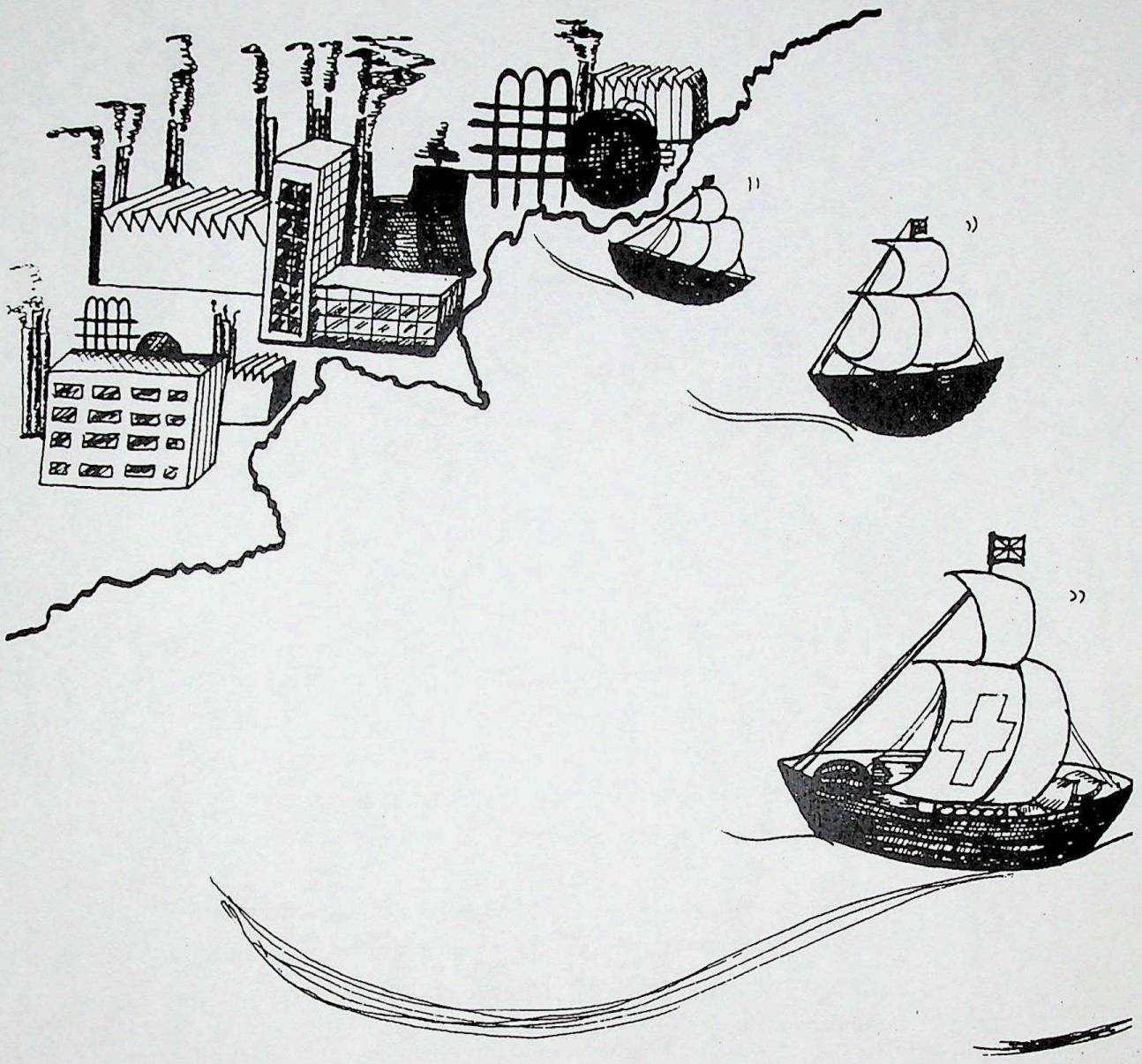

खण्ड III : भूमिका

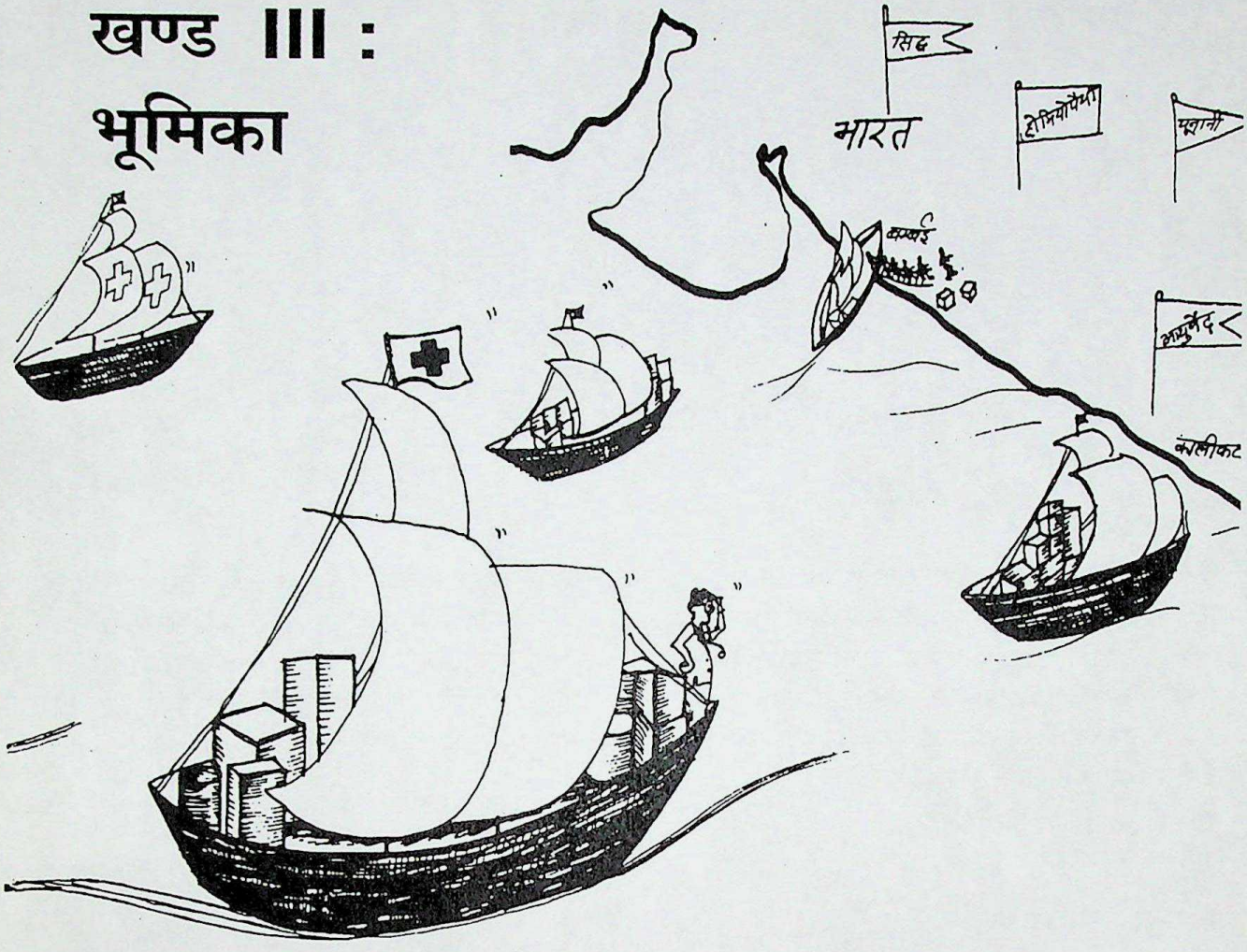

इस खण्ड के शुरू में हम आजाद भारत में आधुनिक चिकित्सा प्रणाली पर आधारित स्वास्थ्य सुविधाओं के विकास की चर्चा करेगें। हम यह भी देखेंगे कि इस विकास की प्राथमिकताएं तय करने में शक्तिशाली वर्गों की क्या भूमिका रही। बाद के अध्यायों में देहाती इलाकों में स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं द्वारा किए जाने वाले कार्यक्रमों तथा इनकी सीमाओं की चर्चा की जाएगी।

इनमें से अधिकांश कार्यक्रमों को बनाते समय गांवों के बहुसंख्य लोगों की सामाजिक व आर्थिक दिक्कतों को ध्यान नहीं रखा जाता। नतीजतन इस तबके के लोगों की स्वास्थ्य समस्याओं का थोड़ा-बहुत समाधान ही हो पाता है। कई समस्याएं तो अछूती ही रह जाती हैं।

इस खण्ड के अध्यायों में इन कार्यक्रमों से सम्बन्धित सरकारी नीतियों की चर्चा भी की गई है। इनमें दिखाया गया है कि किस तरह से स्वास्थ्य कार्यक्रमों की आड़ में सम्पन्न तबके के स्वार्थों की ही पूर्ति होती है। स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं को इसके बारे में सचेत होना चाहिए अन्यथा जाने-अनजाने में वे समाज में व्याप्त शोषण को ही और मजबूत करेंगे।

1 : भारत में स्वास्थ्य सुविधाओं का विकास

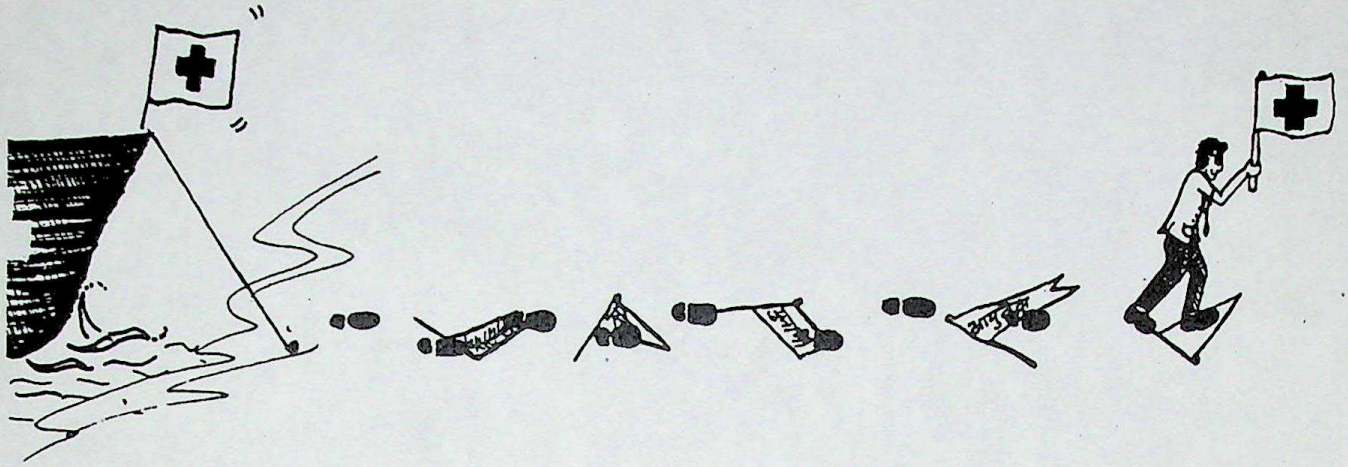

ब्रिटिश शासन के समाप्त होने से पहले भारत में कई समितियों का गठन किया गया था। इन समितियों का काम था—भारत की भावी सरकार को देश के विकास की योजना बनाने में मदद देना। स्वास्थ्य समिति का काम देश की स्वास्थ्य समस्याओं का अध्ययन करके सर्वाधिक उपयुक्त स्वास्थ्य प्रणाली का सुझाव देना था। योजना बनाने के काम में भारत सरकार ने मुख्यतः **भोर समिति** की सिफारिशों का सहारा लिया। इस समिति के सामने दुनिया भर के विविध अनुभवों में से एक स्वास्थ्य प्रणाली चुनने का सवाल था।

चिकित्सा प्रणाली का चुनाव

उस समय भारत में (अंग्रेजों द्वारा लागू की गई) एलोपैथी (आधुनिक) प्रणाली के साथ-साथ होम्योपैथी, आयुर्वेद, यूनानी, और सिद्ध प्रणाली भी जारी थी। इनमें से हर प्रणाली का अपने ढंग का औपचारिक प्रशिक्षण होता था और हरेक के अपने ग्राहक थे। इस प्रकार के प्रशिक्षित चिकित्सकों के अलावा देसी चिकित्सक भी थे, जो अधिकतर देहाती इलाकों में कारोबार करते थे। चिकित्सा के कारोबार पर किसी एक प्रणाली के चिकित्सकों का एकाधिकार नहीं था।

भोर समिति के सदस्य आधुनिक प्रणाली में प्रशिक्षित फिजिशियन थे। इस समय तक यह भी साफ हो चुका था कि पश्चिमी देश उन संक्रामक बीमारियों पर विजय पा चुके थे, जो उस समय भी भारत में व्याप्त थीं। इस सफलता का अधिकांश श्रेय आधुनिक चिकित्सा प्रणाली को ही दिया गया था। दूसरी बात यह थी कि इस प्रणाली द्वारा सुझाए गए तकनीकी समाधानों के जरिये उपनिवेशों में महामारियों पर काबू पा लिया गया था। अतः स्वाभाविक ही था कि समिति आधुनिक चिकित्सा प्रणाली को राजकीय मान्यता देने की सिफारिश करती।

भोर समिति ने अन्य प्रणालियों को समाप्त करने की सिफारिश तो नहीं की परन्तु यह जरूर कहा कि 'डाक्टर' शब्द सिर्फ आधुनिक प्रणाली में प्रशिक्षित व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त किया जाए। समिति ने यह सिफारिश भी दी कि आधुनिक प्रणाली में चिकित्सक का कारोबार सिर्फ उन्हीं व्यक्तियों को करने दिया जाए, जो औपचारिक रूप से प्रशिक्षित हों। समिति ने अन्य प्रणालियों की तुलना में आधुनिक चिकित्सा प्रणाली की श्रेष्ठता को भी रेखांकित किया।

स्वास्थ्य सेवाएं प्रदान करने के लिए ढांचे का चुनाव

स्वास्थ्यकर्मी

आधुनिक प्रणाली में प्रशिक्षित डाक्टरों की दो श्रेणियां थीं—लायसेंसशुदा चिकित्सक, जिनका तीन साल का प्रशिक्षण होता था और अन्य 'स्नातक' जो पांच साल का प्रशिक्षण प्राप्त करते थे। इस प्रकार से हर 6,300 लोगों के पीछे एक पंजीकृत चिकित्सक या रजिस्टर्ड मेडिकल प्रेक्टीशनर (आर. एम. पी.) था। लायसेंसी व स्नातक दोनों को ही पंजीकृत चिकित्सक कहा जाता था।

हालांकि आर. एम. पी. की कुल संख्या तो काफी थी परन्तु उनका वितरण एकरूप नहीं था। शहर-देहात और क्षेत्रीय असंतुलन उस समय भी था। मसलन बंगाल में शहरी इलाकों में कार्यरत आर. एम. पी. की संख्या देहाती इलाकों में कार्यरत आर. एम. पी. की संख्या से साढ़े तीन गुना ज्यादा थी। सिंध (जो ब्रिटिश भारत का हिस्सा था) में यह अनुपात 49:1 का था।

उस समय भी 70 से 75 प्रतिशत तक आर. एम. पी. शहरी इलाकों में कार्यरत थे। आर. एम. पी. की तुलना में अन्य स्वास्थ्यकर्मी बहुत कम थे। कुल 7,750 नर्सें व 5,000 प्रशिक्षित दाइयां थीं और फार्मेसिस्ट (औषधि बनाने वाले) तो मात्र 75 थे। यह साफ था कि स्वास्थ्य कर्मियों की कमी थी। खासकर नर्सों और अर्द्धचिकित्सा (पेरामेडिकल) कर्मचारियों की तो सख्त कमी थी।

भोर समिति ने स्वास्थ्य कर्मियों के प्रशिक्षण को सर्वोच्च प्राथमिकता

माना। इसमें भी डाक्टर के प्रशिक्षण को सबसे ज्यादा महत्त्व दिया। समिति के अनुसार डाक्टर का महत्त्व बाकी सारे स्वास्थ्य कर्मियों से ज्यादा था। डाक्टर का प्रशिक्षण अंतर्राष्ट्रीय मापदण्डों के अनुरूप होना था। समिति का मत था कि लायसेंसी पाठ्यक्रम बंद कर देना उचित होगा और सरकार को अपने सीमित साधन डाक्टरों के प्रशिक्षण पर ही खर्च करना चाहिए।

चूंकि स्नातक डाक्टरों की संख्या पहले ही काफी थी इसलिए समिति का मानना था कि जल्दी ही डाक्टरों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है। परन्तु नर्सों के बारे में समिति का मत था कि यदि सरकार नए नर्सिंग स्कूल खोल भी दे, तो भी कुछेक वर्षों में नर्सों की संख्या पर्याप्त हो जाना संभव नहीं है। डाक्टरों के वितरण में असंतुलन को लेकर यह सोचा गया था कि जहां जरूरत होगी, वहां डाक्टर भेज दिये जाएंगे। समिति ने निजी कारोबार (प्राइवेट प्रैक्टिस) को बन्द करना जरूरी नहीं समझा। समिति का विचार था कि निजी कारोबार करने वाले डाक्टर सरकारी संस्थाओं में पार्ट टाइम काम कर सकते हैं।

स्वास्थ्य संस्थाएं

सन् 1943 में किए गए एक सर्वेक्षण से पता चला कि लोगों को उपयुक्त स्वास्थ्य सुविधा प्रदान करने की दृष्टि से संस्थाओं जैसे अस्पताल, दवाखानों आदि की संख्या बहुत कम है। देहाती इलाकों में स्थिति खासतौर पर खराब पाई गई थी। इसमें भी क्षेत्रीय और शहर-देहात का असंतुलन स्पष्ट था। उदाहरण के लिए जहां मद्रास प्रान्त में प्रति 42,672 आबादी पर एक स्वास्थ्य संस्था थी वहीं संयुक्त प्रान्त में 1,05,626 लोगों के लिए एक संस्था थी।

भोर समिति ने एक श्रेणीबद्ध प्रणाली के गठन का सुझाव दिया, ताकि उपलब्ध संसाधनों का सर्वोत्तम तरीके से इस्तेमाल करके लोगों को स्वास्थ्य सुविधाएं प्रदान की जा सकें। हर जिले को 'प्राथमिक इकाइयों' में बांटा जाना प्रस्तावित था। प्रत्येक इकाई की आबादी 20,000 निर्धारित की गई थीं। प्रत्येक इकाई में एक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र बनाया जाता था, जो इलाज व रोकथाम का मिलाजुला काम करे। जिन मरीजों को विशेष देखभाल की जरूरत हो, उन्हें दूसरे स्तर की स्वास्थ्य संस्था में भेजा जा सकता था। दूसरे स्तर में 200 बिस्तर वाले अस्पताल और आवश्यक स्टाफ का प्रावधान था।

इन इकाइयों का गठन चरणों में किया जाना था। शुरूआत में हर जिले (औसत आबादी 30 लाख) में पांच प्राथमिक केन्द्र बनाए जाने थे। प्रत्येक में 30 बिस्तरों वाला अस्पताल भी प्रस्तावित था। साथ ही, प्रत्येक जिले में एक थोड़ी उच्च स्तरीय सैकण्डरी इकाई बनाई जानी थी, जहां 200 बिस्तरों वाला अस्पताल होता। विचार यह था कि 10 सालों में प्रत्येक जिले में 25 प्राथमिक इकाइयां, और तीस-तीस बिस्तरों वाले 13 अस्पताल खोले जाएंगे। सैकण्डरी इकाई में एक 200 बिस्तर वाला और एक 300 बिस्तर वाला अस्पताल प्रस्तावित था।

स्वास्थ्य कार्यक्रमों का लक्ष्य

समिति ने स्पष्ट कहा था कि स्वास्थ्य कार्यक्रमों का अधिकांश लाभ देहाती आबादी को मिलना चाहिए। देश की अर्थव्यवस्था खेती पर टिकी है और खेतिहर आबादी की सेहत का असर उत्पादन और राष्ट्रीय आय पर पड़ेगा। अतः ग्रामीण स्वास्थ्य सुविधाओं पर किया गया खर्च मुनाफे का सौदा होगा। उससे देश आर्थिक रूप से समृद्ध होगा।

इसी प्रकार से यह भी देखा गया था कि ग्रामीण इलाकों में बीमारी के कारण काम के दिनों का जो नुकसान होता था, उसमें मलेरिया का हिस्सा सबसे ज्यादा था। देश में सबसे ज्यादा मौतें भी इसी बीमारी से होती थीं। इसलिए मलेरिया पर नियंत्रण करना पहली प्राथमिकता बताई गई।

समिति का सुझाव था कि मेडिकल कॉलेजों के पाठ्यक्रम में रोकथाम व सामाजिक चिकित्सा और इलाज दोनों को बराबर महत्त्व दिया जाना चाहिए। इसके लिए रोकथाम व सामाजिक चिकित्सा का एक अलग विभाग बनाने का सुझावे दिया गया था। पूरी पढ़ाई के दौरान विद्यार्थियों को सामाजिक चिकित्सा के सिद्धांत पढ़ाए जाने थे। यह भी कहा गया था कि अपनी इन्टर्नशिप (व्यावहारिक प्रशिक्षण) के दौरान विद्यार्थी दो महीने किसी ग्रामीण क्षेत्र में बिताएंगे।

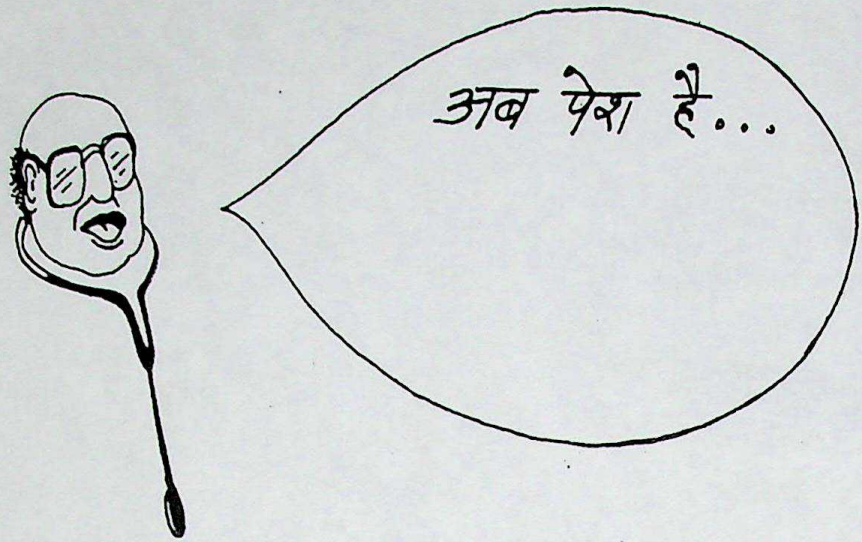

स्वास्थ्य सुविधा का ढांचा

प्राथमिक व सैकण्डरी दोनों इकाइयों का प्रमुख किसी डाक्टर को बनाया जाना प्रस्तावित था। रूस में स्थानीय स्वास्थ्य समितियां गठित की गई थीं, जो स्वास्थ्य कार्यक्रमों की निर्णय प्रक्रिया में भाग लेती थीं और सलाहकार मण्डल की भूमिका निभाती थी। इस अनुभव के आधार पर यह कह गया कि यहां भी गांव के स्तर पर स्थानीय समितियां गठित की जाएं।

इस समिति के सदस्यों का काम यह होना था कि वे महत्त्वपूर्ण घटनाओं (जैसे जन्म व मृत्यु) के पंजीकरण में स्वास्थ्य केन्द्र के स्टाफ की मदद करेंगे, टीकाकरण कार्यक्रम के क्रियान्वयन व वातावरण को स्वच्छ रखने में मदद करेंगे। इस पहलू को काफी महत्त्व दिया गया था। यह आशा थी कि स्थानीय स्वास्थ्य समिति के सदस्य लोगों को प्रेरित करके "ऐसे कई काम बिना भुगतान के करवा लेंगे, जो वैसे बहुत खर्चीले हो सकते हैं।" यह भी सोचा गया था कि ऐसी समितियां लोगों में स्वास्थ्य चेतना जगाएंगी, जिससे लोग अपने वातावरण के प्रति जवाबदेह महसूस करेंगे। ये थी भोर समिति की कुछ प्रमुख सिफारिशें।

भोर समिति की सिफारिशों पर भारत सरकार की प्रतिक्रिया

अंग्रेजों के चले जाने के वाद, यह भारत सरकार पर था कि भोर समिति की सिफारिशों को लागू करे या न करे। नवगठित भारत सरकार ने देश पुनर्निर्माण का बीड़ा उठाया। यह अपने आप में बहुत बड़ा काम था। अंग्रेजों की शोषणकारी नीतियों, दूसरे विश्वयुद्ध के विनाश, देश के विभाजन आदि के कारण देश के सामने भयानक आर्थिक संकट था। संसाधन बहुत सीमित थे और पाई-पाई का खर्च सोच समझ कर किया जाना जरूरी था।

चूंकि अर्थव्यवस्था का निर्माण करना प्राथमिक लक्ष्य था इसलिए प्राथमिकता आर्थिक विकास को बढ़ावा देने वाले कार्यक्रमों को दी गई। पश्चिमी देशों में औद्योगीकरण के जरिये समृद्धि आई थी। उनके अनुभव के आधार पर भारत ने भी समृद्धि के लिए औद्योगीकरण का मार्ग अपनाया। अतः प्राथमिकता उन क्षेत्रों को दी गई, जिनसे औद्योगीकरण में मदद मिले। अतः स्वास्थ्य के लिए कम संसाधन प्रदान किए गए।

एक तो स्वास्थ्य का बजट कम रहा। दूसरे, इसमें से भी ज्यादा हिस्सा उन लोगों पर खर्च किया गया जो राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थे। यह तबका औद्योगिक मजदूरों का था। इस संदर्भ में ग्रामीण आबादी के स्वास्थ्य पर किये जाने वाले खर्च का कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं दिखता था। भारत के आर्थिक विकास के लिए उद्योग महत्त्वपूर्ण थे। कृषि के विपरीत उद्योगों का काम मौसमी नहीं होता। अतः औद्योगीकरण के लिए लगातार काम करते रहने वाले कामगारों की जरूरत थी।

सन् 1948 का कर्मचारी राज्य बीमा कानून नवगठित सरकार द्वारा उठाया गया सम्बन्धी पहला-पहला कदम था। इस कानून के तहत औद्योगिक मजदूरों को बीमारी, गर्भावस्था और काम के दौरान चोट लगने पर नगद हर्जाने व चिकित्सा लाभ का प्रावधान था। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है, कि देश के कुल कामगारों में से एक छोटे से तबके के लिए यह कानून लागू किया गया। दूसरी तरफ, पहला प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र आजादी के पूरे पांच साल वाद जाकर खुला।

1950 के दशक के अन्त तक स्पष्ट भेदभाव उभरने लगे थे। अस्पतालों व स्वास्थ्यकर्मियों की संख्या में काफी वृद्धि हो गई थी। अस्पतालों में उपलब्ध कुल बिस्तरों में से 81 प्रतिशत यानी 1,10,389 बिस्तर बड़े अस्पतालों में थे। ये बड़े अस्पताल शहरी इलाकों में स्थित थे। इनमें से एक तिहाई तो मेडिकल कॉलेजों से जुड़े थे।

इसके विपरीत कुल 2,800 प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र खोले गए थे जबकि योजना 5,000 की थी। हर पी. एच. सी. के कार्यक्षेत्र में

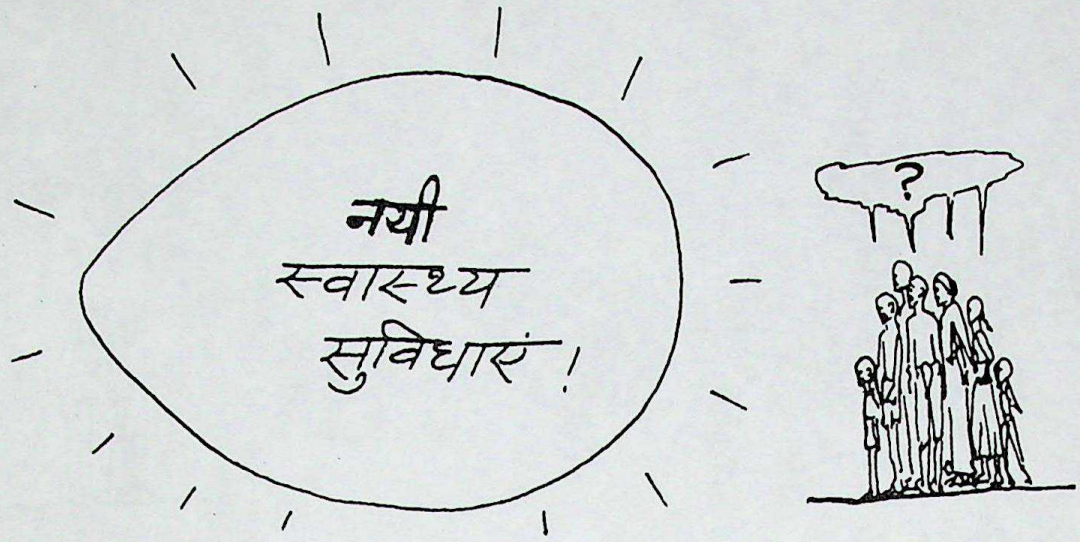

65 से 75 हजार की आबादी आती थी। हरेक पी. एच. सी. में एक डाक्टर, एक स्वच्छता निरीक्षक (सेनीटरी इंस्पेक्टर), एक हैल्थ विजिटर, और चार दाइयां थीं। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के मुताबिक देहाती क्षेत्र में 27,000 लोगों पर औसतन एक डाक्टर उपलब्ध था।

	1948	1959
डाक्टरों की संख्या (स्नातक व लायसेंसी)	47,524	83,611*
नर्स, ए. एन. एम., दाइयों व हेल्थ विजिटरों की संख्या	12,750	68,990
पी. एच. सी. की संख्या	—	2,800
मेडिकल कॉलेजों की संख्या	19	61
मेडिकल कॉलेजों की क्षमता	1,200	5,900
नर्सिंग स्कूल व कॉलेजों की संख्या	अज्ञात	711

** वास्तव में डाक्टरों की संख्या ज्यादा थी। कई राज्यों के आंकड़े उपलब्ध नहीं थे।*

स्रोत : भोर समिति व मुदलियार समिति की रिपोर्ट।

मुदलियार समिति का गठन और प्रमुख सिफारिशें

सन् 1959 में डा. ए. एल. मुदलियार की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया। इस समिति का काम देश में स्वास्थ्य की मौजूदा परिस्थिति की समीक्षा करके भविष्य के लिए सुझाव देना था।

समिति ने पाया कि ग्रामीण क्षेत्रों में काम करने का विचार डाक्टरों के बीच लोकप्रिय नहीं है, "और अगर कहीं कोई डाक्टर नियुक्त हैं, तो भी इसे बंधुआ मजदूरी का दौर समझते हैं और मौका मिलते ही शहर के किसी अस्पताल या स्वास्थ्य विभाग में पहुंचने की कोशिश करते हैं।" समिति का यह भी निष्कर्ष था कि प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र महज दवा वितरण केन्द्र के रूप में चल रहे हैं। समिति के अनुसार इसका कारण यह था कि चिकित्सा अधिकारी व अन्य कर्मचारियों में जन स्वास्थ्य के तौर-तरीकों की समझ का अभाव था। प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र की सबसे बड़ी दिक्कत यह थी कि इतने कम स्टाफ के लिए साठ-सत्तर हजार की आबादी को समग्र स्वास्थ्य सुविधा प्रदान करना असंभव-सा था।

इन अवलोकनों के आधार पर मुदलियार समिति का कहना था कि पूरी ग्रामीण आबादी को प्राथमिक स्वास्थ्य सुविधा मुहैया करवाना संभव या व्यवहारिक नहीं होगा। चूंकि अभी भी संसाधनों की कमी है, इसलिए पैसा जिला अस्पतालों को पुख्ता बनाने पर खर्च किया जाना चाहिए। इन अस्पतालों में विशेषज्ञ सेवाएं भी जोड़ी जानी चाहिए। तालुका-स्तर अस्पतालों को भी विकसित करना होगा ताकि ये रोजमर्रा की चिकित्सा, शल्यक्रिया एवं स्त्री रोग की जरूरतें पूरी कर सकें। चूंकि इन सारी इकाइयों (पी. एच. सी., तालुका व जिला अस्पतालों) के लिए पैसा नहीं मिल पाएगा, इसलिए समिति का विचार था कि पैसा व कर्मचारी जिला अस्पतालों में लगाए जाने चाहिए।

ऐसा माना गया था कि पूरे जिले को चिकित्सा सुविधा देने का यही सबसे व्यवहारिक व किफायती तरीका होगा। पी. एच. सी. के बारे में कहा गया था कि सरकार को नए केन्द्र खोलने का विचार छोड़ देना चाहिए और मौजूदा केन्द्रों को बेहतर बनाने पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। समिति का विचार था कि यह कोई उल्टा कदम नहीं होगा क्योंकि "सड़क, संचार, टेलीफोन और तार आदि की बढ़ी हुई सुविधाओं और जिला व तालुका मुख्यालयों पर प्रस्तावित आधुनिक अस्पतालों के संदर्भ में, बेहतर यह होगा कि ग्रामीण इलाकों के लिए चिकित्सा सुविधा चलित वाहनों के जरिये प्रदान की जाए। ये वाहन जिला व तालुका मुख्यालयों से गांवों का दौरा करेंगे।"

इस समिति के सामने दूसरी बड़ी समस्या स्वास्थ्य कर्मचारियों की कमी से सम्बन्धित थी, खासकर देहाती इलाकों में। समिति ने छोटी अवधि के पाठ्यक्रम को फिर से शुरू करने का सुझाव दिया, ताकि ग्रामीण क्षेत्रों में कोई प्रशिक्षित कर्मचारी तो पहुंचे। अलबत्ता समिति को यह स्पष्ट था कि "समूचा चिकित्सा जगत और उससे जुड़े सारे संगठन

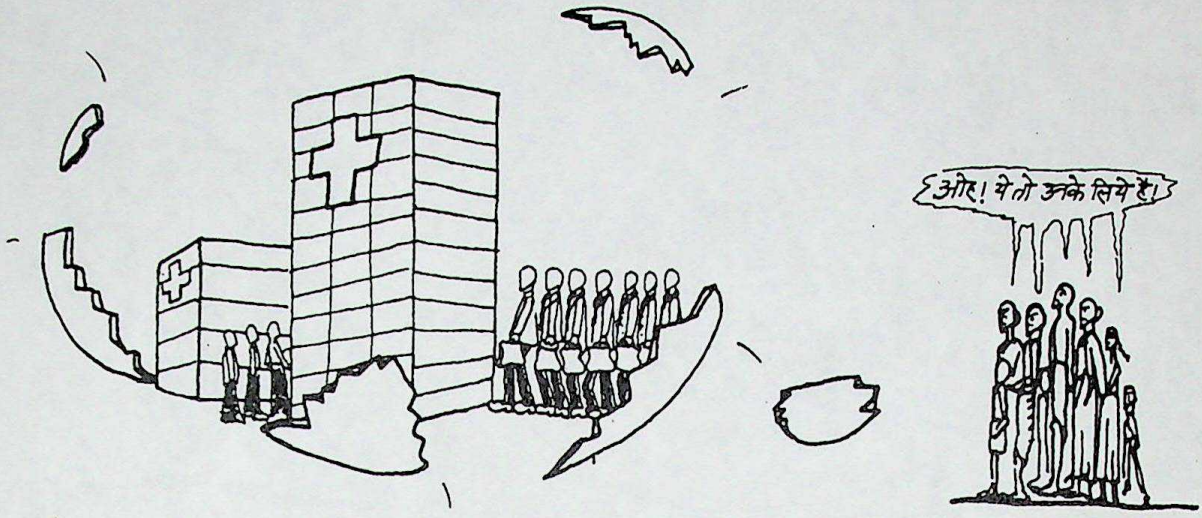

इस पाठ्यक्रम को फिर से शुरू करने के खिलाफ हैं।'' इन लोगों का यह भी विश्वास था कि स्वास्थ्य के क्षेत्र में उचित विकास के लिए डाक्टरों की न्यूनतम योग्यता की शर्त अनिवार्य है।

उनका यह भी कहना था कि अब भारत अलग-थलग नहीं रह गया है और हम अंतर्राष्ट्रीय कार्यक्रमों में भाग लेते हैं। इसलिए जरूरी है कि डाक्टरों की शिक्षा विश्व स्वास्थ्य संगठन के मापदण्डों के अनुरूप हो। उनको यह भी लगता था कि छोटी अवधि के पाठ्यक्रम में प्रशिक्षित लोग भी शहरों में बस जाएंगे और इस प्रकार से मूल लक्ष्य धरा का धरा रह जाएगा। समिति का यह भी मानना था कि गांवों और शहरों के बीच भेदभाव नहीं होना चाहिए। यदि गांवों में सुविधा देनी है तो यह उतनी ही अच्छी होनी चाहिए जितनी कि शहरों में हैं।

स्वास्थ्यकर्मियों की कमी के संदर्भ में समिति का सुझाव था कि 20 नए मेडिकल कॉलेज खोले जाएं, जिससे कुल छात्र संख्या 5,900 से बढ़ाकर 7,900 की जा सके। नर्सिंग स्कूल एवं पैरामेडिकल कर्मचारियों की ट्रेनिंग की सुविधाएं भी बढ़ाने का सुझाव था। लक्ष्य यह भी रखा गया था कि डाक्टर-जनसंख्या अनुपात 1:3,000, नर्स-जनसंख्या अनुपात 1:5,000 और ए. एन. एम. जनसंख्या अनुपात 1:5,000 हो जाए। ए. एन. एम. नर्सिंग कर्मचारी की एक नई श्रेणी थी। यह श्रेणी सन् 1955 में बनाई गई थी।

मूल योजना के मुताबिक ए. एन. एम. प्रशिक्षित नर्स की जगह लेने वाली नहीं थी। इनका काम था स्वास्थ्य संस्थाओं में उचित देखरेख के तहत उपयोगी कामकाज करना। ए. एन. एम. के बारे में समिति का विचार था कि ''यह जरूरी होगा कि कुछ व्यक्तियों को इस तरह की ट्रेनिंग दी जाए कि वे नर्सिंग का कुछ कामकाज निपटा सकें। इस उद्देश्य से हम आक्ज़ीलरी नर्स मिडवाइफ के प्रशिक्षण को जारी रखने और विस्तार करने की सिफारिश करते हैं।''

यह वह समय था जब भारतीय दवा उद्योग एक प्रमुख शक्ति के रूप में उभर रहा था। देश में लगभग 2,800 दवा उत्पादक थे। 100 से ज्यादा मजदूर या 10 लाख रुपये से ज्यादा पूंजी वाले उद्योग 125 थे। मुदलियार समिति ने सिर्फ इसी समूह को दवा उद्योग माना। समिति का कहना था कि इन उद्योगों को न सिर्फ विदेशी दवा उद्योग से प्रतिस्पर्धा करनी होती है बल्कि छोटे उद्योगों की 'अनुचित' प्रतिस्पर्धा का सामना भी करना पड़ता है। ये छोटी इकाइयों के लायसेंस निरस्त कर दिए जाएं। समिति ने आगे स्पष्ट किया कि ''यदि दवा उद्योग का विकास होना है और देश के स्वास्थ्य की रक्षा करनी है, तो किसी उत्पादन को सिर्फ इसलिए बढ़ावा नहीं दिया जा सकता कि वह लघु उद्योग है, चाहे वह कानूनी जिम्मेदारी का उल्लंघन करता रहे।'' समिति ने यह भी सुझाव दिया कि सरकारी संस्थाओं में दवाइयों के मूल (जीनेरिक) नामों के उपयोग को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

समिति ने बढ़ी जनसंख्या की समस्या के बारे में भी सुझाव पेश किए। इस समस्या को अर्जेन्ट माना गया क्योंकि यह देश के आर्थिक विकास के रास्ते में मुख्य बाधा थी। इस सम्बन्ध में दिए गए सुझावों के कुछ उदाहरण हैं : चौथे गर्भ के बाद से बढ़ते क्रम में टैक्स लगाना, अविवाहित लोगों को आयकर में होने वाले नुकसान को समाप्त करना, जो लोग सीमित परिवार की बात नहीं मानते उनको गर्भावस्था व जचकी के दौरान दिए जाने वाले मेटर्निटी लाभ न देना और ऐसे परिवारों के बच्चों को सरकार द्वारा दी जाने वाली मुफ्त सेवाओं पर प्रतिबन्ध लगाना, सामाजिक-आर्थिक कारणों से गर्भपात की सहूलियत देना, आदि।

श्रीवास्तव समिति का गठन

1960 के दशक के अंत और 1970 के शुरू में देश में जन आन्दोलनों और हलचल का दौर रहा। इनके कारण राजनैतिक अस्थिरता का खतरा पैदा हो गया। दरअसल सरकार की नीतियों से असमानताएं घटने की बजाय बढ़ गई थी।

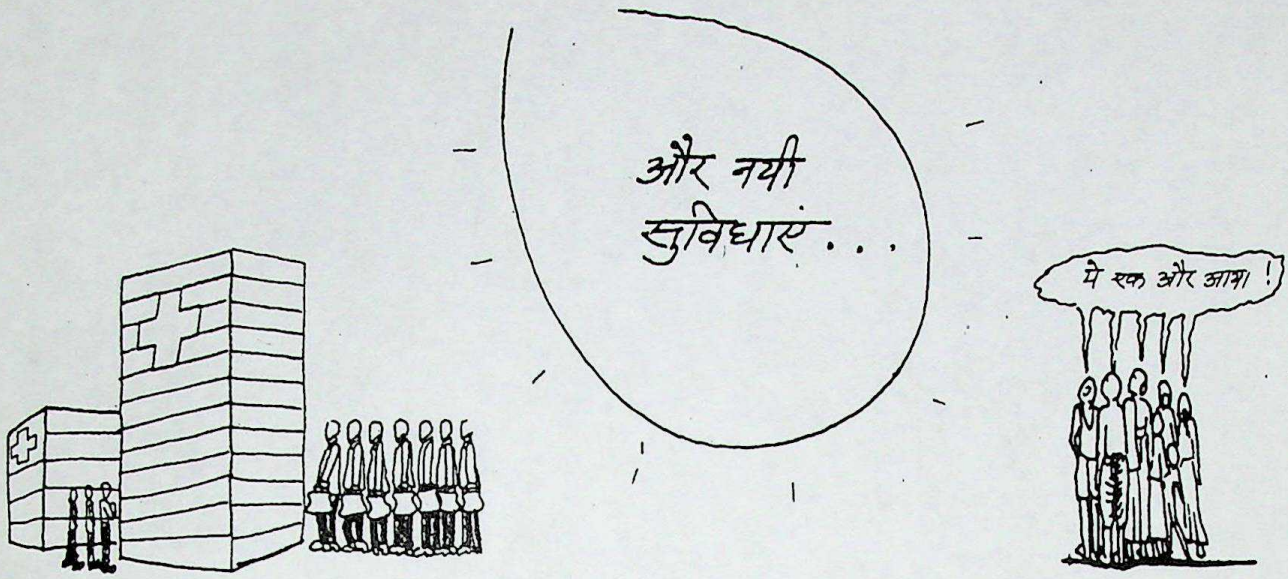

सबको पर्याप्त भोजन, साफ पानी, बेहतर जीवन मुहैया कराने की बजाय इन नीतियों के परिणामस्वरूप अमीर और अमीर हो गए एवं गरीब और गरीब हो गए। इस परिस्थिति के कारण लोगों में असंतोष फैला और इस असंतोष ने जगह-जगह स्वतः स्फूर्त संघर्षों का रूप ले लिया। इन आंदोलनों का परिणाम यह हुआ कि नीति निर्माता अपनी नीतियों और कार्यक्रमों पर फिर से नजर डालने की मजबूर हुए।

स्वास्थ्य सेवाओं के बारे में सरकार को स्वीकार करना पड़ा कि डाक्टरों से गांव में काम करने की उम्मीद बेकार है। अलबत्ता पांचवीं योजना के मसौदे में कहा गया कि मेडिकल शिक्षा में बुनियादी परिवर्तन की जरूरत है। मेडिकल शिक्षा को देश की जरूरतों से जोड़ने की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा गया कि अस्पताली व्यवस्था को छोड़कर सामुदायिक स्वास्थ्य सेवा पर ध्यान दिया जाना चाहिए। अतः मेडिकल शिक्षा व सहायक कार्यकर्ताओं के उन्मुखीकरण के सवाल पर ध्यान देने के लिए डा. श्रीवास्तव की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई।

श्रीवास्तव समिति की सिफारिशें

समिति ने पाया कि "चिकित्साकर्मियों के प्रशिक्षण पर किए गए खर्च और प्रभावशाली नतीजों के बावजूद भारतीय लोगों का स्वास्थ्य स्तर संतोषजनक नहीं है।" पहली बार चिकित्सा टेक्नोलॉजी पर आलोचनात्मक दृष्टि डाली गई और यह कहा गया कि स्वास्थ्य सुविधा के इस मॉडल को छोड़ दिया जाना चाहिए।

समिति ने स्वास्थ्य को एक व्यक्तिगत जिम्मेदारी माना और कहा कि स्वास्थ्य शिक्षा ही अच्छी सेहत का मार्ग है। समिति का कहना था कि "यदि व्यक्ति को खुद की सेहत की उचित देखभाल करना न सिखाया जा सके, तो कोई सामुदायिक या सरकारी स्वास्थ्य सुविधा उसे स्वस्थ नहीं रख पाएगी। इसलिए मुद्दा दरअसल शिक्षा देने का है।"

पहला कदम यह सुझाया गया था कि गांव के लोगों को स्वास्थ्य की सुविधाएं गांव में ही मिलनी चाहिए। समिति का मानना था कि

> "सामुदायिक स्तर पर जरूरत विशेषज्ञों की नहीं बल्कि इस बात की है कि स्वास्थ्यकर्मी की समुदाय से निकटता हो, आम विश्वास हो, लोगों के साथ भावनात्मक सम्बन्ध हो, मदद देने की इच्छा हो, जरूरत के मुताबिक समय देने की क्षमता हो और यह सब कीमत में उपलब्ध हो। इसलिए जरूरी है कि इनमें से कुछ काम परिवार के सदस्यों द्वारा ही किए जाएं। इसके अलावा कुछ सुविधाओं की जिम्मेदारी पार्ट टाइम पेरामेडिकल व्यक्तियों द्वारा उठाई जाए। ये व्यक्ति स्वरोजगार के अंतर्गत यह काम करें। विकासशील देशों के पास संसाधनों की बहुत कमी है। ऐसी परिस्थिति में स्वास्थ्य सुविधा प्रदान करने का यही एकमात्र तरीका है।"

समिति का सुझाव था कि यदि कुछ व्यक्तियों को "चिकित्सा व स्वास्थ्य विज्ञान के आधुनिक ज्ञान व हुनर का प्रशिक्षण दिया जाए, तो प्राथमिक स्वास्थ्य व चिकित्सा सुविधाएं प्रदान करने के लिए बड़ी संख्या में कार्यकर्ता तैयार किए जा सकते हैं।"

समिति का मानना था कि प्रशिक्षित व्यक्तियों की संख्या को सीमित करना उचित नहीं होगा क्योंकि इससे "अभाव और एकाधिकार की स्थिति बन जाएगी, जिसके दुष्परिणाम हमें भलीभांति मालूम हैं। ऐसा प्रशिक्षण हर उस व्यक्ति के लिए खुला होना चाहिए जिसमें जरूरी माद्दा और प्रतिभा हो।"

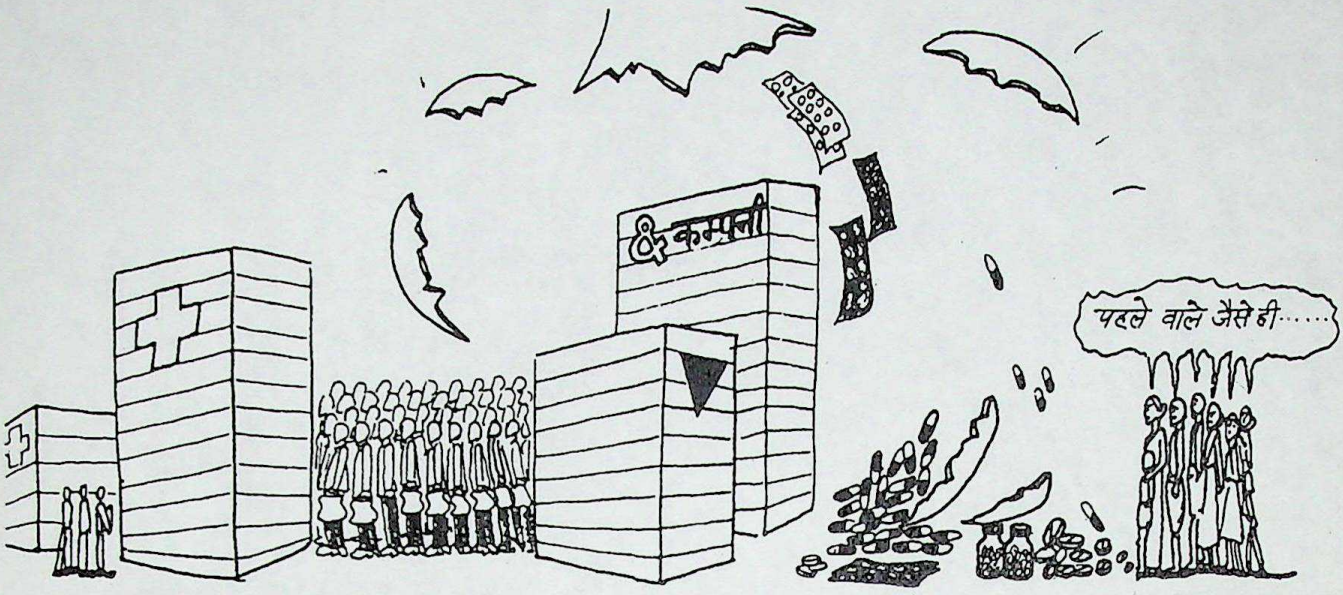

समिति के अनुसार इस श्रेणी के कार्यकर्ताओं का प्रमुख काम स्वास्थ्य शिक्षा का होगा। इसलिए डाक्टरों को यह डर नहीं पालना चाहिए कि ये कार्यकर्ता उनसे मुकाबला करने लगेंगे। इसके अलावा इन कार्यकर्ताओं को सिर्फ कुछेक आसान औषधियों का उपयोग करना ही सिखाया जाएगा। इसलिए किसी प्रतिस्पर्धा या दुरुपयोग की आशंका भी नहीं होनी चाहिए।

चिकित्सा शिक्षा के बारे में समिति का विचार था कि नए मेडिकल कॉलेज कतई नहीं खोले जाने चाहिए और मौजूदा कॉलेजों में भी दाखिला कम कर दिया जाना चाहिए। समिति ने ग्रामीण इलाकों के लिए डाक्टरों की शिक्षा हेतु छोटी अवधि के पाठ्यक्रम और लायसेंसी पाठ्यक्रम फिर से शुरू करने का सुझाव दिया। साथ ही साथ समिति ने यह भी स्वीकार किया कि यह उपाय बेकार साबित होगा, क्योंकि जब तक डाक्टरों के देहाती इलाकों में काम करने की सामाजिक-आर्थिक अड़चनों को दूर नहीं किया जाता, तब तक डाक्टरों की संख्या बढ़ाने से कोई मदद नहीं मिलेगी।

फिर, समिति का दृष्टिकोण यह भी था कि ग्रामीण क्षेत्रों के लिए भी बेहतर प्रशिक्षित डाक्टरों की ही जरूरत होगी। कम प्रशिक्षित डाक्टरों से काम नहीं चलेगा। इस मामले में समिति का मत था कि वित्तीय सीमाओं के कारण मेडिकल शिक्षा का स्तर कम नहीं किया जाना चाहिए।

समिति ने यह भी कहा कि परिवार नियोजन को विकास कार्यक्रमों का अंग बनाया जाना चाहिए। "गर्भनिरोध की मौजूदा तकनीकों के आधार पर एक व्यापक परिवार नियोजन कार्यक्रम युद्ध स्तर पर विकसित किया जाना चाहिए ताकि जितनी जल्दी हो सके जन्म दर घटकर मात्र भरपाई (क्षति पूर्ति) के स्तर पर आ जाए।"

स्ट्रक्चरल एडजस्टमैंन्ट प्रोग्राम के तहत स्वास्थ्य नीतियां

भारत सरकार की विकास सम्बन्धी नीतियों के कारण हमारा देश विदेशी कर्ज के बोझ से निरन्तर दबता चला गया है। मंहगी विदेशी तकनीक खरीदने के लिए भारत विदेशों से तथा विदेशी बैंकों से लगातार कर्ज लेता रहा है। विदेशी बैंकों के ब्याज की दरें बहुत ऊंची होती थीं। इस कारण ऋण और ब्याज चुकाना भारत के लिए बहुत कठिन हो गया। ऐसे समय विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष भारत को कर्ज से 'उबारने' के लिए आगे आए। उन्होंने भारत को कर्ज देना स्वीकार किया, साथ ही कुछ शर्तें भी रखीं। इन शर्तों के अनुसार भारत सरकार के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह अपनी आर्थिक नीतियों में परिवर्तन करें। इन परिवर्तनों को 'स्ट्रक्चरल एडजस्टमैंन्ट प्रोग्राम' (सैप) अर्थात् 'आर्थिक संरचना में नए परिवर्तन' कहते हैं। *(खण्ड I का अध्याय 2 देखें)*।

अफ्रीका और लातिन अमरीका के वे देश जिन्होंने विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष से कर्ज ले रखा था, विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की आर्थिक नीतियों को अपने यहां अस्सी के दशक में ही लागू कर चुके थे। इन नई आर्थिक नीतियों के कारण इन देशों में रोजगार में कमी आ गई, मजदूरी भी कम हो गई, खाद्य पदार्थों की कीमतें बढ़ गईं, पौष्टिक तत्त्व मिलना कठिन हो गए और इन सब कारणों से जनता के स्वास्थ्य पर भी बुरा असर पड़ा। तब यह स्वाभाविक ही था कि लोग विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की जनविरोधी आर्थिक नीतियों की आलोचना करने लगे। फलस्वरूप सन् 1993 में विश्व बैंक ने स्वास्थ्य पर एक निर्देशिका प्रकाशित की जिसका शीर्षक है "इनवेस्टिंग इन हैल्थ"। इस निर्देशिका में स्वास्थ्य क्षेत्र में बदलाव लाने का सुझाव दिया है। यह सुझाव उन सरकारों के लिये है जिन्होंने विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष से ऋण ले रखे हैं।

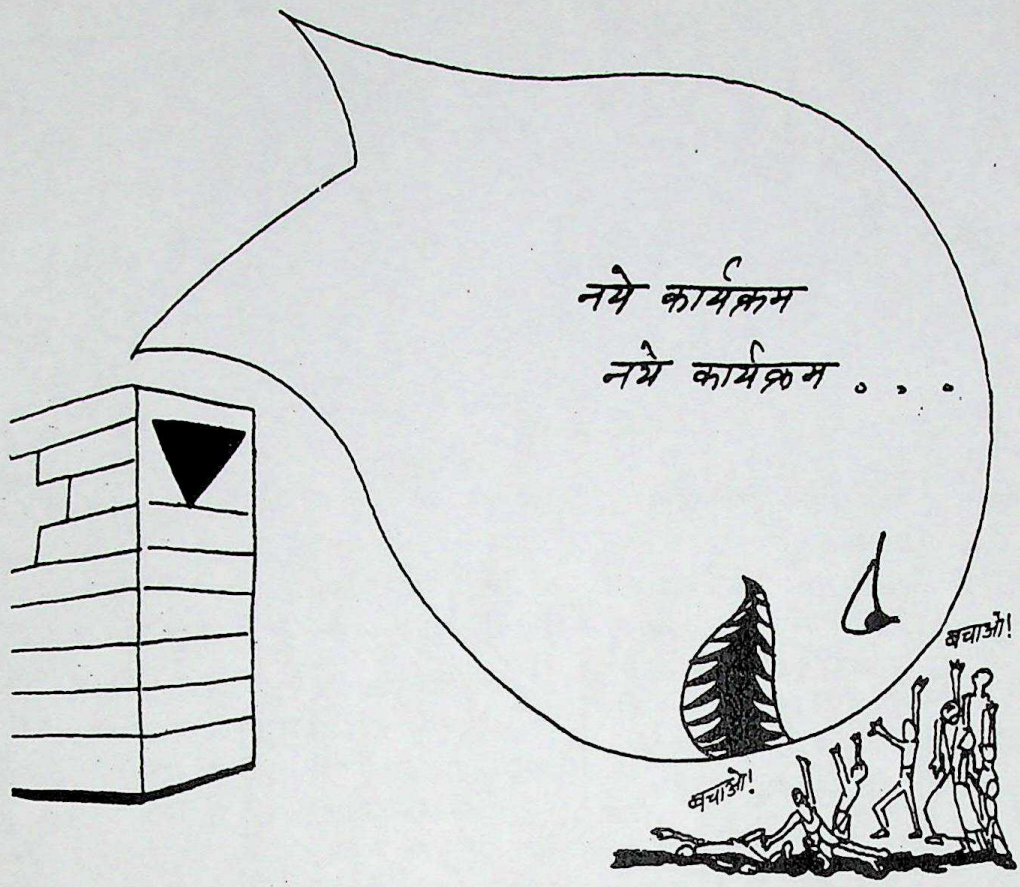

भारत सरकार ने भी सन् 1991 से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्वबैंक की आर्थिक नीतियों और निर्देशों के अनुसार काम करना शुरू किया है। अब सरकार की नई आर्थिक नीतियों ने देश की स्वास्थ्य नीति को प्रभावित करना आरंभ कर दिया है। यह निश्चय है कि देश के जन स्वास्थ्य पर इन नीतियों का गंभीर प्रभाव पड़ेगा।

विश्व बैंक के निर्देशों के फलस्वरूप अब स्वास्थ्य और शिक्षा जैसे जन कल्याण से सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर गंभीर प्रभाव पड़ना लाजिमी है। उनका जो बजट था, उस पर भारी कटौती कर दी जायेगी। अब तक सार्वजनिक स्वास्थ्य और शिक्षा पर जो राशि खर्च की जाती थी वह अप्रत्यक्ष करों से प्राप्त की जाती थी। यह राशि गरीब जनता से प्राप्त है। जब जनता बाजार से कुछ खरीदती है तो कर के रूप में कुछ राशि सरकार के कोष में पहुंच जाती है। यही राशि स्वास्थ्य और शिक्षा आदि में खर्च हो रही है।

विश्व बैंक का कहना है कि अब अप्रत्यक्ष करों से प्राप्त होने वाली राशि को जन कल्याण के कामों में खर्च नहीं किया जाय। उसे बचा कर विश्व बैंक को उसका दिया हुआ कर्ज अदा करने में लौटाया जाना चाहिए। इसे "टाइटनिंग ऑफ द बैल्ट" अर्थात् 'कमरबन्द को कस कर बांधना' कहते हैं। विश्व बैंक की नीति उस बड़े जमींदार की नीति जैसी है जो कर्जवान किसान से कहता है, "भले ही तुम और तुम्हारा परिवार भूख से मर जाय पर मेरा रुपया तुम्हें हर हालत में लौटा देना चाहिए।"

विश्व बैंक ने कर्ज लेने वाले देशों की सरकारों को जनकल्याण के कामों में खर्च होने वाली राशि में कटौती करने को तो कहा ही है, साथ ही यह सलाह भी दी है कि वे ऐसी सेवाओं को निजी क्षेत्र को सौंप दें। सरकारी अस्पतालों को निजी क्षेत्र को दे दिया जाय या उन्हें गैर सरकारी स्वयंसेवी संस्थाओं को सौंप दिया जाय। औषधियों और चिकित्सा उपकरणों के काम को भी निजी क्षेत्र को देने की सिफारिश की गई है। निजी क्षेत्र को इन्हें लेने के लिए प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए, ऐसी विश्व बैंक की सलाह है।

विश्व बैंक के निर्देशों के अनुसार प्रत्येक सरकार को अपनी स्वास्थ्य सम्बन्धी नीतियों का स्पष्ट रूप से खुलासा करना चाहिए। यह बताना चाहिए कि स्वास्थ्य सेवा के अन्तर्गत किन सेवाओं को वह मुफ्त में करेगी और किन सेवाओं के लिए जनता से पैसा वसूल करेगी।

विश्व बैंक के सुझाव अनुसार टीकाकरण, स्कूली स्वास्थ्य योजना तम्बाकू और शराब के सेवन से शारीरिक कष्ट, जन स्वास्थ्य, पोषण, परिवार नियोजन, मलेरिया उन्मूलन, यौन रोग तथा यौन जनित छूत रोग आदि का इलाज जन स्वास्थ्य सेवा के अन्तर्गत अवश्य किया जाना चाहिए।

चिकित्सा सेवा के अन्तर्गत आने वाले कुछ ऐसे कार्यक्रम हैं जिन्हें कुछ हद तक निशुल्क किया जा सकता है। विश्व बैंक के निर्देशों के अनुसार टी. बी. निवारण, यौन रोग और यौन जनित छूत रोग, छूत सम्बन्धी अन्य दूसरे रोग, मानसिक-आघात, रोग का मूल्यांकन और उसका परामर्श तथा उसका दर्द निवारण आदि निशुल्क सेवा के अन्तर्गत आ सकते हैं।

विश्व बैंक के निर्देशानुसार केवल जिले के अस्पताल का विस्तार होना चाहिए। वहां केवल टूटी हड्डी या 'एपन्डिक्स' जैसी साधारण तकलीफ का इलाज होना चाहिए, इससे अधिक और कुछ नहीं होना चाहिए। सभी सरकारी अस्पतालों को अपना खर्च बीमारों से जुटाना चाहिए, अर्थात् जो भी वे सेवा करें, उसकी कीमत वसूल करें। विश्व बैंक के अनुसार प्राइवेट डाक्टरों के पास इलाज के लिए जाने वालों की संख्या अधिक बढ़ रही है, इसलिए यदि वे अपने इलाज के लिए सरकारी अस्पतालों में जाते हैं तो उनसे इलाज की कीमत क्यों वसूल न की जाय।

भारत सरकार ने अब विश्व बैंक के निर्देशों के अनुसार काम करना आरंभ कर दिया है। अध्ययनों से पता चला है कि चिकित्सा व सार्वजनिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में सरकारी खर्च सन् 1990 तक बढ़ता गया और उसके बाद कम होना शुरू हो गया है। अस्सी के दशक में छूत के रोगों पर जो व्यय निश्चित किया गया था, वह अब कम होता गया है, और नब्बे के बाद तो इसमें और भी कमी आई है। अधिकांश गरीब जनता ही छूत के रोगों से पीड़ित होती है। छूत के रोगों के व्यय में कटौती कम करने का मतलब है, गरीब रोगी अब इनका इलाज नहीं करा पाएंगे।

जहां तक दवाइयों की कीमतों का सवाल है, सन् 1995 में सरकार ने अपने एक आदेश डी. पी. सी. ओ. 1995 (ड्रग्स प्राइस कन्ट्रोल आर्डर) के द्वारा 94 दवाओं की कीमतों पर से कन्ट्रोल समाप्त कर दिया है। इस का सीधा मतलब दवा बनाने वाली कंपनियां अब इन दवाओं की मनमानी कीमतें वसूल करेगी, अब उन पर कोई अंकुश नहीं रहेगा। ये दवाइयां बुनियादी अर्थात् जीवन रक्षक दवाइयां हैं। उदाहरण के लिए आइसोनियाज़िड और पी.ए.एस., टी. बी. के लिए, डेप्सोन और क्लोफजमीन कुष्ट रोग के लिए, सल्फाडौक्सिन और पाइरीमेतमीन, मलेरिया के लिए आवश्यक हैं। ये दवाइयां अब इतनी महंगी हो जाएंगी कि लोग इन्हें खरीद नहीं सकेंगे।

सरकारी अस्पताल भी अब अपनी सेवाओं के लिए धीरे-धीरे पैसा वसूल करने लगे हैं। कुछ वर्षों बाद ऐसा समय आएगा जब गरीब जनता अपने इलाज का खर्च बर्दाश्त नहीं कर पाएगी और अस्पताल जाना छोड़ देगी। उत्तर प्रदेश के एक सर्वेक्षण के अनुसार भविष्य में एक गरीब परिवार को अपने इलाज के लिए अपनी दो वर्षों की पूरी आमदनी सरकारी अस्पताल को देनी होगी। तभी उसका इलाज संभव हो सकेगा। अगर वह किसी प्राइवेट अस्पताल में अपने इलाज के लिए पहुंच गया तो वहां उसे और भी अधिक खर्च करना होगा।

अफ्रीका में किए सर्वेक्षणों से ज्ञात हुआ कि अस्सी के दशक में जिन देशों में विश्व बैंक के निर्देशों के अनुसार सरकारी अस्पतालों की आर्थिक नीतियां निर्धारित की गईं थीं, वहां गरीब जनता ने अस्पतालों में जाना कम कर दिया। सन् 1986 और 1987 के मध्य, मोजाम्बीक के अस्पतालों में गरीब जनता की उपस्थिति 24 प्रतिशत कम हो गई क्योंकि अस्पताल अपनी सेवा की फीस वसूल करने लगे थे।

विश्व बैंक ने स्वास्थ्य कर्मियों के विषय में अपनी टिप्पणी में कहा है कि यद्यपि चिकित्सा सम्बन्धी कुछ कामों के लिए डाक्टरों की सेवा का महत्त्व आवश्यक है, पर जिला स्तर तथा उससे नीचे के स्तर की अधिकांश क्षेत्रीय स्वास्थ्य सेवाओं को नर्सों तथा पैरामेडीकल कर्मचारियों के द्वारा संचालित किया जाना चाहिए। हालांकि सरकार की डाक्टरों के प्रशिक्षण की नीति में कोई बदलाव नहीं आया है। उल्टे सरकार आय कर सम्बन्धी कुछ सुविधाएं देकर लोगों को प्राइवेट मेडीकल कॉलेज खोलने का प्रोत्साहन दे रही है।

निष्कर्ष

भारत सरकार द्वारा स्वास्थ्य मुहैया कराने का काम हाथ में लिए आज पैंतालीस साल बीत चुके हैं। हर पांच साल में योजना बनाते समय सरकार के पास प्रगति का जायजा लेने, प्राथमिकताओं में फेरबदल करने, पैसा पुनर्वितरित करने, आदि का अवसर होता है। इस दौरान स्वास्थ्य की स्थिति का लेखाजोखा करने के लिए कई समितियां भी बनाई गईं। इस सबके बावजूद आज भी भारत के अधिकांश लोगों को स्वास्थ्य सुविधाएं दुर्लभ हैं। *(देखें खण्ड I के अध्याय 3 व 4).*

देहाती-शहरी विषमता, देहाती इलाकों में जाने में डाक्टरों की अनिच्छा, नर्सिंग कर्मचारियों का अभाव, आदि समस्याएं नई नहीं हैं। भोर समिति से लेकर आज तक ये बातें दोहराई जाती रही हैं।

दरअसल हर समिति ने नए सिरे से ये बातें दोहराई हैं। परन्तु हर समिति ने जो सुझाव दिए उनसे ये समस्याएं सुलझने की बजाय और उलझती ही गई हैं।

उदाहरण के लिए, अंग्रेजों के जमाने से ही स्वास्थ्य सुविधा आबादी के एक हिस्से को ज्यादा मिलती थी और शेष को कम। यह चित्र बदला नहीं है। आज भी धन का वितरण आर्थिक प्राथमिकताओं के आधार पर होता है।

आजादी के वक्त यह तय हुआ कि देश के आर्थिक विकास का आधार औद्योगीकरण होगा। अतः सरकार ने उन लोगों को स्वास्थ्य सुविधाएं प्रदान करने पर ज्यादा बल दिया, जो औद्योगीकरण में मदद दे सकते थे। अतः देहाती इलाकों को स्वास्थ्य सुविधाएं प्रदान करना सरकार की प्राथमिकता नहीं बनी।

इस संदर्भ में भोर समिति की यह सिफारिश क्रांतिकारी लगती है कि स्वास्थ्य सुविधाओं का मुख्य लक्ष्य देहात होना चाहिए, परन्तु हमें यह बात ध्यान में रखनी होगी कि ब्रिटिश शासकों ने भारत की अर्थव्यवस्था को खेती आधारित ही बनाए रखा था। वे आगे भी यही स्थिति बनाए रखना चाहते थे। अतः भोर समिति की सिफारिशें ब्रिटिश शासकों के आर्थिक लक्ष्यों के अनुरूप ही थीं। तो, भोर समिति की सिफारिशों से भी यही बात उभरती है कि स्वास्थ्य की सुविधा प्रदान करने में प्राथमिकता उन क्षेत्रों को दी जानी चाहिए जो अर्थव्यवस्था की दृष्टि से महत्त्व के हों।

इसी प्रकार से, प्रशिक्षित स्वास्थ्य कर्मचारियों की कमी भोर समिति के वक्त से ही देखी जा रही थी। परन्तु लगातार अन्य स्वास्थ्यकर्मियों की बजाय डाक्टरों के प्रशिक्षण पर ही ज्यादा जोर दिया गया जबकि डाक्टर हमेशा से ग्रामीण इलाकों में काम करने को लेकर अनिच्छा दिखाते रहे हैं। वास्तव में सभी समितियों ने डाक्टरों के हितों की रक्षा करने की कोशिश की जबकि इससे अधिकांश लोगों की जरूरतें पूरी नहीं होती।

जैसे भोर समिति ने यह कहा कि सिर्फ आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में प्रशिक्षित चिकित्सकों को ही "डाक्टर" कहा जाएगा। इस समिति ने प्राइवेट प्रैक्टिस पर रोक लगाना भी जरूरी नहीं समझा जबकि यह पता था कि इसके कारण डाक्टर अपने ज्ञान की मनमानी कीमत वसूलते हैं।

इन सबसे चिकित्सा कारोबार पर डाक्टरों का एकाधिकार मजबूत ही हुआ है।

बाद की समितियों ने भी यह तो कहा कि डाक्टर देहाती इलाकों में काम करना नहीं चाहते परन्तु यह सिफारिश नहीं दी कि अन्य स्वास्थ्य कार्यकताओं को रोग-निदान और उपचार का प्रशिक्षण दिया जाए। डाक्टरों के प्रति यह विशेष बर्ताव एक और उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। जब तीन-साला प्रशिक्षण के जरिये डाक्टरों की एक और श्रेणी बनाने का सुझाव आया, तो इस पर सख्त आपत्ति हुई। किन्तु जब नर्सों की एक नई श्रेणी (ए. एन. एम.) बनाने की बात आई, तो किसी को कोई दिक्कत नहीं थी।

इस बात पर भी कभी विचार नहीं किया गया कि चिकित्सा शास्त्र के ज्ञान पर डाक्टरों का एकाधिकार है और वे इस एकाधिकार का दुरुपयोग कर सकते हैं। परन्तु ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के बारे में यह गंभीर चिन्ता व्यक्त की गई कि वे अपने ज्ञान का दुरुपयोग करेंगे। इस प्रकार से डाक्टरों के हितों की रक्षा करने के चक्कर में ये समितियां उन समस्याओं को भूल गई, जिनका समाधान खोजने के लिए इनका गठन हुआ था।

इस सबसे स्पष्ट है कि सरकार के हित और बहुसंख्यक लोगों के हित मेल खाएं, यह जरूरी नहीं है। जब तक इन समितियों के मुखिया चिकित्सा जगत के नुमाइन्दे रहेंगे, तब तक इनके नुस्खे चिकित्सा जगत के हितों की ही रक्षा करेंगे।

1990 के दशक में विश्व बैंक का प्रभाव ज्यादा बढ़ गया है। जिसके कारण उनके सुझाव के अनुरूप भारत की स्वास्थ्य नीति को गठित किया गया। एक तरफ स्वास्थ्य सेवाओं का निजीकरण, पहले से घटे हुई स्वास्थ्य बजट का और भी घट जाना, दूसरी तरफ लोगों में कुपोषण का बढ़ना तथा उनका गिरता हुआ स्वास्थ्य दर। इसका मतलब यही है कि जो लोग बहुत ही गरीब हैं स्वास्थ्य सेवा धीरे-धीरे उनके पहुंच से बिल्कुल बाहर हो जाएगी।

2 : बच्चों की सेहत

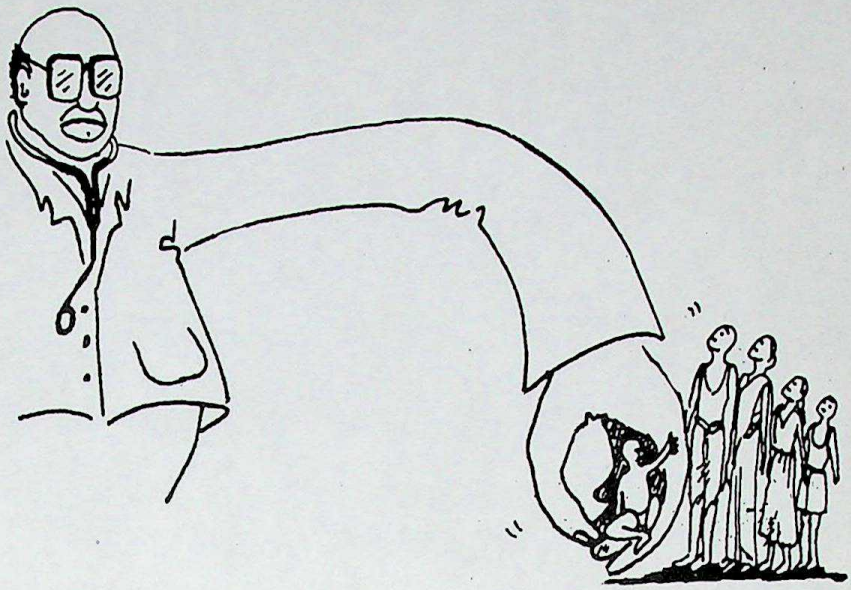

पांच साल से छोटे बच्चों को 'शारीरिक तौर पर कमजोर' माना जाता है। स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं द्वारा इन पर विशेष ध्यान दिये जाने की जरूरत होती है। हमारे देश की कुल मौतों में से करीब आधी इसी आयु समूह में होती हैं। संक्रामक रोगों का सबसे ज्यादा प्रभाव भी बच्चों पर ही पड़ता है। इसके अलावा पांच साल से कम के बच्चों का एक बड़ा हिस्सा कुपोषण का शिकार है।

सन् 1984 में राष्ट्रीय पोषण संस्थान ने आठ राज्यों में जो जानकारी इकट्ठी की उस से पता चलता है कि 1 से 5 वर्ष की उम्र के मात्र 14.8 प्रतिशत बच्चों को ही पर्याप्त पोषण मिलता है। यूनीसेफ की सन् 1994 की रपट के अनुसार भारत में 5 वर्ष तक की उम्र के केवल दस प्रतिशत बच्चे ही पूरी तरह से पोषित हैं। बच्चों के मामले में कम पोषण का विशेष महत्त्व है। इससे उनकी शारीरिक वृद्धि पर तो प्रतिकूल असर होता ही है उनके मानसिक विकास पर भी बुरा प्रभाव हो सकता है। इन सब कारणों से यह उचित ही लगता है कि स्वास्थ्य कार्यक्रमों में बच्चों की देखभाल को विशेष महत्त्व दिया जाए।

परन्तु बच्चों की देखभाल के लिए सिर्फ उम्र पर जोर देना थोड़ा भ्रामक है। इससे ऐसा लगता है कि पांच साल से छोटे सभी बच्चों पर उपरोक्त रुग्णता और मृत्यु का खतरा समान रूप से मंडरा रहा है। भारतीय संदर्भ में यह बात सही नहीं है। बीमारी या मृत्यु का सम्बन्ध उम्र से ज्यादा बच्चे की सामाजिक व आर्थिक स्थिति से होता है।

बीमारी, कम पोषण और गरीबी

खण्ड I के अध्याय 6 ख में हमने देखा था कि अपर्याप्त पोषण से, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कई स्वास्थ्य समस्याएं पैदा होती हैं। यह सिद्ध हो चुका है कि कम पोषण के कारण शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता कमजोर हो जाती है। ऐसे व्यक्ति आसानी से बीमार पड़ सकते हैं। बच्चों में इसके कारण एक दुष्चक्र शुरू हो जाता है। कम पोषित बच्चे को दस्त, खसरा, कुकर खांसी, टी. बी., न्यूमोनिया, जैसे संक्रामक रोग आसानी से हो जाते हैं। ऐसे बच्चों में बीमारी ज्यादा गंभीर होती है और बीमारी की अवधि भी लम्बी होने की संभावना रहती है। कम पोषित बच्चों में बीमारी से जुड़ी अन्य समस्याएं पैदा होने की संभावना भी ज्यादा होती है। बीमारी, कम पोषण और गरीबी के इस दुष्चक्र को खसरे के उदाहरण से समझा जा सकता है।

खसरा बचपन का एक आम रोग है। मगर यदा-कदा ही यह जानलेवा साबित होता है। शुरूआत प्रायः बुखार और खांसी से होती है। चौथे दिन के आसपास चमड़ी पर लाल रंग की फुंसियां दिखाई देने लगती हैं। दसवें दिन के आसपास बच्चा ठीक होने लगता है। फुंसियां गायब हो जाती है और बच्चा ठीक हो जाता है।

परन्तु किसी कम पोषित बच्चे में खसरा कहीं ज्यादा भयंकर होता है और बिलकुल अलग ढंग का होता है। फुंसियां आपस में जुड़कर बड़े-बड़े चकत्ते बन जाते हैं। फुंसियों का रंग गाढ़ा लाल और बैंगनी तक हो जाता है। कुछ दिनों में चमड़ी पपड़ीदार हो जाती है और झड़ने लगती है। झड़ने की यह क्रिया इस हद तक हो सकती है कि बच्चे को प्योडर्मा नामक एक चमड़ी की छूत की बीमारी होने का खतरा बढ़ जाता है। बच्चे को ब्रोन्काइटिस और न्यूमोनिया भी हो सकता है। कभी-कभी दस्त लग जाते हैं और टट्टी के साथ खून जाने लगता है।

खसरा ठीक हो जाने के बाद भी कुपोषित बच्चे को बार-बार दस्त लगते रह सकते हैं। बच्चा विटामिन ए की कमी से पीड़ित होकर अन्धा हो सकता है। खसरा के कारण भूख नहीं लगती और मुंह में छाले हो जाने से बच्चा दूध नहीं पी पाता। इसके कारण बच्चा गंभीर अल्पपोषण का शिकार हो सकता है—वजन कम हो जाता है, पैर

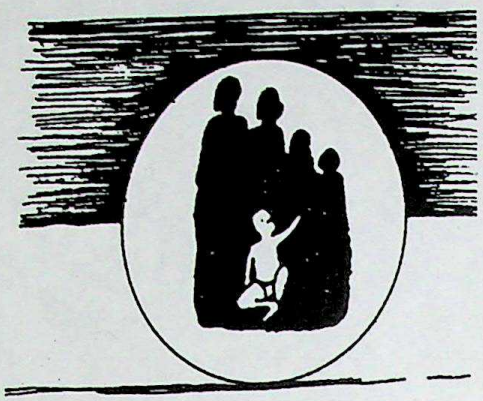

सूज जाते हैं, वगैरह । अध्ययनों से पता चला है कि कम पोषित बच्चे के लिए खसरा के कारण मृत्यु का खतरा सुपोषित बच्चों की तुलना में 400 गुना ज्यादा होता है ।

कम पोषित बच्चों के मामले में बीमारी की गंभीरता को इस तरह समझा जा सकता है :

> "खसरा के खिलाफ रोग प्रतिरोधक क्षमता मुख्यतः शरीर की कोशिकाओं में होती हैं । फुंसियां इस बात का सबूत हैं कि रोग के वायरसों को खत्म करने के लिए पर्याप्त संख्या में लिम्फाइड कोशिकाएं पैदा हो चुकी हैं ।
>
> कम पोषित बच्चे में कोशिका निर्माण के लिए जरूरी प्रोटीन व अन्य पदार्थों की कमी के कारण लिम्फाइड कोशिकाओं के निर्माण में देरी हो जाती है । इस देरी के कारण वायरस तेजी से बढ़ता है ।
>
> नतीजा यह होता है कि जब लिम्फोसाइड बनते हैं, तब कोशिकाओं का खात्मा बहुत तेजी से होता है । इसी वजह से चकत्ते भयंकर रूप ले लेते हैं या खूनी दस्त होने लगते हैं ।"
>
> *(डेविड मोर्ले)*

खसरा का यह गंभीर रूप अब अमरीका या इंग्लैंड जैसे देशों में दिखाई नहीं पड़ता क्योंकि वहां के लोगों की आर्थिक स्थिति अच्छी है। ऐतिहासिक सबूत भी इसी तथ्य की ओर इशारा करते हैं कि निम्न सामाजिक-आर्थिक वर्ग में खसरा के कारण ज्यादा मौतें होती हैं ।

सन् 1908 में इंग्लैंड के ग्लासगो में किये गये एक अध्ययन से पता चला कि चार कमरों के मकान में रहने वाले परिवारों में खसरा से होने वाली मौतें एक कमरे के मकान में रहने वाले बच्चों से एक चौथाई थीं । अनाथाश्रमों में रहने वाले बच्चों में खसराजनित मृत्यु दर ज्यादा (दस फीसदी से ज्यादा) पाई गई । एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि सन् 1908 में खसरा का कोई कारगर उपचार या टीका मौजूद नहीं था । अतः उच्च आर्थिक वर्ग में कम मृत्यु दर का कारण चिकित्सा सुविधा नहीं हो सकती । शायद प्रमुख बात पोषण की थी, जो कि गरीबी से सम्बन्धित है ।

रोग, कम पोषण और गरीबी के इस दुष्चक्र को दस्त के मामले में भी देखा जा सकता है । दस्त भी बचपन की एक सामान्य बीमारी है । पंजाब में सन् 1970 में किये गये एक अध्ययन से इस बीमारी का फैलाव पता चलता है । यह देखा गया था कि औसत 110 बच्चों वाले गांव (औसत आबादी 750) में प्रतिदिन कम से कम 18 बच्चे दस्त से पीड़ित रहते हैं । एक अन्य अध्ययन से पता चलता है कि इस उम्र में मौत का सबसे बड़ा कारण दस्त ही है ।

दस्त से सालाना होने वाली मौतों की संख्या (प्रति हजार आबादी)

अध्ययनकर्ता	उम्र		
	एक वर्ष से कम	एक वर्ष	2 से 4 वर्ष
गॉडर्न व साथी	34.4	21.0	—
दत्ता वणिक व साथी	26.5	12.8	7.0
घई व जयसवाल	45.4	—	—

स्रोत : बुलेटिन ऑफ द डब्लू. एच. ओ., खण्ड 60, अंक 4.

नवीनतम (सन् 1994) रपटों के अनुसार पांच वर्ष से कम की उम्र के 25 प्रतिशत बच्चों की मृत्यु दस्त से होती है । आंकड़े बताते हैं कि हर वर्ष लगभग पन्द्रह लाख बच्चे दस्त या दस्त सम्बन्धी कारणों से मौत के मुंह में पहुंच जाते हैं । एक बच्चा हर वर्ष औसत तीन बार दस्त से बीमार हो जाता है ।

पहले ऐसा माना जाता था कि बच्चों में दस्त की बीमारी पानी में गंदगी के कारण फैलती है । किन्तु बाद में मिली जानकारी से पता चला है कि बच्चों में दस्त के लक्षण पानी से फैलने वाले रोगों से मेल नहीं खाते । पानी से फैलने वाले रोग प्रायः अचानक होते हैं और बड़ी संख्या में लोगों को एक साथ प्रभावित करते हैं । बच्चों में दस्त का समय दूध छुड़ाने की अवधि से मेल खाता है । यह अवधि बच्चे को ऊपर का खाना देने से लेकर स्तनपान समाप्त होने के तीन महीने

बाद तक चलती है। यही वह समय होता है जब आमतौर पर बच्चे कम पोषण के शिकार होते हैं।

यह देखा गया है कि दूध छुड़ाने की अवधि में कम पोषित बच्चे, सुपोषित बच्चों की तुलना में दस्त के दुगने शिकार होते हैं। दस्त की बीमारी एक बच्चे से दूसरे बच्चे तक सीधे नहीं फैलती, जैसा कि पानी से फैलने वाले रोगों में होता है। दस्त होने में पानी का महत्त्व इतना ही है कि हाथ धोने और बर्तन साफ करने के लिए पर्याप्त पानी की जरूरत होती है। इस प्रकार अवलोकनों से पता चलता है कि दस्त कोई छूतहा रोग नहीं है। वास्तव में कम पोषण ही निर्णायक कारक है।

कम पोषण और दस्त का सम्बन्ध स्पष्ट तौर पर साबित हो चुका है। परन्तु कम पोषण, गरीबी और दस्त के बीच की कड़ी को लेकर बहुत ही कम अध्ययन किये गये हैं। विजयकुमार और उनके सहयोगियों द्वारा पंजाब में किए गए एक अध्ययन से पता चला था कि शहरी उच्च वर्ग की बनिस्पत ग्रामीण बच्चों पर दस्त का प्रकोप दुगुना होता है।

कम पोषित बच्चों को दस्त की बीमारी ज्यादा क्यों होती है ? इसका जवाब ऐसे बच्चों की छोटी आंत के अंदरूनी सतह में देखे गए लक्षणों के आधार पर दिया जा सकता है। इनके बदले हुए लक्षणों के कारण आंत के उस हिस्से मे बैक्टीरिया की संख्या बढ़ जाती है जहां आमतौर पर बहुत थोड़े बैक्टीरिया होते हैं। इनके द्वारा उत्पन्न विषैले पदार्थों के कारण सोडियम को सोखने की क्रिया धीमी पड़ जाती है। परिणामस्वरूप दस्त लग जाते हैं।

यह पाया गया है कि दस्त के दौरान बच्चा प्रतिदिन 600 कैलोरी तक गंवा सकता है। इससे कम पोषित बच्चे की हालत और बुरी हो जाती है। फिर, गरीब परिवार के बच्चे, ठीक हो जाने के बाद भी आसानी से इस नुकसान की भरपाई नहीं कर पाते। दस्त स्वतः रुकने वाला रोग है और 80 प्रतिशत बच्चों में दस्त की अवधि दो दिन से ज्यादा नहीं होती। परन्तु बच्चा अन्ततः ज्यादा गंभीर अल्प पोषण से ग्रस्त हो जाता है और अन्य रोगों के प्रति उसकी प्रतिरोधक क्षमता और घट जाती है।

अभी हमने देखा कि बच्चों की रुग्णता और मृत्यु के लिए जिम्मेदार संक्रामक रोग कम पोषित बच्चों पर ज्यादा प्रभाव डालते हैं। इनके अलावा कुपोषण स्वयं भी रुग्णता और मृत्यु का एक बड़ा कारण है। महाराष्ट्र के पालधर जिले में एक अध्ययन से यह बात साफ जाहिर है। एक से छः वर्ष की उम्र में मृत्यु के कारण निम्नानुसार थे :

कुपोषण और एनीमिया	31.9%
ब्रोन्कोन्यूमोनिया	21.3%
गेस्ट्रो-एन्टराइटिस (आन्त्रशोध)	20.2%
संक्रामक रोग	8.5%
अन्य कारण	18.1%

विभिन्न प्रकार के रोगों के कारण सन् 1987 में अनेक बच्चे मौत का शिकार बने, ऐसी 24.08 प्रतिशत मौतों का कारण छूत तथा परजीवी जीवाणुओं द्वारा फैलाए रोग थे। इनमें सांस की बीमारी (जैसे न्यूमोनिया और टी. वी.), 12.46 प्रतिशत थे। उपरोक्त विश्लेषण से बीमारी, कम पोषण और गरीबी का आपसी सम्बन्ध बहुत ही स्पष्ट है।

बचपन में मृत्यु

हमारे देश की कुल मौतों में से 39.6 प्रतिशत मौतें 4 वर्ष से कम उम्र के बच्चों की होती हैं। इसमें भी सबसे ज्यादा मौतें एक साल से कम उम्र में होती हैं (शिशु मृत्यु)। सन् 1989 में ग्रामीण क्षेत्रों जो भी मौतें हुईं, उन में 28.4 प्रतिशत मौतें ऐसे बच्चों की थी जिनकी उम्र एक वर्ष से कम थी। बच्चों की मृत्यु के प्रमुख कारण निम्नानुसार है :

1. जन्म पर कम वजन

जन्म के समय उचित वजन वही है, जिससे जचकी में कम-से-कम दिक्कत हो और नवजात शिशु की मौत न हो। जन्म के समय उचित वजन 2.5 कि. ग्रा. माना जाता है। यह भी देखा गया है कि परिवार की आर्थिक स्थिति और उनका खानपान बच्चे के जन्म के समय के वजन को प्रभावित करता है। हैदराबाद के राष्ट्रीय पोषण संस्थान की एक रपट के अनुसार वे सभी बच्चे जिनका जन्म के समय वजन औसत से कम था, अधिकांश गरीब परिवारों से आते थे। ऐसे परिवारों में जन्म लेने वाले इन बच्चों का प्रतिशत 38.7 था, मध्यम और अमीर परिवारों में जन्म लेने वाले ऐसे बच्चों क्रमशः प्रतिशत 28.9 तथा 11.4 पाया गया।

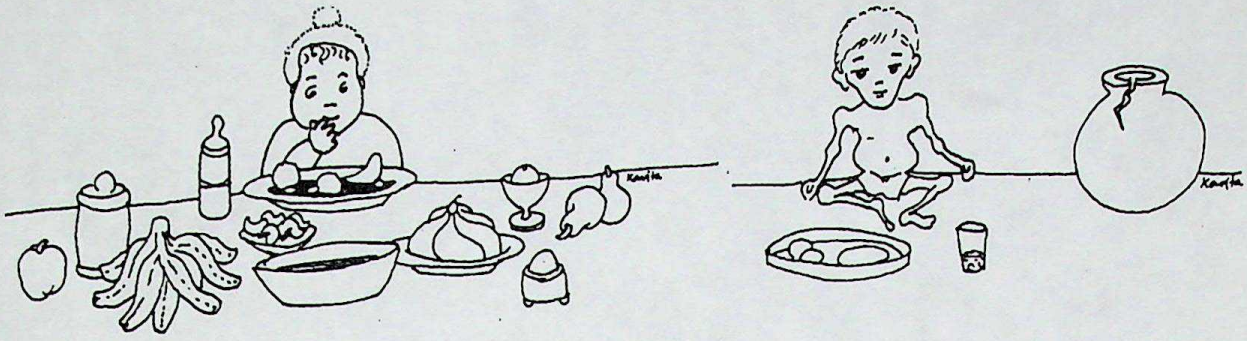

एक तिहाई बच्चों की मौत जन्म के समय कम वजन के कारण ही होती है। वजन जितना कम होगा, मृत्यु की संभावना उतनी ही ज्यादा होगी। परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि इनमें कितनी मौतें इस कारण होती है कि जन्म के समय कम वजन शिशुओं के जीवित रहने की संभावना ही कम है और कितनी इस कारण से होती हैं कि ऐसे शिशु बीमारी के प्रति ज्यादा संवेदनशील होते हैं।

यह भी देखने में आया है कि किसी बच्चे के जन्म का वजन उसके भविष्य के वजन को भी प्रभावित करता है। एक बच्चा जिसका जन्म का वजन औसत से कम था और दूसरा बच्चा जिसका वजन औसत था दोनों ने अपना वजन अपने जन्म के वजन के अनुसार ही बढ़ाया। देखा गया है कि भारत में जन्मे कुछ बच्चों का लालन पालन स्वीडन में उनको गोद लेने वाले धनी माता पिताओं के परिवारों में पूरी सुविधाओं के साथ हुआ था। यदि इन बच्चों का जन्म पर कम वजन था, तो ये बच्चे कमजोर ही रहे यद्यपि उनकी खुराक में किसी प्रकार की कमी नहीं थी। उनके वजन और ऊंचाई में भी विशेष बढ़ोतरी नहीं हुई।

किसी व्यक्ति का यदि जन्म के समय का वजन औसत से कम है तो इसका प्रभाव उसकी जवानी के स्वास्थ्य पर भी पड़ता है। ऐसा व्यक्ति आगे जाकर हृदय रोग से पीड़ित हो सकता है, और प्रौढ़ावस्था में उसे उच्च रक्तचाप की शिकायत होने की संभावना भी हो सकती है।

जन्म के समय वजन के कम-ज्यादा होने का सबसे बड़ा कारण मां की तन्दुरुस्ती है। भारत में किये गये एक अध्ययन में जिन गर्भवती महिलाओं को अतिरिक्त कैलोरी व प्रोटीन वाला पूरक आहार दिया गया इनके बच्चों का जन्म के समय वजन ज्यादा पाया गया। ग्वाटेमाला (दक्षिण अमरीका) में किये गये एक अध्ययन से यह साफ निष्कर्ष निकला कि जब कम पोषित औरतों को अतिरिक्त कैलोरी आहार दिया गया, तो उन्होंने ज्यादा तन्दुरुस्त बच्चों को जन्म दिया।

बचपन में लगातार ठीक पोषण न मिलने पर कद में बढ़त रुक जाती है। उम्र के अनुसार जब कद में बढ़त नहीं होती तो इसे 'स्टंटिंग' कहते हैं। तीसरी दुनिया के 40 प्रतिशत बच्चे इस शारीरिक कमी से ग्रस्त हैं। भारत में दो वर्ष से पांच वर्ष तक की उम्र के 65 प्रतिशत बच्चे 'स्टंटिंग' जैसी कमी से ग्रस्त हैं अर्थात् उम्र के अनुसार उनकी शारीरिक बढ़त नहीं हुई।

अक्सर 'स्टंटिंग' से ग्रस्त बच्चे अपनी उम्र से कम वजन के होते हैं, वे अपनी ऊंचाई के अनुपात में पतले होते हैं। इस प्रकार की कमजोरी को 'वेस्टिंग' कहते हैं। भारत के लगभग 27 प्रतिशत बच्चे 'वेस्टिंग' की कमजोरी से ग्रस्त हैं। अगर किसी व्यक्ति को लम्बे समय तक उचित पोषण नहीं मिलता और उसकी बढ़त रुक जाती है, यह इसलिए होता है ताकि शरीर और भोजन में एक प्रकार की अनुकूलता बनी रहे। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं–'जैसा भोजन, वैसा शरीर'।

2. बच्चों की पोषण-स्थिति

छः माह की उम्र तक बच्चे के लिए मां का दूध पर्याप्त होता है। अल्पपोषित मां भी प्रतिदिन 400 से 600 मि. ली. दूध पैदा करती है, जो छः माह की उम्र तक के शिशु के लिए पर्याप्त होता है। इस उम्र के बाद बच्चे को अतिरिक्त भोजन की जरूरत होती है। यह भोजन उसे थोड़ी-थोड़ी मात्रा में समय-समय पर देना होता है। यह भोजन इस ढंग से बना होना चाहिए कि बच्चा इसे निगल सके। इस तरह से बच्चे को भोजन कराने के लिए कोई व्यक्ति होना जरूरी है जो दिन का काफी समय ऐसे कामों में लगा सके।

परन्तु गरीब परिवारों में मां बाप दोनों को घर से बाहर काम पर जाना होता है। छोटे बच्चों की देखभाल की जिम्मेदारी बड़े बच्चों पर आ जाती है। अक्सर ऐसा होता है कि शुरू के छः महीनों में भी मां बच्चे को दूध पिलाने का समय तक नहीं निकाल पाती।

जब बच्चे बड़े होकर अपनी देखभाल खुद करने योग्य हो जाते हैं, तब भी गरीब परिवारों में भोजन के अभाव के कारण उन्हें पर्याप्त पोषण नहीं मिल पाता। हम यह तो पहले ही देख चुके हैं गरीब बच्चों की पोषण की बुरी स्थिति के कारण वे दस्त, खसरा, टी. बी. आदि घातक बीमारियों के प्रति ज्यादा संवेदनशील होते हैं।

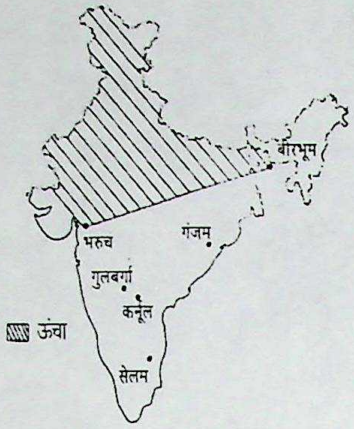

3. बच्चे के लिंग और मौत का सम्बन्ध

लड़कियों और लड़कों की शिशु मृत्यु दर में भी काफी फर्क होता है। यह असमानता देहाती बच्चों में और भी ज्यादा होती है।

लड़कों और लड़कियों की शिशु मृत्यु दर में अन्तर

वर्ष	ग्रामीण		शहरी		कुल	
	लड़के	लड़कियां	लड़के	लड़कियां	लड़के	लड़कियां
1976	133	146	78	82	124	134
1980	123	125	65	65	113	115
1985	106	107	56	62	96	98

स्रोत : फेमिली वेलफेयर प्रोग्राम इन इण्डिया, भारत सरकार, 1990.

सन् 1980 से, बच्चों में, लड़के लड़की का शिशु मृत्यु दर लगभग समान है। भारत में यह औसत है। अगर शिशु मृत्यु दर की दृष्टि से भारत के विभिन्न राज्यों को देखें दो हमें यह स्पष्ट हो जाएगा कि लड़के लड़कियों की दृष्टि से यह समान नहीं है। उत्तर प्रदेश, हिमाचल, हरियाणा, मध्य प्रदेश, राजस्थान और गुजरात में लड़कियों में शिशु मृत्यु दर अधिक है। इन राज्यों में लड़कों की शिशु मृत्यु दर लड़कियों से कम है।

अगर आप गुजरात के भरुच नाम के स्थान से पूर्व में बीरभूम तक जो पश्चिमी बंगाल में है, एक सीधी रेखा खींचे तो आप देश को दो ऐसे भागों में विभाजित कर देंगे जहां एक में लड़कियों की बाल मृत्यु अधिक है, और दूसरे में कम है। रेखा के उत्तरी भाग में लड़कियों की बाल मृत्यु दर अधिक है, और दक्षिणी भाग में कम। इस नियम के दक्षिण में अपवाद हैं। तमिलनाडू का सेलम, कर्नाटक का गुलबर्गा, आन्ध्र का कर्नूल और उड़ीसा का गंजाम। यहां लड़कियों की बाल मृत्यु दर अधिक है।

हमने खण्ड I के अध्याय 7 में देखा था कि भारतीय समाज में लड़कों का महत्त्व लड़कियों से ज्यादा माना जाता है। इस मान्यता के कारण न सिर्फ लड़कियां बल्कि पूरी स्त्री आबादी उपेक्षा की शिकार होती है। परिवार में स्त्रियों को कम भोजन मिलना, जिसके कारण वे कुपोषित रहती हैं, बीमारी के समय उनकी उपेक्षा और उनकी ज्यादा संख्या में मौत, ये बातें साफ जाहिर करती हैं कि औरतों का दर्जा नीचा है।

4. बचपन की मौत का महिलाओं की शैक्षणिक स्थिति से सम्बन्ध

आमतौर पर यह दलील दी जाती है कि शिशु मृत्यु दर कम करने में किसी आबादी और खासकर औरतों की साक्षरता का बहुत योगदान होता है। मसलन कम आमदनी वाले इलाकों या देशों में केरल और श्रीलंका का विशिष्ट स्थान है क्योंकि वहां औरतों की साक्षरता दर काफी अच्छी है। सन् 1981 में जब समूचे भारत में स्त्री साक्षरता 24.73 प्रतिशत थी, तब केरल में ये दर 64.48 प्रतिशत थी। भारत की औसत शिशु मृत्यु दर 114 थी। वहीं (1980 में) केरल में शिशु मृत्यु दर मात्र 40 थी। श्रीलंका में 44 प्रतिशत से ज्यादा वयस्क औरतें प्राथमिक शिक्षा पूरी कर चुकी हैं और वहां की शिशु मृत्यु दर 42 है। दूसरी तरफ बांग्लादेश और पाकिस्तान में मात्र 10 प्रतिशत औरतों ने प्राथमिक शिक्षा पूरी की है। उनकी शिशु मत्यु दर क्रमशः 139 और 142 है।

इस बात का कारण स्पष्ट नहीं है कि क्यों बेहतर शिक्षित औरतों के बच्चे कम मरते हैं। औरतों की शिक्षा की स्थिति शायद उनके बेहतर जीवन-स्तर की द्योतक हो या हो सकता है कि समाज में उनका दर्जा बेहतर हुआ हो। इसका स्पष्टीकरण यही हो सकता है कि वे औरतें जो साक्षर हैं, ऐसे परिवार से आती हैं जो सम्पन्न हैं। महिलाओं की शिक्षा और सम्पन्नता का सम्बन्ध एक प्रकार चोली दामन जैसा सम्बन्ध है।

भारत में औरतों के शैक्षिक स्तर और शिशु मृत्यु दर का सम्बन्ध (1984)

शैक्षिक स्तर	शिशु मृत्यु दर	
	ग्रामीण	शहरी
निरक्षर	124.3	88.5
साक्षर (प्राथमिक से कम)	84.5	67.5
प्राइमरी लेकिन मैट्रिक से कम	62.1	38.8
मैट्रिक तथा उससे ऊपर	38.6	13.0

स्रोत : चाइल्ड इन इण्डिया, ए स्टेटिस्टिकल प्रोफाइल, निप्सेड, 1994.

ऊपर पर दी गई तालिका माता का शैक्षणिक स्तर तथा शिशु मृत्यु दर का सीधा सम्बन्ध बता रही है पर यह आवश्यक नहीं है कि ऐसा सदा

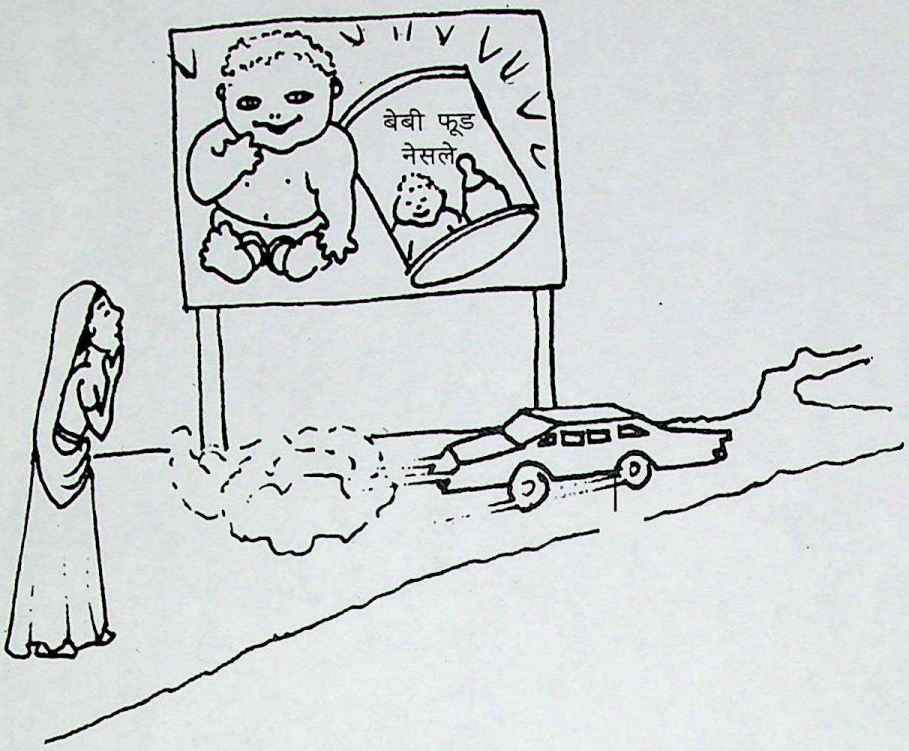

हो। उदाहरण स्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाली अनपढ़ महिलाओं में शिशु मृत्यु दर शहर में रहने वाली ऐसी ही महिलाओं की तुलना में डेढ़ गुना अधिक पायी गयी। गांव और शहर में रहने वाली महिलाओं में शिशु मृत्यु दर का यह अन्तर अन्य दूसरे वर्गों में भी पाया गया। इसका कारण ग्रामीण क्षेत्रों में चिकित्सा सुविधाओं का ग्रामवासियों तक न पहुंचना हो सकता है। यह बात तो उन सभी पर लागू होती है जो ग्रामों में रहते हैं।

5. बोतल से दूध पिलाना

विगत कुछ समय से, डिब्बाबन्द शिशु आहार के निर्माताओं के दबाव और डाक्टरों के प्रोत्साहन के कारण, बोतल के दूध का उपयोग बढ़ा है। डिब्बाबन्द आहार के निर्माता औरतों की 'अच्छी मां' बनने की भावनाओं का फायदा उठाते हैं। आक्रमक व लुभावने विज्ञापनों के द्वारा औरतों को यह विश्वास दिलाया जाता है कि यदि वे डिब्बा बन्द आहार का इस्तेमाल करेंगी, तो उनके बच्चे भी इश्तिहारी बच्चे जैसे मोटे-तगड़े हो जाएंगे। शहरी और देहाती दोनों क्षेत्रों में गरीब औरतें डिब्बाबन्द आहार को अपना रही हैं। परन्तु बोतल से दूध पिलाने में स्वच्छता का बहुत ध्यान रखना पड़ता है। गरीब परिवारों की औरतें इतनी सावधानी बरतने की स्थिति में नहीं होतीं। फिर, अभाव के कारण बहुधा बच्चे कुपोषण और दस्त के शिकार हो जाते हैं। इसलिए बोतल पोषित बच्चों की मृत्यु दर ज्यादा होती है। *(लोगों की जीवनशैली पर विज्ञापनों के असर की विस्तृत चर्चा इस खण्ड के अध्याय 6 में की गई है।)*

6. जन्म व मृत्यु के समय चिकित्सा सुविधा

जन्म से चार सप्ताह तक मौत का प्रमुख क़ारण जन्म के तुरन्त बाद होने वाला (नियोनेटल) टिटेनस व जन्म के समय की चोटें होती हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में जन्म के तुरन्त बाद होने वाली 39.2 प्रतिशत मौतें टिटेनस से होती हैं। यदि जचकी के समय प्रशिक्षित चिकित्साकर्मी उपलब्ध हो, तो इन समस्याओं से बचाव हो सकता है।

इसी तरह से बच्चों की 10 से 12 प्रतिशत तक मौतें ऐसे 6 प्रमुख रोगों से होती हैं, जिनकी रोकथाम टीका लगावाकर की जा सकती है। यदि बच्चों को चिकित्सा सुविधा उपलब्ध हो, तो इनसे भी बचा जा सकता है। हम पहले ही देख चुके हैं कि चिकित्सा सुविधाओं तक ग्रामीण लोगों की पहुंच नहीं है। एक अध्ययन से इस बात की पुष्टि होती है। इस अध्ययन में देखा गया था कि देहाती इलाके के 75 प्रतिशत बच्चों को जन्म के समय और 58 प्रतिशत बच्चों को मृत्यु के पहले इस तरह की सुविधा नहीं मिल पाती। (नीचे की तालिका देखें)

मृत्यु से पहले मिली चिकित्सा सुविधा (1978)

सुविधा का प्रकार	ग्रामीण	शहरी
चिकित्सा संस्था	29.59%	53.6%
प्रशिक्षित चिकित्साकर्मी	12.37%	11.6%
अप्रशिक्षित चिकित्साकर्मी	20.89%	7.4%
अन्य	37.15%	27.4%

स्रोत : यूनिसेफ, चाइल्ड एटलस ऑफ इण्डिया, 1981.

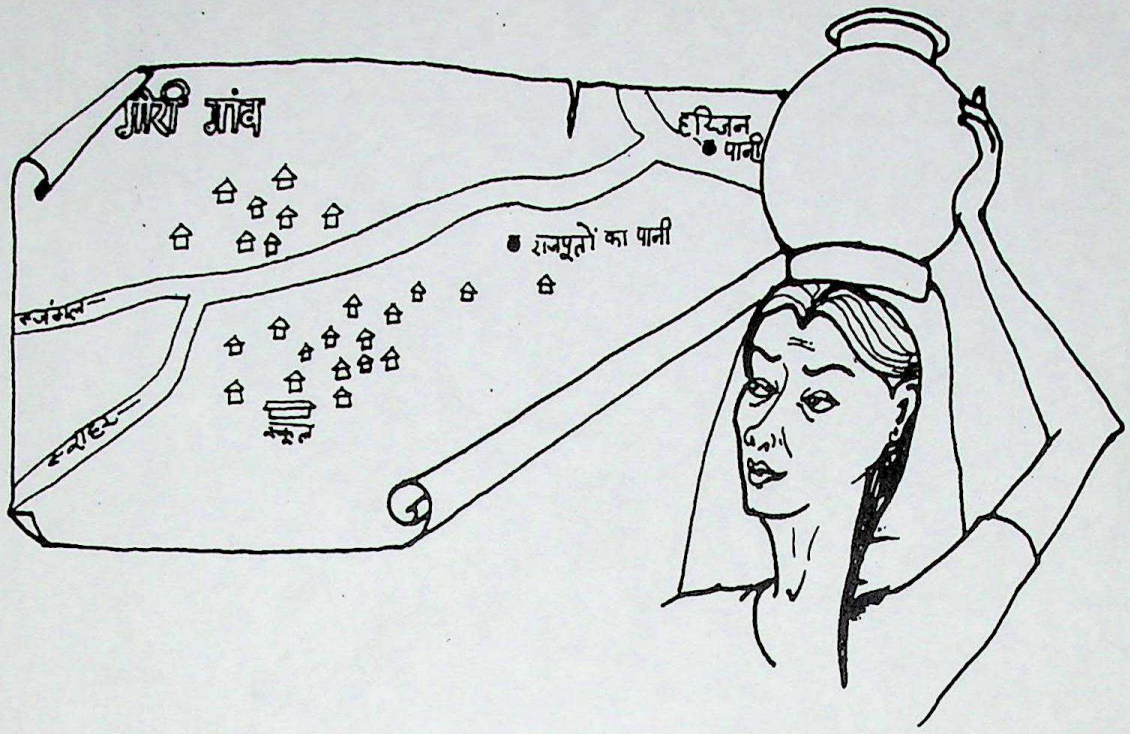

जन्म के समय मिली चिकित्सा सुविधा (1978)

सुविधा का प्रकार	ग्रामीण	शहरी
चिकित्सा संस्था	15.6%	46.9%
प्रशिक्षित चिकित्साकर्मी	8.1%	15.2%
अप्रशिक्षित चिकित्साकर्मी	58.8%	25.0%
अन्य	17.6%	12.9%

स्रोत : यूनिसेफ, चाइल्ड एटलस ऑफ इण्डिया, 1981.

सन् 1989 में भी हालत में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया, ऐसा नज़र आता है। नीचे दी हुई तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि जन्म के समय किस प्रकार की चिकित्सा सुविधा उपलब्ध थी।

जन्म के समय मिली चिकित्सा सुविधा (1989)

	ग्रामीण	शहरी
चिकित्सा संस्थान	15.2%	51.0
प्रशिक्षित चिकित्सक	19.3%	25.7%
अप्रशिक्षित चिकित्सक तथा अन्य	65.5%	23.3%

स्रोत : चाइल्ड इन इण्डिया, ए स्टेटिस्टिकल प्रोफाइल, निप्सड, 1994.

7. पानी की सुविधा

यह माना गया है कि पानी की कमी का असर बच्चों की मृत्यु दर पर पड़ सकता है। विश्व बैंक द्वारा किये गये एक सर्वेक्षण से पता चला था कि दस्त के सबसे ज्यादा मामले उन घरों में होते हैं जो पानी के स्रोत से सबसे ज्यादा दूरी पर हैं। जिन घरों में नल है, उनमें संक्रमण सबसे कम होता है, जिन घरों के नजदीक ही पानी का स्रोत है वहां थोड़ा ज्यादा और दूर घरों में सबसे ज्यादा संक्रमण होता है।

चिली में किये गये एक सर्वेक्षण से पता चला कि जिन इलाकों के घरों में पानी सप्लाई सुविधा हो, वहां दस्त के मामले सबसे कम होते हैं। ऐसे इलाकों में दस्त की घटनाएं 55 प्रति 1000 थी जबकि बिना पानी सप्लाई वाले इलाकों में ये घटनाएं 212.7 प्रति हजार थीं।

इस समस्या की गंभीरता का अनुमान निम्नांकित तथ्य से लगाया जा सकता है: 1980 में भारत के 5,70,000 गांवों में से एक -तिहाई गांव पेयजल की दृष्टि से 'समस्याग्रस्त' घोषित किए गए थे। समस्याग्रस्त गांव का मतलब है कि (क) उस गांव में पानी का बारहमासी स्रोत नजदीक (1.6 कि. मी. की परिधि में) न हो या (ख) जहां पानी का स्रोत पानीजन्य रोग का वाहक हो, जैसे हैजा, नारू (बाला) आदि या (ग) जहां के पानी में लवण, लौह, फ्लोराइड या अन्य विषैले पदार्थों का आधिक्य हो।

सन् 1992 प्राथमिक आकलन के अनुसार, भारत के 21.6 प्रतिशत गांवों में पीने के पानी की कोई व्यवस्था नहीं थी। लगभग 2,260 गांवों में किसी भी प्रकार का जल उपलब्ध नहीं था और लगभग 1.5 लाख गांवों में पानी की थोड़ी बहुत व्यवस्था थी। ऐसे बहुत से गांवों में जहां आज थोड़ा बहुत पानी है, वहां भविष्य में पानी मिलने की आशा नहीं है क्योंकि जल का स्तर निरन्तर घट रहा है और सूखा भी आए दिन पड़ता रहता है।

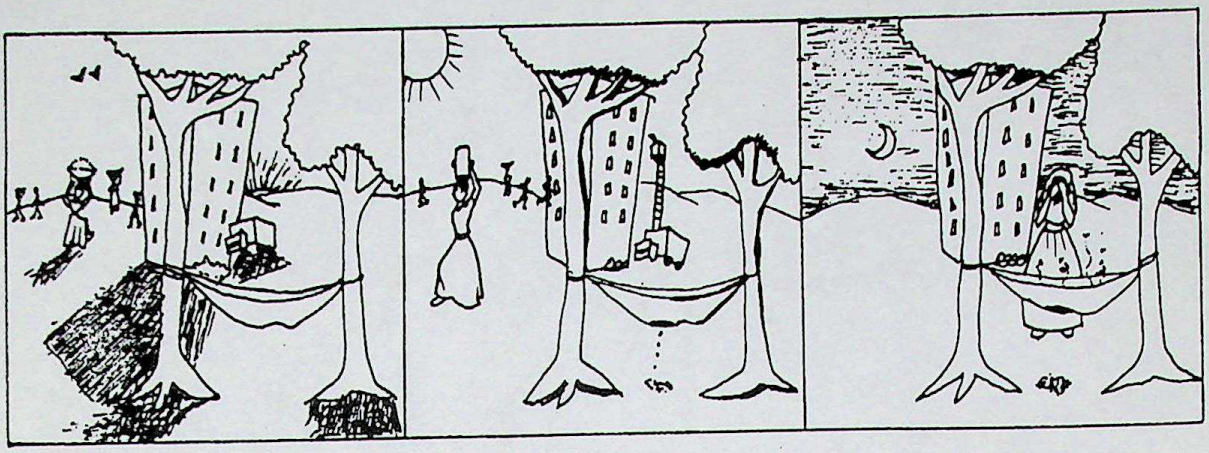

यह भी सर्वविदित तथ्य है कि पानी उपलब्ध होने पर भी ऊंची जाति के लोग नीची जातियों को कई बार इसका उपयोग नहीं करने देते। नीची जाति के हरिजनों को या तो बहुत दूर जाना पड़ता है या पास के किसी ऐसे स्रोत का पानी लेना पड़ता है, जिसे ऊंची जाति के लोग उपयोग नहीं करते। ऐसे स्रोत का पानी प्रायः गंदा होता है।

हाल के वर्षों में यह कहा जाने लगा है कि जोर पानी की प्रचुरता पर होना चाहिए न कि उसकी गुणवत्ता पर। इसका कारण यह है कि पानी से जुड़े संक्रमण को रोकने में पर्याप्त मात्रा का ज्यादा महत्त्व है बजाय उसकी क्वालिटी के।

संक्षेप में, यदि बच्चों की रुग्णता और मृत्यु के सारे कारकों पर ध्यान दें, तो इन्हें तीन समूहों में बांटा जा सकता है :

- **परिवार की आर्थिक स्थिति**
- **परिवार की सामाजिक स्थिति**
- **चिकित्सा व अन्य सुविधाओं का अभाव**

यह तो सही है कि सबसे ज्यादा मौतें 5 साल की उम्र तक होती हैं। इस दृष्टि से उम्र एक महत्त्वपूर्ण कारक है; परन्तु वास्तव में तो सामाजिक व आर्थिक कारक ही मृत्यु दर के लिए निर्णायक कारक हैं। अपने देश की मृत्यु दर पर गौर करने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

पिछले तीस सालों में अपने देश की मृत्यु दर में हल्की सी गिरावट आई है। सन् 1951 में मृत्यु दर 134 थी जो सन् 1981 में 122 रह गई। और यह गिरावट भी इसलिए है क्योंकि शहरी क्षेत्रों में काफी गिरावट आई है। देहाती और शहरी इलाकों की शिशु मृत्यु दर की तुलना से पता चलता है कि सन् 1970 और 1978 के बीच जहां शहरों की शिशु मृत्यु दर तो 90 से 70 हो गई वहीं देहातों में यह वैसी की वैसी रही। यदि उम्र ही एकमात्र कारक होता है, तो यह अन्तर नहीं होना चाहिए था। शहरों में शिशु मृत्यु दर में जो कमी आई वह भी शायद उच्च सामाजिक-आर्थिक वर्ग की शिशु मृत्यु दर में हुई कमी का परिणाम थी।

आमदनी और शिशु मृत्यु दर (1984)

आय स्तर	ग्रामीण	शहरी
5000 रु. तथा उससे कम	128.6	85.4
5000 से 10,000	108.1	71.5
10,000 रु. और उससे अधिक	91.8	51.5

स्रोत : चाइल्ड इन इण्डिया, ए स्टेटिस्टिकल प्रोफाइल, निप्सड, 1994.

चूंकि देहाती इलाकों में रहने वाले अधिकांश लोगों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया है, इसलिए शिशु मृत्यु दर में भी कोई खास परिवर्तन दिखाई नहीं देता। यद्यपि सन् 1990 तक भारत में शिशु मृत्यु दर घट कर 80 तक पहुंच गई पर उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा उड़ीसा में यह 105 से 127 तक है। दरअसल किसी देश के लोगों के जीवन स्तर को समझने के लिए प्रति व्यक्ति आय से बेहतर कसौटी शिशु मृत्यु दर है। क्यूबा जैसे देशों या केरल जैसे प्रान्तों की प्रति व्यक्ति आय अपेक्षाकृत कम होने के बावजूद भी इनकी शिशु मृत्यु दर कम है जबकि ऊंची प्रति व्यक्ति आय वाले लिबिया जैसे देशों की शिशु मृत्यु दर ज्यादा है।

शिशु मृत्यु दर और सकल आय

देश	शिशु मृत्यु दर (1992)	सकल आय (प्रति व्यक्ति) (अमरीकन डालरों मे) (1991)
क्यूबा	10	1170
निकरागुआ	54	460
लिबिया	70	5310

स्रोत : द स्टेट ऑफ द वर्ल्डस चिल्ड्रन, यूनीसेफ, 1994.

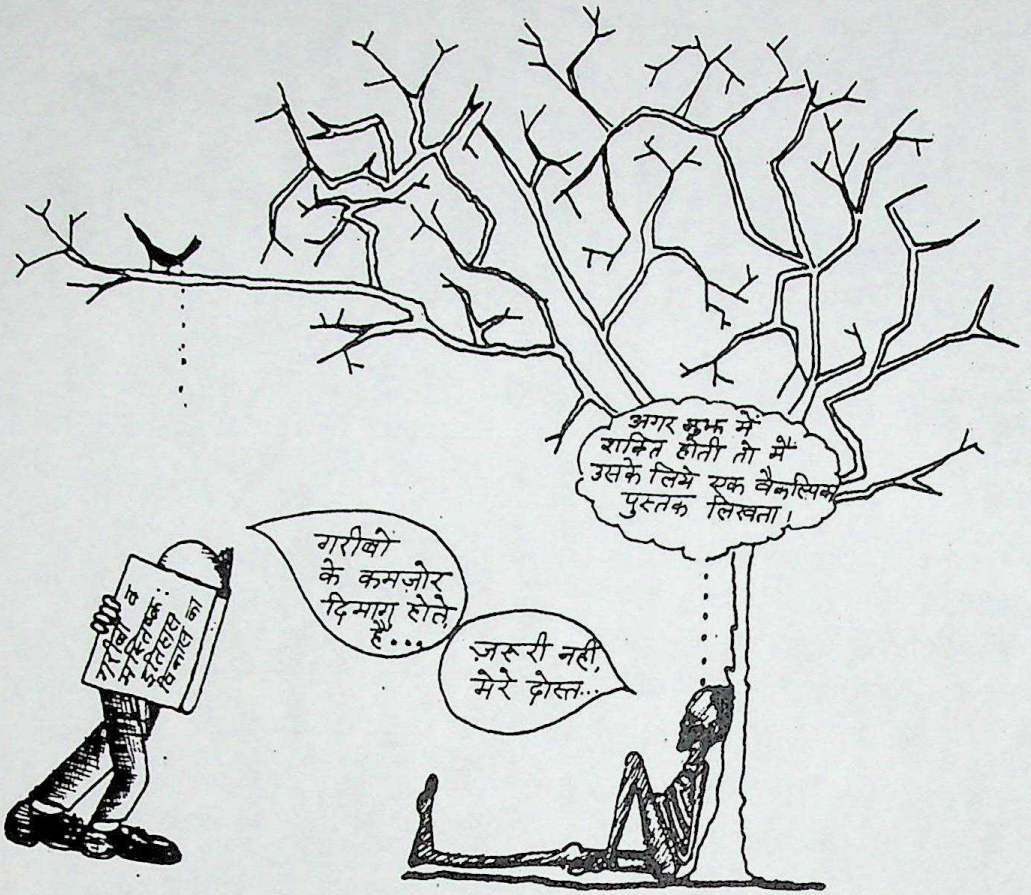

क्या कुपोषण का असर मानसिक विकास पर पड़ता है ?

इस बात का बहुत प्रचार किया जाता है कि बचपन में कुपोषण से मानसिक विकास मंद हो जाता है। कई गरीब देशों में इस सम्बन्ध में अध्ययन किये गए हैं। अध्ययनों का निष्कर्ष यह था कि जिन बच्चों को कुपोषण के कारण अस्पताल में भर्ती किया गया हो, स्कूल जाने की उम्र पर उनका बुद्धिमत्ता अनुपात (आई. क्यू) कम रहा *(बुद्धिमत्ता अनुपात अर्थात् आई. क्यू. बुद्धि नापने का एक रूढ़ तरीका है)*।

परन्तु 1970 के दशक में किये गए कई अध्ययनों ने कुपोषण और मानसिक विकास मंदी के इस सम्बन्ध को गलत साबित कर दिया है। इन अध्ययनों ने दिखाया कि यह तो सच है कि बचपन में कुपोषण के कारण दिमाग की वृद्धि धीमी हो जाती है, दिमाग की संरचना में भी परिवर्तन आ सकते हैं, परन्तु जरूरी नहीं कि इसका असर मानसिक विकास पर पड़े।

इन अध्ययनों का निष्कर्ष है कि बच्चे असामान्य व्यवहार तभी करते हैं जब कुपोषण के साथ-साथ वे प्यार व सुरक्षा से भी वंचित रहें और उनकी सर्जनात्मकता कुंठित हो जाए। इन अध्ययनों ने यह भी दिखा दिया है कि गरीबी और प्रवंचना के माहौल में पले बच्चों का विकास सामान्य होता है और वे 'बुद्धिमत्ता अनुपात' के परीक्षण में भी अच्छे अंक प्राप्त करते हैं, बशर्ते कि उन्हें बाद में एक बेहतर माहौल मिल जाए।

उपरोक्त अध्ययन और उनके निष्कर्षों का इस कारण बहुत महत्त्व है क्योंकि इन्होंने इस प्रचलित धारणा को गलत साबित कर दिया है कि कुपोषण के कारण बच्चे मानसिक रूप से पिछड़ जाते हैं। परन्तु कुपोषण व असामान्य व्यवहार का सम्बन्ध जोड़ने के लिए एक अलग तरह की दलील दी जा सकती है। कहा जा सकता है कि कुपोषण के साथ-साथ यदि उत्साहजनक माहौल का अभाव जुड़ जाए, तो बच्चे असामान्य हो जाते हैं। इसके पीछे मान्यता यह है कि गरीब परिवारों का माहौल उत्साहजनक नहीं होता।

यहां हमें यह सवाल उठाना होगा कि 'उत्साहजनक माहौल' की परिभाषा क्या है ? 'बुद्धिमत्ता और उत्साहजनक माहौल' की परिभाषा में एक सांस्कृतिक पूर्वाग्रह छिपा होता है। बुद्धिमत्ता को नापने के तरीके उन लोगों के अनुभवों पर आधारित होते हैं जो इन तरीकों का निर्माण करते हैं। ये लोग अक्सर ऐसे आर्थिक व सांस्कृतिक माहौल में पले होते हैं, जो गरीबों के जीवन से बिलकुल भिन्न होता है। ये लोग गरीबों का मूल्यांकन अपने मापदण्डों से करते हैं। शायद ऐसे ही पूर्वाग्रहों के कारण यह मान्यता बनी होगी कि गरीबों का माहौल उत्साहजनक नहीं होता।

सबसे जरूरी बात ध्यान देने की यह है कि यह पूरा विषय बहुत विवादास्पद है परन्तु कई स्वास्थ्य कार्यकर्ता यह धारणा फैलाते रहते है कि "कुपोषण मानसिक पिछड़ेपन को जन्म देता है", मानो यह कोई सर्वमान्य सत्य हो।

3 : औरतों का स्वास्थ्य

भारत की स्वास्थ्य प्रणाली में औरतों की सेहत सम्बन्धी समस्याओं को 'मातृ स्वास्थ्य सुविधा' के अंतर्गत रखा गया है। 15 से 44 वर्ष की विवाहित औरतों को जैविक रूप से कमजोर माना जाता है क्योंकि उन्हें गर्भावस्था का अतिरिक्त जोखिम भी रहता है। शेष आबादी को ऐसा कोई खतरा नहीं रहता। यह जोखिम भारत में और भी ज्यादा माना जाता है क्योंकि भारतीय औरतों में जच्चा मृत्यु दर विकसित देशों से कहीं ज्यादा है।

उदाहरण के लिए, भारत में जच्चा मृत्यु दर 4.6 प्रति हजार जीवित जन्म है अर्थात् हर दस हजार जीवित रहे बच्चों को जन्म देने के दौरान 46 माताओं की मृत्यु हो गयी, जबकि कनाडा में यह दर मात्र 0.5 है। प्रजनन काल में औरतों की सेहत पर ज्यादा ध्यान देने का एक और भी कारण है। भारत में औरतें पुरुषों के मुकाबले कम उम्र में ही मर जाती है जबकि विकसित देशों मे स्थिति बिलकुल उल्टी है। वहां औरतों की औसत आयु पुरुषों से ज्यादा है। भारत में स्त्री/पुरुष अनुपात अर्थात् प्रति हजार पुरुषों पर स्त्रियों की संख्या भी अन्य देशों से कम है। आम तौर पर आबादी में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की संख्या ज्यादा ही है परन्तु भारत में स्त्रियां कम हैं।

इस सबका कारण यह माना गया है कि भारत में जच्चा मृत्यु दर ज्यादा है। इसलिए स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं से अपेक्षा की जाती है कि वे औरतों से गर्भावस्था, जचकी व स्तनपान की अवधि में जरूर संपर्क करें। **किन्तु औरतों की सेहत के इसी एक पक्ष पर ध्यान केंद्रित करने के कारण इस बात को भुला दिया गया है कि भारत में औरतों की बुरी सेहत का प्रमुख कारण मातृत्व सम्बन्धित मृत्यु नहीं है। उनकी बुरी सेहत के और भी कई कारण हैं।**

महिलाओं की बुरी सेहत के कारण समझने के लिए हमें उनकी जिन्दगी पर उनके जन्म के बाद से ही नजर दौड़ानी होगी। मात्र 15 से 44 वर्ष की अवधि को देखने से काम नहीं चलेगा। इस अध्याय में हम यह स्पष्ट करेंगे कि औरतों की सेहत की बुरी हालत की वजह सिर्फ प्रजनन नहीं है। उनकी सेहत की हालत इसलिए भी बुरी है क्योंकि वे स्त्री हैं।

भारत में औरतों की स्वास्थ्य-स्थिति

लिंग-अनुपात (स्त्री/पुरुष अनुपात)

किसी भी आबादी में 1000 पुरुषों पर स्त्रियों की संख्या को लिंग अनुपात कहते हैं। कुछ जीववैज्ञानिक कारणों की वजह से लिंग अनुपात हमेशा 1000 से ज्यादा होता है। अर्थात् सामान्य परिस्थितियों में किसी भी आबादी में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की संख्या ज्यादा होती है। सामान्य परिस्थिति का अर्थ यह है कि स्त्री और पुरुष दोनों को मृत्यु का खतरा बराबर है और औरतों को प्रजनन से जुड़े खतरे इसके अतिरिक्त हैं।

स्त्रियों की संख्या ज्यादा होने की वजह यह बताई जाती है कि पुरुष जैविक रूप से ज्यादा कमजोर होता है। इसलिए एक-सी परिस्थिति में औरतें ज्यादा संख्या में जीवित रह पाती है। परन्तु भारत में लिंग अनुपात 1000 से कम है।

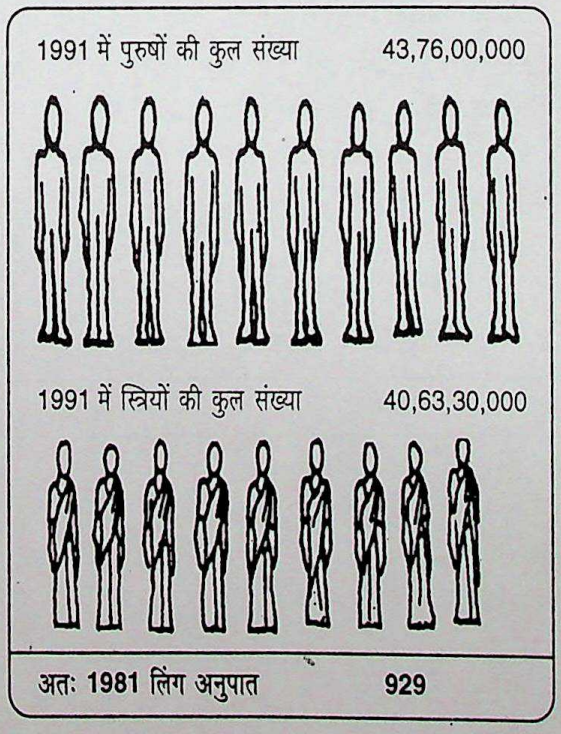

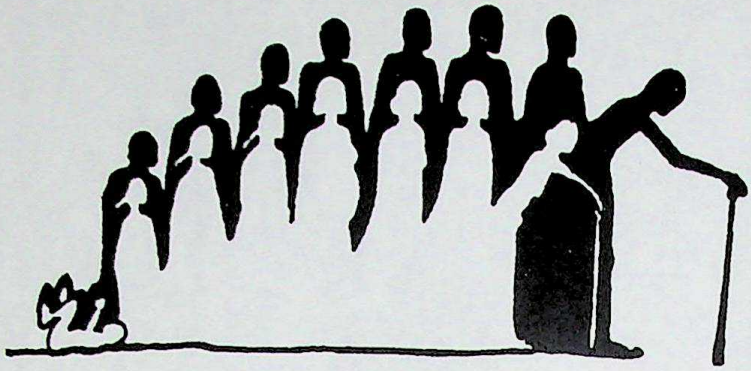

सन् 1901 से भारत में लिंग अनुपात लगातार घट रहा है।

भारत में लिंग अनुपात (1901-1991)

वर्ष	अनुपात	वर्ष	अनुपात
1901	972	1951	946
1911	964	1961	941
1921	955	1971	930
1931	950	1981	933
1941	945	1991	929

स्रोत : चाइल्ड इन इण्डिया, ए स्टेटिस्टकल प्रोफाइल, निप्सड, 1994.

स्त्रियों की मृत्यु का सबसे प्रमुख कारण मातृत्व सम्बन्धी मृत्यु है। 1951 के बाद भारत में लिंग अनुपात में सुधार आना चाहिए था क्योंकि इसी समय से भारत में जच्चा स्वास्थ्य सुविधाओं का विस्तार होने लगा था।

उपरोक्त आंकड़ों से पता चलता है कि ऐसे कुछ कारण जरूर रहे हैं जिनसे औरतों के जीवित रहने में बाधा पहुंची है।

प्रत्याशित औसत आयु

कोई व्यक्ति एक सामान्य जिन्दगी के सभी खतरे झेलते हुए औसतन कितने वर्ष जीने की उम्मीद करे, वही उस आबादी की प्रत्याशित औसत आयु कहलाती है। हम ऊपर देख चुके हैं कि औरतों की जीवित रहने की संभावना, सैद्धांतिक दृष्टि से, पुरुषों से ज्यादा होती है। इसलिए औरतों की औसत आयु भी ज्यादा होनी चाहिए। परन्तु भारत में स्थिति इससे ठीक उल्टी है।

स्त्री-पुरुष की औसत आयु (1991)

देश	पुरुष	स्त्री
भारत	60	60
अमरीका	75	79
स्विट्ज़रलैण्ड	76	81
स्वीडन	77	81
जापान	75	82

स्रोत : इन्वेस्टिंग इन हैल्थ, विश्व बैंक, 1993.

(आबादी के किसी भी तबके के लिए औसत आयु निकाली जा सकती है। इसी प्रकार से एक विशेष उम्र के लोगों के लिए भी भावी प्रत्याशित औसत आयु की भी गणना की जा सकती है।)

उपरोक्त तालिका से पता चलता है कि अन्य विकसित देशों की तुलना में भारत में स्त्री व पुरुष दोनों की औसत आयु कम है। परन्तु जहां भारत में स्त्री व पुरुष की औसत आयु बराबर है वहीं विकसित देशों में पुरुषों की तुलना में स्त्रियां ज्यादा दीर्घजीवी होती हैं। इसके अलावा भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में तो स्त्रियों की आसत आयु पुरुषों से कम है।

स्त्री/पुरुष की औसत आयु, भारत (1981-85)

क्षेत्र	पुरुष	स्त्री
ग्रामीण	54.0	53.6
शहरी	61.6	64.1

स्रोत : चाइल्ड इन इण्डिया, ए स्टेटिस्टिकल प्रोफाइल, निप्सड, 1994.

मृत्यु का पैटर्न

यदि हम अपने देश की दरों पर गौर करें, (सामने वाली तालिका देखें)तो पाते हैं कि :

- ☞ 0 से 14 वर्ष की उम्र में स्त्रियों की मृत्यु दर पुरुषों से ज्यादा होती है। यह मातृत्व की वजह से कतई नहीं हो सकती है।
- ☞ 15 से 34 वर्ष की उम्र में स्त्रियों की मृत्यु दर पुरुषों से ज्यादा हो जाती है। क्योंकि यह प्रजनन काल का ही हिस्सा है, इसलिए मातृव सम्बन्धित मौत का खतरा तो रहता ही है।
- ☞ 35 से 44 वर्ष की उम्र में स्त्रियों की मृत्यु दर पुरुषों से कम हो जाती है। यह भी प्रजनन काल का ही हिस्सा है, इसलिए मातृव संबंधित मौत का खतरा तो रहता ही है। अतः इस उम्र में स्त्रियों की कम मृत्यु दर को भी मातृत्व के आधार पर नहीं समझाया जा सकता है।

तो, अपने देश में स्त्रियों की मृत्यु दर की स्थिति की व्याख्या प्रजनन के खतरों के आधार पर नहीं की जा सकती।

उम्र और लिंग के अनुसार मृत्यु दर (1988)

उम्र (वर्ष)	पुरुष	स्त्री
0 — 4	31.8	34.9
5 — 9	3.0	3.4
10 — 14	1.4	1.7
15 — 19	1.8	2.8
20 — 24	2.3	3.2
25 — 29	2.4	2.9
30 — 34	2.9	3.2
35 — 39	4.5	3.5
40 — 44	6.4	4.4

स्रोत : हैल्थ इन्फार्मेशन ऑफ इण्डिया, भारत सरकार, 1992.

हम पहले भी देख चुके हैं कि भारत में 'मातृ कल्याण सुविधा' पर ज्यादा ध्यान इस आधार पर दिया जाता है कि भारत में औरतों की जच्चा मृत्यु दर विकसित देशों से ज्यादा है। किन्तु उपरोक्त तालिका से पता चलता है कि भारत में स्त्रियों की ऊंची मृत्यु दर सिर्फ प्रजनन अवधि की बात नहीं है। जीवन के बाकी हिस्से में भी उनकी मृत्यु दर ज्यादा है।

अमरीका और भारत में मृत्यु दर की तुलना

	अमरीका (1976)		भारत (1978)	
उम्र	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री
1 वर्ष से कम	17.62	14.19	44.7	52.1
1 से 4 वर्ष	0.78	0.61		
5 से 9 वर्ष	0.41	0.28	3.7	4.7
10 से 14 वर्ष	0.44	0.25	2.0	2.0
15 से 19 वर्ष	1.39	0.53	2.1	3.0

स्रोत : नेल्सन टेक्स्ट बुक ऑफ पीडियाट्रिक्स, 1978 और भारत की स्वास्थ्य सांख्यिकी, भारत सरकार, 1983.

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि, अन्य देशों से तुलना के आधार पर, जच्चा मृत्यु पर ज्यादा ध्यान देना वाजिब नहीं है। यदि अंतर्राष्ट्रीय तुलना को ही आधार बनाना है, तो हर उम्र में मृत्यु दर की तुलना करनी होगी, न कि सिर्फ प्रजनन उम्र की।

मृत्यु के कारण

मातृत्व सम्बन्धित मृत्यु को भारत में स्त्रियों की मृत्यु का प्रमुख कारण माना जाता रहा है। परन्तु स्त्रियों की कुल मौतों में से सिर्फ 3.06 प्रतिशत ही गर्भ या प्रसव (अर्थात् मातृत्व सम्बन्धी कारणों) की वजह होती है। नीचे की तालिका को देखने से स्पष्ट हो जाएगा कि प्रजनन उम्र मे भी अधिकांश मौतें संक्रामक व परजीवी-जन्य बीमारियों और दुर्घटनाओं की वजह से होती है।

प्रजनन उम्र (15-44 वर्ष) में स्त्रियों में मृत्यु के कारण

मृत्यु का कारण	15-24 वर्ष (प्रतिशत में)	25-44 वर्ष (प्रतिशत में)
संक्रामक व परजीवी-जन्य रोग	17.40%	19.96%
दुर्घटनाएं	30.94%	19.94%
गर्भ व जचकी	12.66%	8.98%
रक्त परिसंचरण तंत्र	7.47%	15.46%
अपरिभाषित (अज्ञात)	9.50%	9.42%

स्रोत : हैल्थ इन्फार्मेशन ऑफ इण्डिया, भारत सरकार, 1992.

इसके अलावा, यह भी ज्ञात है कि स्त्री आबादी में सबसे ज्यादा मौतें 15 वर्ष से कम उम्र और 45 वर्ष के ऊपर में होती हैं, न कि प्रजनन उम्र में। नीचे तालिका से यह बात साफ पता चलता है।

विभिन्न आयु समूहों में कुल मत्यु का प्रतिशत (स्त्री)

आयु समूह	मौतें	प्रतिशत
0 — 14	40057	32.39%
15 — 44	37736	30.50%
45 से ऊपर	45896	37.11%
कुल	123689	100.00

स्रोत : हैल्थ इन्फार्मेशन ऑफ इण्डिया, भारत सरकार 1992.

संक्षेप में, उपरोक्त तथ्यों के आधार पर, यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि भारत में निम्न लिंग-अनुपात, स्त्रियों की प्रत्याशित औसत आयु कम होने और ऊंची मृत्यु दर की वजह मातृत्व सम्बन्धित मृत्यु नहीं है।

भारत में औरतों की कमजोर सेहत के कुछ महत्त्वपूर्ण कारण

पोषण

हमने देखा कि स्त्रियों के खराब सेहत की एक प्रमुख वजह संक्रामक व परजीवी-जन्य रोग हैं। पिछले अध्याय में हम संक्रमण, पोषण और मौत का आपसी सम्बन्ध स्थापित कर चुके हैं। अधिकांश बच्चों की मौत का मूल कारण कुपोषण है। पर लड़कियों के मामले में यह ज्यादा अहम भूमिका निभाता है।

लुधियाना (पंजाब) में किये गये एक अध्ययन से पता चलता है कि एक ही आर्थिक समूह में लड़कियों में कुपोषण का प्रतिशत लड़कों की बनिस्पत ज्यादा था।

पंजाब में एक और अध्ययन किया गया था। इसमें उच्च और निम्न आर्थिक वर्ग के छः महीने से छोटे बच्चों का सर्वेक्षण किया गया। इन बच्चों का कुल आहार मां का दूध ही था। अध्ययन करने वाली टीम विभिन्न तरीकों से स्तनपान को बढ़ावा देने की कोशिश करती थी।

लड़कों और लड़कियों के पोषण स्तर की तुलना

	सामान्य पोषण		उम्र के अपेक्षित हिसाब से वजन के 70-80% वजन वाले		उम्र के अपेक्षित हिसाब से वजन के 70% से कम वजन वाले	
	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री
समृद्ध	86%	70%	10%	11%	4%	13%
अभावग्रस्त	43%	26%	43%	24%	14%	50%

स्रोत : कम्युनिटी हैल्थ डिपार्टमेंट, सी. एम. सी. की 7 वीं वार्षिक रिपोर्ट, लुधियाना, 1978.

छः महीने चले इस अध्ययन में देखा गया कि लड़कों के मामले में 90 प्रतिशत माताएं पोषण की स्थिति बेहतर कर लेती थीं। लड़कियों के मामले में ऐसी मांओं का प्रतिशत यह सिर्फ 72.7 था। हालांकि दोनों एक ही सामाजिक आर्थिक समूह की थीं।

उच्च वर्गीय समूह में भी इसी प्रकार के अंतर देखे गए। अध्ययन का निष्कर्ष था कि "लड़कों के मामले में माताओं की उपलब्धि बेहतर रही। सामाजिक-आर्थिक स्थिति का इस पर कोई प्रभाव नहीं थी। सारी माताओं को एक ही तरह की स्वास्थ्य शिक्षा दी जा रही थी। फिर भी माताएं लड़कों का पोषण स्तर सुधारने में ज्यादा सफल रहीं।"

उपरोक्त दोनों अध्ययनों से पता चलता है कि लड़कियों के पोषण स्तर की व्याख्या मात्र गरीबी के आधार पर नहीं की जा सकती। दोनों ही अध्ययनों में देखा गया कि लड़कियों का पोषण स्तर निम्न था, चाहे वे किसी भी सामाजिक-आर्थिक वर्ग की क्यों न हों।

स्थिति में कोई सुधार नहीं आया है। सन् 1989 में किए गए एक अध्ययन के मुताबिक लड़कों व लड़कियों के बीच पोषण का अन्तर बरकरार था। यह बात निम्नांकित तालिका से जाहिर है।

अल्पपोषित बच्चों का प्रतिशत

	लड़के	लड़कियां
ग्रामीण	27.0%	52.0%
शहरी गरीब	36.6%	48.3%
शहरी मध्यम वर्ग	9.8%	15.0%
शहरी उच्च वर्ग	3.2%	4.8%

स्रोत : भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद, एक कार्यशाला की रिपोर्ट, 1991.

स्त्री और पुरुष के बीच की यह विषमता बचपन के बाद भी जारी रहती है। मसलन, बांग्लादेश में किए गए एक अध्ययन से पता चला कि हर आयु समूह में स्त्री और पुरुष के लिए निर्धारित भोजन की मात्रा में अन्तर होता है।

मतलाब, बांग्लादेश में दैनिक कैलोरी खपत (जून-अगस्त 1978)

आयु समूह	पुरुष	स्त्री
1—4	809	694
5—14	1590	1430
15—44	2700	2099
45 से ऊपर	2630	1634

(इस अध्ययन का जिक्र इसलिए किया गया है क्योंकि हमें भारत के ऐसे किसी अध्ययन की जानकारी नहीं है। वैसे भी बांग्लादेश और भारत में औरतों की स्थिति में ज्यादा अन्तर नहीं है।)

पुरुषों को ज्यादा कैलोरी की ज़रूरत होती है।''यह बात ध्यान में रखने के बावजूद'', अध्ययन का निष्कर्ष यह था कि, ''लड़कियों को अपनी जरूरत की तुलना में काफी कम भोजन मिलता है।'

भारत में महिलाओं के पोषण की स्थिति भी कुछ इसी तरह की है। अस्त्र नामक संस्था ने सन् 1981 में कर्नाटक के देहाती इलाकों में एक सर्वे किया था। इस सर्वे में, भारत में पहली बार, यह गणना की गई कि पुरुष और बच्चे औसतन कितना समय घरेलू एवं उत्पादक कामों में लगाते हैं। इसके आधार पर हर काम के लिए लगी ऊर्जा की गणना की गई। अध्ययन का निष्कर्ष था कि ''यदि हम मानव-ऊर्जा को बांटकर देखें तो पुरुष, स्त्री और बच्चों का योगदान क्रमशः 31%, 53% और 16% है।'' यह प्रतिशत निकालने के लिए यह देखा गया कि परिवार में कुल कितने मानव घण्टे श्रम हो रहा है। दूसरे शब्दों में, किसी भी परिवार में किए गए कुल काम में सबसे ज्यादा काम यानि कि कुल काम का 53 प्रतिशत औरतों द्वारा किया जाता है। कैलोरी (यानि ऊर्जा) की दृष्टि से औरतों 2,505 कैलोरी प्रतिदिन खर्च करती हैं। आदमी अपना 31 प्रतिशत काम निपटाने के लिए 2,473 कैलोरी प्रतिदिन खर्च करते हैं।

भारत के ग्रामीण इलाकों में आदमी व औरत प्रतिदिन कैलोरी खपत क्रमशः 1700 व 1400 है। अर्थात् दोनों को ही अपनी-अपनी जरूरत से कम कैलोरी मिलती है। किन्तु कैलोरी की गणना करते हुए गर्भावस्था व दूध पिलाने की अवधि में आवश्यक अतिरिक्त कैलोरी को नहीं जोड़ा गया है। तो, वयस्क स्त्री, पुरुष की बनिस्पत कहीं ज्यादा कुपोषित रहती है।

हाल ही में किए गए एक अध्ययन में यह आंकने की कोशिश की गई कि झुग्गी बस्तियों और देहातों में औरतें विभिन्न कामों पर कितना वक्त लगाती हैं।

व्यतीत समय (घण्टों व मिनटों में)

	बड़ौदा की झुग्गी बस्तियों की औरतें	आन्ध्र प्रदेश के देहाती इलाकों की औरतें
घरेलू काम	5.46	2.12
बच्चों की देखभाल	1.44	1.27
पानी लाना	—	1.25
आर्थिक क्रियाकलाप	4.06	4.10 — 5.00
निजी देखभाल	1.26	1.25
आराम	1.01	2.40

स्रोत : भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद, एक कार्यशाला की रिपोर्ट) 1991.

इस सबसे पता चला है कि स्त्रियों को हर उम्र में कम भोजन मिलता है। इस बात का सम्बन्ध मात्र गरीबी से नहीं है, क्योंकि अमीर-गरीब सारे परिवारों में ऐसा देखा गया है।

चिकित्सा सुविधा का इस्तेमाल

भारत में स्त्रियों की सेहत के बुरे हाल का एक और कारण यह है कि वे स्वास्थ्य सुविधाओं का उपयोग पुरुषों की बनिस्पत बहुत कम करती हैं। इस सम्बन्ध में ज्यादा अध्ययन तो नहीं हुए हैं, परन्तु पश्चिम बंगाल और उत्तरप्रदेश में किये गये दो अध्ययनों से यह बात साफ उभरकर आती है।

पश्चिम बंगाल में लिंग के अनुसार स्वास्थ्य सुविधा का उपयोग

वर्ष	अस्पताल में आउटडोर में आने वाले रोगी		
	पुरुष	स्त्री	कुल
1951	62.4%	37.6%	54,36,545
1961	57.0%	43.0%	1,00,72,599
1971	57.0%	43.0%	1,47,41,652

स्रोत : टुवर्डस इक्वेलिटी, भारत में महिलाओं की स्थिति सम्बन्धी समिति की रिपोर्ट, भारत सरकार, 1974.

उत्तरप्रदेश में मरीजों का उपचार

वर्ष	भर्ती मरीज		बाह्य रोगी	
	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री
1962	58.6%	41.4%	62.7%	37.3%
1963	54.6%	45.4%	64.2%	35.8%
1964	56.9%	43.1%	61.2%	38.8%
1965	56.6%	43.3%	61.1%	38.9%

स्रोत : टुवर्डस इक्वेलिटी, भारत में महिलाओं की स्थिति सम्बन्धी समिति की रिपोर्ट, भारत सरकार, 1974.

बम्बई में किये गये एक अध्ययन से पता चला कि अस्पताल में भर्ती होने वाले मरीजों में पुरुष/स्त्री अनुपात 3:1 होता है। किसी भी प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र या उपकेन्द्र के रिकार्ड से पता चल जाएगा कि महिलाएं इन सुविधाओं का उपयोग कम करती हैं।

स्त्रियों के स्वास्थ्य के लिहाज़ से बेहतर तमिलनाडु जैसे राज्य में भी स्त्रियां पुरुषों की तुलना स्वास्थ्य सेवाओं का कमतर इस्तेमाल करती हैं।

लिंग के अनुसार स्वास्थ्य सेवाओं का उपयोग (तमिलनाडु)

	पुरुष	स्त्री
गांव के स्तर पर	52.8%	47.2%
अस्पताल में	54.0%	46.0%

स्रोत : भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद, एक कार्यशाला की रिपोर्ट, 1991.

बांग्लादेश में किए गए एक अध्ययन से यह मालूम पड़ा कि "यद्यपि गांव में लड़के लड़कियों पर दस्त का प्रकोप बराबर होता है। परन्तु स्वास्थ्य केन्द्र तक लड़के ज्यादा लाए जाते हैं। दस्त के इलाज की दर लड़कों में 135.6 प्रति हजार और लड़कियों में 81. 9 प्रति हजार थी। यानि लड़कों के मामलों में यह दर 66 प्रतिशत अधिक पायी गयी। इसी प्रकार का लिंग–भेद 5-14 वर्ष के बच्चों के मामले में भी देखा गया। वयस्क उम्र (15-44 वर्ष) में यह चित्र उल्टा हो जाता है।" रिपोर्ट के लेखकों ने इस बात की कोई वजह प्रस्तुत नहीं की है कि क्यों वयस्क स्त्रियां पुरुषों की बनिस्पत स्वास्थ्य सुविधा का उपयोग ज्यादा करती हैं। हमें मालूम नहीं कि भारत में भी ऐसा उलटफेर होता है या नहीं, क्योंकि हमारी जानकारी में यहां इस तरह का कोई अध्ययन नहीं हुआ है।

स्वास्थ्य सुविधाओं के उपयोग में अन्तर का कारण यह नहीं है कि स्त्रियां आमतौर पर पुरुषों से ज्यादा स्वस्थ हैं । दरअसल हम देख भी चुके हैं कि स्त्रियों की मृत्यु दर, पुरुषों से ज्यादा रहती है। अतः **उपरोक्त आंकड़ों से निष्कर्ष यह निकलता है कि स्त्रियों की अस्वस्थता को गंभीरतापूर्वक नहीं लिया जाता। नतीजा यह होता है कि वे घर में ही मर जाती हैं। उन्हें स्वास्थ्य सुविधा तक पहुंचने का अवसर ही नहीं मिलता।**

सामाजिक स्थिति

औरतों की बुरी सेहत का सबसे बड़ा कारण तो शायद यह है कि उनका महत्त्व पुरुषों से कम समझा जाता है। हम पहले ही देख चुके हैं कि खेतिहर परिवारों में सबसे बुजुर्ग पुरुष ही परिवार का मुखिया

होता था। परिवार के सारे बड़े फैसले इसी पुरुष सदस्य द्वारा लिये जाते थे। यह अधिकार अगली पीढ़ी में सबसे बड़े बेटे को सौंपा जाता था। इस रिवाज को धर्म व परम्परा की मान्यता प्राप्त थी। ऐसे समाज में औरत की भूमिका मुख्यतः पत्नी व मां की थी। उसके जीवन की नियति शादी थी। और परिवार में उसका सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान पुत्रवती होना था। अच्छी मां के लिए आत्मबलिदान व आत्म-प्रवंचना जैसे मूल्यों को बढ़ावा दिया जाता था।

आज भी लड़कियों में स्त्रीत्व के ये संस्कार बचपन से भरे जाते हैं। आज भी औरत की पहचान उसके पति से जुड़ी है। विधवाओं, परित्यक्ताओं व अविवाहिताओं के प्रति समाज में व्याप्त धारणाओं से ऐसा स्पष्ट होता है। धार्मिक या सामाजिक कार्यक्रमों में विधवा स्त्री की उपस्थिति को अपशकुन माना जाता है। उन पर तरह-तरह की सामाजिक पाबन्दियां लगाई जाती हैं और उन्हें एक तरह से व्यक्तित्वहीन बना दिया जाता है। इसके विपरीत, जो औरत अपने पति से पहले मर जाती है उसे भाग्यशाली माना जाता है। कहा जाता है कि 'सुमंगली' मरना पुण्यों का फल है।

इसके अतिरिक्त मासिक स्राव (माहवारी) और जचकी, दोनों को अशुद्ध माना जाता है जबकि ये दोनों स्त्री जीवन की प्राकृतिक घटनाएं हैं। मासिक स्राव के दिनों में औरत को अलग बैठना होता है, वह घरेलू काम (जैसे खाना पकाना) में हाथ नहीं बंटा सकती और किसी धार्मिक कार्य में भाग नहीं ले सकती। आज भी जन्म से ही लड़की के साथ भेदभाव किया जाता है। लड़के पर जी खोलकर खर्च किया जाता है, क्योंकि वही तो साथ रहेगा और बुढ़ापे का सहारा बनेगा। लड़की पर पैसा खर्च करना इतने उत्साह की बात नहीं होती क्योंकि वह तो पराया धन है, पराये घर चली जाएगी। शादी से पहले ही उसे भावी पति का धन (अर्थात् संपत्ति) मान लिया जाता है। संपत्ति में से हिस्सा नहीं मिलता, इसलिए उसके एवज मे उसे दहेज दिया जाता है। परन्तु यह भी लड़के लड़की में भेदभाव का एक और उदाहरण है।

इस सबका नतीजा यह होता है कि लड़की के माता-पिता उसे बोझ समझते हैं, और पति उसे अपनी सम्पत्ति समझता है। औरत को सम्पत्ति मानने की धारणा की पराकाष्ठा यह है कि किसी आदमी से बदला लेना हो तो उसकी मां, बीवी या बेटी के साथ बलात्कार किया जाता है। जमींदार 'नीची जाति' की कही जाने वाली औरतों के साथ ऐसे बलात्कार करते हैं, जैसे यह उनका हक हो।

अभी तक हमने जो कुछ देखा, उससे स्पष्ट है कि समाज में स्त्रियों का नीचा दर्जा ही उनकी खराब सेहत का प्रमुख कारण है। यही कारण है कि आजीवन महिलाओं का पोषण स्तर कम रहता है और उनकी अस्वस्थता को गंभीरता से नहीं लिया जाता।

स्त्री समुदाय की बुरी सेहत पर चिकित्सा जगत की प्रतिक्रिया

चिकित्सा जगत औरतों के स्वास्थ्य पर सिर्फ प्रजनन उम्र के दौरान ध्यान देता है। मातृत्व स्वास्थ्य सुविधा पर बारीकी से नजर डालने पर पता चलता है कि इनका सरोकार भी महिला के स्वास्थ्य से नहीं बल्कि बच्चे के स्वास्थ्य से है। चूंकि बच्चे का स्वास्थ्य और समुचित वृद्धि मां की तन्दुरुस्ती पर ही निर्भर है। इसलिए मातृ सुविधाओं को बाल सुविधाओं के साथ जोड़ दिया गया है और इसे **मातृ एवं बाल स्वास्थ्य** कहा जाता है।

चिकित्सा जगत मां और बच्चे को एक इकाई के रूप में क्यों देखता है? कारण निम्नलिखित बताए जाते हैं :

- जन्म से पूर्व भ्रूण अपना पूरा पोषण मां से ही प्राप्त करता है। यदि मां कुपोषित हो, तो नवजात शिशु का वजन कम होने की संभावना बहुत अधिक है। गर्भपात और मृत शिशु के जन्म की संभावना भी बढ़ जाती है।
- गर्भावस्था के दौरान मां को हुई कुछेक बीमारियां (जैसे सिफलिस, जर्मन खसरा) और मां की कुछ आदतें (मसलन नशीली दवाओं का सेवन) भ्रूण को प्रभावित कर सकती हैं।
- जन्म के बाद भी बच्चे का शारीरिक, मानसिक व सामाजिक विकास मां द्वारा शिशु की देखरेख पर ही निर्भर है।

ग्रामीण स्वास्थ्य सुविधा पर भारत सरकार द्वारा प्रकाशित एक पुस्तक में मातृ व बाल स्वास्थ्य का अध्याय जॉन बर्नस के इस कथन से शुरू होता है :

> "पहले मां पर ध्यान केन्द्रित करो । जैसी मां है, वैसे ही बच्चे होंगे । हर तरह से ममता का गुणगान करो, उसे प्रतिष्ठा दो, उसे पवित्र बनाओ । हर तरह से मां की देखभाल करो । मां को पोषण देना और बच्चे को भोजन देना एक ही बात है ।"

यह सही है कि बच्चे का स्वास्थ्य मां पर निर्भर है । परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि औरत के स्वास्थ्य की चिन्ता सिर्फ मातृत्व के समय की जाए ।

ऐसा दृष्टिकोण अपनाने का अर्थ यह है कि गर्भावस्था से पहले और बाद में महिलाओं के स्वास्थ्य से चिकित्सा जगत को कोई सरोकार नहीं है । मसलन, कुल मिलाकर महिलाओं में लौह खनिज की कमी वाले एनीमिया का प्रकोप ज्यादा होता है । इसके कारण कुछ साधारण दिक्कतों, जैसे कमजोरी, थकान, सांस फूलना, हाथ-पैर सुन्न पड़ना, भूख मरना आदि से लेकर काफी गंभीर परिणाम (जैसे गैर-गर्भवती महिला में दिल का दौरा) तक हो सकते हैं । परन्तु मातृ स्वास्थ्य सुविधा में एनीमिया का महत्त्व सिर्फ इसलिए है कि इसका सम्बन्ध मृत-शिशु जन्म और गर्भावस्था के दौरान मृत्यु से होता है । इससे ऐसा लगता है कि चिकित्सा जगत की चिन्ता यही है कि औरतें अपना प्रजनन का काम ठीक से करती रहें ।

यह दलील दी जा सकती है कि चाहे जो भी वजह हो, मगर चिकित्सा जगत द्वारा संचालित जच्चा-बच्चा स्वास्थ्य सेवाओं की बदौलत मातृत्व सम्बन्धी कारणों से होने वाली मौतों की संख्या में कमी आई है। आइए इसकी छानवीन करें ।

क्या जच्चा-बच्चा स्वास्थ्य सेवाओं से जच्चा मृत्यु दर में कमी आती है ?

वर्तमान में जच्चा-बच्चा स्वास्थ्य सेवा के अन्तर्गत गर्भवती महिलाओं को टिटेनस टॉक्साइड दिया जाता है, गर्भावस्था के दौरान जांच सुविधा दी जाती है और हीमोग्लोबीन स्तर बेहतर बनाने के लिए लौह व फौलिक एसिड की गोलियां दी जाती हैं । टिटेनस टौक्साइड इंजेक्शन तो नवजात शिशु को टिटेनस से बचाने हेतु दिया जाता है । सिर्फ प्रसवपूर्व जांच तथा लौह-फौलिक एसिड गोलियां ही सीधे गर्भवती महिला के स्वास्थ्य से सम्बन्धित हैं ।

बिहार व गुजरात में 1988 में किए गए एक अध्ययन से पता चला कि जच्चा-बच्चा स्वास्थ्य कार्यक्रम से लाभान्वित होने वाली महिलाओं का प्रतिशत बहुत कम है ।

जच्चा-बच्चा स्वास्थ्य कार्यक्रम में शामिल महिलाओं का प्रतिशत

सेवा	बिहार		गुजरात	
	पी. एच. सी., उपकेन्द्र शुदा गांव	दूर दराज के गांव	पी. एच. सी., उपकेन्द्र शुदा गांव	दूर दराज के गांव
गर्भावस्था के दौरान सलाह	11.4	1.2	23.8	14.5
पेशाब की जांच	7.0	0	46.9	23.1
खून की जांच	7.6	0	46.9	20.5
टिटेनस टॉक्साइड	11.4	1.2	45.4	18.8
लौह व विटामिन गोलियों की सप्लाई	8.2	0.6	43.1	16.2
घर पर जचकी में मदद	8.9	1.9	23.7	22.7
पी. एच. सी. पर जचकी	10.3	9.5	31.3	11.8
जिला अस्पताल भेजा गया	6.3	0	9.2	5.1

स्रोत : भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद, टास्क फोर्स अध्ययन, 1988.

उपरोक्त तालिका से ज़ाहिर है कि जब गर्भवती महिला किसी पी.एच.सी. या उपकेन्द्र शुदा गांव में रहती है तब भी जच्चा-बच्चा स्वास्थ्य सेवा का लाभ उसे नहीं मिल पाता । बिहार की स्थिति तो बहुत ही बुरी है जहां 90 प्रतिशत गर्भवती औरतों को कोई सुविधा नहीं मिलती ।

इस सवाल पर भी विचार करना चाहिए कि प्रसव पूर्व देखभाल और पी.एच.सी. पर उपलब्ध सुविधा के द्वारा कितनी जच्चा मौतों को टाला जा सकता है। 1990 में गर्भवती औरतों की मृत्यु के कारण निम्नानुसार थे :

गर्भावस्था में रक्तस्राव	23.7%
एनीमिया	19.4%
टॉक्सेमिया (ज़हरबाद)	15.2%
गर्भपात	11.8%
सेप्सिस	8.1%
बच्चे की गलत स्थिति	7.1%

गर्भावस्था और जचकी के दौरान एनीमिया, ज़हरबाद (टॉक्सेमिया) और संक्रमण (सेप्सिस) ही ऐसे कारण हैं जिनकी रोकथाम (सैद्धांतिक रूप से) संभव है। रक्तस्राव और बच्चे की गलत स्थिति की समस्या को पी.एच.सी. के स्तर पर नहीं निपटाया जा सकता है। टॉक्सेमिया के मामले में भी आपातकालीन प्रसव सुविधाओं की जरूरत होती है। इन सारी मौतों की रोकथाम तभी संभव है जब एक सुसज्जित अस्पताल उपलब्ध हो जिसमें खून देने और सीज़ेरियन ऑपरेशन की सुविधा मौजूद हो। यह सुविधा घर से बहुत दूर न हो तथा आर्थिक दृष्टि से गरीब परिवारों के बूते में हो।

जिस बुनियादी जच्चा-बच्चा स्वास्थ्य सेवा पर हमारी सरकार इतना जोर देती है वह देहाती इलाकों में अधिकांश गर्भवती महिलाओं को उपलब्ध नहीं है या वे उसका इस्तेमाल नहीं करती हैं। जहां ऐसी सेवाएं उपलब्ध भी हैं, वहां पी. एच. सी. में उपलब्ध सीमित सुविधाओं के द्वारा गर्भ सम्बन्धी अधिकांश मौतों की रोकथाम या उपचार सम्भव नहीं है। गर्भ सम्बन्धी अधिकांश मौतों की रोकथाम सिर्फ अस्पताल में मौजूद सुविधाओं की मदद से ही हो सकती है।

मातृ सेवाएं और परिवार नियोजन

औरतों के प्रजनन कार्य के प्रति चिकित्सा जगत की अतिशय चिन्ता के कारण ही परिवार नियोजन कार्यक्रम को मातृ व बाल स्वास्थ्य में जोड़ा गया। औरतों, और खासकर गरीब औरतों के बारे में यह माना जाता है कि वे बहुत गैर जिम्मेदाराना तरीके से प्रजनन करती हैं। अर्थात् वे जल्दी-जल्दी ढेर सारे बच्चे पैदा करती हैं। ऐसा माना जाता है कि इस तरह 'अनियंत्रित' प्रजनन का असर बच्चों के वजन, गर्भपात, घातक एनीमिया, जचकी पूर्व रक्तस्राव और मातृ व प्रसव के बाद ऊंची मृत्यु दर पर भी होता है। परिवार नियोजन को मातृ व बाल स्वास्थ्य में शामिल करने का कारण यह बताया गया है कि इससे महिलाओं की सेहत में सुधार आएगा परन्तु वास्तविक मंशा किसी भी कीमत पर जन्म दर कम करने की है। *(इसी खण्ड का अध्याय 7 देखें।)*

इस कार्यक्रम की वजह से भारतीय महिलाओं की सेहत की हालत और भी बुरी हो गई। इसकी वजह से रुग्णता भी बढ़ी। ये रोग सिर्फ गर्भनिरोधक टेक्नोलॉजी के उपयोग से हुए हों, ऐसी बात नहीं है। लक्ष्य-प्रधान परिवार नियोजन कार्यक्रम की वजह से लोगों में जबर्दस्ती नसबन्दी का भय बैठ गया है। खासकर गरीब लोगों में इस भय के कारण औरतें जरूरत के वक्त भी सरकारी चिकित्सा सुविधा का उपयोग करने से घबराती हैं।

तो, चिकित्सा जगत ने महिलाओं के स्वास्थ्य के प्रति बहुत ही संकीर्ण नजरिया अपनाया हुआ है। इसमें समाज में व्याप्त नजरिया स्पष्ट तौर पर झलकता है। जैसे समाज में स्त्री को सिर्फ 'बच्चे पैदा करने वाली मशीन' के रूप में देखा जाता है और उनके बाकी सारे योगदान भुला दिये जाते हैं, ठीक उसी प्रकार से चिकित्सा जगत में भी सिर्फ प्रजनन पर ध्यान दिया जाता है और बाकी पहलू भुला दिये जाते हैं।

औरतों को निष्कासित करने वाली टेक्नोलॉजी

हाल ही में, चिकित्सा जगत ने भ्रूण परीक्षण की विधि (जैसे एम्नियो-सिन्टेसिस, अल्ट्रा साउंड, कोरियॉनिक विलई बायॉप्सी) को स्त्री भ्रूण हत्या का आधुनिक तरीका बनाकर स्थिति को और बदतर बना दिया है। यह कटे पर नमक छिड़कने जैसी बात है। गर्भजल परीक्षण की विधि का विकास भ्रूण में जिनेटिक (आनुवंशिक) गड़बड़ियों का पता लगाने के लिए हुआ था। इस विधि में गर्भावस्था के 16 वें सप्ताह के आसपास गर्भाशय से प्राप्त द्रव का परीक्षण किया जाता है। कुछ

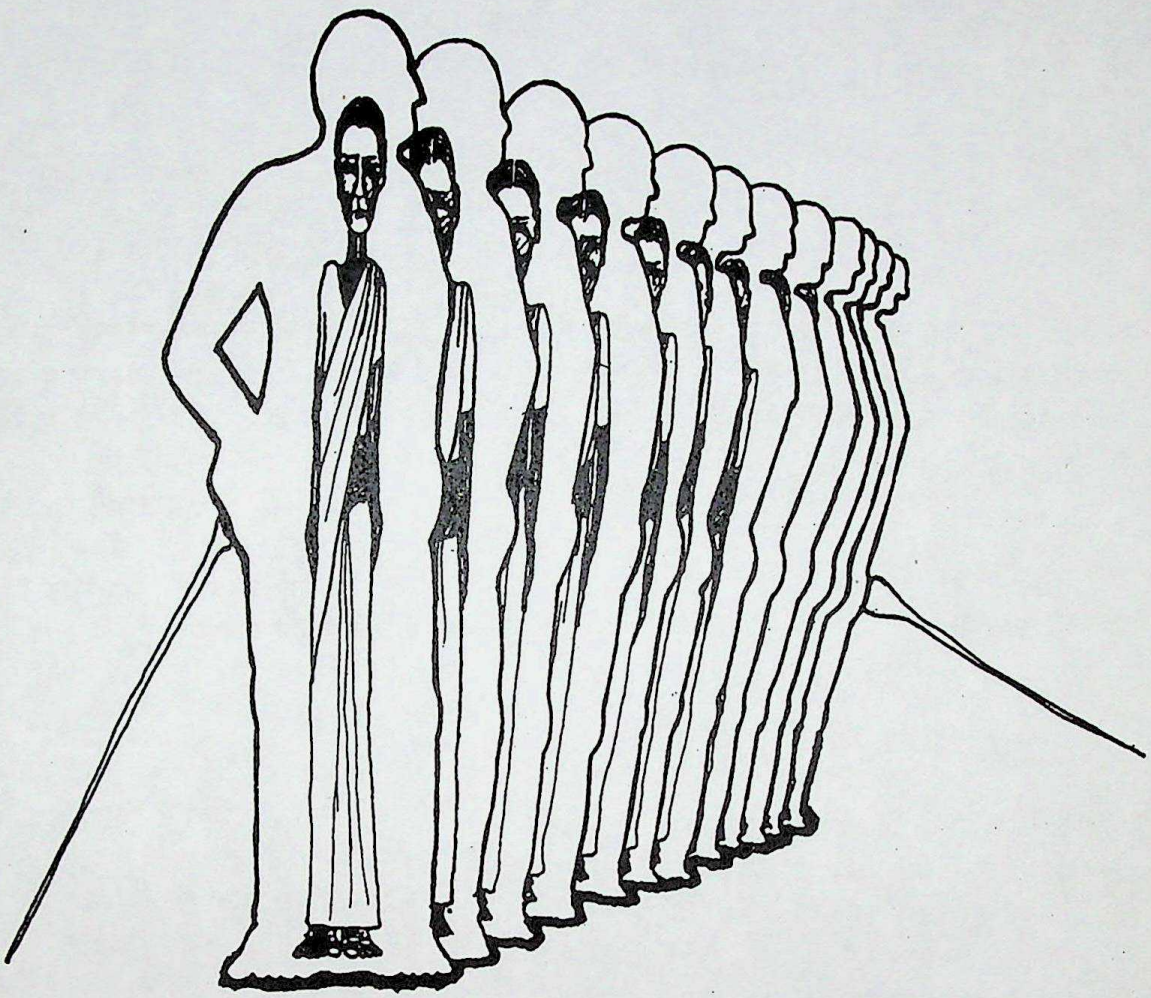

आनुवंशिक गड़बड़ियां लिंग-निर्धारक गुणसूत्र (सैक्स क्रोमोसोम) से जुड़ी होती है। इसलिए परीक्षण के दौरान यह भी पता लगाया जाता है कि भ्रूण नर है या मादा। यह परीक्षण उन औरतों के मामलों में किया जाता है जिनके परिवार में आनुवंशिक गड़बड़ियों का इतिहास रहा हो या जो 40 साल की उम्र के बाद गर्भवती हुई हों। बहरहाल अपने देश में प्राइवेट डाक्टरों ने इस परीक्षण को मुनाफे का जरिया बना लिया। भारत में लड़की का जन्म एक दुर्घटना मानी जाती है। इसी तथ्य का फायदा उठाकर ये प्राइवेट भ्रूण परीक्षण के द्वारा भ्रूण लिंग बताकर मुनाफा कमाते हैं। यदि भ्रूण मादा हुआ, तो गर्भपात करवा दिया जाता है।

यह परीक्षण इतना लोकप्रिय हुआ कि 1978 से 1983 के बीच करीब 78,000 मादा भ्रूणों का गर्भपात किया गया। नीति निर्माताओं ने भी इस तरह के दुरुपयोग का स्वागत किया। उनके लिए तो किसी भी तरह जन्म दर कम करना ही एक मात्र लक्ष्य है। अपने देश में परिवार का आकार तय करने में इस बात का भी हाथ होता है कि कम से कम एक बेटा तो हो। अतः भ्रूण परीक्षण को जनसंख्या नियंत्रण का एक तरीका मानकर प्रोत्साहित किया जा रहा है।

निष्कर्ष

हमारे देश में औरतों की स्वास्थ्य समस्याएं मुख्यतः उनकी सामाजिक स्थिति से सम्बन्धित हैं। महिला किसी भी आर्थिक वर्ग की क्यों न हो सामाजिक स्थिति का यह कारक बहुत महत्त्वपूर्ण है। गरीब वर्ग की औरत के लिए गरीबी से जुड़ी समस्याओं के अतिरिक्त औरत होने की समस्याएं और जुड़ जाती हैं। चिकित्साजगत इन आर्थिक व सामाजिक पहलुओं को ज्यादा महत्त्व नहीं देता जबकि औरतों का स्वास्थ्य इन्हीं पर निर्भर करता है। सिर्फ प्रजनन पर ध्यान केन्द्रित करके चिकित्साजगत अन्य महत्त्वपूर्ण समस्याओं की उपेक्षा करता है जो औरतों की बीमारियों व मौत का महत्त्वपूर्ण कारण है।

4 : वयस्कों की सेहत

वचपन के अन्त और युवावस्था की शुरूआत को विभिन्न मापदण्डों के आधार पर परिभाषित किया जा सकता है। शारीरिक रूप से एक वच्चे को वयस्क कहा जाता है जब उसकी वृद्धि थम जाए (करीब 18 वर्ष)। सन् 1960 के **बाल कानून** के मुताबिक बच्चे का अर्थ है 16 वर्ष से कम का लड़का और 18 वर्ष से कम की लड़की। कानूनी तौर पर किसी व्यक्ति को 18 वर्ष की उम्र के बाद वयस्क माना जाता है। अव उसे महत्त्वपूर्ण फैसलों में अभिभावकों की अनुमति की जरूरत नहीं रह जाती।

इन सारी परिभाषाओं में बचपन को व्यक्ति के जीवन का एक-तिहाई अंश माना जाता है। परन्तु हकीकत में गरीब परिवार के बच्चों के लिए बचपन और युवावस्था के बीच का अन्तराल बहुत कम होता है। इसकी वजह यह है कि 6 साल की उम्र से ही वे अपने परिवार को कई तरह से योगदान देने लगते हैं। ये बच्चे अपने से छोटे बच्चों की देखभाल, पानी लाना, लकड़ी लाना, आदि काम निपटाते हैं। इससे परिवार के वयस्क सदस्यों को आमदनी वाले काम करने का ज्यादा समय मिल पाता है।

इन घरेलू कार्यों के अलावा ये बच्चे माचिस उद्योग, कालीन उद्योग जैसी कई आर्थिक गतिविधियों में हिस्सा बंटाते हैं जिनसे परिवार को आमदनी होती है। यानि गरीब घरों के बच्चे चाहे शहरी हों या ग्रामीण, 6 साल से बड़े होते ही मजदूरी करने लगते हैं। यदि हम युवावस्था को उम्र के आधार पर परिभाषित न करें वरन् ये देखें कि किस उम्र में व्यक्ति परिवार में आर्थिक योगदान देने लगता है तो गरीब परिवारों के 6 साल से बड़े बच्चों को भी हमें 'युवा' मानना होगा।

स्वास्थ्य सुविधा में इस आयु समूह (6 वर्ष से ऊपर) की सेहत के लिए स्कूली स्वास्थ्य कार्यक्रम, मातृ सुविधा, कर्मचारी बीमा योजना, और विशिष्ट बीमारियों (जैसे टी. बी., मलेरिया, कुष्ठ रोग, आदि) के लिए नियंत्रण कार्यक्रम चलाए जाते हैं।

अलबत्ता, स्कूली स्वास्थ्य कार्यक्रम, उन बच्चों की जरूरतों की पूर्ति नहीं करता जो कभी स्कूल नहीं गये। मातृ स्वास्थ्य सुविधा में सिर्फ 15-44 वर्ष की उम्र की विवाहित महिलाओं की कुछ स्वास्थ्य समस्याओं पर ही ध्यान दिया जाता है। कर्मचारी बीमा योजना के तहत सिर्फ उन कामगारों को फायदा मिलता है, जो कारखानों में काम करते हैं। इस योजना में उन कामगारों को शामिल नहीं किया जाता जो खेतीबाड़ी करते हैं या कारखानों में काम करते हैं।

इस तरह से उपरोक्त अधिकांश सुविधाएं कामगार आबादी के एक बड़े हिस्से को नहीं मिलती। यह आबादी शहरी व देहाती गरीब परिवारों की है। हम देखेंगे कि इस तबके की कई गंभीर स्वास्थ्य-समस्याएं हैं। इन पर बीमारी नियंत्रण कार्यक्रमों में भी ध्यान नहीं दिया जाता।

गरीब परिवारों के छः साल से ऊपर लोगों की स्वास्थ्य समस्याएं क्या हैं ?

कुपोषण

इस तबके के लोगों की अस्वस्थता का शायद यही सबसे बड़ा कारण है। कुपोषण और संक्रामक रोगों का आपसी सम्बन्ध हम पहले ही देख चुके हैं। ऐसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध के अलावा कई और तरह से भी कुपोषण सेहत को प्रभावित करता है। 5 से 18 वर्ष की उम्र के व्यक्तियों की वृद्धि अभी पूरी नहीं हुई है। कुपोषण के कारण इन व्यक्तियों में थकान, हताशा बेचैनी और चिड़चिड़ापन आ जाता है। भूख न लगना, अपच, भूखमरी की वजह से होने वाले दस्त (लसलसे पतले दस्त), आदि अन्य लक्षण हैं। ऐसे व्यक्ति प्रायः थके थके और उदासीन से लगते हैं। उनका चेहरा पीला पड़ जाता है और आंखों की चमक गायब हो जाती है। लगातार लम्बे समय के कुपोषण के कारण हड्डियों व दांतों की वृद्धि धीमी हो जाती है और यौवनारम्भ या प्रजनन योग्य होने मे विलम्ब हो सकता है। अपनी ऊर्जा बचाने के लिए शरीर का आकार इस तरह ढल जाता है कि शरीर की सतह का क्षेत्रफल कम से कम रहे। फलतः शरीर-वृद्धि रुक जाती है। स्त्रियों मे इसका अतिरिक्त प्रभाव कूल्हों (श्रोणि) के आकार व आकृति पर पड़ता है, जिसके कारण जचकी में दिक्कत होती है।

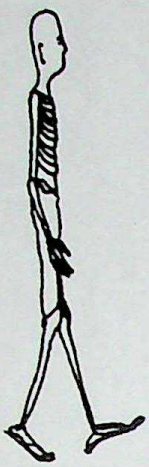

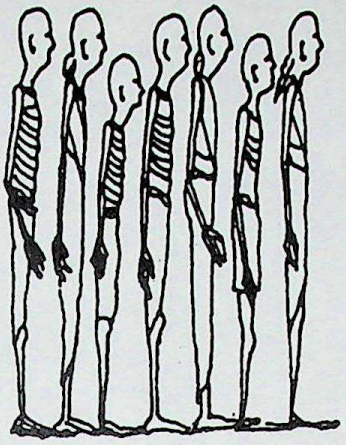

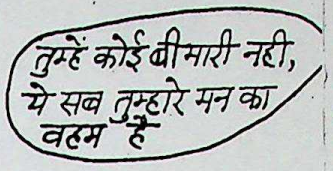

18 वर्ष से ऊपर के व्यक्तियों में भी इसी तरह के असर देखे जा सकते हैं। अमरीका में एक अध्ययन किया गया था। इसके अंतर्गत जो व्यक्ति पहले प्रतिदिन 3100 कैलोरी का उपभोग करते थे, उन्हें 1600-1800 कैलोरी की खुराक पर रखा गया। यह एक गरीब भारतीय व्यक्ति की साधारण खुराक है। इन व्यक्तियों का पांच सप्ताह तक अवलोकन किया गया।

> "इस अवधि में उनका वजन 10 प्र[illegible]त कम हो गया। तब उनकी खुराक बढ़ाकर 1970 कैलोरी कर दी गई। इस खुराक पर उनका वजन महीनों तक लगभग स्थिर बना रहा। भोजन की मात्रा में तो जबर्दस्त किफायत हो गई मगर इसकी कीमत शारीरिक व मानसिक क्षति के रूप में चुकानी पड़ी।
>
> ये लोग कमजोरी व थकान महसूस करते थे और कड़ी मेहनत नहीं कर पाते थे। यौन इच्छाएं कम हो गई थीं। उनकी उदासीनता का परिणाम यह हुआ कि वे छोटे-मोटे काम से कतराने लगे। इन कामों में करीब 500 कैलोरी खर्च होती है। लम्बे समय के कुपोषण के कारण उनकी बुनियादी शारीरिक क्रियाओं (चयापचय) की दर में गिरावट आई। वे यथासंभव कम से कम काम करके ऊर्जा की बचत करने की कोशिश करने लगे। उनकी खुराक में कोई अतिरिक्त ऊर्जा नहीं थी, जिसे बुखार या बीमारी के वक्त के लिए संचित किया जा सके। अन्ततः इन लोगों की हालत वही हो गई जो कई पिछड़े देशों के गरीब लोगों की है।"
>
> *(सैमसन राइट)*

सन् 1950 में अमरीका में एक और अध्ययन किया गया। इस अध्ययन का उद्देश्य यह समझना था कि इन्सानों पर लम्बे समय की आंशिक भुखमरी का क्या प्रभाव होता है।

> "3490 कैलोरी क्षमता का भोजन प्रतिदिन खाने वाले 32 स्वस्थ व्यक्तियों को 1570 कैलोरी की खुराक पर रखा गया। ये अवलोकन 6 महीने तक चले। उनका वजन 25 प्रतिशत कम हो गया। वजन में कमी का असर चेहरे व शरीर पर एक जैसा हुआ। चमड़ी खुरदरी, पतली और चकलेदार हो गई। बाल बढ़ने की गति कम हो गई और बाल ज्यादा झड़ने लगे। तीसरे महीने के बाद से शरीर पर सूजन मामूली बात हो गई। ऐड़ियों, घुटनों और चेहरे पर सूजन रहने लगी। घावों में से खून कम बहता था और घाव अच्छे होने में भी देर लगती थी।
>
> गर्मी के प्रति सहनशीलता बढ़ गई पर ठंड के प्रति कम हो गई। उन्हें खाने-पीने की गर्म चीजें अच्छी लगती थी। वो हाथ-पैर ठण्डे होने की शिकायत करते रहते थे। गर्मी के मौसम में भी वे अतिरिक्त कपड़े पहनने लगे और रात को कई कम्बल ओढ़कर सोते थे। लेटे या बैठे होने के बाद अचानक खड़े होने पर उन्हें थोड़ा चक्कर आ जाता था और आंखों के सामने अंधेरा छा जाता था।
>
> किसी की भी नजर कमजोर नहीं हुई थी परन्तु कई व्यक्तियों ने नजर टिकाने में दिक्कत, आंखों के दर्द और आंखों के सामने 'धब्बों' की शिकायत की। मांसपेशियों की ऐंठन और दर्द साधारण बात हो गई। हाथ-पांव अक्सर 'सुन्न पड़' जाते थे। ऐच्छिक गतियां धीमी हो गई। उन्हें कमजोरी महसूस होती थी और वे जल्दी थक जाते थे। वे संभल-संभलकर चलते-फिरते थे। शारीरिक तालमेल बिगड़ गया था। कई बार वे दहलीज से टकराकर लड़खड़ा जाते थे और कई चीजों से टकरा जाते थे। स्वतःस्फूर्त गतिविधियां कम हो गई। जैसे-जैसे भूखमरी की अवधि बढ़ी, ये लोग बहुत कम बातों से उत्साहित होते थे। उन्होंने बताया कि कमजोरी, महत्त्वाकांक्षा की कमी, अरुचि, हताशा, चिड़चिड़ेपन और यौन इच्छा की कमी से उन्हें ऐसा लगता है कि वे उम्र से पहले ही बूढ़े हो गए हैं।"

(इन दोनों अध्ययनों का ब्यौरा "सैमसन राइट्स" की "एप्लाइड फिजयोलॉजी" नामक पुस्तक, 11 वां संस्करण से लिया गया है। यह स्पष्ट नहीं है कि ये अध्ययन स्वैच्छिक तौर पर किये गये या कैदियों पर और उनकी सहमति कैसे ली गई।)

आंशिक भुखमरी के उपरोक्त लक्षण हमारे ग्रामीण स्वास्थ्य केन्द्रों के मरीजों के प्रमुख लक्षण हैं। आमतौर पर आंशिक भुखमरी के इन लक्षणों को 'व्यक्तिनिष्ठ' (व्यक्ति के दिमाग की उपज) कहकर टाल

दिया जाता है। यह भी सच है कि मौजूदा स्वास्थ्य प्रणाली में भूख के लिए कोई 'औषधि' नहीं है।

इसलिए इन समस्याओं पर ध्यान तभी दिया जाता है जब ये किसी संक्रामक रोग के रूप में सामने आती हैं। संक्रामक रोग ही इस आयु समूह में सबसे ज्यादा मौतों का कारण हैं (देखें तालिका)। टी. बी. के मामले में यह बात खासतौर पर सही उतरती है। टी. बी. का सीधा सम्बन्ध व्यक्ति की आर्थिक स्थिति से है।

राष्ट्रीय पोषण संस्थान, हैदराबाद, द्वारा किए गए एक अध्ययन से कुपोषण के एक और गंभीर पहलू का संकेत मिला है। अध्ययन से पता चला है कि किसी व्यक्ति द्वारा किए गए काम की मात्रा और उसकी मजदूरी (आमदनी) का उसके शरीर पर वजन पड़ता है। इस अध्ययन का निष्कर्ष है कि लम्बे समय के कुपोषण के कारण कम हुए वजन के परिणामस्वरूप व्यक्ति की कार्यक्षमता कम हो जाती है। यह बात हल्के व मध्यम काम पर भी लागू होती है।

इस बात का महत्त्व तब स्पष्ट होता है, जब हम यह देखते हैं कि ज्यादा कुपोषित तबका ही कड़ी शारीरिक मेहनत के काम करता है। इस तबके की आमदनी, किए काम पर निर्भर होती है। अतः यह साफ है कि कम काम कर सकने के कारण इस तबके की आमदनी घट जाती है। इसके कारण पोषण की स्थिति और बिगड़ जाती है और अस्वस्थता बढ़ती है।

अतः ग्रामीण युवा आबादी की सबसे बड़ी स्वास्थ्य समस्या कुपोषण ही है।

व्यवसाय और सेहत का सम्बन्ध

छः वर्ष ऊपर के अधिकांश लोग किसी न किसी आर्थिक गतिविधि में लगे होते हैं। अतः यह जानना बहुत जरूरी है कि उनके व्यवसाय का स्वास्थ्य पर क्या असर पड़ता है। दूसरे शब्दों में उनकी व्यवसायिक स्वास्थ्य समस्याएं कौन-सी हैं। ग्रामीण इलाकों में खेती ही जीविका का प्रमुख साधन है। इसलिए व्यवसायिक स्वास्थ्य समस्याओं का अर्थ यह होगा कि खेतीबाड़ी के कामकाज से जुड़ी स्वास्थ्य समस्याएं क्या है।

टिटनेस, अंकुश कृमि, सांप-बिच्छू काटना, आदि ऐसी समस्याएं हैं जो खेती के काम में लगे लोगों को ज्यादा प्रभावित करती हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि ये समस्याएं खेतिहर कामगारों की व्यवसायिक समस्याएं हैं। आजकल रासायनिक खाद, कीटनाशक, मशीनों आदि

भारत में वयस्कों की मृत्यु के कारण (उम्र के अनुसार)

मृत्यु का कारण	पुरुष उम्र						स्त्री उम्र					
	5-14	15-24	25-34	35-44	45-54	55-64	5-14	15-24	25-34	35-44	45-54	55-64
1. संक्रामक व परजीवी जन्य रोग	29.9%	23.2%	24.4%	23.3%	19.3%	14.9%	31.6%	16.9%	19.3%	20.1%	14.9%	12.7%
2. दुर्घटना, जहर व हिंसा	11.5%	25.5%	24.7%	14.7%	8.5%	4.9%	13.2%	30.2%	23.5%	14.3%	6.9%	4.6%
3. तंत्रिका तंत्र के रोग	11.9%	6.0%	3.6%	2.6%	2.3%	2.1%	10.9%	4.3%	3.2%	3.2%	2.4%	2.4%
4. रक्त परिसंचरण तंत्र के रोग	6.5%	8.3%	11.4%	20.8%	30.8%	37.7%	5.9%	7.3%	11.1%	20.9	29.8%	37.2%
5. सांस सम्बन्धि रोग	12.4%	7.2%	7.0%	5.9%	6.3%	7.7%	11.0%	5.3%	5.7%	7.0%	11.3%	7.4%

स्रोत : हैल्थ इन्फार्मेशन ऑफ इण्डिया, परजीवी सरकार, 1992.

PH-100
11648 N96
COMMUNITY HEALTH CELL LIBRARY AND INFORMATION CENTRE

जैसी आधुनिक तकनीकों के उपयोग के कारण खेती के काम में नई स्वास्थ्य समस्याएं जुड़ गई हैं। ये समस्याएं मुख्यतः दुर्घटना अथवा जहरीले पदार्थों के कारण पैदा होती हैं। ये दोनों कारण इस आयु समूह में मौतें के प्रमुख कारक हैं (पिछले पृष्ठ की तालिका देखें)।

खेती में रसायनों के इस्तेमाल से पैदा होने वाली स्वास्थ्य समस्याएं

आधुनिक खेती में कई किस्म के रसायनों (जैसे कीटनाशक) का उपयोग होता है। सन् 1970 से 1990 के दौरान जीवाणुनाशक दवाईयों का उपयोग 24,000 टन से बढ़कर 82,000 टन हो गया। खण्ड I के अध्याय 8 (ग) में हम देख चुके हैं कि इन नई तकनीकों का उपयोग बड़े किसानों और जमींदारों द्वारा किया जाता है। परन्तु ये लोग खुद तो खेतीबाड़ी का काम करते नहीं। इसलिए इनके खेतों पर इन रसायनों का छिड़काव तो खेतिहर मजदूर ही करते हैं।

ये रसायन बहुत जहरीले होते हैं और इनका उपयोग बहुत सावधानी से करना होता है। विकसित देशों में तो इन रसायनों का छिड़काव सिर्फ प्रशिक्षित व्यक्तियों द्वारा किया जाता है और वे भी बचाव के उपकरण, जैसे नकाब, दस्ताने, आदि की मदद से ही काम करते हैं। इन साधनों से वे रसायन के सम्पर्क में आने से बच जाते हैं। भारत में आमतौर पर बचाव का कोई उपाय नहीं किया जाता। जैसे छिड़काव का काम अप्रशिक्षित लोग करते हैं और इन्हें सुरक्षा के उपकरण नहीं दिए जाते। इस कारण से इन पर कीटनाशकों के विषैले प्रभावों का खतरा बना रहता है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन की जानकारी के मुताबिक अल्प विकसित देशों में कीटनाशकों से होने वाली कुल दुर्घटनाओं में से एक-तिहाई भारत में होती हैं। इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ मेनेजमेंट, अहमदाबाद, द्वारा किए गए एक अध्ययन से पता चला है कि 77 प्रतिशत खेतिहर मजदूर हर मौसम में कम से कम 11 दिन कीटनाशकों के छिड़काव का काम करते हैं। इनमें से अधिकांश मजदूर 5 से 7 दिन तक कीटनाशकों के सम्पर्क में आते हैं। इतनी लम्बी अवधि के सम्पर्क के कारण कई स्वास्थ्य समस्याएं उत्पन्न हो सकती हैं।

विष का असर तेज होने पर व्यक्ति की मौत हो सकती है। बार-बार इन रसायनों के संपर्क में आने से अन्धापन, कैंसर, लिवर (जिगर) व तंत्रिका तंत्र की बीमारियां हो सकती हैं। हाल ही में किए गए एक अध्ययन से पता चला है कि कपास उत्पादक क्षेत्रों के 73 प्रतिशत मजदूरों में रक्त परिसंचरण तंत्र व आंत सम्बन्धी समस्याओं के लक्षण दिखने लगे हैं। खुद मजदूर को प्रभावित करने के अलावा ये रसायन मजदूर के परिवार को भी प्रभावित करते हैं। इन रसायनों के असर से बच्चों में जन्मजात विकृतियां हो सकती हैं या उनकी वृद्धि पर प्रतिकूल प्रभाव हो सकता है। भारत में उपयोग किये जाने वाले कई कीटनाशक दूसरे देशों में प्रतिबन्धित हैं क्योंकि इन्हें बहुत खतरनाक माना जाता है। (इन कीटनाशकों के विदेशी उत्पादक या तो इन्हें भारत को निर्यात कर देते हैं या भारत में अपना उद्योग स्थापित कर लेते हैं)। उदाहरण के लिए बी. एच. सी. को 'बहुत खतरनाक' कीटनाशक की श्रेणी में रखा गया है। इससे कैंसर होता है। भारत में इसका उपयोग 1 करोड़ 15 लाख हेक्टेयर इलाके में होता है। यह भारत की कुल कृषि भूमि का 8 प्रतिशत है।

इसी तरह मिथाईल पेराथियान भी बहुत खतरनाक श्रेणी में आता है। इसका उपयोग 1 करोड़ 20 लाख हेक्टेयर में होता है। इसे उपयोग में लेना बहुत जोखिम भरा है क्योंकि यह चमड़ी के माध्यम से शरीर में प्रवेश कर जाता है। हेप्टाकलोर, डी. बी. सी. पी., 4-डी-हर्बिसाइड और पेराकेट आदि ऐसे अन्य खरपतवारनाशक और कीटनाशी हैं जो पश्चिमी देशों में प्रतिबन्धित हैं पर भारत में धड़ल्ले से उपयोग कियो जाते हैं।

खेतिहर मजदूरों पर कीटनाशकों के विषैले प्रभाव को आंकने के लिए काफी अनुसंधान की आवश्यकता है।

मशीनों के उपयोग से जुड़ी समस्याएं

आधुनिक खेती में ट्रेक्टर, थ्रेशर, हार्वेस्टर आदि मशीनों का उपयोग किया जाता है। इनमें सबसे ज्यादा समस्याएं (चोट के रूप में) थ्रेशर मशीन से पैदा होती हैं। इन मशीनों पर मजदूर ही काम करते हैं। अनुमान है कि सन् 1970 और 1980 के मध्य में 10,000 खेतिहर मजदूर थ्रेशिंग करते हुए घायल हुए हैं।

यह आंकड़ा बहुत कम लग सकता है परन्तु जरा इस बात पर गौर कीजिए कि जहां सन् 1975 में सिर्फ 500 मजदूर घायल हुए थे, वहीं सन् 1980 में 5000 मजदूर घायल हुए। अर्थात् 5 सालों में दुर्घटना की दर 10 गुणा बढ़ गई। चोट भी ऐसी होती है कि मजदूर जीवन भर के लिए अपंग हो जाता है। इन चोटों के उपचार के लिए अक्सर शल्यक्रिया की आवश्यकता होती है जिसमें कभी-कभी व्यक्ति की बांह काट देना पड़ती है।

हरियाणा कृषि विश्वविद्यालय द्वारा किए गए एक अध्ययन के अनुसार 50 प्रतिशत दुर्घटनाएं घटिया दर्जे की थ्रेशिंग मशीन के इस्तेमाल के कारण होती हैं। पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा किए गए एक अन्य अध्ययन में पाया गया कि खेती से सम्बन्धित 40 प्रतिशत दुर्घटनाएं थकान के कारण होती हैं।

पंजाब में डाक्टरों के एक दल ने अपने अध्ययन में पाया कि थ्रेशर की सारी दुर्घटनाएं घटिया दर्जे के थ्रेशरों के कारण होती हैं। इन थ्रेशरों में सुरक्षा के उपकरण नहीं लगे थे। डाक्टरों का कहना था कि "जमींदार लोग थ्रेशिंग मशीन पर कम-से-कम पैसा खर्च करना चाहते हैं क्योंकि इनका उपयोग साल में कुछ ही दिनों के लिए, और वह भी, मजदूरों द्वारा किया जाता है।"

डाक्टरों ने यह भी देखा कि कटाई के मौसम में खेतिहर मजदूरों से जबरदस्ती ओवरटाइम काम करवाया जाता है। ज्यादा से ज्यादा काम कराने की दृष्टि से जमींदार इन्हें अफीम या शराब जैसे नशीले पदार्थ भी देते हैं। इस प्रकार से थ्रेशर दुर्घटनाएं, घटिया मशीनों, ओवरटाइम की थकान और नशे का मिला जुला परिणाम होती हैं। (कई मजदूर तो धीरे-धीरे नशे के आदि हो जाते हैं।)

खेतिहर मजदूरों की एक विशिष्ट स्वास्थ्य समस्या

देश के कुछ हिस्सों में खेतिहर मजदूरों पर एक और खास रोग न्यूरोलेथरिज़्म का प्रकोप होता है। संक्षेप में इस लेथरिज़्म कहते हैं। इस बीमारी का असर तंत्रिका तंत्र पर पड़ता है और टांगों में लकवा मार जाता है। कई व्यक्तियों पर इस रोग का हमला अचानक होता है जबकि कुछ लोगों में यह धीरे-धीरे बढ़ता है। प्रभावित व्यक्ति के नितम्ब की मांस-पोशियों में अचानक तीखा दर्द होता है। इसके बाद टांगें अकड़ जाती हैं, घुटने एक-दूसरे से सट जाते हैं और व्यक्ति को चलने-फिरने में दिक्कत होने लगती है।

रोग ज्यादा बढ़ जाने पर व्यक्ति को चलने के लिए लकड़ी का सहारा लेना होता है। अन्ततः टांगे इतनी अकड़ जाती हैं और घुटने इतने मुड़ जाते हैं कि व्यक्ति चल नहीं सकता। उसे जमीन पर रेंगना या घिसटना होता है। इस बीमारी का प्रकोप महिलाओं की तुलना में पुरुषों में 10 गुना ज्यादा होता है। इस रोग का सबसे ज्यादा प्रभाव 11 से 35 वर्ष के आयु समूह पर पड़ता है।

इस बीमारी के कारणों की खोज का काम सन् 1959-60 में भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद ने किया था। यह पता लगा कि लैथिरस सटाइवस नामक पौधे के बीज खाने से यह बीमारी होती है। मध्यप्रदेश व बिहार में इसकी खेती व्यापक रूप में होती है। उत्तर प्रदेश, बंगाल, आन्ध्र प्रदेश और महाराष्ट्र में भी यह कुछ मात्रा में बोया जाता है। इसके स्थानीय नाम खेसरी, तिवड़ा, मटरा, लाख, लंकालु आदि हैं। इसके बीज सलेटी रंग के और कभी-कभी चितकवरे भी होते हैं।

इसकी दाल चने या तुअर (अरहर) जैसे दिखती है। इसका आटा बेसन में मिलावट के उपयोग किया जाता है। लैथिरस की खेती काफी प्रतिकूल जलवायु में भी की सकती है। बताया जाता है कि मध्यप्रदेश के रीवा जिले में करीब 19,000 एकड़ में खेसरी दाल की खेती की जाती थी।

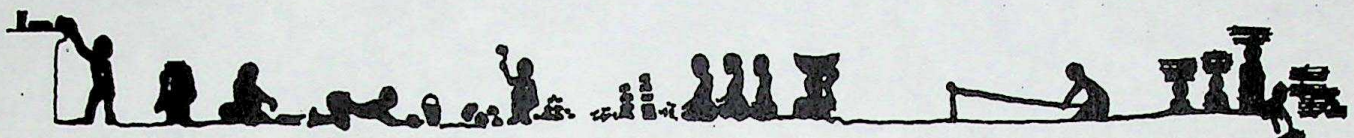

बाल कानून (1960) के तहत 14 वर्ष से कम बच्चों को काम पर लगाने की मनाही है। इस कानून के तहत 15 से 18 वर्ष के व्यक्तियों को रोजाना थोड़े समय के लिए नियुक्त किया जा सकता है, बशर्ते सिविल सर्जन से फिटनेस प्रमाणपत्र प्राप्त कर लें।

इसलिए, संगठित क्षेत्र के उद्योग छोटी उम्र के व्यक्तियों को रोजगार नहीं देते। परन्तु काम करना तो इन कमसिन व्यक्तियों की मजबूरी है। अतः ये असंगठित क्षेत्र में काम करने को मजबूर हो जाते हैं नियोक्ता इनकी व इनके परिवार की मजबूरी से पूरा लाभ उठाते हैं और कम मजदूरी में ज्यादा घण्टे काम करवाते हैं।

इस प्रकार से इन कम उम्र व्यक्तियों की सेहत की बलि देकर नियोक्ता भरपूर मुनाफा कमाते हैं। चूंकि ये उद्योग असंगठित क्षेत्र में हैं, इसलिए इन पर फैक्ट्री कानून या कर्मचारी राज्य बीमा योजना लागू नहीं होती। अतः इन कारखानों में काम करने वाले व्यक्तियों को वे सारी सुविधाएं भी नहीं मिलती, जो संगठित क्षेत्र के कामगारों को उपलब्ध हैं।

एक अनुमान के मुताबिकक सन् 1983 में 14 वर्ष से कम करीब 1 करोड़ 74 लाख व्यक्ति मजदूरी करते थे। इनमें से 90 प्रतिशत देहाती इलाकों के थे।

यूनिसेफ की एक रिपोर्ट (1984) के अनुसार, देहाती इलाकों में बच्चे औसतन सालाना 211 दिन काम करते हैं जबकि आदमी और औरतें क्रमशः 277 और 156 दिन काम करते हैं। बच्चों को दी जाने वाली मजदूरी हमेशा बहुत कम (वयस्कों की पहले से ही कम मजदूरी से भी आधी) होती है।

लड़कों की मजदूरी में भागीदारी केरल में 1 प्रतिशत और आन्ध्र प्रदेश में 11.7 प्रतिशत है। लड़कियों की भागीदारी दर पंजाब में 0.3 प्रतिशत और आन्ध्र में 10.5 प्रतिशत तक है। ये आंकड़े 1978 के सर्वे पर आधारित हैं।

भारत में बड़ी संख्या में बच्चे असंगठित क्षेत्र में कार्यरत हैं। इसका एक कारण संगठित क्षेत्र में उन पर लगी कानूनी पाबन्दी है। ये बच्चे आमतौर पर छोटे चाय बागानों, होटलों, कपास की सफाई और बुनाई, कालीन बुनाई, माचिस बनाने, पत्थर तोड़ने, ईंट-भट्टों, दस्तकारी, मोटर रिपेयर, मेटल वर्कशाप आदि में काम करते दिखते हैं। पारम्परिक दस्तकारी उद्योग और नए श्रम आधारित उद्योगों, दोनों में ही बाल मजदूरों की संख्या तेजी से बढ़ी है।

बाल मजदूरों की काम की परिस्थितियां आमतौर पर कठोर होती हैं। उदाहरणार्थ, यह देखा गया है कि $3^1/_2$ से 15 वर्ष उम्र के करीब 45,000 बच्चे माचिस और पटाखा उद्योग में लगभग 12 घण्टे काम रोज करते हैं। इन उद्योगों के घुटन भरे पर्यावरण में कई खतरनाक रसायन होते हैं और रोशनदान वगैरह का कोई इन्तजाम नहीं होता। बीड़ी उद्योग में भी 8 से 12 वर्ष (कभी-कभी 5-8 वर्ष) के बच्चे काम करते हैं। इन्हें इस काम की वजह से ब्रोन्काइटिस और टी. बी. जैसी घातक बीमारियां हो जाती हैं।

कई सारे कुटीर व हस्तकला उद्योगों के सर्वे से पता चलता है कि इनमें काम करने वाले बच्चों को ब्रान्काइटिस, एनीमिया, टी. बी., दमा और आंखों के खतरनाक रोग हो जाते हैं। इसके कई कारण हैं। मगर सबसे प्रमुख कारण है कि उद्योगों का काम पीस रेट के आधार पर होता है। इसलिए बच्चों में अधिक-से-अधिक काम निपटाने की होड़ लगी रहती है।

पीसरेट का मतलब यह होता है कि व्यक्ति द्वारा बनाई गई चीजों (जैसे माचिस की संख्या) के अनुसार पैसा मिलता है।

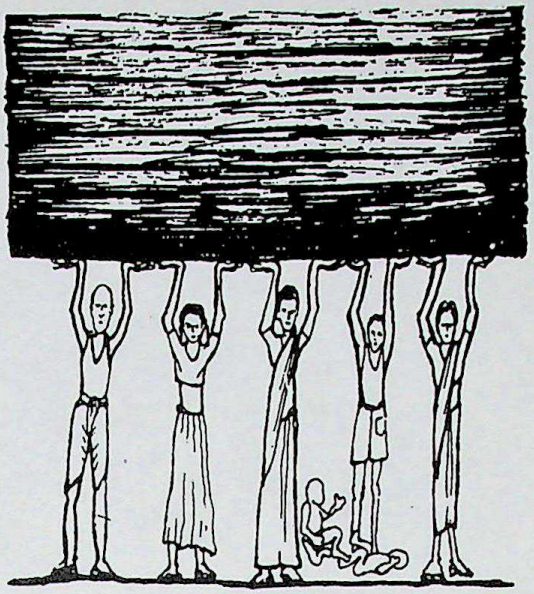

अभी तक के सारे अध्ययनों से लगता है कि लेथरिज्म मुख्यतया खेतिहर मजदूरों को जकड़ता है। कुछ छोटे किसान भी इससे ग्रस्त थे किन्तु बड़े किसान, जिनकी जमीन पर लैथिरस की खेती होती है, वे इससे मुक्त थे। खेतिहर मजदूरों में इस बीमारी के ज्यादा होने की वजह यह है कि वे खेसरी दाल खाने को विवश हैं क्योंकि उन्हें यही दाल मजदूरी के रूप में दी जाती है। इस इलाके में मजदूरी अनाज के रूप में दिए जाने की प्रथा है। खेसरी दाल की खेती आसान व सस्ती होती है और दाना भारी होता है। इसलिए मजदूरों में बांटने के लिए जमींदार खेसरी दाल उगाना पसंद करते हैं। मजदूरी में दूसरे अनाज भी दिए जाते हैं पर, खेसरी का अनुपात इतना ज्यादा होता है कि इस मिश्रण को खाने वाले को लेथरिज्म होने की काफी संभावना रहती है। मजदूर इस दाल के इन खतरों से परिचित हैं। परन्तु इसे खाने के लिए मजबूर हैं क्योंकि अन्य अनाज इतने मंहगे हैं कि वे उन्हें खरीद नहीं सकते।

भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद ने पता लगाया है कि इस दाल को विष मुक्त करने के लिए निम्नलिखित तरीका अपनाया जा सकता है : दाल को दो घण्टे तक गर्म पानी में भिगोने के बाद धूप में सुखाया जाए या 12 घण्टे तक पानी में भिगोने के बाद आधे घंटे के लिए भाप दी जाए। परन्तु जो लोग रोज कुआं खोदकर पानी पाते हैं, उनके लिए ये विधियां निरर्थक ही हैं।

लेथरिज़्म एक बहुत बड़ी समस्या है। मध्यप्रदेश के मात्र दो जिलों रीवा और सतना में ही क्रमशः 25,000 और 32,000 लोग इससे पीड़ित हैं।

सन्1982 में सर्वोच्च न्यायालय ने बंधुआ मजदूरों में लैथरिज़्म के प्रकोप की जांच का आदेश दिया था। जांच में इस बात पर भी गौर किया जाना था कि क्या मजदूरी के रूप में खेसरी दाल दिए जाने का सम्बन्ध लैथरिज़्म से है। रीवा जिले के कलेक्टर ने जांच की। कलेक्टर ने पाया कि लैथरिज़्म से ग्रस्त सारे व्यक्ति खेतिहर मजदूर परिवारों के थे। वे खेसरी दाल शायद इसीलिए खाते थे क्योंकि यह उन्हें मजदूरी के रूप में दी जाती थी। इसके बाद केन्द्र सरकार ने मध्य प्रदेश सरकार को सुझाव दिया था कि खेसरी दाल पर प्रतिबन्ध लगाए। मध्यप्रदेश में देश की कुल खेसरी दाल का 40 प्रतिशत उत्पादन होता है तथा लैथरिज़्म ग्रस्त सर्वाधिक लोग भी यहीं निवास करते हैं। दिसम्बर 1983 में मध्य प्रदेश सरकार ने एक आदेश के ज़रिए मजदूरी के रूप में खेसरी दाल लेने पर रोक लगा दी। परन्तु राजनैतिक कारणों के चलते इस पर कभी अमल नहीं किया गया। नतीजा यह है कि सारे कानूनों के बावजूद खेसरी दाल के उत्पादन में कोई कमी नहीं आई है। सन् 1989-90 में इसका उत्पादन 1,26,14,600 टन रहा था।

अभी तक हमने खेतीबाड़ी के काम में लगे वयस्कों की कुछ स्वास्थ्य समस्याओं पर गौर किया। जैसा कि हमने पहले जिक्र किया था, चिकित्सा जगत इन समस्याओं को गंभीरता से नहीं लेता। यदि इनके सम्बन्ध में अध्ययन किये भी जाते हैं, तो ये आसानी से उपलब्ध नहीं होते। इसके कारण ऐसा प्रतीत होने लगता है कि खेती में विष प्रभाव और दुर्घटनाओं की वजह से होने वाली मृत्यु दर बहुत ही कम है।

हकीकत यह है कि शायद अनुमान से कहीं ज्यादा लोग इन स्वास्थ्य समस्याओं से पीड़ित हैं। इन समस्याओं पर ज्यादा ध्यान देने की जरूरत इसलिए भी है क्योंकि आने वाले सालों में इनका प्रकोप तेजी से बढ़ने की संभावना है। इसके अलावा, संभव है कि खेती में प्रयुक्त विषों का असर अगली पीढ़ी पर भी पड़ेगा।

जहां खेतिहर मजदूरों की स्वास्थ्य समस्याओं पर कम ध्यान दिया जाता है, वहीं घरेलू कामकाज से जुड़ी महिलाओं की समस्याओं पर तो ध्यान ही नहीं दिया जाता। जैसे कि औरतें धुएंदार चूल्हे पर खाना पकाती हैं। लगातार धुएं से संपर्क के कारण आंखों की बीमारियां और ब्रोन्काइटिस से लेकर कैंसर तक के रोग हो सकते हैं।

मधु सरीन की पुस्तक "नाडा चूल्हा" में बताया गया है कि हवाई के ईस्ट-वेस्ट सेंटर में किए गए अध्ययनों से पता चलता है कि बन्द रसोई

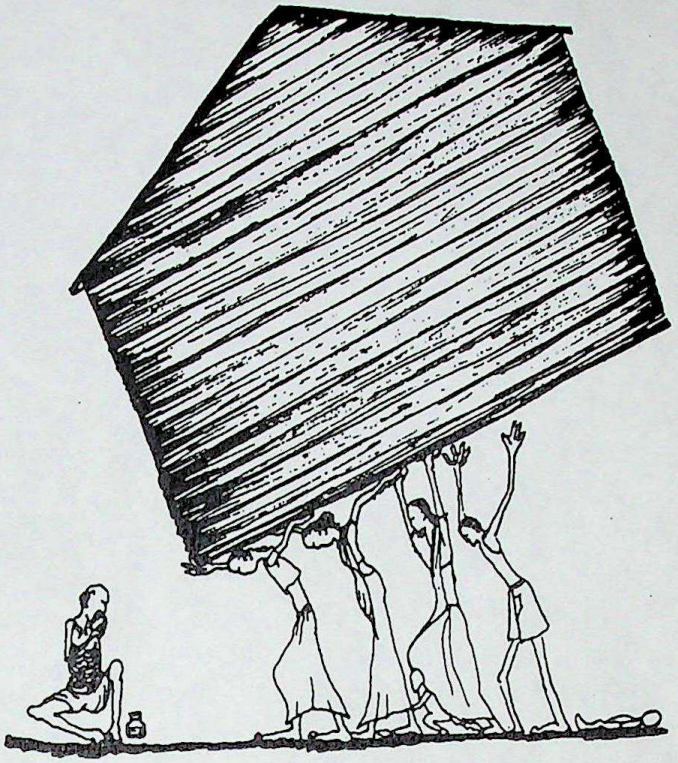

में धुएं के साथ जितने कैंसरजनक रसायन महिलाओं के शरीर में घुसते हैं, वह प्रतिदिन 20 पैकेट सिगरेट पीने के बराबर है। मधु सरीन यह भी बताती है कि मैदानों, जहां गोबर के कण्डे या उपले मुख्य ईंधन है, वहां धुएं से ज्यादा तकलीफ होती है और यह ज्यादा खतरनाक भी है। परन्तु भारत में औरतों की इस तरह की स्वास्थ्य समस्या पर अध्ययन नहीं किए गए हैं। इसका एक कारण यह हो सकता है कि वर्तमान समाज मे घरेलू काम को 'उत्पादक' काम नहीं माना जाता।

निष्कर्ष

इस अध्याय में जिन स्वास्थ्य समस्याओं की बात की गई है, वे शायद स्वास्थ्य प्रणाली की नजर में महत्त्वपूर्ण न हों। इसकी वजह यह है कि स्वास्थ्य सुविधा प्रणाली का पूरा ध्यान उन बीमारियों और उन आयु समूहों पर है, जिनकी वजह से सर्वाधिक मौतें होती हैं। पांच वर्ष से कम उम्र के बच्चों या गर्भवती/दूध पिलाती महिलाओं के लिए विशेष कार्यक्रम चलाने में यही बात झलकती है। टी. बी. नियंत्रण कार्यक्रम भी इसी का परिणाम है। बेशक ये कार्यक्रम महत्त्वपूर्ण हैं सिर्फ कुछ बीमारियों पर ध्यान देते वक्त यह बात भुला दी जाती है कि इन रोगों का अन्तर्सम्बन्ध अन्य रोगों से भी है।

गरीब परिवार में एक व्यक्ति के बीमार होने पर परिवार के हर सदस्य का स्वास्थ्य कुछ हद तक प्रभावित होता है। मसलन, यदि परिवार का वयस्क सदस्य बीमारी या चोट के कारण काम पर न जा सके, या कुपोषण के कारण पर्याप्त आमदनी न ला सके, तो पूरे परिवार का स्वास्थ्य कमजोर हो जाएगा क्योंकि कम आमदनी की वजह से परिवार के हर सदस्य के भोजन में कटौती करनी होगी। यह भी कहा गया है कि ऐसे इलाकों की उत्पादकता भी कम हो सकती है। मसलन परागुवे (दक्षिण अमरीका) के मलेरिया प्रभावित इलाकों के किसान ऐसी फसल उगाना ज्यादा पसन्द करते हैं जो मलेरिया मौसम को छोड़कर उगाई जा सकें, चाहे उनकी उपज थोड़ी कम हो।

इस कटौती का सबसे ज्यादा असर परिवार के उन सदस्यों पर होगा, जो जैविक रूप से कमजोर हैं (पांच वर्ष से छोटे बच्चे, गर्भवती/दूध पिलाती आरतें, आदि)। परिणाम यह होगा कि इनमें रुग्णता व मृत्यु की दर बढ़ जाएगी। और यह पूरा सिलसिला इस बात से शुरू होता है कि परिवार का वयस्क सदस्य काम करने में असमर्थ है। इसी प्रकार से यदि परिवार में कोई बच्चा बीमार पड़ जाए, तो पूरे परिवार की आर्थिक स्थिति और पोषण की स्थिति गड़बड़ा जाती है। बच्चे को अस्पताल ले जाने के लिए किसी वयस्क सदस्य को काम छोड़ना पड़ेगा। इसका असर आर्थिक हालत पर पड़े बिना नहीं रहेगा।

गरीब परिवारों में आय-व्यय का संतुलन इतना नाजुक होता है कि थोड़े से भी अतिरिक्त खर्च का असर हर सदस्य पर पड़ता है। इसलिए गरीब परिवार के लोगों को कई बार सोचना पड़ता है कि बच्चे का स्वास्थ्य ज्यादा महत्त्वपूर्ण है या एक दिन की मजदूरी।

अतः गरीब परिवार में हर सदस्य आर्थिक रूप से कमजोर होता है और उसके बीमारी का शिकार होने की संभावना बनी रहती है। वयस्क सदस्य भी इसमें शामिल हैं। इसलिए वयस्कों का स्वास्थ्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। परिवार की तन्दरुस्ती के लिए जरूरी है। सामाजिक यथार्थ के इस नजरिये से देखें तो किसी एक तबके या किसी एक बीमारी को विशेष दर्जा देना निरर्थक है।

5 : पोषण

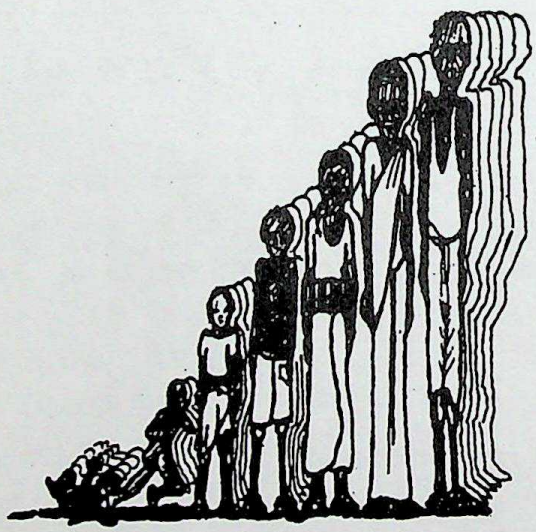

पिछले तीन अध्यायों में हमने देखा कि हर उम्र के व्यक्तियों में रुग्णता और मृत्यु का प्रमुख कारण कुपोषण है। चूंकि यह अधिकांश लोगों की सेहत की मुख्य समस्या है, इसलिए स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं के लिए कुपोषण का कारण समझना जरूरी है। इस अध्याय के भाग 'क' में इन्हीं कारणों की चर्चा की जाएगी।

कुपोषण की समस्या से निपटने के लिए स्वास्थ्य शिक्षा और पोषण कार्यक्रम का सहारा लिया जाता है। अध्याय के भाग 'ख' में इस तरीके की सीमाएं बताई जाएंगी। इसी भाग में यह भी बताया जाएगा कि यह रणनीति, और अन्य सरकारी नीतियां भी देश में कुपोषण की समस्या का सामाधान करने की दृष्टि से अपर्याप्त हैं।

भाग क : कम पोषण के कारण

क्या प्रोटीन की कमी हमारे देश में कम पोषण की मुख्य समस्या है ?

यह आम धारणा है कि भारत में पोषण की प्रमुख दिक्कत प्रोटीन की कमी है। इस समस्या पर ज्यादा ध्यान सन् 1960 के बाद से दिया गया है। उस समय विकास के लिए विज्ञान व टेक्नोलॉजी के उपयोग सम्बन्धी सलाहकार समिति ने प्रोटीन की कमी को भारत में कुपोषण का प्रमुख कारण बताया था।

समिति ने यह भी कहा था कि अनाज वाले भोजन से प्रोटीन की जरूरत पूरी नहीं होती। इसलिए इसे मांस, मछली, अण्डे और दूध जैसी बढ़िया क्वालिटी की प्रोटीन से समृद्ध किया जाना चाहिए। यह बात पोषण सम्बन्धी सलाह का आधार बनी। सेहत के पैगाम में लोगों से कहा गया कि वे मांस, दूध, अण्डे या अन्य किस्म के ऐसे प्रोटीन वाले पदार्थ खाएं जो जन्तुओं (पशुओं) से प्राप्त होते हों। बहरहाल, बाद में किए गए अनुसंधान से पता चला कि ये दोनों ही मान्यताएं गलत थीं।

हैदराबाद के राष्ट्रीय पोषण संस्थान द्वारा कम पोषित बच्चों पर किए गए अध्ययनों से पता चला कि अनाज वाली खुराक में प्रोटीन की कमी का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता। प्रोटीन की कमी तभी हो सकती है जब साथ में कैलोरी की भी कमी हो।

इसका कारण यह है कि शरीर की प्रमुख जरूरत तो ऊर्जा अर्थात् कैलोरी है। कैलोरी सामान्यतः कार्बोहायड्रेट या वसा खाने से पूरी हो जाती है। परन्तु यदि ये पदार्थ पर्याप्त मात्रा में न खाए जाएं, तो शरीर ऊर्जा की पूर्ति के लिए प्रोटीन का उपयोग शुरू कर देता है। अगले पृष्ठ की तालिका में पांच साल से कम उम्र के बच्चों की कैलोरी व प्रोटीन की जरूरत दी गई है। साथ ही, यह भी बताया गया है कि आमतौर पर औसत बच्चे कितना खाते हैं।

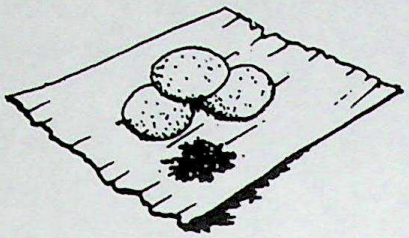

ग्रामीण बच्चों की कैलोरी व प्रोटीन की दैनिक खुराक

उम्र	कैलोरी आमतौर पर मिलती	प्रोटीन आमतौर पर मिलती	कैलोरी की जरूरत	प्रोटीन की जरूरत
2—3 साल	860	20 ग्रा.	1200	18 गा.
4—5 साल	900	20 ग्रा.	1200	22 ग्रा.

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि बच्चों की खुराक में कैलोरी तो जरूरत की तीन चौथाई ही थी परन्तु प्रोटीन की मात्रा पर्याप्त या थोड़ी ही कम थी।

अधिकांश भारतीयों की खुराक का बड़ा हिस्सा अनाज होता है। यह प्रचलित धारणा है कि अनाज में मण्ड ही मण्ड होता है। यह धारणा पूरी तरह सही नहीं है। अनाजों में 6 से10 प्रतिशत तक प्रोटीन होती है। यही भारतीय भोजन में प्रोटीन का प्रमुख स्रोत है। तीन वर्षीय बच्चे को यदि पर्याप्त यानी 1200 कैलोरी मिल रही है, तो उसके भोजन मे प्रोटीन भी पर्याप्त होगा।

अनाज	1200 कैलोरी के लिए आवश्यक मात्रा	इस मात्रा में प्रोटीन
चावल	343 ग्रा.	28.9 ग्रा.
गेहूं	351 ग्रा.	43.4 ग्रा.
ज्वार	343 ग्रा.	35.0 ग्रा.

इसी प्रकार यदि वयस्कों को इतना भोजन मिल जाए कि उनकी कैलोरी की जरूरत पूरी हो जाए, तो प्रोटीन की जरूरत अपने आप पूरी हो जाएगी। वयस्कों को प्रोटीन की जरूरत उनके शरीर के वजन के अनुसार होती है—प्रति कि. ग्रा. वजन के लिए एक ग्राम प्रोटीन। व्यक्ति के काम की प्रकृति से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि हम पूर्णतः अनाज से बनी 2400 कैलोरी वाली खुराक लें, जो कि हल्का-फुल्का काम करने वाले व्यक्ति के लिए पर्याप्त है, तो इसमें भी 55 किलो के व्यक्ति के लिए पर्याप्त प्रोटीन होगी।

अनाज	2400 कैलोरी के लिए जरूरी मात्रा (ग्राम)	उस मात्रा में प्रोटीन (ग्राम)
चावल	687	58
गेहूं	703	85
ज्वार	687	71
मक्का	701	77
रागी	731	53

क्या प्रोटीन की जरूरत पूरी करने के लिए महंगा प्रोटीनयुक्त भोजन जरूरी है ?

यह धारणा गलत है कि प्रोटीन वाला महंगा भोजन, जैसे, मछली या अण्डे खाना जरूरी है। प्रोटीन वास्तव में अमीनो अम्ल नामक छोटी-छोटी इकाइयों से जुड़कर बनता है। हमारे शरीर को ठीक से काम करने के लिए 22 अमीनो अम्ल की जरूरत होती है। इनमें से अधिकांश अमीनो अम्लों का निर्माण शरीर स्वयं कर सकता है। सिर्फ 8 अमीनो अम्ल ऐसे हैं जिन्हें इन्सान का शरीर खुद नहीं बना सकता।

ये अनिवार्य अमीनो अम्ल कहलाते हैं। ये 8 अनिवार्य अमीनो अम्ल शरीर को बने बनाए मिलना चाहिए। अर्थात् भोजन में इनका होना अनिवार्य है।

हर किस्म के भोजन की क्या क्वालिटी इस बात पर निर्भर है कि उसमें कितने अनिवार्य अमीनो अम्ल उपस्थित हैं। कुछ पदार्थों, जैसे अण्डे या दूध में प्रोटीन का ऐसा मिश्रण होता है, जो इन्सानों के लिए सबसे उपयुक्त माना जाता है। इसलिए उन्हें 'परिपूर्ण' भोजन कहा जाता है।

वनस्पति प्रोटीन (जैसे दालें, मटर, अनाज, आदि) में एक-दो अनिवार्य अमीनो अम्ल नहीं होते हैं। अतः जन्तु-प्रोटीन की तुलना में इन्हें 'घटिया' माना जाता है। मसलन, अनाज में दो अनिवार्य अमीनों अम्ल (लायसीन और थ्रिओनिन) नहीं होते जबकि दालों में एक अन्य अमीनो अम्ल (मिथायोनिन) नहीं होता। दालों में लायसीन व थ्रिओनिन

पर्याप्त मात्रा में होते हैं। यदि अनाज व दालों को साथ-साथ खाया जाए तो एक की कमी को दूसरा पूरा कर देता है और शरीर को सारे अनिवार्य अमीनो अम्ल मिल जाते हैं।

अनाज और दाल के मिश्रण में अमीनो अम्लों का पैटर्न जन्तु-प्रोटीन के समान ही होता है। इस प्रकार से कई किस्म के भोजन के विभिन्न अवयव एक-दूसरे की कमी को पूरा कर देते हैं। इसे 'प्रोटीन की पूरक क्रिया' कहा जाता है। इस क्रिया के फलस्वरूप शरीर को संतुलित मात्रा में अनिवार्य अमीनो अम्ल मिल जाते हैं और यह जन्तु प्रोटीन से सस्ता भी पड़ता है।

भारतीय व्यक्ति की खुराक में जन्तु-प्रोटीन नहीं के बराबर होता है। परन्तु विभिन्न किस्म के खाद्य पदार्थों का सही तालमेल बैठाकर इस कमी को पूरा किया जा सकता है।

क्या गांव के लोग पौष्टिक भोजन के बारे में अनभिज्ञ हैं ?

यह एक मिथ्या धारणा है। प्रायः यह सोचा जाता है कि गांव के लोग पर्याप्त प्रोटीन नहीं खाते और पारम्परिक भोजन असंतुलित है। बीमारी या गर्भावस्था के दौरान भोजन पर प्रतिबन्ध लगाने के रिवाज को देखकर उक्त धारणा और मजबूत हो जाती है। परन्तु यदि हम पारम्परिक भारतीय भोजन को देखें, तो कई ऐसे उदाहरण सामने आते हैं, जो वैज्ञानिक रूप से सही हैं। औसत भारतीय भोजन में अनाज व दाल (दाल-रोटी या दाल-चावल) होते हैं। इसमें स्वतः कार्बोहायड्रेट व प्रोटीन का संतुलित मिश्रण मिल जाता है। दक्षिण भारतीय व्यंजन इड्‌ली में अनाज और दाल का मिश्रण होता है। इसे चटनी के साथ खाया जाता है, जो दाल और तेल से बनाई जाती है। इसी तरह उत्तर में बनाई जाने वाली खिचड़ी में भी अनाज व दाल मिले होते हैं।

चावल को कूटना व पारबॅइल करना (उसनना) पुरानी परम्पराएं हैं। इससे प्रोटीन, विटामिन व खजिन लवणो का ह्रास नहीं होता। चने को अंकुरित करना भी एक पुराना तरीका है। इस प्रक्रिया में विटामिन 'सी' की मात्रा कई गुना बढ़ जाती है। इसी तरह से खमण (किण्वण) की क्रिया बहुत पुरानी है। दही, ढोकला, खमण, इड्‌ली, डोसा, अप्पम, आदि बनाने में भी यही तरीका अपनाया जाता है। इससे विटामिन 'बी' की मात्रा काफी बढ़ जाती है। और पर्याप्त मात्रा में लौह तत्त्व शरीर को उपलब्ध हो जाता है। सब्जी पकाते समय इमली डालने से सब्जी के विटामिन को बचाने में मदद मिलती है। जचकी के बाद ज्यादा पान खाने के रिवाज की बदौलत मां को चूने के रूप में अतिरिक्त कैल्शियम मिलता है।

आदिवासियों के भोजन सम्बन्धी रिवाजों से भी पता चला है कि लोग भोजन के गुणों के बारे में अनभिज्ञ नहीं हैं। कटाई से पहले जब भोजन की कमी होती है, तो आदिवासी लोग अपने भोजन के लिए जंगल पर निर्भर रहते हैं। इससे उनके भोजन की क्वालिटी बेहतर हो जाती है और यह पोषण की दृष्टि से भी ज्यादा संतुलित हो जाता है।

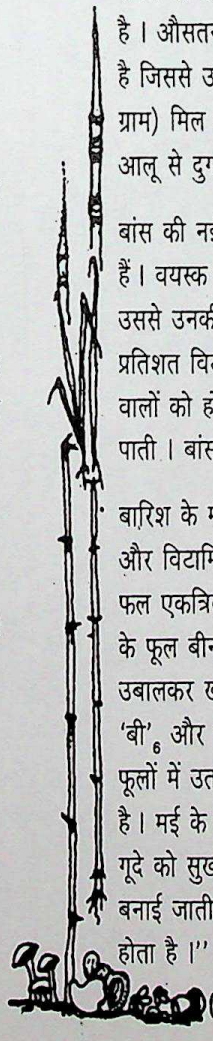

"कई तरह के कन्द, बांस की कोंपले, कुकुरमुत्ते और हरी पत्तेदार सब्जियां पहली बारिश के साथ उग आती हैं। इन्हें उस समय तो खाया ही जाती है और सुखाकर रख भी लिया जाता है। औसतन हर आदिवासी के भोजन में 600 ग्राम कन्द होता है जिससे उसे पर्याप्त ऊर्जा (3000 कैलोरी) और प्रोटीन (30 ग्राम) मिल जाता है। इन जंगली कन्दों में बराबर वजन के आलू से दुगना प्रोटीन होता है।

बांस की नई कोपलें और कुकुरमुत्ते भी प्रोटीन के अच्छे स्रोत हैं। वयस्क आदिवासी दिन में जितनी बांस की कोपलें खाते हैं, उससे उनकी खुराक का 35 प्रतिशत विटामिन 'बी'$_6$ और 17 प्रतिशत विटामिन 'बी'$_1$ मिलता है। इससे लगातार चावल खाने वालों को होने वाली विटामिन बीकॉम्पलेक्स की कमी नहीं हो पाती। बांस की कोपलों को काटकर सुखा भी लिया जाता है।

बारिश के मौसम में उपलब्ध हरी पत्तेदार सब्जियों से लौह तत्त्व और विटामिन मिलते हैं। गर्मियो में आदिवासी कई जंगली फल एकत्रित करते हैं। मार्च के महीने में समूचे परिवार महुआ के फूल बीनते हैं। इन्हें धूप में सुखाकर रखा जाता है और उबालकर खाया जाता है। यह ऊर्जा, कैल्शियम, विटामिन 'बी'$_6$ और नायसिन का उम्दा स्रोत है। सूखे हुए महुआ के फूलों में उतने ही चावल से दुगना नायसिन और 'बी'$_6$ होता है। मई के महीने में जंगली आम मिलते हैं। इसकी गुठली के गूदे को सुखा कर पीस लिया जाता है। इस आटे से रोटियां बनाई जाती हैं। इसमे प्रोटीन, कार्बोहायड्रेट और कैल्शियम होता है।"

(नई वन नीति के तहत आदिवासी जंगल से भोजन नहीं ले सकते। उनके स्वास्थ्य पर इसका प्रतिकूल प्रभाव होना निश्चित है।)

100 ग्राम	*बांस की कोपलों में*	*3.9 ग्राम प्रोटीन*
	महुआ के फूल में	*9.1 ग्राम प्रोटीन, 311 कैलोरी*
	आम की गुठली में	*2.6 ग्राम प्रोटीन, 192 कैलेरी*
	कुकुरमुत्ते में	*4.6 ग्राम प्रोटीन*

भारत में गांवों में पोषण की स्थिति पर जॉन हुब्ले ने बहुत बढ़िया वर्णन पेश किया है :

> ''भारत के ग्रामीण समाज में स्वास्थ्य व पोषण के सारे पहलुओं से सम्बन्धित मूल्यों और धारणाओं की एक सुविकसित प्रणाली होती है। ग्रामीणों के कई रिवाजों में पोषण सम्बन्धी उम्दा तौर-तरीके निहित हैं। यह बात बाहर से आने वाले विकास 'विशेषज्ञ' समझ नहीं पाते और गांव के लोगों को मूर्ख या अंधविश्वासी कह देते हैं।
>
> गोविन्दपुर में अपने अनुभव के आधार पर मुझे लगता है कि हर समाज में भोजन और बच्चों की परवरिश का एक तरीका विकसित होता है। यह तरीका पोषण के उचित संतुलन पर आधारित होता है। समाज पर पोषण सम्बन्धी खतरा भी आता है जब या तो उनकी माली हालत में गिरावट आए या जीवन शैली इतनी तेजी से बदले कि वह सांस्कृतिक ढांचा ही टूटने लगे, जिसके माध्यम से ये रिवाज पीढ़ी-दर पीढ़ी जारी रहते हैं।''

पोषण की स्थिति किस चीज पर निर्भर है ?

पोषण के स्तर का निर्धारण अन्ततः क्रय क्षमता यानि व्यक्ति की आमदनी से होता है। हो सकता है कि भोजन बाजार में उपलब्ध हो, पर व्यक्ति उसे खरीद न पाए।

सन् 1968 से 70 के बीच स्वीडन के दो समाजशास्त्रियों ने तमिलनाडु के चिंगलपेट जिले के तैयुर गांव में एक विस्तृत अध्ययन किया था। इस अध्ययन के तहत उन्होंने गांव में भोजन के तौर-तरीकों का विश्लेषण भी किया था। वह यह जानना चाहते थे कि गांव के लोगों के भोजन में आखिर क्या खामी है क्योंकि उन्होंने यह देखा कि उस गांव की तीन चौथाई आबादी की अस्वस्थता का कारण पोषण से सम्बन्धित है। इस अध्ययन दल के कुछ निष्कर्ष निम्नानुसार हैं :

चावल और रागी भोजन के प्रमुख अंग हैं। इन्हीं से अधिकांश ऊर्जा व अन्य पोषक तत्त्व प्राप्त होते हैं। लोग चावल पसन्द करते हैं क्योंकि एक तो यह ज्यादा स्वादिष्ट होता है और दूसरा यह प्रतिष्ठा का प्रतीक भी है। रागी गरीब लोगों का भोजन है। यह सस्ता है और जब घर पर चावल न हो या चावल खरीदने के लिए पैसे न हों तो गरीब लोग यही खाते हैं। कटाई के मौसम (फरवरी-मार्च) में चावल की कीमत 1.50 रुपये प्रति नाप (2 लीटर) होती है जबकि गर्मियों के बाद (अगस्त-सितम्बर) में बढ़कर दो रुपये तक हो जाती है। रागी की कीमतों में इतना उतार-चढ़ाव नहीं होता। प्रति नाप इसकी कीमत 1.20 लगभग रहती है।

हरिजन परिवारों में वर्ष दो भागों में बंट गया-सा लगा है। एक भाग चावल का होता है जब परिवार अपने खेत पर उगाया या मजदूरी के एवज में मिला चावल खाता है। साल का दूसरा भाग रागी होती है जब अनाज बाजार से खरीदकर खाया जाता है। इन दो अवधियों की लम्बाई इस बात पर निर्भर करती है कि उस परिवार के पास जमीन कितनी है और कटाई के समय कितने सदस्य मजदूरी करते हैं।

इन दो समाजशास्त्रियों ने सात हरिजन परिवारों का ज्यादा विस्तृत अध्ययन किया। उन्होंने देखा कि परिवार का पोषण-स्तर जमीन की मिल्कियत पर निर्भर होता है। 4 छोटे किसानों (0.30 से 1.66 एकड जमीन) के परिवार में औसत से कम अनाज़ खाया जाता है। मध्यम किसानों का भोजन बेहतर होता है और औसत से ज्यादा भी होता है।

सात हरिजन व भूस्वामी परिवारों में रोजाना अनाज की औसत खपत

मुखिया का नाम	भूमि (एकड़ में)	प्रतिदिन अनाज की खपत (ग्राम प्रति उपभोग इकाई)
वीरभद्रन	0.30	480
षणमुघम	0.53	417(रागी भी शामिल)
शद्रक	1.00 (बटाई पर दी है)	494
धर्मन	1.66 (खराब जमीन)	365
कोट्टी पेरुमाल	1.33 (बहुत अच्छी जमीन)	736
बलरामन	3.50 (अच्छी जमीन)	645
पच्चाई कन्नु	5.89	496
औसत प्रति उपभोग इकाई*		519

* उपभोग इकाई की परिभाष के लिए शब्दावली देखें ।

(ये आंकड़े फरवरी से मई के बीच सिर्फ नौ सप्ताह के हैं । हालांकि ये पूरे साल का चित्र तो प्रस्तुत नहीं करते किन्तु इनसे अन्दाज लग जाता है कि विभिन्न परिवारों में भोजन खपत में किस तरह के अंतर हैं । ये आंकड़े पूरे गांव के बारे में एकंत्रित शेष जानकारी से भी मेल खाते हैं ।)

यह देखा गया है कि इन परिवारों के भोजन पर होने वाले खर्च का 59 से 75 प्रतिशत हिस्सा मात्र अनाज पर खर्च होता है । भोजन-बजट की शेष रकम दालों, सब्जियों, तेल, वगैरह पर खर्च की जाती थी । सुंतलित आहार के लिए यह जरूरी है । मगर इन परिवारों का भोजन का बजट इतना नहीं होता कि ये शेष चीजें पर्याप्त मात्रा में खा सकें । जो परिवार गरीब हैं वे भोजन-खर्च बढ़ा नहीं सकते क्योंकि पहले ही कुल खर्च का 80 से 95 प्रतिशत तक भोजन पर ही खर्च हो रहा है ।

कुल पारिवारिक खर्च में से भोजन का हिस्सा

मुखिया का नाम	दैनिक भोजन खर्च (प्रति उपभोग इकाई) रुपये में	कुल खर्च में से भोजन खर्च भोजन खर्च का प्रतिशत
वीरभद्रन	0.66	85
षणमुघम	0.54	88
शद्रक	0.63	95
धर्मन	0.45	78
कोट्टी पेरुमाल	0.97	69
बलरामन	1.01	74
पच्चाई कन्नु	0.72	65

इन दो समाजशास्त्रियों ने तैयुर के इन परिवारों की हालत का वर्णन इन शब्दों में किया है :

"इतने कम बजट में विविधता और सुधार की कोई गुंजाइश नहीं है । तैयुर के हरिजन, पोषणशास्त्रियों की इस सलाह पर अमल नहीं कर सकते कि मात्र पर्याप्त अनाज से कैलोरी व प्रोटीन की जरूरत पूरी हो जाएगी । इसका मतलब यह होगा कि वे 600 ग्राम से ज्यादा अनाज खाएं । यह उनकी हैसियत से बाहर है ।

इससे उल्टी रणनीति भी उनकी हैसियत से बाहर है कि वे दाल, सब्जी, जन्तु-प्रोटीन, आदि की खपत बढ़ा दें क्योंकि इसके बाद अनाज खरीदने के लिए पैसा कम पड़ जाएगा । इससे कैलोरी खपत कम हो जाएगी और शरीर अतिरिक्त प्रोटीन का उपयोग नहीं कर पाएगा ।

अतः ऐसा लगता है कि तैयुर के हरिजन अपने भोजन-बजट के दायरे में यथासंभव संतोषजनक स्तर पर पहुंच चुके हैं । वे अपने भोजन में कीमती पोषक तत्त्व जोड़ने के लिए पैसा और मेहनत भी लगाते हैं ।"

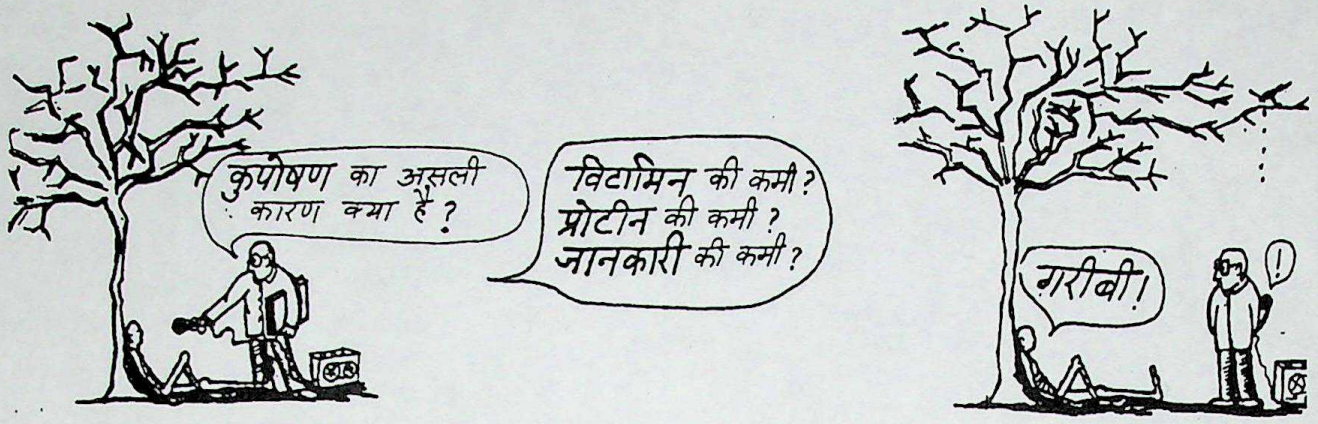

मसलन, मछली में बहुत पोषक तत्त्व हैं। 100 ग्राम मछली में 60 ग्राम तक प्रोटीन होता है। हरिजन या तो सूखी खरीदते हैं या खुद मछली पकड़कर सुखा लेते हैं। परन्तु प्रति इकाई 100 ग्राम मछली उनकी हैसियत से परे है। अपनी खुराक में पोषक तत्त्व बढ़ाने के लिए वे केंकड़े और घोंघे भी खाते हैं, हालांकि पसन्द नहीं करते।

लोग इतने गरीब हैं कि पर्याप्त मात्रा में दाल भी नहीं खा सकते। फिर हाल के वर्षों में दालें बहुत महंगी भी हो गई हैं और अनाज के मुकाबले दालों का अभाव भी है। दूध के व्यंजन और अन्य जन्तु-प्रोटीन तो सचमुच विलासिता के सामान हैं और गरीब लोग उन्हें सिर्फ त्यौहारों के दिन ही खा सकते हैं। हरी सब्जियां भी काफी महंगी पड़ती हैं। अपनी बाड़ी लगाने के लिए जमीन बहुत कम लोगों के पास होती है। फलों के पेड़ भी बहुत थोड़े होते हैं। जहां तक हम समझते हैं, तैयुर की अधिकांश का आबादी का पोषण स्तर तभी सुधर सकता है जब या तो उनका भोजन का बजट बढ़े या भोजन की कीमतें कम हों।

तैयुर में आमदनी के वितरण की जितनी जानकारी हमें है उसके आधार पर हम आसानी से यह बता सके हैं कि यहां के अधिकांश लोग इतने गरीब हैं कि वे अपनी आमदनी का 70 से 90 प्रतिशत हिस्सा भोजन पर खर्च करने को मजबूर हैं। इसके बावजूद भी उनका पोषण स्तर घटिया ही रहता है।''

(यह वितरण डयुरफेल्इट और लिंडबर्ग की पुस्तक ''पिल्स अगेन्स्ट पावर्टी'' से लिया गया है। हमने, इसे सरल बनाने के लिए, भाषा में फेरबदल किया है, पर, अर्थ नहीं बदला है।)

लोगों के पास पर्याप्त भोजन से खरीदने के लिए पैसा नहीं है। इस बात की पुष्टि सरकारी आंकड़ों से भी होती है। सरकारी आंकड़े बताते हैं कि हमारे ग्रामीण क्षेत्रों की 39.06 प्रतिशत आबादी गरीबी की रेखा से नीचे जीती है।

परिवार के पास उपलब्ध भूमि के आधार पर औसत ऊर्जा उपभोग (किलो कैलोरी उपभोग इकाई प्रति दिन)

जमीन	ऊर्जा (कि. कैलोरी)
भूमिहीन	2078
5 एकड़ से कम	2190
5 से 10 एकड़	2505
10 एकड़ से अधिक	2672

स्रोत : चाइल्ड इन इण्डिया, ए स्टेटिस्टिकल प्रोफाइल, निप्सड, 1994.

सार

पहले यह माना जाता था कि पोषण के अभाव की प्रमुख वजह किसी एक पोषक तत्त्व (विटामिन, प्रोटीन, लौह, वगैरह) की कमी होती है। इसलिए कुपोषण (गलत पोषण) शब्द उपयोग किया जाने लगा। परन्तु उपलब्ध जानकारी से पता चलता है कि पोषण की कमी का प्रमुख कारण अल्प पोषण या कम पोषण (भोजन की कमी) है। जिस तरह से प्रोटीन की कमी का अपने-आप में कोई अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार से विटामिन 'ए' या लौह की कमी भी आमतौर पर अपने-आप में कोई चीज नहीं होती। ये अल्पपोषण का ही अंग होते हैं।

हमारे देश में पोषण की समस्या अज्ञान या किसी खास पोषक तत्त्व की कमी के कारण नहीं है। बुनियादी समस्या यह है कि लोगों को भोजन से पर्याप्त कैलोरी नहीं मिल पाती। गरीबी की वजह से भोजन न खरीद पाना ही हमारे देश में कम पोषण की प्रमुख वजह है।

भाग ख : कम पोषण की समस्या के बारे में सरकार ने क्या किया ?

अल्पपोषण कोई नई समस्या नहीं है। सन् 1946 में जब भोर समिति ने भारतीय लोगों के स्वास्थ्य स्तर की समीक्षा की थी, तब तक पोषण के स्तर का सर्वे किया जा चुका था। इस सर्वे से पता चला था कि

30 प्रतिशत परिवारों को पर्याप्त ऊर्जा के लिए जरूरी भोजन नहीं मिलता। उस समय यह जानकारी भी थी कि सामान्य आबादी में और शिशुओं व गर्भवती स्त्रियों में रूग्णता व मृत्यु का एक प्रमुख कारण अपर्याप्त भोजन भी है। यह भी ज्ञात था कि अपर्याप्त भोजन के समय टी. बी. का प्रकोप कुछ अधिक ही होता है।

इस सारी जानकारी के बावजूद भारत सरकार ने, आजादी के पूरे 13 साल बाद याने सन् 1960 में जाकर अल्पपोषण की समस्या पर ध्यान दिया। उस समय से सरकार ने तीन प्रमुख रणनीतियां अख्तियार की हैं :

- स्वास्थ्य सुविधा के तहत चलने वाले पोषण कार्यक्रम
- खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि व लोगों की क्रय शक्ति बढ़ाना
- जनसंख्या नियंत्रण

इस अध्याय में पहले दो बिन्दुओं की चर्चा की जाएगी। जनसंख्या नियंत्रण की चर्चा इसी खण्ड के अध्याय 7 में की जाएगी।

सरकारी पोषण कार्यक्रम

पहला सरकारी पोषण कार्यक्रम, एप्लाइड न्यूट्रिशन प्रोग्राम (ए. एन. पी.) सन् 1960 में शुरू हुआ। यह कार्यक्रम यूनिसेफ, एफ. ए. ओ. (विश्व खाद्य संगठन) एवं विश्व स्वास्थ्य संगठन जैसी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की मदद से चलता था। इसमें बच्चों, गर्भवती स्त्रियों व स्तनपान कराने वाली माताओं के पोषण की स्थिति को सुधारने पर जोर था। कार्यक्रम के प्रमुख लक्ष्य निम्नानुसार थे :

- अण्डा, मछली, दूध, सब्जी जैसे सुरक्षात्मक खाद्य पदार्थों का उत्पादन बढ़ाना।
- उपरोक्त खाद्य पदार्थों की खपत बढ़ाने के लिए स्वास्थ्य शिक्षा देना।

स्वास्थ्य शिक्षा वाले पक्ष पर काफी जोर दिया गया था। दरअसल कार्यक्रम की योजना ही "ग्रामीण लोगों को यह सिखलाने के लिए बनी थी कि वे अपने खुद के प्रयासों से भोजन की मात्रा व क्वालिटी कैसे बढ़ा सकते हैं"। *(पार्क व पार्क)*

सन् 1981 में इसके तहत 1,375 सामुदायिक विकास खण्ड शामिल थे और करीब 17 लाख औरतों व बच्चों तक इसकी पहुंच थी। "यह स्वीकार किया गया है कि मूल उद्देश्यों के अनुरूप इसका असर नहीं हुआ है। अधिकांश इलाकों में इसका उपेक्षित प्रभाव नहीं देखा गया है।" *(पार्क व पार्क)*

लोगों की आर्थिक कठिनाइयों की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। उन कठिनाइयों के संदर्भ में यह आसान है कि क्यों यह कार्यक्रम अपेक्षित प्रभाव डाल पाने में असफल रहा।

एक, गांवों में गरीब परिवार की पहली जरूरत पेट भरने की और जरूरी ऊर्जा प्राप्त करने की है। यदि इन परिवारों को मुर्गियां दे दी जाएं, तो भी वे शायद अण्डे और मुर्गे न खाएं। उनके लिए तो अण्डों को बेचकर खुद के लिए सस्ता भोजन खरीदना अकलमंदी होगी।

दो, यदि वे मछली, मांस, अण्डे, खा भी लें, तो भी उन्हें इनसे अपेक्षित प्रोटीन नहीं मिल पाएगा। हम जानते हैं कि उनके भोजन में पर्याप्त कैलोरी का अभाव है। अतः ये महंगे भोजन भी शरीर को कैलोरी प्रदान करने में खर्च हो जाएंगे।

तीन, यदि सरकार की मंशा पोषक खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ाने की ही थी, तो शायद यह कहीं बेहतर होता कि दालों, रागी, ज्वार जैसी चीजों का उत्पादन बढ़ाने पर ध्यान दिया जाता। गरीब लोग यही चीजें खा सकते हैं और यही उनकी भोजन-संस्कृति का अंग हैं। परन्तु वास्तव में, इस कार्यक्रम की अवधि के दौरान इन्हीं चीजों का उत्पादन उल्टे घट गया।

ए. एन. पी. के सीमित प्रभाव को देखते हुए चौथी पंचवर्षीय योजना में पोषण स्तर सुधारने का एक एकीकृत कार्यक्रम बनाने की कोशिश हुई। ये कार्यक्रम थे : गर्भवती/दूध पिलाती माताओं और स्कूल पूर्व

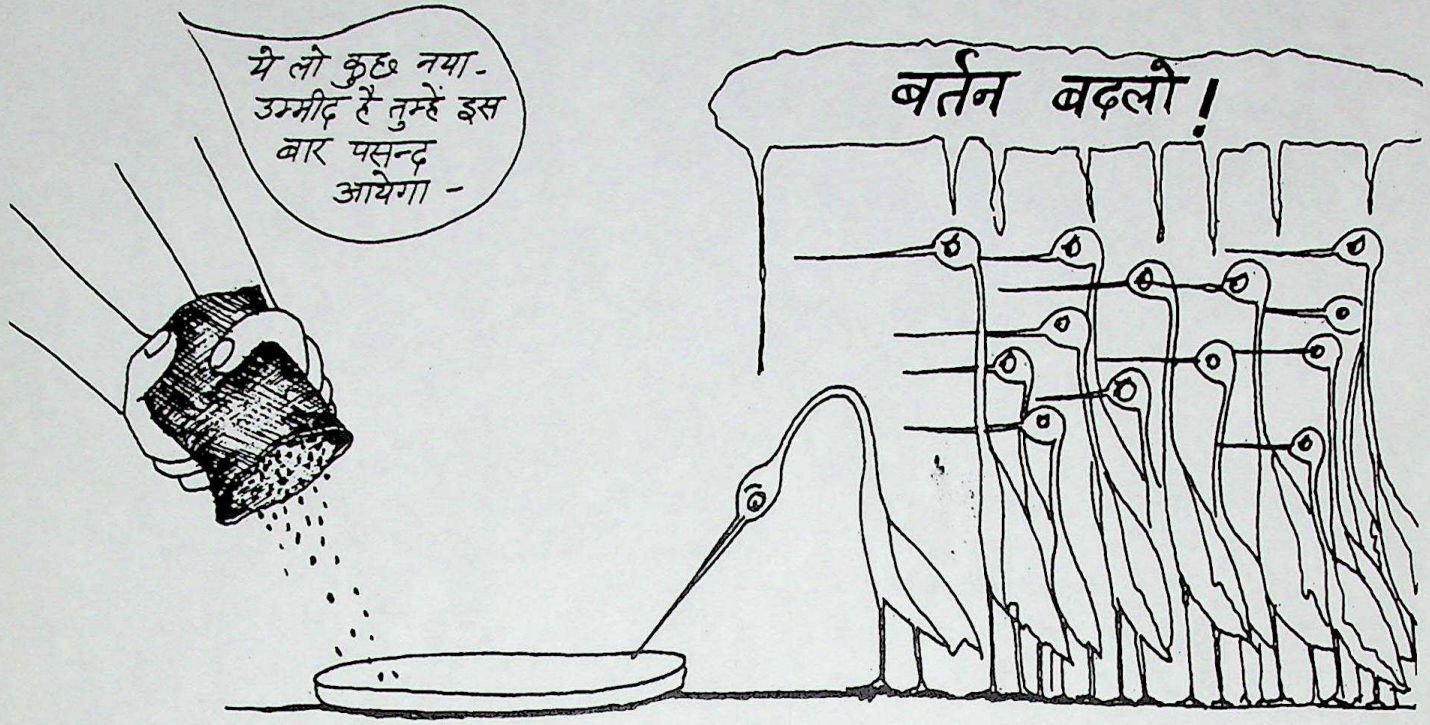

बच्चों के लिए आहार कार्यक्रम, स्कूली बच्चों के लिए दोपहर का भोजन, विटामिन 'ए' की कमी व एनीमिया के लिए बचाव कार्यक्रम, और साथ में ए. एन. पी. । इन कार्यक्रमों के साथ एकीकृत बाल विकास कार्यक्रम भी जोड़ दिया गया ।

आहार कार्यक्रमों की निम्नांकित समीक्षा दो प्रकाशित लेखों के आधार पर तैयार की गई है ।

[पहला लेख इमराना कादीर का "हाऊ रीलेवेन्ट आर फीडिंग प्रोग्राम्स" (आहार कार्यक्रम कितने उपयोगी) । यह लेख मेडिको फ्रेंड सर्किल बुलेटिन के फरवरी 1977 के अंक में छपा था । दूसरा लेख कमला जयाराव लिखित "हाउ सक्सेसफुल आर सप्लीमेंटरी फीडिंग प्रोग्राम्स" (पूरक आहार कार्यक्रम कितने सफल) । यह मेडिको फ्रेंड सर्किल बुलेटिन के जुलाई 1983 के अंक में छपा था ।]

इन कार्यक्रमों में पोषण की तीन समस्याओं को चुना गया था : कैलोरी-प्रोटीन अभाव, लौह तत्त्व की कमी और विटामिन 'ए' की कमी । उपलब्ध जानकारी के आधार पर इन तीन समस्याओं को बराबर महत्त्व का मानने या परस्पर स्वतंत्र मानने का कोई औचित्य नहीं था ।

भारत व अन्य विकासशील देशों में किए गए सर्वेक्षणों से साबित हो चुका है कि ये तीनों समस्याएं आमतौर पर एक साथ होती हैं और तीनों का एक ही कारण भी है (भोजन की कमी, संक्रमण व कृमि)। इन सर्वेक्षणों से यह भी पता चला है कि इनमें से किसी एक समस्या के मामले बहुत कम होते हैं (मसलन, पर्याप्त भोजन के बावजूद लौह तत्त्व की कमी होना) ।

इसके अलावा ऐसे मामले भी प्रकाश में आए हैं, जिनमें बच्चे का अल्प पोषण का उपचार किया गया । और वह हालांकि विटामिन 'ए' की कमी से पीड़ित रहा परन्तु रतौंधी का शिकार नहीं ।

इसका अर्थ यह नहीं है कि लौह तत्त्व या विटामिन 'ए' की कमी का महत्त्व न समझा जाए, परन्तु यह बात ध्यान मे रखना जरूरी है कि यदि कैलोरी की कमी को पूरा कर दिया जाए, तो प्रोटीन की समस्या तो अपने आप ही सुलझ जाएगी । साथ-ही-साथ कई अन्य गंभीर समस्याओं का समाधान भी हो जाता है । इसलिए इन समस्याओं पर अलग-अलग ध्यान देना जरूरी नहीं है । वास्तव में, इन समस्याओं का समाधान करने के लिए एक ही कार्यक्रम काफी है–भोजन की खपत में वृद्धि ।

इन कार्यक्रमों की टारगेट आबादी *(वह आबादी जो कार्यक्रम के दायरे में आती है)* तय करते समय यह कहा गया था कि "चूंकि गरीबी की रेखा से नीचे जीवन बसर करने वाली पूरी आबादी को कार्यक्रम के दायरे में नहीं लाया जा सकता, इसलिए सबसे ज्यादा कुपोषित आबादी को ही इसमें शामिल किया जाना उचित होगा" । अतः यह तय किया गया कि इस कार्यक्रम में कमजोर तबके की गर्भवती एवं दूध पिलाती स्त्रियों, स्कूल पूर्व एवं स्कूली बच्चों को शामिल किया जाएगा ।

यदि सबसे गरीब 40 प्रतिशत आबादी की सारी गर्भवती/दूध पिलाती स्त्रियों और स्कूल-पूर्व बच्चों को इसमें शामिल किया जाता, तो कुल दायरा साढ़े छः करोड़ आबादी तक फैल जाता । पोषण का पूरा बजट इसी में खर्च हो जाता ।

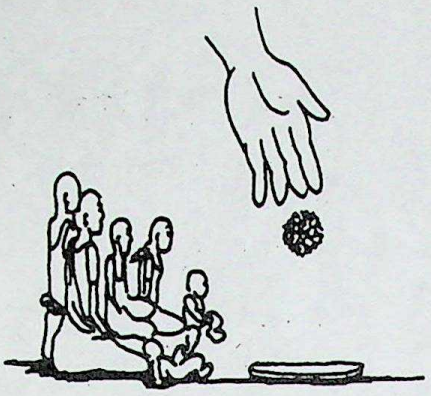

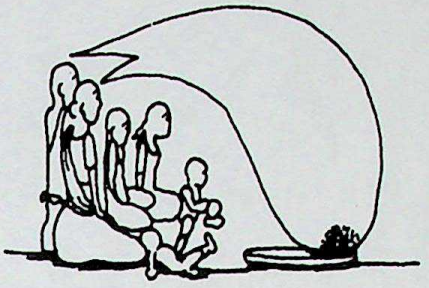

बहरहाल, कार्यक्रम की योजना कुछ इस तरह बनाई गई कि पांचवीं पंचवर्षीय योजना के अन्त तक टारगेट आबादी के कुल एक करोड़ लोग इसके दायरे में शामिल हों। इन दोनों कारणों से टारगेट आबादी का मात्र एक हिस्सा ही इस कार्यक्रम के दायरे में आ पाया। यदि झोंपड़ पट्टियों व आदिवासी इलाकों में चलाए गए कुछेक कार्यक्रमों को छोड़ दिया जाए, तो अधिकांश आहार कार्यक्रमों में सबसे गरीब वर्ग पर ध्यान नहीं दिया गया।

स्कूली बच्चों को प्राथमिकता देना भी एक विवादास्पद निर्णय रहा। कुपोषण का सबसे ज्यादा प्रभाव 1 से 4 वर्ष के बच्चों पर होता है। यह बात भी काफी स्पष्ट तौर पर प्रमाणित हो चुकी है कि समाज के सम्पन्न वर्ग के बच्चे ही स्कूल जाते हैं जबकि गरीबों के बच्चे स्कूल नहीं जा पाते। इसलिए पहले सारे निर्धन स्कूल-पूर्व बच्चों को कार्यक्रम के दायरे में लाया जाना चाहिए था। ऐसा करने से पहले स्कूली बच्चों के लिए आहार कार्यक्रम शुरू करने का कोई औचित्य नहीं था।

आहार कार्यक्रम में हर हितग्राही को साल में 300 दिन भोजन मिलना था। एक करोड़ हितग्राहियों का शुरूआती लक्ष्य रखा गया था इसके लिए 218 करोड़ रुपयों का प्रावधान किया गया था। यदि पूरी 40 प्रतिशत आबादी (जो कि सबसे कम आमदनी वाला तबका है) को शामिल किया जाता, तो इसी दर से इससे 6 गुना ज्यादा रकम खर्च करनी पड़ती। निकट भविष्य में इतनी रकम जुटा पाना सरकार के बूते से बाहर था। तो पूरी टारगेट आबादी को कार्यक्रम में शामिल करना लगभग असंभव था।

आहार कार्यक्रम में प्रोसेस्ड (तैयार) भोजन, जैसे ब्रेड, बालाहार, बाल अमूल और बेकरी में बने अन्य पदार्थों के वितरण पर भी बल दिया गया था। इससे फूड प्रोसेसिंग उद्योग का मुनाफा ही बढ़ा। इसकी जगह स्थानीय रूप से उपलब्ध भोजन/व्यंजनों का उपयोग करना सस्ता भी पड़ता और सांस्कृतिक रूप से उपयुक्त भी रहता।

कार्यक्रम के **क्रियान्वयन** में भी कई दिक्कतें रही हैं। इस कार्यक्रम में भोजन का वितरण दो तरह से होता है। पहले तरीके में मौके पर ही भोजन कराया जाता है। बच्चों को बालवाड़ी या ऐसी ही किसी जगह पर एकत्रित करके दिन में एक बार भोजन कराया जाता है। दूसरे तरीके में भोजन घर ले जाने के लिए दिया जाता है। इसके अंतर्गत हफ्ते-दस दिन का भोजन एक साथ दे दिया जाता है।

मौके पर भोजन कार्यक्रम में दिक्कत यह थी कि जो बड़े बच्चे स्कूल-पूर्व बच्चों को केन्द्र पर लाते हैं, वे खड़े मुंह ताकते रहते हैं। यदि वह 'बड़ी' बच्ची जो परिवार की गरीबी के कारण भूखी है, तो यह बहुत अजीब लगता है कि उसे सिर्फ इसलिए भोजन न दिया जाए क्योंकि वह 'शरीरिक' रूप से कमजोर नहीं है। छोटे बच्चे एक बार में इतना खाना नहीं खा पाते। जो बचता है वह या तो बरबाद होता है या बड़े बच्चे खा लेते हैं। फिर छुट्टियों आदि की वजह से, इस कार्यक्रम में, वर्ष में 250-300 दिन ही भोजन दिया जाता है।

घर ले जाने की योजना में परिवार के अन्य सदस्यों को भी हिस्सा मिल जाता है। पर यह देखा गया है कि यह बंटवारा प्रायः 10 साल से छोटे बच्चों के बीच ही होता है। वयस्कों को हिस्सा नहीं मिलता। यह बात भोजन की किस्म पर निर्भर करती है। जिस भोजन को बच्चों का खाना माना जाता है, उसे प्रायः वयस्क नहीं खाते।

कोलम्बिया (दक्षिण अमरीका) में एक अध्ययन के दौरान परिवारों को इतना भोजन दिया जाता था कि पूरे परिवार की कैलोरी जरूरत पूरी हो सके। बंटवारे की दिक्कत को सुलझाने के लिए ऐसा किया गया था। परन्तु कार्यक्रम का वास्तविक लक्ष्य छोटे बच्चे और गर्भवती/दूध पिलाती स्त्रियां ही थीं। भोजन में उन्हीं चीजों का उपयोग किया जाता था, जो स्थानीय आबादी में प्रचलित हैं।

कार्यक्रम के मूल्यांकन से पता चला कि हितग्राहियों की कुल कैलोरी खपत में बढ़ोतरी नहीं हुई थी। निष्कर्ष यह था कि या तो भोजन का कुछ अंश बाजार में बेच दिया जाता है या जिस पैसे से वे आमतौर पर भोजन खरीदते हैं, वही पैसा अन्य जरूरी चीज खरीदने में खर्च हो रहा है। **इसका मतलब यह हुआ कि कार्यक्रम के तहत दिए जाने वाले भोजन को पूरक के रूप में नहीं बल्कि रोजमर्रा के भोजन के विकल्प के रूप मे उपयोग किया जा रहा था।**

यह समस्या 'मौके पर भोजन' और 'घर ले जाने' दोनों के मामलो में

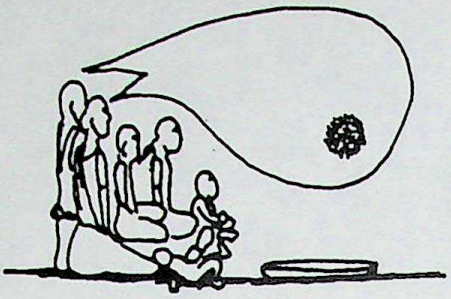

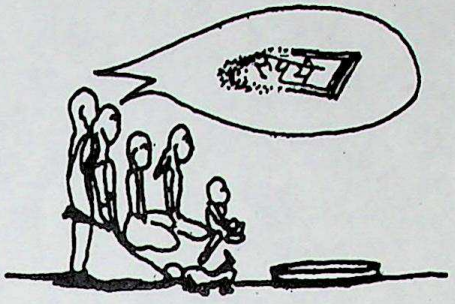

देखी गई है ।

परिवार के वयस्क सदस्यों को लगता है कि बच्चे को तो दिन में एक बार भोजन मिल ही रहा है । अतः बच्चे को घर पर मिलने वाला भोजन अन्य सदस्यों को दिया जा सकता है । यह देखा गया है कि "अधिकांश कार्यक्रमों में पूरक आहार इस ढंग से बनाया जाता है कि ऊर्जा की कमी का 40 से70 प्रतिशत तक पूरा किया जा सके । परन्तु व्यवहार में सिर्फ 10 से 25 प्रतिशत तक कमी ही पूरी हो पाती है ।"

इन सारी समस्याओं के बावजूद कुछ अध्ययनों से इन कार्यक्रमों का महत्त्व भी नजर आया है । आदिवासी बच्चों के लिए एक विशेष पोषण कार्यक्रम चलाया गया था । इसके मूल्यांकन से पता चला कि इन बच्चों में तीसरी श्रेणी के (गंभीर) कुपोषण का एक भी मामला नहीं था । अन्य बच्चों के मुकाबले इन बच्चों में दूसरी व पहली श्रेणी के मामले भी कम पाए गए ।

मूल्यांकन में इस सफलता के कारण निम्नांकित बताए गए : गांव काफी सघन थे, स्थानीय लोग सहायक के रूप में नियुक्त किए गए थे, और खाद्य सामग्री सीधे संचालकों को दी जाती थी । एक अन्य अध्ययन से पता चला कि फायदा तो सारे अल्प पोषित बच्चों को हुआ परन्तु सबसे ज्यादा फायदा सर्वाधिक कुपोषित बच्चों को हुआ । इन बच्चों की ऊंचाई व वजन में अपेक्षाकृत ज्यादा वृद्धि हुई ।

यदि इन कार्यक्रमों के जरिए गंभीर रूप से कुपोषित बच्चों को लाभ होता है और अन्य बच्चों को गंभीर कुपोषण से बचाया जा सकता है, तो ऐसे कार्यक्रमों को पूर्णतः असफल तो नहीं कहा जा सकता । परन्तु सवाल यह है कि देश कब तक 10 करोड़ बच्चों को भोजन कराता रहेगा ? अभी तो आहार कार्यक्रमों को तब तक के लिए लागू किया गया है, जब तक कि लोगों की आर्थिक दशा नहीं सुधर जाती । आगे हम देखेंगे कि आर्थिक दशा सुधारने के कार्यक्रम भी अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पा रहे हैं ।

लोगों की क्रय शक्ति सुधारने सम्बन्धी सरकारी नीति

आर्थिक विकास के संदर्भ में सरकार की पूरी रणनीति यह है कि जीवन-स्तर बेहतर हो और लोगों की क्रय शक्ति बढ़े । इस दिशा में एक प्रयक्ष कदम है मजदूरों की न्यूनतम निर्धारित करना ।

यह तो स्पष्ट है कि सभी मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी एक समान नहीं हो सकती क्योंकि सभी मजदूर एक ही किस्म का काम नहीं करते । परन्तु सभी मजदूरों के लिए न्यूनतम मजदूरी (अर्थात् किसी भी मजदूर को इससे कम तो किसी हालत में नहीं मिलेगा) तय करने के लिए सरकार ने पोषण की जरूरत को आधार बनाया है ।

जैसा कि हमने देखा, अलग-अलग किस्म (हल्का, माध्यम, भारी) का काम करने वाले लोगों की पोषण सम्बन्धी जरूरत अलग-अलग होती है । न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने के लिए सरकार ने माना कि प्रत्येक वयस्क के लिए 2400 कैलोरी (हल्के काम करने वाले कामगार की जरूरत) तो अनिवार्य है । फिर उन्होंने गणना की कि 2400 कैलोरी प्राप्त करने के लिए कितने भोजन की जरूरत होगी । इसी के आधार पर न्यूनतम मजदूरी तय की गई । इसी आधार पर गरीबी की रेखा भी तय की गई । सरकारी अनुमान के मुताबिक 1983 में ग्रामीण आबादी का 50.82 प्रतिशत हिस्सा गरीबी की रेखा के नीचे था । उनका विशेषज्ञों ने इन गणनाओं पर सवाल खड़े किए हैं । उनका ख्याल है कि कई कारणों से यह मापदण्ड बहुत ऊंचे हैं :

1. अलग-अलग व्यक्तियों की ऊर्जा की जरूरत अलग-अलग होती है । यदि इन अन्तरों को ध्यान में रखा जाए तो न्यूनतम जरूर कहीं कम आएगी ।

2. इन विशेषज्ञों का मत है कि मानव शरीर अपने आपको कम भोजन के अनुकूल ढाल लेता है । इसके लिए शरीर का वजन व ऊंचाई कम हो जाती है । शायद इसी अनुकूलन की वजह से औसत भारतीय मजदूर का वजन आम भारतीयों के औसत वजन से कम होता है । इसी तरह भारतीयों की औसत ऊंचाई एवं वजन पश्चिमी देशों के लोगों मुकाबले कम होते

हैं। इन विशेषज्ञों का मत है कि छोटे आकार के कारण इन लोगों को स्वस्थ रहने के लिए कम भोजन की जरूरत होती है।

इन विशेषज्ञों के अनुसार हल्का काम करने वाले व्यक्ति के लिए जो मापदण्ड बनाया गया है, वह भी औसत भारतवासी के लिए ज्यादा ही है। इनका अनुमान है कि बमुश्किल 25 प्रतिशत शहरी और 15 प्रतिशत ग्रामीण आबादी ही गरीबी की रेखा के नीचे रहती होगी। इसके परिणामस्वरूप न सिर्फ पोषण की जरूरत बल्कि न्यूनतम मजदूरी की गणना एवं गरीबी की रेखा के आकलन को लेकर जबरदस्त विवाद छिड़ गया।

यह सही हो सकता है कि भारतीय लोग कम खुराक के अनुरूप ढल चुके हों परन्तु इस तरह के अनुकूल और तन्दरुस्ती को एक-दूसरे का पर्याय नहीं कहा जा सकता। यह भी संभव है कि हमारे देश के गरीब लोगों का वजन स्थायी तौर पर कम हो गया हो। परन्तु साथ ही यह भी हो सकता है कि उनमें कुपोषण के कई अन्य लक्षण मौजूद हों। इनका वर्णन पिछले अध्याय के दो अध्ययनों में किया गया था। इसके अलावा अध्ययनों से यह भी पता चला है कि ऐसी आबादी जो अपने आपको कम पोषण के अनुकूल ढाल चुकी हो और ऐसी आबादी जिसे पर्याप्त पोषण मिलता हो, के बीच शरीरिक वजन का अन्तर घट भी सकता है, बशर्ते कि कुपोषित आबादी को लगातार पर्याप्त भोजन मिलने लगे।

> "इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि शारीरिक ऊंचाई व वजन का नस्लगत अन्तर उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना पहले सोचा जाता था। इसका सबसे अच्छा उदाहरण तो अमरीका में रह रहे जापानियों का है दो-तीन पीढ़ियों में ही इन लोगों का वजन व ऊंचाई जापान में रह रहे जापानियों की बजाय अमरीकियों से ज्यादा मेल खाते हैं। साथ ही साथ जापान में पोषण व स्वास्थ्य सुविधा की स्थिति सुधरने के कारण वहां भी बच्चों का हर दस वर्षीय समूह पिछले से ज्यादा ऊंचा होता है।
>
> काली (कोलम्बिया) में किए गए एक अन्य अध्ययन से पता चला है कि यदि 3 वर्ष के बच्चे को भी पर्याप्त पोषण दिया जाए, जो पहले कुपोषित था, तो वह भी अपनी वृद्धि की कमी को पूरा कर लेता है।" *(मोर्ले)*

इन अध्ययनों का आशय यह है कि यदि सबको पर्याप्त भोजन मिले, तो किसी भी इन्सान को अपना शरीर छोटा करके कम भोजन का आदी न होना पड़े। इन अध्ययनों का महत्त्व तभी है, जब हमारा उद्देश्य यह जानना हो कि तन्दुरुस्त रहने के लिए कितने भोजन की आवश्यकता होगी। यह दुर्भाग्य ही है कि अपने देश के वैज्ञानिकों का ध्यान बिलकुल उल्टी दिशा में गया है। वे यह पता लगाना चाहते हैं कि जिन्दा रहने के लिए कम-से-कम कितने भोजन से काम चल सकता है।

इस विवाद का नतीजा

उपरोक्त दलीलों को स्वीकार करना या न करना इस बात पर निर्भर करता है कि हमारा लक्ष्य क्या है। सरकार शायद यह चाहती है कि जिन्दा भर रहने के लिए जरूरी पोषण की मात्रा पता लगाई जाए। इसके आधार पर यह तय किया जा सकता है कि कितनी आबादी की खुराक बढ़ाना जरूरी है। यदि इसे मान लें, तो भी यह कहना मुश्किल है कि ये गणनाएं कितनी सही हैं। यदि हम उस तबके को देखें जो गरीबी की रेखा के नीचे है, तो बात साफ हो जाएगी। हमने खण्ड I के अध्याय 8 में देखा कि आर्थिक रूप से सबसे बदतर हालत खेतिहर व गैरखेतिहर मजदूरों की है। इनके पास जमीन या अन्य कोई सम्पत्ति नहीं है। ये लोग अपना शारीरिक श्रम बेचकर जीवन यापन करते हैं।

इन लोगों को रोजगार की कोई गारन्टी नहीं है। ये लोग जो भी काम मिले, करते हैं। ये रोजन्दारी मजदूर हैं जो भारी वजन जैसे पत्थर, सीमेन्ट, ईंटे ढोते हैं। यही लोग खदानों में पत्थर तोड़ते हैं, भारी ठेले खींचते हैं और खेती का मुश्किल काम करते हैं। इन सारे कामों के लिए ज्यादा ऊर्जा लगती है—करीब 3900 कैलोरी। यदि इन लोगों को 2400 कैलोरी मिले तो यह तकनीकी रूप से तो सरकारी गरीबी रेखा के ऊपर होंगे परन्तु वास्तव में उन्हें आवश्यकता से 1500 कैलोरी कम ही मिल पा रही है। इसी आधार पर महाराष्ट्र के देहाती

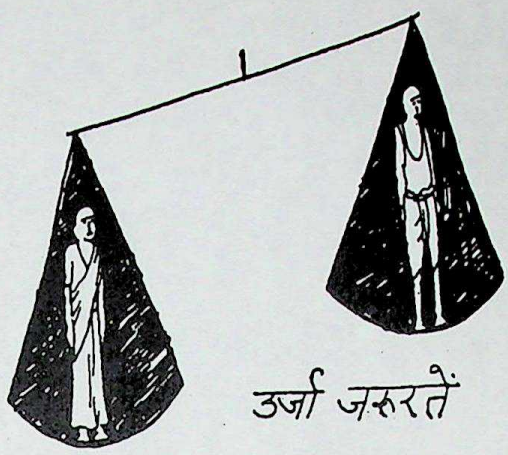

इलाके में काम करने वाले अभय बंग ने सन् 1981 में महाराष्ट्र सरकार द्वारा निर्धारित 4 रुपये न्यूनतम मजदूरी को चुनौती दी। भारी काम करने वाले मजदूर की कैलोरी-जरूरत के आधार पर उन्होंने गणना की कि दो वयस्क कामगार सदस्यों वाले परिवार की दैनिक आय कम से कम 24 रुपये होनी चाहिए। तभी वह परिवार बमुश्किल जीवन निर्वाह कर पाएगा। प्रसिद्ध पोषणशास्त्री सी. गोपालन ने भी कड़ी मेहनत करने वाले व्यक्ति की जरूरत के आधार पर गणना करके बताया कि एक मजदूर परिवार की दैनिक मजदूरी कम-से-कम 22 रुपये होनी चाहिए।

इन दोनों गणनाओं की तुलना में सरकारी न्यूनतम मजदूरी बहुत कम है। यदि किसी परिवार के औरत-मर्द दोनों काम करें, तो भी उनकी कुल आमदनी 8 रुपये रोज होगी, जो 22 या 24 रुपये में कहीं कम है। अर्थात् सरकार द्वारा निर्धारित न्यूनतम मजदूरी, पोषण की जरूरत पूरी करने की दृष्टि से, बहुत ही कम है।

वास्तव में 22 या 24 रुपये के ये अनुमान भी अपर्याप्त हैं। ये अनुमान एक मजदूर (औसत शारीरिक वजन 44 कि. ग्रा.) के आधार पर निकाले गए हैं जबकि एक सुपोषित भारतीय व्यक्ति का औसत वजन 55 कि. ग्रा. होता है। ज्यादा वजन वाले इन व्यक्तियों की न्यूनतम मजदूरी भी कैलोरी-जरूरत के आधार पर उसी अनुपात में ज्यादा होगी।

न्यूनतम मजदूरी की अन्य दिक्कतें

यह तो हम देख ही चुके हैं कि ग्रामीण परिवारों में स्त्री, पुरुष व बच्चे द्वारा खर्च की गई ऊर्जा क्रमशः 53, 31 व 16 प्रतिशत होती है। यह गणना उनके द्वारा किए गए काम को मानव घण्टे के रूप में व्यक्त करके की गई है।

औरतों को गर्भ व स्तनपान की अवधि में अतिरिक्त ऊर्जा की आवश्यकता होती है। गर्भावस्था के दौरान खर्च अतिरिक्त ऊर्जा की मात्रा 83,400 कैलोरी मानी गई है। इसका मतलब हुआ कि औरतों को 280 दिनों तक 300 कैलोरी प्रतिदिन की अतिरिक्त जरूरत होगी। यदि स्तनपान की अवधि में और छः महीने तक प्रतिदिन 850 मि. ली. दूध पैदा करे, तो इसके निर्माण में 1,35,000 कैलोरी की जरूरत होगी। इसका मतलब अतिरिक्त 550 कैलोरी रोज। ये आंकड़े भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद के हैं।

सरकार द्वारा निर्धारित न्यूनतम मजदूरी में इनमें किसी बात का ध्यान नहीं रखा गया। वास्तव में, प्रायः समान काम करने पर भी औरत को कम मजदूरी दी जाती है। राष्ट्रीय श्रम आयोग ने उल्लेख किया है कि "जिन बड़े क्षेत्रों में औरतों को नियुक्त किया जाता है (जैसे खेती और लघु उद्योग) वहां भी इस बात के प्रमाण हैं कि सरकार भी औरतों के खिलाफ भेदभाव से मुक्त नहीं रह पाई है।"

इसके अलावा खेती में जो काम औरतों द्वारा किए जाते हैं (बोआई निंदाई, रोपे लगाना, दावन, उड़ावनी, कटाई, आदि), उनकी मजदूरी आदमियों द्वारा किए जाने वाले काम (जुताई) से कम होती है।

गर्भावस्था व स्तनपान की अवधि में अतिरिक्त ऊर्जा की जरूरत के संदर्भ में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि 30 साल की प्रजनन अवधि में से 16 साल गर्भावस्था या स्तनपान की स्थिति में बीतते हैं। स्वास्थ्य शिक्षा में तो औरतों को कहा जाता है कि गर्भावस्था के समय ज्यादा खाओ, पर न्यूनतम मजदूरी की गणना में इसका हिसाब नहीं रखा जाता। इसी प्रकार से गणना करते वक्त महिलाओं द्वारा किए जाने वाले घरेलू कामों को भी नहीं जोड़ा जाता क्योंकि इन्हें गैर-उत्पादक काम माना जाता है।

आमतौर पर औरत की मजदूरी आदमी से कम होती है। अतः यदि परिवार को 22 रुपये की जरूरत है तो आदमी की मजदूरी 12 रुपये और औरत की मजदूरी 10 रुपये निर्धारित कर दी जाती है। इसका अर्थ है कि सरकार मानती है कि गरीब परिवार का खर्च चलाने के लिए दोनों वयस्क सदस्यों को काम करना जरूरी है। कामगारों की किसी और श्रेणी के लिए वेतन इस ढंग से तय नहीं किया जाता। सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि सिर्फ आदमी का वेतन परिवार के खर्च के लिए काफी होगा। यदि औरत भी काम करे, तो वह अतिरिक्त आमदनी होगी।

फिर कीमतें लगातार बढ़ती रहती हैं। ऐसी स्थिति में औरत की

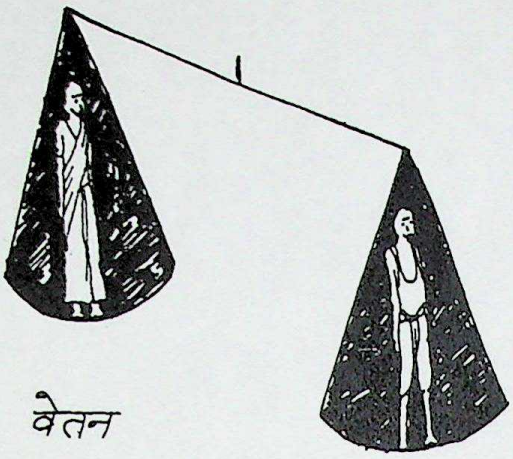

अतिरिक्त आमदनी परिवार का जीवन-स्तर बनाए रखने में मददगार होती है। परन्तु मजदूरों की न्युनतम मजदूरी तय करने में यह मानकर चला जाता है कि आदमी-औरत दोनों काम करेंगे। अब दोनों की आमदनी मिलाकर भी बमुश्किल घर का खर्च चलता है। अतः कीमतों में वृद्धि से निपटने का इनके पास कोई उपाय नहीं होता। और न ही इनके पास इतना पैसा होता है कि आड़े वक्त के लिए बचत कर सकें। जो आमदनी है उससे तो सिर्फ सस्ते से सस्ता भोजन ही खरीदा जा सकता है।

यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसे परिवार बीमारी, मृत्यु शादी आदि के समय साहूकारों से कर्ज लेने को विवश हो जाते हैं। नतीजा यह होता है कि परिवार की अर्थव्यवस्था चौपट हो जाती है और इसका असर उनके खाने-पीने पर भी पड़ता है।

इस तरह से न्यूनतम मजदूरी तय करने का काम सिर्फ निर्धन तबके के लिए ही किया जाता है। अतः देश में यही एकमात्र तबका है जिसकी मजदूरी इस तरह से तय की जाती है। यदि देश के सारे लोगों की मजदूरी उनकी पोषण जरूरत के आधार पर तय की जाए, तो मजदूरों को सबसे ज्यादा मजदूरी मिलना चाहिए जबकि वास्तव में उनकी मजदूरी सबसे कम है। इस तरह से हमारे देश की वेतन व्यवस्था में भी यही धारणा झलकती है कि मानसिक काम (बौद्धिक काम) शारीरिक काम से श्रेष्ठ है। आखिर बौद्धिक काम में लगे लोगों को ज्यादा वेतन जो दिया जाता है। इस प्रकार से देश में शारीरिक काम करने वालों को हेय दृष्टि से देखा जाता है।

उपरोक्त सारी समस्याओं को देखते हुए यह स्पष्ट है कि सरकारी न्यूनतम मजदूरी में दर हर तरह से कम है। यदि ये दरें लागू भी हो जाएं (जो कि अक्सर नहीं होती) तो भी इससे लोगों की क्रय शक्ति इतनी नहीं बढ़ेगी कि लोग अपनी भोजन व अन्य जरूरतें पूरी कर सकें। ऊर्जा का घाटा इतना ज्यादा है कि परिवार के बजट में कुछ रुपये जोड़ देने भर से अल्प पोषण की समस्या पर ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ेगा।

और अन्त में, एक शोषणपूर्ण समाज में न्यूनतम मजदूरी की अवधारणा पर ही सवाल खड़े होना चाहिए। खण्ड I के अध्याय 8 में हम देख चुके हैं कि मजदूरों को उत्पादन का उनका वाजिब हिस्सा नहीं दिया जाता। वर्तमान मजदूरी से थोड़ी ज्यादा न्यूनतम मजदूरी देकर सरकार यह भ्रम पैदा करना चाहती है कि अब मजदूरों को न्याय संगत मजदूरी मिलने लगी है। जबकि वास्तव में ऐसा नहीं है। इस प्रकार से सरकार न सिर्फ शोषण को जायज ठहरा रही है बल्कि उत्पादन में मजदूरों का वाजिब हिस्सा हथियाकर सम्पत्ति बटोरने को बढ़ावा दे रही है।

अलग-अलग जिलों में प्रति दिन की न्यूनतम मजदूरी

जिले	खेती (रुपये)	सड़क निर्माण/रख-रखाव (रुपये)
गुजरात	15.00	33.85
बिहार	16.50	24.00
हिमाचल	28.17	33.92
राजस्थान	22.00	22.00
उड़ीसा	25.00	25.00
पश्चिमी बंगाल	26.95	20.00
मध्यप्रदेश	28.17	33.92
महाराष्ट्रा	20 से 29.00	51 से 55.00
हरियाणा	41.23	40.23
दिल्ली	54.60	54.60

स्रोत : आर. के. ए. सुब्रमणिया व पी. सिंह, मिनिमम वेजिज़ इन इण्डिया, एफ. इ. एस., 1995.

खाद्यान्न उत्पादन बढ़ाने सम्बन्धी सरकारी नीतियां

सरकार के मुताबिक अल्पपोषण का एक प्रमुख कारण यह है कि देश में सभी लोगों की जरूरत पूरी करने लायक पर्याप्त खाद्यान्न का उत्पादन नहीं होता। इसलिए सरकार एक तरफ जनसंख्या कम करने की कोशिक करती है और दूसरी तरफ खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ाने की।

1960 के दशक में हरित क्रांति के साथ अनाज के उत्पादन में तेजी आई। ज्यादा पैदावार वाली किस्में या उन्नत किस्में उन इलाकों में

बोई गई जहां पहले से सिंचाई की अच्छी सुविधा थी। इस रणनीति की वजह से दो बातें हुई। एक, सभी अनाजों का उत्पादन एक-सा नहीं बढ़ा। जहां गेहूं और चावल की फसलों का रकबा बढ़ा वहीं मोटे अनाज की फसलों का रकबा घट गया। गरीब लोग आमतौर पर यही मोटा अनाज खाते हैं।

समूचे भारत में खाद्यान्न उत्पादन

अनाज	खेती का रकब (हजार हेक्टयर में)	
	1970—71	1991-92
चावल	37592	42308
गेहूं	18241	22980
रागी	2472	2154
ज्वार	17374	12592
बाजरा	12913	10036
मक्का	5852	5782
जौं	2555	943

स्रोत : कृषि मंत्रालय, भारत सरकार, 1981; सर्वे ऑफ इण्डियन एग्रीकल्चर, द हिन्दू, 1994.

दूसरी बात यह थी कि खाद्यान्न उत्पादन तो काफी बढ़ा पर कीमतों में कमी नहीं हुई। सरकार ने घोषणा की थी कि उत्पादन बढ़ने से खाद्यान्न की कीमतें कम हो जाएंगी और तब गरीब लोग आसानी से भोजन खरीद सकेंगे। मगर ऐसा इसलिए नहीं हो सका क्योंकि बड़े जमींदार काफी जोरदार दबाव डालकर कीमतों को कम होने से रोकते रहे। जो अतिरिक्त अनाज पैदा हुआ, वह या तो सरकारी गोदामों में बफर स्टाक के रूप में जमा हो गया या अन्य देशों को निर्यात कर दिया गया। सन् 1980 में भारत ने 16 करोड़ 20 लाख डॉलर मूल्य का चावल निर्यात किया था। और सन् 1990-91 में भारत ने 6,78,200 टन चावल निर्यात किया।

पिछले तीस-चालीस सालों में प्रोटीन समृद्ध खाद्य पदार्थों, खासकर दूध, अण्डे, मछली, के उत्पादन पर काफी बल दिया गया है। परन्तु भारत कई प्रोटीन समृद्ध खाद्य पदार्थों जैसे मांस, मछली, खली आदि का निर्यात करता है। और यह निर्यात लगातार बढ़ रहा है।

यदि सरकार प्रोटीन-समृद्ध खाद्य पदार्थों का उत्पादन ही बढ़ाना चाहती थी तो केन्द्रीय खाद्य टेक्नोलॉजी अनुसंधान संस्थान द्वारा विकसित बहूद्देशीय भोजन को बढ़ावा दिया जा सकता था। इस मिश्रण में 75 प्रतिशत मूंगफली का आटा, 25 प्रतिशत बेसन मिलाया जाता है। इसमें विटामिन व लवण भी मिलाए जाते हैं। यह भारतीय बहुउद्देशीय भोजन के नाम से विख्यात है। इस मिश्रण का महत्त्व साबित हो चुका था और सन् 1960 के दशक की शुरूआत कोयम्बटूर, मैसूर, एवं उत्तर प्रदेश में उसके उत्पादन की इकाइयां भी बनाई गई थीं। कुछ और इकाइयां स्थापित करने की भी योजना थी परन्तु जब अमरीकी सहायता संगठन (केयर) ने मक्का-सोया दूध का उपहार देने की पेशकश की तो, भारतीय बहुउद्देशीय भोजन की योजना को ठण्डे बस्ते में डाल दिया गया। इसके एवज में भारतीय खाद्य निगम ने 5 करोड़ रुपये की लागत से एक सोयाबीन प्रासेसिंग इकाई आयात कर ली ताकि सोयाबीन से प्रोटीन समृद्ध आहार बनाया जा सके। सोयाबीन देसी फसल तो थी नहीं। अतः यहां के किसानों को सोयाबीन उगाने के लिए प्रोत्साहित किया गया। तैयार माल को बेचने के लिए भी काफी विज्ञापन और प्रोत्साहन का सहारा लिया गया। अन्य उत्पादकों को भी प्रोत्साहित किया गया कि वे आसानी से खाए जा सकने वाला प्रोटीन समृद्ध खाद्य पदार्थ बनाएं। आज भारत में बिस्कुट, प्रोटीन पेय, चाकलेट, समृद्ध ब्रेड, आदि जैसे प्रोटीन पकवानों का उत्पादन होता है, जिन्हें सिर्फ अमीर लोग खा सकते हैं।

महंगे प्रोटीन खाद्य पदार्थों के चक्कर में दालों की खेती पर बहुत कम ध्यान दिया गया। दालें वास्तव में सस्ता प्रोटीन भोजन है। दरअसल पिछले 20 सालों में दालों की उपलब्धता कम हुई है। सन् 1970 में जहां प्रतिदिन प्रति व्यक्ति 51.9 ग्राम दालें उपलब्ध थीं, वहीं सन् 1981 में यह मात्रा घटकर 37.0 ग्राम रह गई। निर्धारित जरूरत 40.0 ग्राम प्रति व्यक्ति प्रतिदिन है। यह गिरावट सिर्फ जनसंख्या वृद्धि के कारण नहीं हुई है।

इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि सन् 1956 से दालों के उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं हुई है। वास्तव में दालों की खेती का क्षेत्रफल

सन् 1970-71 के 2 करोड़ 25 लाख हेक्टेयर से घटकर सन् 1980-81 में 2 करोड़ 24 लाख हेक्टेयर रह गया। इसके कारण दालों की कीमतें इतनी ज्यादा बढ़ गई कि गरीब लोग इस जरूरी चीज से मोहताज हो गए।

अतः अनाज व दाल दोनों ही मामलों में सरकारी नीति से गरीब परिवारों को मिलने वाले खाद्यान्न मे वृद्धि नहीं हुई। देश की खाद्य स्थिति की समीक्षा करते हुए "हैल्थ फॉर ऑल" (सबके लिए स्वास्थ्य) रिपोर्ट में कहा गया है कि,

> "भारत के पास, 120 करोड़ तक की आबादी को भोजन देने के लिए, पर्याप्त जमीन, पानी और तकनीकी ज्ञान उपलब्ध है। पिछले 30 सालों में, मानसून की गड़बड़ियों के बावजूद, कृषि उत्पादन की हालत अच्छी रही है। और यदि सही नीतियां बने, तो आगे वृद्धि की संभावना और भी ज्यादा है। यदि सारी खेती योग्य जमीन का उपयोग किया जाए और सिंचाई की तमाम उपलब्ध संभावनओं को साकार किया जाए, तो मौजूदा टेक्नोलॉजी से ही अगले 20 सालों में कृषि-उत्पादन दुगना किया जा सकता है। यदि तम्बाकू, अफीम जैसी नगदी फसलों को सीमित किया जाए तो अनाज उत्पादन और भी बढ़ाया जा सकता है। अतः यह दावा आसानी से किया जा सकता है कि हमारे पास अपनी जरूरत का खाद्यान्न पैदा करने के लिये पर्याप्त संसाधन और टेक्नोलॉजी मौजूद है। यदि हम वास्तव में ऐसा नहीं कर पाते हैं तो इसके मूल में मुख्यतः सामाजिक, राजनैतिक या प्रबन्ध सम्बन्धी कारण हैं।
>
> इसी तरह उपलब्ध खाद्यान्न के वितरण के मामले में असफलता के वास्तविक कारण तो आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक हैं। और हमारे देश में कुपोषण का प्रमुख कारण अपर्याप्त उत्पादन या संरक्षण नहीं बल्कि वितरण की असंतोषजनक स्थिति है। गरीब व्यक्ति के पास तो अनाज खरीदने के लिए पैसा ही नहीं है।"
>
> *(हैल्थ फॉर ऑल : एन आल्टरनेटिव स्ट्रैटजी)*

ढांचा समायोजन के तहत खेती और खाद्य

सन् 1991 में विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के दबाव में भारत ने ढांचा समायोजन कार्यक्रम लागू करना स्वीकार किया। *(ढांचा समायोजन कार्यक्रम स्वीकार करने के कारणों की चर्चा खण्ड II, अध्याय 2 में की गई है)*। इसकी वजह से भारत की कृषि व खाद्य नीति में भी कई बदलावों को मंजूरी देनी पड़ी है। मूलतः इन बदलावों में कृषि क्षेत्र को दी जाने वाली शासकीय रियासत (सब्सिडी) में कमी, फसल चक्र को बदलकर ज्यादा निर्यातोन्मुखी बनाना और सार्वजनिक वितरण प्रणाली को समाप्त करना शामिल हैं।

देश में खाद्यान्न की कीमतें कम रखने के लिए भारत सरकार काफी हद तक कृषि कार्य को सब्सिडी प्रदान करती है। यह सब्सिडी उर्वरकों, कीटनाशकों, पानी, बिजली, कृषि उपकरण आदि के दामों में रियायत के रूप में दी जाती है। सब्सिडी देने का अर्थ यह होता है कि इन चीजों की कीमतें वास्तविक कीमत से कम रखी जाती हैं और जो घाटा होता है वह सरकार वहन करती है। तकरीबन सारे **विकसित** देश अपनी कृषि को सब्सिडी प्रदान करते हैं। मसलन सन् 1982-87 की अवधि में जापान ने अपने किसानों को 72.5 प्रतिशत की सब्सिडी दी जबकि यूरोपीय समुदाय ने 37 प्रतिशत और अमरीका ने 26.17 प्रतिशत सब्सिडी अपने-अपने किसानों को दी थी। इस तरह से सब्सिडी देकर ये अपने-अपने देश में खाद्यान्न की कीमतें नीची रखते हैं।

विकसित देश कृषि को अप्रत्यक्ष ढंग से सब्सिडी देते हैं। उदाहरण के लिए अमरीका में खाद्यान्न बिक्री की कीमत को वास्तविक उत्पादन लागत से कम रखा जाता है। चूंकि इस परिस्थिति में किसानों को खेती बाड़ी में नुकसान होता है, इसलिए संभावना यह होती है कि वे खेती का काम बंद कर देंगे। इससे बचाव हेतु अमरीकी सरकार अपने किसानों को 'क्षतिपूर्ति भुगतान' करती है। किसानों को चुकाई जाने वाली खाद्यान्न की कीमत और वास्तविक उत्पादन लागत के बीच जो अन्तर होता है, वही क्षतिपूर्ति भुगतान के रूप में दिया जाता है। इसकी बदौलत कारगिल जैसी बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियां अनाज

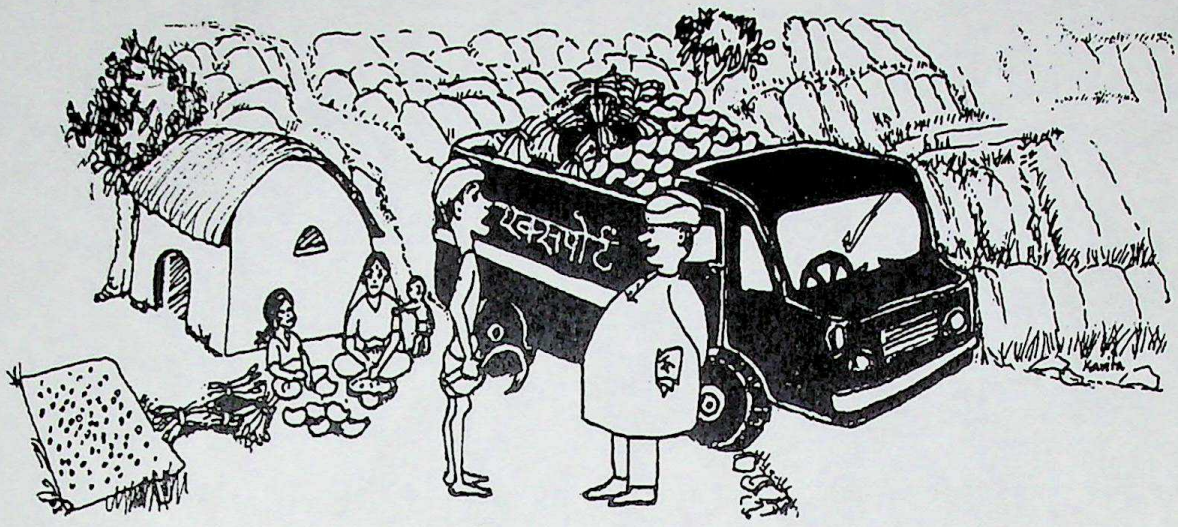

स्वैच्छिक रूप से आहार कार्यक्रम संचालित करने वाली संस्था 'कैथोलिक रिलीफ सर्विस' के एक पत्र के अंश

दिनांक 11 जनवरी 1982, पृष्ठ 2.

2. प्रचार-प्रसार

यह विषय कई बार आपके ध्यान में लाया गया है। इसे प्राप्तकर्ता/वितरक करारनामे में भी जोड़ा गया है, जिस पर आप, कार्यक्रम में शामिल होने से पूर्व, दस्तखत करते हैं। इसके बावजूद भी ऐसे कई मामले प्रकाश में आए हैं जहां प्रचार-प्रसार की उपेक्षा की गई और लाभान्वितों को यह तक, नहीं मालूम कि अनाज और तेल आया कहां से है। दुर्भाग्यवश, यह स्थिति उन स्कूलों में भी देखी गई है, जहां के लाभान्वित इस प्रश्न का सही जवाब दे पाने में सक्षम हैं कि "क्या तुम्हें मालूम है कि यह भोजन कहां से आता है ?" यह अपेक्षा बहुत ज्यादा नहीं है कि हर बार जब भोजन वितरित किया जाए तो वितरण प्रभारी उक्त प्रश्न पूछे और जवाब बता दे :

"संयुक्त राज्य अमरीका से"

क्या हम आशा करें कि आगे ऐसा अवसर नहीं आएगा कि लाभान्वितों को, चाहे वह नियमित कार्यक्रम में हो या एफ. एफ. डब्ल्यू. (फूड फॉर वर्क) में, यह जानकारी भी न हो कि इस उदार और कीमती उपहार का स्रोत क्या है।

सही/-
डोनाल्ड जे. रोजर्स
निदेशक-बम्बई क्षेत्र
सी. आर. एस.

सस्ते दामों पर खरीदकर अंतर्राष्ट्रीय बाजार में बेचकर अच्छा मुनाफा कमा सकती हैं।

पश्चिमी देशों में पैदा होने वाले खाद्यान्न को अंतर्राष्ट्रीय होड़ में आगे रखने के लिए भारत जैसे विकासशील देशों पर दबाव डाला जा रहा है कि वे अपने-अपने देशों में कृषि क्षेत्र को दी जाने वाली सब्सिडी कम करें। भारत सरकार द्वारा कृषि क्षेत्र को दी जाने वाली सब्सिडी में कमी का अर्थ यह होगा कि देश में खाद्यान्न की कीमतों बढ़ेंगी। इसकी वजह यह है कि उर्वरक और बीज जैसे इनपुट बहुत महंगे हो जाएंगे। मसलन शुरूआत में भारत सरकार ने उर्वरकों की कीमतों में 30 प्रतिशत बढ़ोत्तरी करने का फैसला किया। बहरहाल, किसानों के व्यापक विरोध के चलते कीमतों में मात्र 10 प्रतिशत का इजाफा किया गया। अगस्त 1992 में उर्वरकों की कीमतों पर से नियंत्रण हटा लिया गया और नतीजतन रातों-रात उर्वजरकों के दाम दुगने हो गए। कृषि इनपुट की बढ़ी हुई कीमतों का सीधा असर खाद्यान्न की कीमतों पर पड़ा। सन्1992 से 1995 के दरम्यान सरकार द्वारा खरीदे गए अनाज की कीमत में 21 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

अनाज की कीमतों में वृद्धि का अर्थ यह होगा कि एक समय ऐसा आएगा जब पश्चिमी देशों से अनाज का आयात करना अपने देश में अनाज उपजाने की तुलना में सस्ता साबित होने लगेगा। बहुराष्ट्रीय अनाज कंपनियां और विश्व बैंक उसी दिन की बाट जोह रहे हैं।

धीरे-धीरे भारत खाद्यान्न के लिए पश्चिमी देशों पर निर्भर हो जाएगा। तब पश्चिमी देश भारत पर दबाव डालकर जो मर्जी आए करवा सकेंगे। अनाज का उपयोग एक हथियार के रूप में किए जाने की बात के लिए उदाहरण हमें इतिहास में भी मिलते हैं। एक अमरीकी राजनेता के शब्दो में,

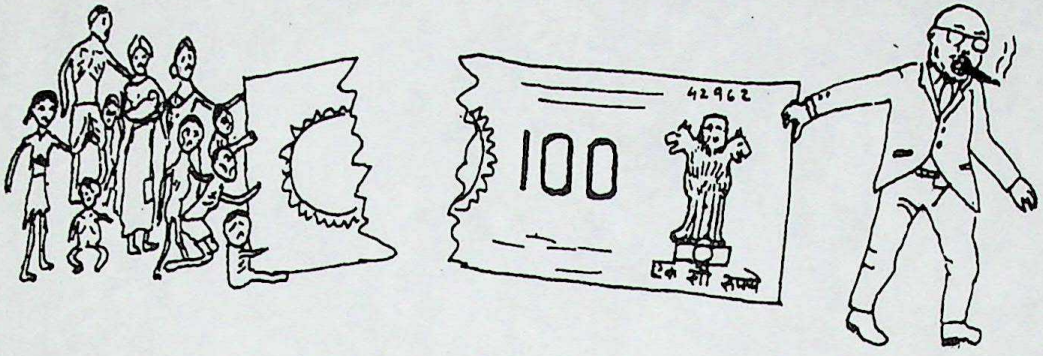

"यदि आप एक ऐसा रास्ता खोज रहे हैं, जिसके जरिये लोग, आपसे सहयोग के संदर्भ में, आप पर झुक जाएं, आप पर निर्भर हो जाएं, तो मेरे विचार में खाद्यान्न निर्भरता जबर्दस्त तरीका साबित होगा।"

(एच. एच. हम्फ्री, यू. एस. ए. के भूतपूर्व उपराष्ट्रपति)

भारत के लोगों के लिए कृषि सब्सिडी हटाने का मतलब होगा खाद्यान्न की कीमतों में वृद्धि, खपत (उपभोग) में गिरावट और पोषण की स्थिति में ह्रास। इसके अलावा कृषि कार्य के लिए जरूरी निवेश की रकम बहुत ज्यादा हो जाने के नतीजतन बहुत सारे छोटे व मझौले किसान दिवालिया हो जाएंगे। वे भूमिहीन खेत मजदूरों में तब्दील हो जाएंगे। इसका अर्थ यह होगा कि ज्यादा से ज्यादा जमीन मुट्ठी भर जमींदारों के कब्जे में आ जाएगी।

जमींदारों का यह छोटा सा शक्तिशाली तबका तब यह तय कर पाने की स्थिति में आ जाएगा कि वह अपनी जमीन पर क्या बोए-उगाए। यदि इस तबके को लगता है कि अनाज पैदा करना मुनाफादायक नहीं है, तो इसका तात्पर्य यह होगा कि इस जमीन पर कोई ऐसी फसल लगाई जाएगी जो स्थानीय रूप से या निर्यात के बाद अच्छी आमदनी दे सके। इस बात की सच्चाई का सबूत यह है कि देश के कई हिस्सों में फसल चक्र बदलने भी लगा है। मसलन पंजाब के किसान आज टमाटर और आलू उगा रहे हैं– बहुराष्ट्रीय कंपनी पेप्सी फूड्स की खातिर। पेप्सी फूड्स कंपनी इनको टमाटर के रस और आलू चिप्स के रूप में ऊंची कीमतों पर अमीरों को बेचेगी। चॉकलेट बनाने वाली कंपनी कैडबरी इण्डिया, कर्नाटक में कोको उगाने की एक योजना बना रही है। देश में गैर-खाद्यान्न फसलों का रकबा तेजी से बढ़ेगा और परिणामस्वरूप खाद्यान्न के उत्पादन में गिरावट आएगी।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली का विघटन

द्वितीय विश्व युद्ध के समय से ही भारत में खाद्यान्न की सार्वजनिक वितरण प्रणाली का मकसद लोगों को सस्ती दरों पर खाद्यान्न मुहैया कराना है। सरकारी लायसेंसशुदा उचित मूल्य की दुकानों (राशन दुकानों) के जरिए अनाज (मूलतः गेहूं और चावल), शकर, खाद्य, तेल, केरोसीन आदि उपलब्ध कराए जाते हैं। मार्च 1994 में देश भर में ऐसी कुल 4.24 लाख दुकानें थीं, जिनमें से 3.24 लाख देहाती क्षेत्रों में तथा 99 हजार शहरी क्षेत्रों में थीं। हांलांकि भ्रष्टाचार और घटिया अनाज जैसी कई समस्याएं सामने आई हैं किन्तु इनके बावजूद राशन दुकानों ने एक सार्थक उद्देश्य पूरा किया है। इन दुकानों से मिलने वाले राशन की बदौलत गरीबों के बड़े तबके की खाद्यान्न तक पहुंच बेहतर बन पाई है।

ढांचा समायोजन कार्यक्रम के तहत् सार्वजनिक वितरण प्रणाली में कटौती की जाएगी। सिर्फ उन्हीं लोगों को रियायती मूल्य पर खाद्यन्न मिलेगा जिन्हें सरकार द्वारा अत्यंत जरूरतमंद माना जाए। इसी नीति के तहत् सन् 1992-93 में खाद्यान्न सब्सिडी हेतु आवंटित रकम में 22 प्रतिशत से ज्यादा कटौती की गई। इस वजह से राशन दुकानों पर अनाज की कीमतें बढ़ीं और खुले बाजार की कीमतों के निकट आ गईं। इसीलिए हालांकि सरकार ने राशन दुकानों को सन् 1993-94 में 70 लाख टन अनाज प्रदान किया था किन्तु इसमें से सिर्फ 40 लाख टन ही वास्तव बिका।

इस सबका अर्थ यह होगा कि गरीब तबके के ज्यादा से ज्यादा लोग भोजन की खपत में कटौती करते जाएंगे। इस हकीकत को पहचानने के लिए बस इतना जानना काफी है कि कितने लोग गरीबी की रेखा के नीचे बसर करते हैं। सन् 1983 और 1988 के बीच गरीबी की रेखा के नीचे जीने वाले लोगों का प्रतिशत 50.82 से घटकर 39.06 हो गया था। अब हालात बदल रहे हैं। 1990 की तुलना में देहातों में गरीबी का परिमाण बढ़ा है। सन् 1991 में 10 प्रतिशत की वृद्धि हुई और सन् 1992 में वृद्धि 14 प्रतिशत हुई।

ढांचागत समायोजन कार्यक्रम के तहत् ये सारे बदलाव इसलिए हो रहे हैं ताकि सरकार पश्चिमी देशों, विश्व बैंक और मुद्रा कोष से लिया गया कर्ज चुका सके। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि सन् 1980 के दशक के जीवन स्तर का वित्तीय इंतजाम दरअसल तीसरी दुनिया के गरीब देश करते आ रहे हैं। इस वित्तीय इंतजाम की राशि सालाना 10,000 करोड़ रुपए आंकी गई है।

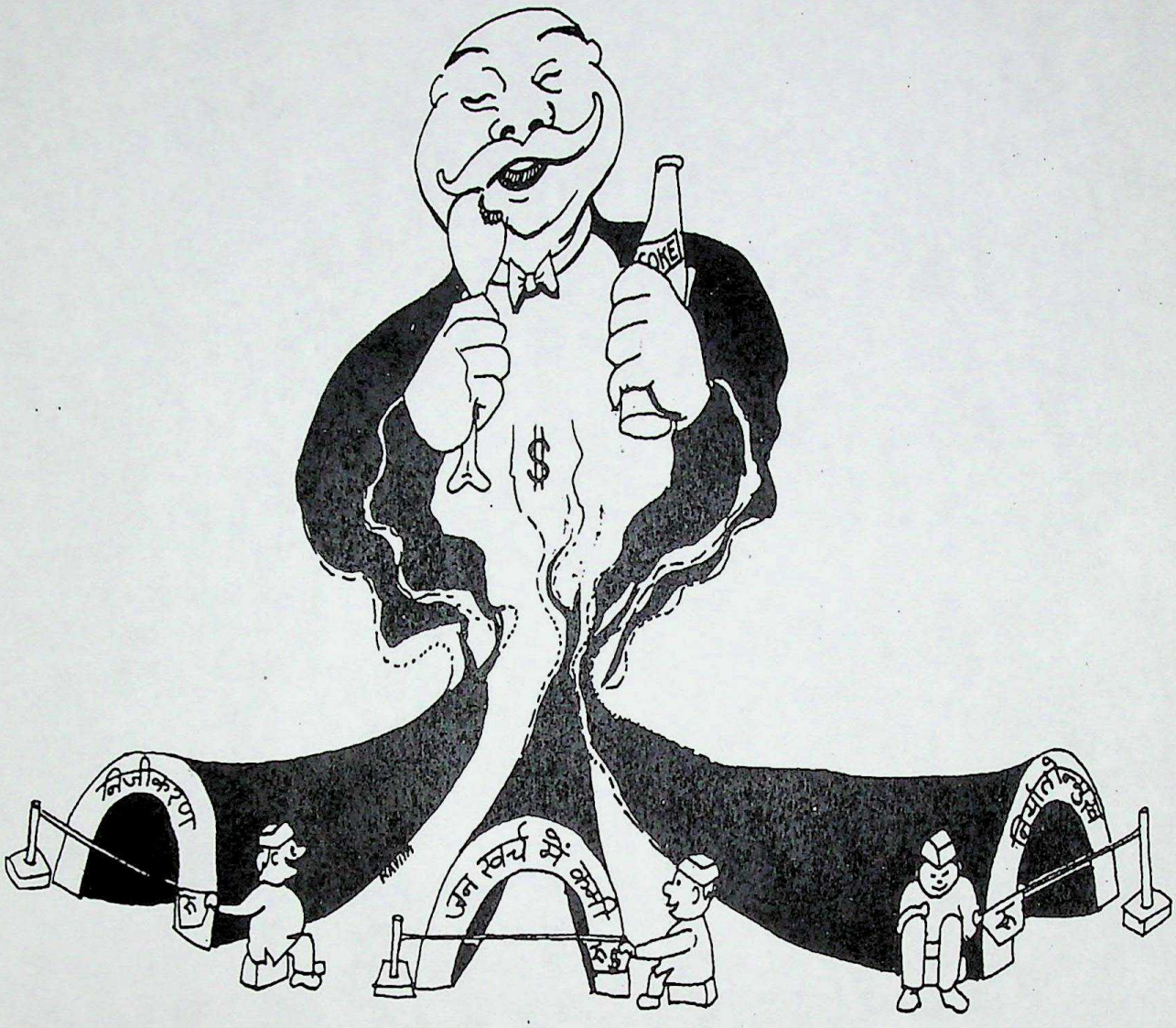

निष्कर्ष

देश में अल्प पोषण को कम करने के लिए सरकार द्वारा मुख्यः तीन रणनीतियां अपनायी गईं : खाद्य-उत्पादन बढ़ाना, लोगों की क्रय शक्ति बढ़ाना और आहार कार्यक्रम संचालित करना।

आहार कार्यक्रम तात्कालिक राहत के उपाय भर होते हैं। ये तभी सार्थक हो सकते हैं जब सरकार सामान्य जीवन स्तर सुधारने के प्रयास गंभीरता से करे। हमने अभी तक जो कुछ भी देखा है, उससे लगता है कि जब तक यह शोषण समाज व्यवस्था बरकरार है, तब तक गरीबों की आर्थिक स्थिति में सुधार होना असंभव सा है। उल्टा ऐसी स्थिति में आहार कार्यक्रम और न्यूनतम मजदूरी जैसी रणनीतियां खुद भी शोषण का अंग बन जाती हैं। इसका एक कारण तो यह है कि इन्हें बुनियादी आर्थिक व सामाजिक बदलाव का विकल्प मान लिया जाता है। दूसरे यह कि, इस तरह के कार्यक्रमों से गरीबों का ध्यान अल्प पोषण के वास्तविक कारणों से हटाने में मदद मिलती है। और शोषकों की उदार छबि बन जाती है, सो अलग।

ढांचा समायोजन कार्यक्रम लागू होने के बाद गरीब लोगों के हालात और बदतर होंगे। खाद्यान्न की कीमतें बढ़ेंगी और जमीन पर थोड़े से लोगों का नियंत्रण बढ़ता जाएगा। गैर खाद्यान्न फसलों का महत्त्व व रकबा बढ़ने के साथ-साथ भारत अपने लोगों की खाद्यान्न जरूरतें पूरी करने के लिए पश्चिमी देशों पर ज्यादा से ज्यादा निर्भर होता जाएगा। यदि इस परिस्थिति को बदलने के लिए कुछ न किया गया, तो प्रचुरता के बावजूद अकाल पड़ेंगे, लोग भूख से मरेगें। इथियोपिया में सन् 1970 व 1980 में यही हुआ—हजारों लोग भूख से मारे गए। और यह स्थिति तब थी जब इथियोपिया दालें, कपास और मांस का निर्यात यूरोप को कर रहा था। हालात सचमुच बहुत निराशाजनक हैं।

6 : स्वास्थ्य-शिक्षा

स्वास्थ्य शिक्षा स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं के काम का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। इस शिक्षा का लक्ष्य वे लोग होते हैं जिनके बीमार पड़ने की सम्भावना अधिक हो और जिनसे दूसरों को बीमारी लग सकती हो।

आंगनवाडी के पोषण-प्रशिक्षकों की हैण्डबुक के अनुसार "इस तरह की शिक्षा की सबसे ज्यादा जरूरत समाज के गरीब व कमजोर तबके को है।" इस कारण से स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं से अपेक्षा की जाती है कि वे झोंपड़ पट्टी या ग्रामीण इलाके में रहने वाले लोगों को सेहत का पैगाम देने का कोई मौका न चूकें।

सामाजिक व निरोधात्मक चिकित्सा विषय की एक पाठ्य पुस्तक के अनुसार स्वास्थ्य शिक्षा का उद्देश्य यह है कि व्यक्ति और समूह के नजरिए व व्यवहार में इस तरह के परिवर्तन किए जाएं जिनसे जीवन ज्यादा स्वस्थ बन सके। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए स्वास्थ्य शिक्षा को ज्यादा से ज्यादा दिलचस्प बनाने की कोशिश की जाती है। इसके लिए पोस्टर, फ्लैश कार्ड, कठपुतली, स्लाइड फिल्म आदि माध्यमों का उपयोग किया जाता है। अतः ऊपर से ऐसा लगता है जैसे स्वास्थ्य कार्यकर्ता लोगों को दिलचस्प तरीकों से उपयोगी जानकारी दे रहे हैं, ताकि वे स्वस्थ जीवन व्यीत कर सकें। परन्तु सेहत के पैगामों पर नजर डालने से पता चलता है कि :

- स्वास्थ्य-शिक्षा में इन पैगामों के अलावा भी काफी कुछ व्यक्त होता है।
- स्वास्थ्य-शिक्षा स्वास्थ्य के कुछ ही पहलुओं पर नजर डालती है।

इस बात को ठीक समझने के लिए, आइए, एक असली फ्लैश कार्ड सैट पर गौर करें और इसकी तुलना किसी स्वास्थ्य कार्यकर्ता द्वारा दिए गए वास्तविक विवरण से करके देखें।

अक्लमंद विठोबा

(टी. बी. का इलाज संभव है)

1. ये विठोबा और उसकी पत्नी रुक्मणी है। इनके दो बच्चे हैं कृष्णा और शोभा। बच्चों को पालने में दोनों हाथ बंटाते हैं। परिवार के दिन खुशी-खुशी कट रहे थे परन्तु.....

2. एकाध महीने में विठोबा की तबियत कुछ ठीक नहीं थीं। उसे प्रायः बुखार आ जाता है। उसे रुक्मणी के हाथ का खाना पसन्द है पर आजकल भूख ही नहीं लगती। उसका वजन भी घटता जा रहा है। उसे खांसी है। रुक्मणी चिन्तित है।

   रुक्मणी : तुम स्वास्थ्य केन्द्र जाकर अपने को दिखा दो।

   विठोबा : अरे कुछ नहीं, मौसम बदला है न, थोड़ी हवा लग गई है। थोड़े दिन में मैं ठीक हो जाऊंगा।

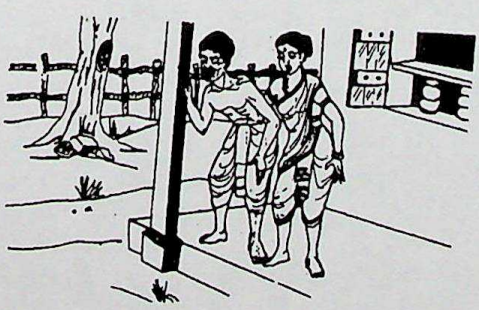

3. दिन गुजरने के साथ विठोबा दुबला होता गया। खांसी भी तेज हो गयी। रोज सुबह गाढ़ा बलगम निकलता। विठोबा की खांसी के कारण रुक्मणी रात-रात भर जागती रहती है। विठोबा भी थका-थका सा रहता था।

   रुक्मणी : "तुम स्वास्थ्य केन्द्र पर दिखा आओ।"

   विठोबा : "ठीक है, मैं कल चला जाऊंगा। बुखार ठीक ही नहीं हो रहा है।"

एक स्वास्थ्य कार्यकर्ता का वास्तविक विवरण
(क्या टी. बी. का इलाज संभव है ?)

कपास की धुनाई करने वाले एक ग्रामीण व्यक्ति को पता चला कि उसका वजन धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। काम करने की उसकी ताकत भी कम होती जा रही है। और उसे कई महीनों से खांसी चल रही है। परन्तु कई गरीब लोग इस कदर निचुड़े हुए और दुर्बल होते हैं—कि तन्दरुस्ती और बीमारी के बीच की दहलीज अनजाने में ही लांघ चुके होते हैं—और समझते रहते हैं कि यह सिर्फ 'कमजोरी' है। जब काम करना मुश्किल हो जाता है, तो वे तत्काल राहत की खातिर प्राइवेट डाक्टर के पास दौड़े जाते हैं। वे जानते हैं कि इसमें बहुत पैसा लगेगा परन्तु उन्हें अच्छे होकर काम पर पहुंचने की जल्दी होती है। उन्हें लगता है कि ताकत का इन्जेक्शन लगवा कर या टानिक पीकर वे ठीक हो जाएंगे। इलाज के लिए पैसे जुटाने के चक्कर में घर से एकाध मुर्गा और कुछ अनाज बेच देते हैं।

डाक्टर ऐसे मामलों को अच्छे से पहचानता है। उसे लगता है कि टी. बी. हो सकती है। उसे गरीबों की क्षमता का भी अन्दाज है कि वे अच्छे होने की आशा में पैसा खर्च करेंगे और जब तक आशा बनी रहेगी, डाक्टर को पैसा मिलता रहेगा। डाक्टर यह भी जानता है कि इस बीमारी को यदि ढंग से संभाला जाए तो यह वर्षों तक चलती रहेगी और मरीज की मौत ठीक नहीं होगी।

ऊपर से यह धारणा प्रचलित है कि टी. बी. लाइलाज है। इस धारणा का आधार यह है कि टी. बी. के मरीज बहुधा मौत के शिकार हो जाते हैं। डाक्टर यह जानता है कि मरीज लम्बे समय तक इलाज नहीं करवा सकते। फिर भी इलाज में उसकी कोई व्यवसाय सुलभ रुचि नहीं होती। अतः वह मरीज को बीमारी का नाम नहीं बताता। जहां तक हो सके, प्राइवेट डाक्टर मरीज को यह नहीं बताता कि उसका टी. बी. का इलाज चल रहा है। यदि उसने बताया तो यह पक्की बात है कि मरीज दूसरे डाक्टर के पास चला जाएगा।

इसी प्रकार से मरीज को एक्सरे या बलगम की जांच के लिए सरकारी अस्पताल भेजा, तो मरीज हाथ से निकल जाएगा। यदि प्राइवेट केन्द्र पर जांच कराए, तो मरीज का काफी पैसा उसी में निकल जाएगा। डाक्टर की दिलचस्पी जांच करवाने में भी नहीं होती–इतना ही काफी है कि मरीज को थोड़े समय के लिए राहत मिल जाए और वह इलाज और मौत के बीच झूलता रहे। बीच-बीच मे नाटकीय रूप से मौत के मुंह में से बचा लाने का नाटक भी जरूरी है।

4. स्वास्थ्य केन्द्र पर डाक्टर ने विठोबा की जांच की।

डाक्टर : "विठोबा, तुम्हें खांसी के साथ बलगम कब से आ रहा है?"

विठोबा : "एक महीना हो गया डाक्टर साब"

डाक्टर : "मैं तुम्हें खांसी की दवा देता हूं। तुम थोड़े दिन बाद फिर से मुझे दिखाना। जब तुम आओ, तो एक मिट्टी के बर्तन में थोड़ा बलगम लेते आना। हम बलगम (खखार) की जांच करेंगे।

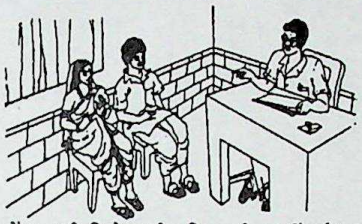

5. कुछ दिनों बाद भी विठोबा की तबियत ठीक नहीं हुई। उसे बुखार है। उसने एक मिट्टी के बर्तन में थोड़ा बलगम थूका और फिर वह डाक्टर के पास पहुंचा। डाक्टर ने बलगम को एक सूक्ष्मदर्शी में रखकर देखा।

डाक्टर : "विठोबा, तुम बहुत बिमार हो। पता है क्यों ? तुम्हारी छाती में टी. बी. है। इसीलिए तुम्हारी तबियत खराब है।"

विठोबा : (खुद से) : "मुझे यही डर था।"

रुक्मणी : "हमारे भाग्य मे यही बदा था।" वह रोने लगी।

डाक्टर : "टी. बी. नसीब की बात नहीं है। टी. बी. एक रोगाणु से होती है। तुम तक यह बीमारी टी. बी. के किसी मरीज से पहुंची है। टी. बी. खांसने और थूकने से फैलती है।"

6. डाक्टर : शायद तुम को मुझ पर विश्वास नहीं हो रहा है। इसलिए तुम दोनों खुद ही टी. बी. के रोगाणु देख लो। यह एक सूक्ष्मदर्शी है। यह शक्तिशाली बिल्लोरी कांच के समान ही है। इसमें से देखने पर बहुत छोटी चीजें भी दिखाई पड़ती हैं। ये चीजें हमें वैसे दिखाई नहीं पड़ती।

पहले रुक्मणी ने सूक्ष्मदर्शी में देखा और फिर विठोबा ने। उसे चित्र में दाहिनी तरफ बने रोगाणु दिखाए पड़े।

विठोबा : "हां, मुझे कुछ कीड़े जैसे दिख रहे हैं। क्या ये टी. बी. के कीड़े हैं।"

डाक्टर : हां, ये रोगाणु तुम्हारे फेफड़े के अन्दर बढ़ रहे हैं। परन्तु मैं तुम्हें जो दवा दूंगा उससे टी. बी. के कीटाणु मर जाएंगे।"

रुक्मणी सुन नहीं रही थी वह रोती जा रही थी।

विठोबा : "ये कीटाणु मेरे फेंफड़े में पहुंचे कैसे ?"

डाक्टर : "मुझे लगता है कि कुछ महीने पहले कोई टी. बी. का मरीज तुम्हारे नजदीक खांसा होगा। खांसी के साथ ही ये कीटाणु तुम्हारे फेफड़े में पहुंच गए होंगे। फिर उन्होंने तुम्हारे फेफड़े में घर कर लिया।"

मनोवैज्ञानिक प्रभाव के अलावा डाक्टर के नुस्खे में और क्या होता ? सूची में पहला नाम स्ट्रेप्टोमायसिन इन्जेक्शन का होता है—हो सके तो रोज एक इन्जेक्शन । परन्तु यदि मरीज का घर दूर हो, तो यह असंभव सी बात है । मरीज को स्ट्रेप्टोमायसिन इन्जेक्शन की जगह आइसोनियाज़िड की गोली भी दी जा सकती है । इसके साथ स्ट्रेप्टोमाइसिन के बजाय एक-दो प्रभावशाली रंगीन इंजेक्शन, (जैसे लिवर एक्स्ट्रेक्ट या लाल रंग का विटामिन बी$_{12}$) दिए जा सकते हैं । इसके अलावा मरीज को इथेम्ब्युटाल की गोली दी जाती है । जो कई ब्रान्ड के नाम से बाजार में उपलब्ध है ।

इथेम्ब्युटाल टी. बी. के लिए दूसरी श्रेणी की दवाई है । यह महंगी है परन्तु बहुराष्ट्रीय कंपनियां अपने मेडिकल रिप्रेजेन्टेटिव के जरिये इसे पहली श्रेणी की दवा के रूप में पेश करती हैं । नुस्खे की तीसरी चीज कोई बीटामीथेजोन जैसा कोई कार्टिकोस्टीराइड हार्मोन होता है । इसको भी कई इलाज की शुरूआत से ही देते हैं । इसका गुण यह है कि इससे तत्काल राहत मिलती है और तन्दरुस्ती का मुगालता होता है । मरीज को फांसने में यह काफी कारगर साबित होती है ।

चौथी चीज होगी खनिज लवणों व विटामिन टानिक की बड़ी सी शीशी । विडम्बना यह है कि इससे मरीज की भूख खुल जाती है जबकि वह शायद वैसे ही भूख से मर रहा होता है । और अन्त में, खांसी को दबाने के लिए कोई सिरप होगा ।

इस तरह के इलाज में पहले सप्ताह का खर्चा निम्नांकित है :

1. *स्ट्रेप्टोमायसिन इन्जेक्शन (3.00 रुपए रोज × 7 दिन)*	*21.00*
2. *इथेम्ब्यूटाल गोली । (दिन में दो बार, रु० 2.50 रोज × 7 दिन)*	*17.50*
3. *बीटामीथेजोन (दिन में तीन बार × 7 = 21 गोली)*	*8.00*
4. *विटामिन-खनिज टानिक (एक बड़ी शीशी)*	*20.00*
5. *खांसी का सिरप (एक शीशी)*	*8.00*
रुपये :	*74.50*

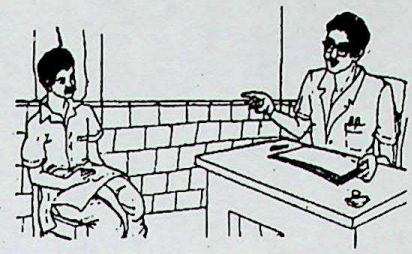

7. विठोबा : हां, पिछले साल मेरा भाई कई महीनों के लिए हमारे घर रहा था । वह खांसता ही रहता था । खांसी के साथ बहुत बलगम भी निकलता था । वह पिछले महीने ही मर गया । हम क्रियाकर्म के लिए उसके गांव गए थे ।"

डाक्टर : "तो यह मुमकिन है कि तुम्हें अपने भाई से टी. बी. लग गई हो । पर अब चिन्ता की कोई बात नहीं ।"

विठोबा : "पर मेरा भाई तो इसी बीमारी से मर गया ।"

डॉक्टर : "मैं तुम्हें दवाएं दे रहा हूं । तुम जरूर ठीक हो जाओगे । पर इसमें समय लगेगा । तुम्हें पूरे 18 महीने तक इलाज करवाना पड़ेगा । नहीं तो तुम फिर बीमार पड़ सकते हो ।"

विठोबा : "पर इतनी दवाई के तो बहुत पैसे लगेंगे ।"

डाक्टर : "टी. बी. के इलाज के लिए आई. एन. एच. गोली की एक महीने की खुराक के तीन रुपये होते हैं । यह किसी भी सरकारी स्वास्थ्य केन्द्र से तुम्हें मुफ्त मिल जाएगी । तुम्हें एक महीने तक स्ट्रप्टोमायसिन इन्जेक्शन लेना पड़ेगा । एक इन्जेक्शन का कम से कम एक रुपया लगेगा । साधरणतया यह भी सरकारी स्वास्थ्य केन्द्र में मुफ्त मिलता है ।"

8. रुक्मणी : "ये रही तुम्हारी दवा । रोज याद से लेना । मुझे तो विश्वास नहीं था कि डाक्टर सच बोल रहा है कि आई. एन. एच. की गोली 3 रुपये में एक महीने की आ जाएगी ।"

विठोबा : "फिर भी महंगी ही है । और मैं ठीक से काम भी तो नहीं कर पा रहा हूं । पर मैं ठीक हो जाऊं तो काम भी कर पाऊंगा और कमा भी पाऊंगा । इसलिए जल्दी अच्छा हो जाऊं तो ठीक है ।"

रुक्मणी : "डाक्टर ने कहा तो है कि तुम एकाध महीने में काम करने लायक हो जाओगे । तब अपनी चिन्ता भी कम हो जाएगी ।"

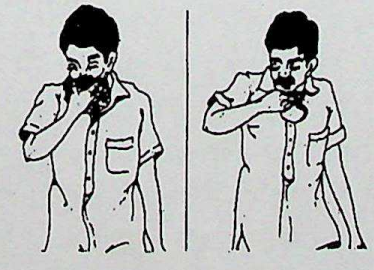

9. विठोबा अपनी बीमारी से बच्चों को बचाना चाहता था । इसलिए जब भी खांसता और थूकता, तो जमीन पर न थूकता । वह मिट्टी के बर्तन में थूकता और उस बर्तन को आग पर रख देता ताकि कीटाणु मर जाएं । हर दिन वह उसी बर्तन का इस्तेमाल थूकने के लिए करता । जब वह खांसता तो हाथ से मुंह को ढंक लेता ताकि बच्चों पर असर न हो ।

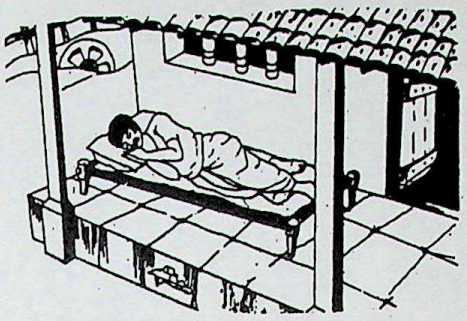

10. विठोबा नहीं चाहता था कि उसके बच्चों को टी. बी. लगे। इसलिए जब तक खांसी और बलगम आता रहा, तब तक वह बाहर बरामदे में सोता। इस प्रकार से बच्चों को उसकी खांसी की हवा में सांस नहीं लेनी पड़ती थी। दो महीने तक गोलियां खाने से उसकी खांसी काफी कम हो गई। बलगम तो गायब ही हो गया। उसने राहत की सांस ली और डाक्टर को बताने चल दिया।

विठोबा : "अब मेरी तबियत काफी ठीक है और खांसी भी कम है।"

डाक्टर : "बहुत अच्छा। तुम ठीक हो रहे हो। परन्तु विठोबा, 18 महीने तक इलाज करवाना बहुत जरूरी है। यदि बीच में छोड़ दिया, तो बीमारी वापिस आ जाएगी और पहले से भी ज्यादा बुरी हालत हो जाएगी।"

11. डाक्टर भी चाहता था कि बच्चों को टी. बी. न होने पाए। इसलिए उसने रुक्मणी से कहा कि वह बच्चों को जांच के लिए ले आए। जांच करके उसने देख लिया कि कृष्णा और शोभा दोनों स्वस्थ थीं। उसने उन दोनों को बी. सी. जी. का इन्जेक्शन लगाया। यह इन्जेक्शन कन्धों पर लगाया जाता है और यह बच्चे को टी. बी. से बचाता है। इन्जेक्शन की वजह से बुखार नहीं होता।

12. विठोबा दो महीनों से काम पर नहीं गया था। उसे चिन्ता होने लगी थी।

विठोबा : "पिछले दो महीने से मैंने कुछ नहीं कमाया।"

रुक्मणी : "हां, घर में बहुत थोड़ा पैसा बचा है और अनाज भी बस एक महीने और चलेगा।"

विठोबा : "डाक्टर ने मुझे परिवार नियोजन करवाने की सलाह दी है, ताकि हमारे और बच्चे न हों। एक और बच्चा मतलब एक और खाने वाला।

रुक्मणी : "और देखो तो अभी कृष्णा और शोभा कितनी तन्दरुस्त हैं। पढ़ाई में भी अच्छी हैं।"

विठोबा : "तो मै अगली बार डाक्टर से इसके बारे में पूछूंगा।"

डाक्टर की पहली फीस डाक्टर पर निर्भर करती है, पर वह रोज स्ट्रेप्टोमायसिन इन्जेक्शन लगाने की फीस अलग से लेगा। यदि वह अच्छा नाटकबाज और मनोवैज्ञानिक हुआ, तो एक ग्लूकोज की बोतल (इन्ट्रावीनस ड्रिप) भी चढ़ा देगा और जमकर पैसा वसूलेगा। परिवार तो पैसा खर्च करने को तैयार है ही।

कई बार मरीज के पास सारी दवाओं को खरीदने के लिए पैसा नहीं होता। प्रायः ऐसा होता है कि टानिक और दूसरी दवाइयां तो खरीद ली जाएंगी और टी. बी. की दवाई छोड़ दी जाएगी। (वीणा शत्रुघ्न ने एक सर्वेक्षण में पाया था कि कई डाक्टर नुस्खे में पहले टानिक और अनावश्यक दवाइयां लिखते हैं और अन्त में इलाज के लिए जरूरी दवाएं। ऐसा वे शायद दवा कंपनियों को खुश करने के लिए करते हैं।)

यह 'इलाज' कब तक चलेगा ? हमने एक सर्वेक्षण में देखा कि डाक्टर मरीज को यह बताते हैं कि इलाज दो सप्ताह से 3 तक चल सकता है। मरीज को मानसिक रूप से तैयार करने के लिए डाक्टर यह भी कह देता है कि यह आदमी भाग्यशाली है कि उसके पास आया। उसने 'रोग' को पकड़ लिया है हालांकि इसे अभी टी. बी. नहीं हुई है, परन्तु "टी. बी. होने का खतरा तो है' !

हो सकता है कि व्यक्ति प्रारंभिक इलाज के लिए पैसा जुटा ले परन्तु देर तक न खींच सके। डाक्टर के पास कुछेक बार जाने के बाद, और खासकर जब सेहत में सुधार दिखने लगे, तब व्यक्ति डाक्टर के पास जाना बन्द कर देता है। वह वापस काम पर लौट जाता है। इसी दौरान वह गांव के गुनिया से सलाह करता है कि टी. बी. के खतरे को दूर करने का क्या उपाय है। गुनिया उसे कुछ अनुष्ठान करने, बलि इत्यादि देने की सलाह देता है। यह सलाह अक्सर मान ली जाती है।

कुछ समय बाद, वह फिर दुबला होने लगता है और पहले से तेज खांसी शुरू हो जाती है। वह फिर डाक्टर के पास जाने की सोचता

13. कुछ महीनों के इलाज के बाद विठोबा फिर से काम पर जाने लगा । अब उसमें पहले से ज्यादा ताकत भी आ गई है । उसे खाना फिर अच्छा लगने लगा है । उसका वजन भी बढ़ गया है । रुक्मणी ध्यान रखती है कि विठोबा नियमपूर्वक गोली खाए । वह नहीं चाहती कि बीमारी फिर से आ जाए । वह चाहती है कि विठोबा, डाक्टर के कहे अनुसार, 18 महीने तक गोलियां खाए ।

14. 18 महीने बीत गए । विठोबा आखिरी बार जांच के लिए डाक्टर के पास गया ।

डाक्टर : "कैसे हो, विठोबा ? अब कैसा लग रहा है ?"

विठोबा : "बहुत अच्छा हूं डाक्टर साहब । आपकी मेहरबानी है ।"

डाक्टर : "सचमुच तुम तन्दरुस्त दिख रहे हो । मुझे बहुत खुशी है कि तुम ठीक हो गए । अब खांसी या बलगम तो नहीं है ?"

विठोबा : "बिल्कुल नहीं । और अब मैं बिना थके दिन भर काम कर लेता हूं । मैं बिल्कुल ठीक हो गया हूं ।"

15. विठोबा खुश है । बच्चे स्वस्थ हैं । उन्हें टी. बी. नहीं हुई । डाक्टर ने उन्हें अच्छी सलाह दी । विठोबा जानता है कि वह भला-चंगा है, तो इसीलिए कि उसने 18 महीने इलाज करवाया । टी. बी. का इलाज हो चुका था । अब फिर से भी नहीं होगी । पूरा परिवार स्वस्थ और सुखी है ।

है । डाक्टर ने टी. बी. का जिक्र किया था, इससे वह थोड़ा डरता भी है और दुविधा में पड़ जाता है । अब वह तीन में से एक रास्ता अपना सकता है : वह किसी दूसरे प्राइवेट डाक्टर या नीम हकीम के पास जा सकता है, वह सरकारी डाक्टर के पास जा सकता है, या उसी डाक्टर के पास फिर से जा सकता है । यदि वह नए डाक्टर के पास जाता है, तो वह कोरे कागज की तरह जाता है–वहां वह यह नहीं बताता कि उसने पहले किसी और डाक्टर को दिखाया था । अब नया डाक्टर पहले वाला इलाज ही फिर दोहराता है ।

यदि व्यक्ति को लगता है कि उसे सचमुच टी. बी. होने की संभावना है तो सरकारी डाक्टर के पास जाता है । कम से कम साफ उत्तर तो मिलेगा, चाहे उसे सरकारी इलाज पर भरोसा न हो ।

ये सरकारी डाक्टर भी अजीब किस्म का 'महामानव'' होता है । उसे यह अधिकार है कि जब मर्जी हो किसी का इलाज सरकारी खर्च से करे । वह अपने घर पर सरकारी खर्चे से प्राइवेट कारोबार भी करता है । मरीज उसके सामने डरते डरते जाते हैं । सरकारी इलाज का काम एक्सरे या खखार की जांच से शुरू होता है । अब डाक्टर के आदेश से टी. बी. का इलाज शुरू होता है । वह मरीज को बता सकता है कि उसे टी. बी. है या यह भी कह सकता है कि ''टी. बी. होने का खतरा है'' । यह इस बात पर निर्भर है कि वह मरीज के साथ कौन सी भूमिका निभाना चाहता है–सरकारी डाक्टर की या प्राइवेट डाक्टर की । कभी-कभी वह डबल रोल भी निभाता है–यानि वह मरीज को देखता तो घर पर है, लेकिन दवा प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र से देता है ।

इस फ्लैश कार्ड सेट (अक्लमंद बिठोबा : टी. बी. का इलाज संभव है) में निम्नलिखित पैगाम दिए गए हैं :

- टी. बी. इलाज हो सकता है
- टी. बी. की दवाएं 18 महीने तक लेनी होती हैं
- यदि टी. बी. मरीज सतर्क न रहे, तो बीमारी दूसरे लोगों को लग सकती है ।

परन्तु इन सन्देशों के अलावा इस फ्लैश कार्ड से कई और सन्देश भी व्यक्त होते हैं :

- लोग अज्ञात कारणों से बीमार होते हैं (यदि विठोबा को अपने भाई से टी. बी. मिली, हालांकि ऐसा कम ही होता है–तो एक साल बाद क्यों ? रुक्मणी या बच्चों को टी. बी. क्यों नहीं हुई ?)
- लोग तार्किक ढंग से नहीं सोचते (इस बात का कोई कारण नहीं दिया गया है कि क्यों विठोबा डाक्टर के पास जाने की बात को टालता रहा, और फिर क्यों उसने अपना विचार बदल दिया ।)
- डाक्टर गांव के लोगों के प्रति उदार होते हैं और मरीजों से बातचीत में काफी समय लगाते हैं ।
- डाक्टर ही बेहतर जानते हैं ।
- जो लोग डाक्टर के आदेशों का पालन करते हैं, वे पूरी तरह से अच्छे और स्वस्थ हो जाते हैं ।
- परिवार में पुरुष सबसे महत्त्वपूर्ण होता है और उसके बाद बच्चों का नम्बर आता है । पत्नी के स्वास्थ्य का मानो कोई महत्त्व नहीं । (विठोबा और डाक्टर बच्चों के प्रति चिन्तित हैं और उनकी जांच भी करवाते हैं । पर किसी को भी इस बात की चिन्ता नहीं होती कि रुक्मणी को भी टी. बी. हो सकती है ।)
- परिवार में पत्नी ही स्वास्थ्य समस्याओं की चिन्ता करती है (रुक्मणी ही विठोबा को डाक्टर के पास भेजती है और वही उसकी नियमित दवाई का भी ख्याल रखती है ।)
- औरतें ज्यादा अंधविश्वासी होती हैं (विठोबा को डर था कि उसे टी. बी. है पर रुक्मणी यही सोचती रही कि उनका भाग्य ही ऐसा है)

टी. बी. सम्बन्धी इस पैगाम में कई सारे पहलू छिपाए भी गये हैं, जैसे कि :

- गरीबी और टी. बी. का रिश्ता
- लोगों में टी. बी. का भय
- पहले देसी चिकित्सक के पास जाने की संभावना
- मरीज द्वारा टानिक या इन्जेक्शन की मांग और डाक्टर की प्रतिक्रिया
- परिवार की आर्थिक स्थिति पर बीमारी का प्रभाव
- 18 महीने तक लगातार इलाज करवाने की विभिन्न समस्याएं

स्वास्थ्य कार्यकर्ता द्वारा दिए गए विवरण (क्या टी. बी. का इलाज संभव है ?) की तुलना में विठोबा की कहानी तो दंत-कथा लगती है और हर दंत कथा के समान इस कहानी की भी एक नैतिक शिक्षा है । विठोबा को अकलमंद क्यों कहा गया ? क्योंकि उसने डाक्टर के आदेशों का शब्दशः पालन किया, 18 महीनों तक दवाइयां खाता रहा, बच्चों की सुरक्षा के लिए बरामदे में सोता रहा, मिट्टी के बर्तन में थूकता था और उसने परिवार नियोजन भी अपनाया ।

दूसरे शब्दों में, जो कोई यह सब न करे वह अकलमंद नहीं है यानि बेवकूफ है । यदि वह ठीक नहीं होता, तो यह उसकी अपनी गलती है । हम अच्छी तरह से जानते हैं कि गांवों और झोंपड़पट्टियों मे रहने वाले अधिकांश गरीब लोग (जिनके लिए यह स्वास्थ्य शिक्षा चलाई जाती है) इन सारे आदेशों का पालन नहीं कर पाएंगे । तो, स्वभाविक निष्कर्ष है कि वे बेअक्ल हैं और अपनी अस्वस्थता के लिए खुद ही दोषी हैं ।

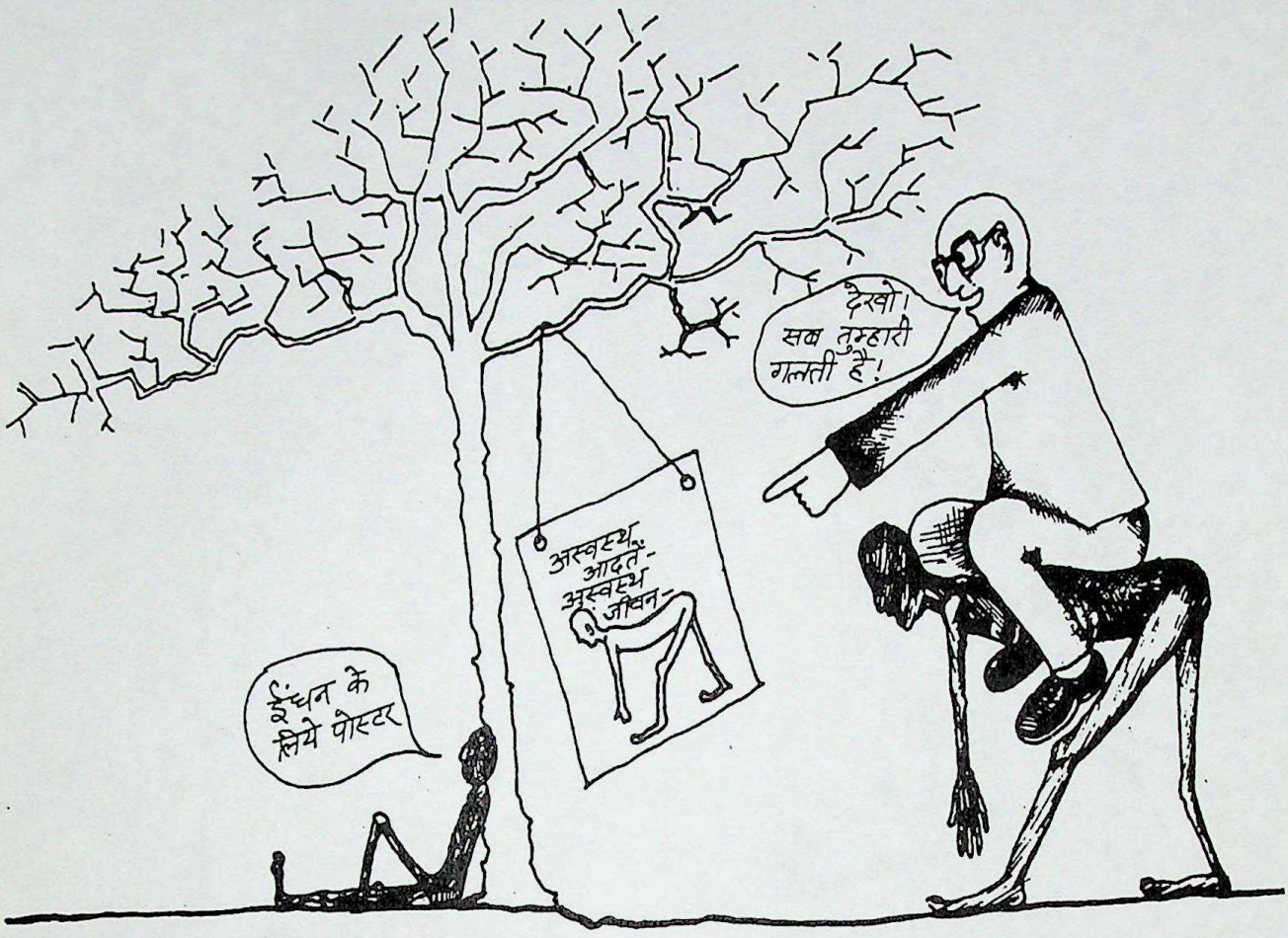

पीड़ित व्यक्ति को ही दोष देने की इस प्रवृत्ति को एक और मिथक से बल मिलता है : कि प्रत्येक व्यक्ति की बीमार पड़ने की संभावना बराबर है। अब यदि बाकी लोग स्वस्थ हैं और एक व्यक्ति बीमार पड़ता है, तो जरूर उसकी अपनी गलती होगी। मसलन, टी. बी. किसे होती है, इस प्रश्न के जवाब में एक स्वास्थ्य संदेश में कहा गया है कि,

> टी. बी. किसी को भी हो सकती है।
> अमीर-गरीब सबको टी. बी. हो सकती है।
> शिशु हो या वृद्ध, टी. बी. दोनों को हो सकती है।
> शहरी-ग्रामीण किसी को भी हो सकती है।
> आदमी, औरत, बच्चे सबको टी. बी. हो सकती है।''

इस तरह के संदेश के मुताबिक अस्वस्थता और गरीबी का रत्ती मात्र भी सम्बन्ध नहीं है।

पीड़ित व्यक्ति को दोष देना हर किस्म के स्वास्थ्य संदेश में देखा जा सकता है, वह संदेश पोषण से सम्बन्धित हो या पानी व स्वच्छता से, मां और बच्चे के स्वास्थ्य से, या परिवार नियोजन से। यहां स्वास्थ्य संदेश और जीवन के यथार्थ में इस कदर विरोधाभास है कि लोग स्वास्थ्य संदेश पर अमल न करें, तो कोई अचरज की बात नहीं है। *(देखें खण्ड I का अध्याय 5)* फिर भी स्वास्थ्य संदेशों को ज्यादा दिलचस्प और 'स्वीकार्य' बनाने के लिए नई-नई तकनीकों का उपयोग करने की कोशिश जारी रही है।

वास्तव में देखा जाये तो उपभोक्ता सामग्री का प्रचार करने वाले आकर्षक, आक्रामक विज्ञापनों और स्वास्थ्य संदेश में कोई फर्क नहीं रह गया है। ये निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा। *(यहां उपभोक्ता सामग्री में वे सब चीजें शामिल हैं, जिन्हें प्रायः सभी लोग खरीदते हैं। जैसे–साबुन, टुथपेस्ट, कपड़े, जूते, रेडियो आदि)*।

विज्ञापन और स्वास्थ्य शिक्षा की तुलना

विज्ञापन

1. विज्ञापनों के जरिये सपनों का कारोबार किया जाता है इनमें लोगों को बताया जाता है कि वे क्या सोचें और कैसे महसूस करें ।

2. "सम्पन्न देशों में विज्ञापन का उद्देश्य होता है लोगों को किसी वस्तु (जैसे सिगरेट) के एक ब्राण्ड से दूसरे की तरफ आकर्षित करना, जबकि विकासशील देश में विज्ञापन से मात्र ऐसी किसी चीज के प्रति चाह जगाई जाती है जो आज तक या तो अज्ञात थी या गैर जरूरी ।"

(रॉबर्ज)

3. "प्रचार का काम दो तरह से प्रभाव डाल सकता है । पहला तरीका है प्रचार की मात्रा और निरन्तरता : संदेश इतना अनवरत और इतना एक तरफा हो कि जो कुछ कहा जाए उससे आगे सोचने-समझने की गुंजाइश ही न रहे ।"

(मेडावर)

स्वास्थ्य शिक्षा

1. स्वास्थ्य शिक्षा स्वस्थ जीवन का सपना बेचती है । इसमें तन्दरुस्ती का झूठा वायदा होता है जो शायद ही कभी लोगों के जीवन में साकार हो पाये ।

2. "कई बार लोगों की स्वास्थ्य जरूरतें ऐसी होती हैं जिसे वे जानते तक नहीं । यह बात भारत के मामले में खासतौर पर सही है, जहां 70 प्रतिशत लोग निरक्षर हैं । स्वास्थ्य शिक्षक को पहले इन जरूरतों को समझना होगा और फिर उन्हें निपटाने की बात आएगी ।"

(पार्क व पार्क)

3. एक ही पाठ में नई बातें बहुत कम लोग सीख पाते हैं । थोड़े-थोड़े समय में दोहराते रहना उपयोगी होता है । इससे बात को समझने में मदद मिलती है । हर स्वास्थ्य अभियान में लगातार पुष्टिकरण की जरूरत होती है । इसे हम बूस्टर डोज़ भी कह सकते हैं !"

(पार्क व पार्क)

विज्ञापन

4. "दूसरा तरीका है कि विज्ञापित वस्तु के गुणों को उजागर करने के बजाय खरीदार की चाहत को अनावश्यक व कभी-कभी स्पष्टतः अनुचित ढंग से उभारना। खरीदार की प्रतिष्ठा, अहंकार, लालच या असुरक्षा के भाव को उपयोगँ करना आम बात है।"

(मेडावर)

5. "अन्त में ग्राहक पर दबाव इतना हो जाता है कि उसकी समझने की शक्ति कुन्द हो जाती है और वह बिक्री की चीज की वास्तविक प्रकृति और महत्त्व को समझने में असमर्थ हो जाता है।"

(मेडावर)

6. एक सफल विक्रेता वह है जो एस्किमो को फ्रिज खरीदने पर राजी कर ले।

स्वास्थ्य शिक्षा

4. "किसी स्त्री को यदि यह कहा जाए कि उसे अपना वजन घटाना चाहिए अन्यथा उसे दिल की बीमारी हो सकती है, या उसकी आयु घट सकती है, तो शायद असर नहीं पड़ेगा। परन्तु यदि उसे यह कहा जाए कि वजन घटने पर वह ज्यादा आकर्षक और सुन्दर दिखेगी तो शायद वह इस स्वास्थ्य संदेश को मान लेगी। स्वास्थ्य शिक्षा में हम भावनाओं का इस्तेमाल करते हैं।" *(पार्क व पार्क)* स्वास्थ्य शिक्षा में भय की भावना का भी प्रायः इस्तेमाल किया जाता है।

5. "स्वास्थ्य शिक्षा का तात्पर्य है कि व्यक्ति या समूह के रवैये और व्यवहार (आदतों) में इस तरह के परिवर्तन किए जाएं, जिससे जीवन ज्यादा स्वस्थ बन सके।"

(पार्क व पार्क)

6. एक सफल स्वास्थ्य-शिक्षक वह है जो लोगों को विश्वास दिला दे कि अपनी अस्वस्थता के लिए वे खुद जिम्मेदार हैं।

विज्ञापन व स्वास्थ्य शिक्षा दोनों का लक्ष्य यह होता है कि लोगों को ऐसी जानकारी दी जाए, जो उनके पास नहीं है। परन्तु एक और लक्ष्य यह भी है कि लोगों को एक विशेष तरह का कार्य करने को प्रेरित किया जाए (जैसे वे कोई विशेष चीज ही खरीदें या स्वास्थ्य शिक्षा की बातें अपनाएं)। इसके लिए कई मर्तबा अनुचित तरीके भी अपनाए जाते हैं।

जैसा कि हमने देखा, इन अनुचित तरीकों में अधूरी जानकारी देने से लेकर लोगों की भावनाओं से खिलवाड़ करने की सब कुछ शामिल है। नतीजा यह होता है कि लोग दी गई जानकारी की जांच करके एक विवेकसम्मत निष्कर्ष तक पहुंचने में असमर्थ रहते हैं। विज्ञापन के समान ही स्वास्थ्य-शिक्षा में भी लोगों से उम्मीद की जाती है कि वे बिना सोचे-समझे कुछ धारणाएं व आदतें अपना लें।

मूलतः स्वास्थ्य शिक्षा के जरिये लोगों में डाक्टरों और आधुनिक स्वास्थ्य प्रणाली के प्रति अन्धा विश्वास पैदा करने का प्रयास होता है। यदि पहले उनका विश्वास था कि बीमारी भाग्य का परिणाम है जो उनकी करनी का फल है, तो अब उन्हें यह विश्वास दिलाया जा रहा है कि बीमारी रोगाणु का परिणाम है और यह भी खुद की ही गलती से होती है। यदि पहले वे देसी चिकित्सक पर आंख मूंदकर भरोसा करते थे, तो अब उन्हें समझाया जा रहा है कि वे आंख मूंदकर डाक्टर के आदेशों का पालन करें।

इस तरह से देखने पर समझ में आता है कि स्वास्थ्य शिक्षा एक तरह का विज्ञापन ही है। विज्ञापन में भी लोगों को एक विशेष वस्तु खरीदने के लिए फुसलाया जाता है, चाहे बाजार में उससे ज्यादा उपयुक्त और ज्यादा किफायती वस्तु उपलब्ध हो।

विज्ञापन के जरिये लोगों को फुसलाने से तो उत्पादक का फायदा होता है। स्वास्थ्य-शिक्षा के बारे में यही बात कही जाए, तो शायद अतिश्योक्ति होगी। यह दलील दी जा सकती है कि भले ही स्वास्थ्य शिक्षा के माध्यम से लोगों में निश्चित धारणाओं व आदतों का बढ़ावा दिया जाता हो, परन्तु इसमे गलत क्या है ? आखिर इस स्वास्थ्य शिक्षा से लोगों का ही तो भला होगा। अतः लोगों की मदद करने के अलावा स्वास्थ्य शिक्षक का और क्या मकसद हो सकता है। किन्तु हम आगे चलकर यह दिखाएंगे कि यह बात पूरी तरह सही नहीं है। अन्य स्वास्थ्य गतिविधियों के समान स्वास्थ्य शिक्षा से भी अन्ततः समाज के शक्तिशाली तबके को ही लाभ मिलता है।

स्वास्थ्य शिक्षा के माध्यम से लोगों की आदतों को प्रभावित करने का मकसद क्या है और वास्तव में इससे किसका फायदा होता है ?

स्वास्थ्य के बारे में लोगों की आदतों या व्यवहार को प्रभावित करने का विचार यूरोप में अट्ठारहवीं व उन्नीसवीं सदी की जन स्वास्थ्य चेतना के दौरान पनपा। यह ऐसा समय था जब हैजे की महामारियां आए दिन की बात हो गयी थी। इनसे अमीर-गरीब दोनों समान रूप से प्रभावित होते थे। महामारी की वजह थी झोंपड़पट्टियों में भीड़भाड़ और गंदगी का वातावरण। भयानक शोषण की वजह से गरीब लोग इन झोंपड़पट्टियों में रहने को मजबूर थे। हैजे की महामारियों ने यह बात साबित कर दी थी कि झोंपड़पट्टियों को मात्र आंख की किरकिरी कहकर नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। बीमारी का कीटाणु सिद्धांत भी प्रचलित हो चला था। यह चिन्ता का एक और कारण था क्योंकि यह बात समझ में आने लगी थी कि रोगाणुओं के माध्यम से बीमारी और लोगों में भी फैल सकती है।

उसी माहौल में जन स्वास्थ्य की बात सोची गई। यह स्वास्थ्य कानूनों के रूप में सामने आई। इन कानूनों को लागू करने का काम पुलिस को सौंपा गया। लोगों के स्वास्थ्य की जावाबदेही सरकार पर डाली गई। अपनी जिम्मेदारी निभाने के लिए सरकार कानून बनाती थी और

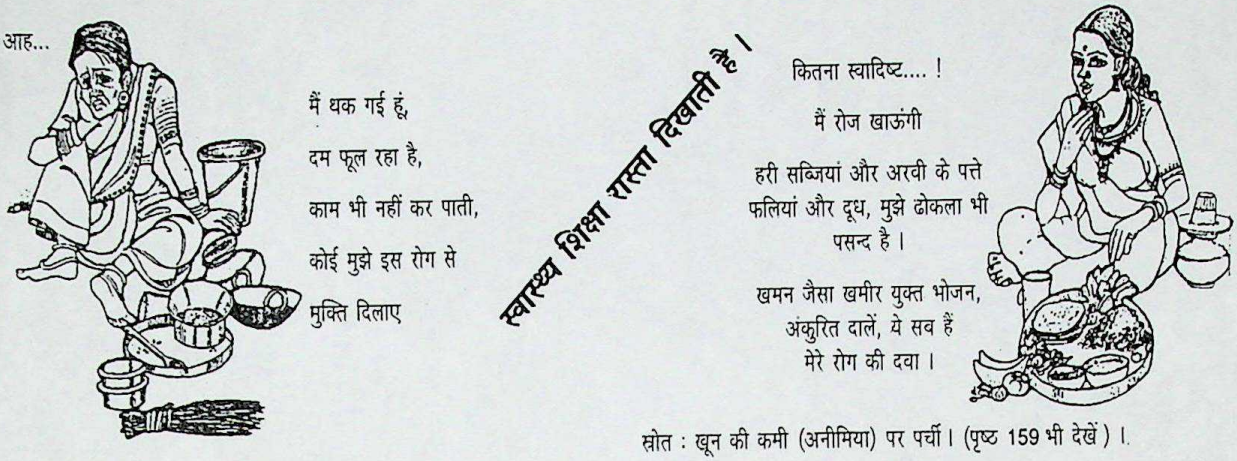

स्रोत : खून की कमी (अनीमिया) पर पर्ची। (पृष्ठ 159 भी देखें)।

उनको लागू करवाती थी। कानून तोड़ने वालों को सजा दी जाती, जो जुर्माने से जेल तक हो सकती थी। आगे चलकर स्वास्थ्य कानूनों को लागू करने का काम पुलिस के बजाय स्वास्थ्य अधिकारियों के हाथ में आ गया।

इन स्वास्थ्य कानूनों का वास्तविक मकसद समझने के लिए हमें अमरीका के जन स्वास्थ्य आंदोलन पर गौर करना होगा। यह लगभग यूरोप की ही शैली में हुआ। अमरीका में भी गरीब लोगों की काम व रहन-सहन की परिस्थितियां बहुत खराब थीं। "बहुतेरी बस्तियों में दर्जनों परिवारों के लिए एक ही शौचालय होता था। ऐसी बस्तियां टायफाइड, टी. बी., हैजा, डिप्थीरिया, और पीत ज्वर के फैलने के लिए अनुकूल वातावरण प्रदान करती थीं" *(एरेनराइख और इंग्लिश)*।

अस्वस्थता, थकान और घायल होना मजदूर वर्ग के जीवन के अभिन्न अंग थे। संक्रामक रोगों का पहला शिकार हमेशा गरीब लोग ही होते थे। समाज के धनाड्य तबके की हालत इसके ठीक विपरीत थी क्योंकि उनके आरामदेह घरों में सफाई के नवीनतम साधन उपलब्ध थे।

अमीरों की दिलचस्पी वास्तव में गरीब लोगों की सेहत में नहीं थी। वे तो यह मानते थे कि गरीब लोग अपने कुकर्मों के कारण ही अस्वस्थ रहते हैं। उस समय के डाक्टरों, जो कि सम्पन्न तबके के ही थे, के पास भी गरीबों के लिए वक्त नहीं था। वे तो अमीरों को देखने में ही व्यस्त रहते थे क्योंकि अमीर लोग ही उनकी सेवा का दाम चुका सकते थे।

अलबत्ता, अमीरों को इस बात की बहुत चिन्ता थी कि शहर की सेहत पर गरीबों का असर पड़ता है। कीटाणु सिद्धांत के कारण यह भय भी व्याप्त था कि गरीबों की बीमारियां अमीरों को भी लग सकती हैं। फिर कई गरीब औरतें सम्पन्न घरों मैं नौकरानियां थीं। इस कारण यह डर और भी बढ़ गया। अपने आपको बचाने के लिए, उन्होंने पुलिस को तैनात किया गया ताकि वे बीमारी फैलाने वाले संदिग्ध व्यक्तियों को ढूंढ निकाले। 'टायफाइड मैरी' के मामले पर गौर करने से यह बात साफ नजर आती है *(बाक्स देखें)*।

आदर्श मच्छर अध्यादेश

संयुक्त राज्य अमरीका जन स्वास्थ्य सेवा

धारा 1

" .... की सीमा में किसी भी व्यक्ति द्वारा बहते या ठहरे हुए जलाशय रखना, रख-रखाव करना, बनाना या बनाने की अनुमति देना, जिसमें मच्छर प्रजनन करते हों, या करने की संभावना हो, गैरकानूनी होगा, जब तक कि उक्त जलाशय का इस तरह से उपचार न किया गया हो कि मच्छरों का प्रजनन न हो पाए।

धारा 6

इस कानून में किसी परिसर की स्थिति के प्रति जिम्मेदार व्यक्ति से आशय ऐसे व्यक्ति से है जो उसका इस्तेमाल करता हो या वहां निवास करता हो ..... ।

धारा 8

इस अध्यादेश के उल्लंघन का दोषी पाया जाने वाला व्यक्ति दण्ड का भागी होगा, यह दण्ड कम से कम 1 डालर और अधिक से अधिक 25 डालर होगा।

स्रोत : रिपोर्ट ऑफ दी हैल्थ सर्वे एण्ड डेवलपमेंट कमेटी, (स्वास्थ्य सर्वेक्षण व विकास समिति की रिपोर्ट), खण्ड III, 1946.

(सन् 1946 में भोर समिति ने ये अध्यादेश एक उदाहरण के रूप में सरकार के सामने प्रस्तुत किया था ताकि इसके आधार पर भारतीय सरकार स्वास्थ्य कानून बना सके।)

कीटाणु सिद्धांत से जो भय फैला, उसकी परिणति यह हुई कि सार्वजनिक स्वास्थ्य सम्बन्धी कई उपाय किए गए। इनमें स्वच्छता, साफ पानी, बेहतर आवास इत्यादि शामिल थे। हालांकि इन उपायों से अमीर व गरीब दोनों लाभान्वित हुए, परन्तु अमीरों की दिलचस्पी की

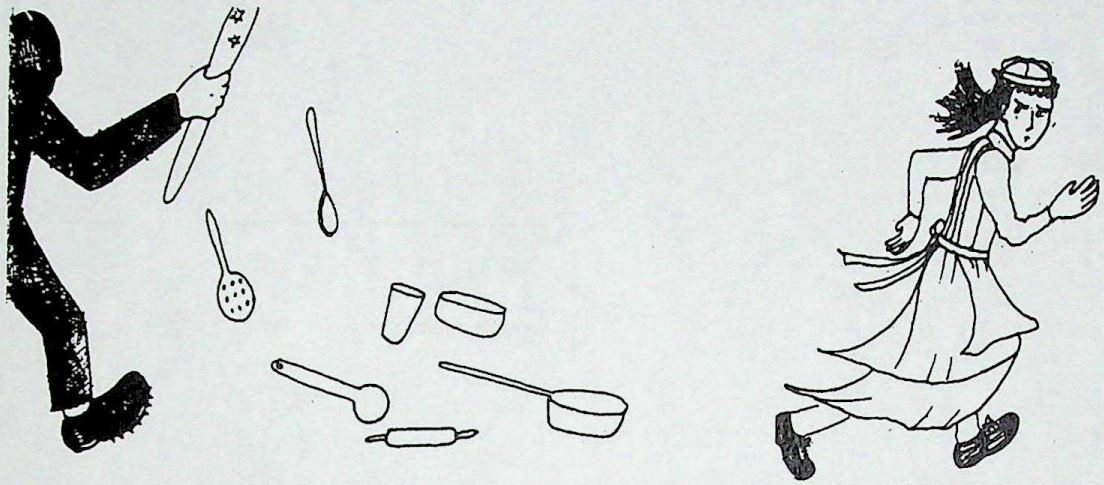

'टायफाइड मैरी' का किस्सा

मैरी मैलन एक आइरिश-अमरीकी आया थी। वह रेशमी जुराबों के शहर—ऑइस्टर बे, पार्क एवेन्यू, सेंडस प्वाइंट, डार्क हारबर, मैंन, में काम करती थी। उसका काम काज अच्छा था, उसके मालिक उसकीं रसोई पसन्द करते थे। वह पारिवारिक संकटों के समय काफी दृढ़ता का परिचय देती थी। वैसे भी ये बातें उसके रोजमर्रा के काम का हिस्सा थीं।

अन्ततः उसे जब सन् 1915 में हिरासत में लिया गया, तब तक वह अपने पीछे टायफाइड के 52 मरीजों की कतार छोड़ चुकी थी। इनमें से तीन मरीज जान से हाथ धो बैठे थे। ये सारे मामले उसके मालिकों के घरों में हुए थे। हर बार उसके मालिक टायफाइड के हमले के लिए किसी अन्य नौकर को दोषी ठहराते थे। परन्तु अन्ततः न्यूयार्क शहर के स्वास्थ्य महकमे ने सुश्री मैलन का भण्डाफोड़ कर ही दिया। प्रयोगशाला में किए गए परीक्षणों में उसका जुर्म साबित हो गया। वह टायफाइड कीटाणु की ऐसी वाहक थी, जिसे खुद बीमारी नहीं होती। उसे सबसे पहले सन् 1907 में गिरफ्तार करके एक द्वीप पर अलग-थलग रखा गया। तीन साल बाद उसे इस शर्त पर पैरोल पर रिहा किया गया कि वह खाना पकाने का काम नहीं करेगी। सन् 1913 में वह पैरोल लांघकर गायब हो गई। दो साल बाद वह क्वीन्स अस्पताल में फिर खाना बनाते देखी गई। उस अस्पताल में टायफाइड फूट पड़ा था।

सुश्री मैलन ने दावा किया कि उसे कभी टायफाइड बुखार नहीं हुआ था और वह टायफाइड कीटाणु की वाहक नहीं थी। उसका कहना था कि उसे प्रचार के भूखे अधिकारियों ने फंसाया है। स्वास्थ्य अधिकारी जब उसे पकड़ने आए, तो उसने पहले तो एक चाकू के सहारे प्रतिरोध किया और फिर पिछवाड़े की खिड़की से भाग गई। वह टंकियों की दीवार के पीछे छिप गई। उसे पकड़कर प्रयोगशाला ले जाया गया, जहां डा. जोसेफीन बेकर ने उसे किसी तरह काबू में किया। यह सन् 1907 की बात है। सन् 1915 की गिरफ्तारी भी लगभग इतनी ही संघर्ष पूर्ण रही। इस दौरान भी काफी पीछा करने के बाद ही उसे पकड़ा जा सका था।

(एरेनराइख और इंगलिश)

वजह एकदम साफ थी। घरेलू स्वच्छता विशेषज्ञ श्रीमती प्लन्केट के शब्दों में,

> "इस प्रबुद्ध स्वार्थ के कारण.... ऊपरी 10,000 लोग यह सीख रहे हैं कि उनकी खुशहाली एक करोड़ निम्न वर्ग के लोगों से अभिन्न रूप से जुड़ी है। गरीबों के हालातों मे 'भावनात्मक रूचि की लहर' के पीछे यही अहसास काम कर रहा है।"
>
> *(एरेनराइख और इंगलिश)*

इसीलिए पानी सफाई की सुविधाओं और झोंपड़पट्टियों को बेहतर बनाने के लिए ढेरों पैसा खर्च किया गया, परन्तु तभी जब अमीरों को यह समझ में आया कि गरीबों के हालातों का उनके खुद के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ सकता है। तो, असल बात तो अमीरों का स्वार्थ थी और सबसे ज्यादा फायदा भी उन्हीं को मिला। *(खण्ड II की अध्याय 2 देखें।)* बाद के वर्षों में भी मकसद यही रहे, बस तरीके बदल गए।

स्वास्थ्य की जिम्मेदारी सरकार पर

बीसवीं सदी की शुरूआत में, प्रजातंत्र जैसी धारणा के उभरने के कारण, नियंत्रण के सीधे तरीके तो व्यक्तिगत स्वतंत्रता के मूल्यों के खिलाफ जाते थे। इसलिए पुलिस-नियंत्रण के बदले सेवा का तरीका अपनाया गया। अब यह जिम्मेदारी सरकार पर डाली गई कि वह पानी व साफ-सफाई की बुनियादी सुविधा प्रदान करें और बीमारियों की रोकथाम के लिए टीका लगाने जैसे उपाय लागू करें।

इन उपायों पर किया जाने वाला खर्च लाभदायक ही माना जाता था क्योंकि अस्वस्थता के कारण उत्पादकता और अन्ततः राष्ट्रीय आय में कमी हो जाती थी।

इसलिए यह सरकार के हित में था कि बीमारियों की रोकथाम की सुविधाएं प्रदान करे और लोगों को प्रेरित करे कि वह इनका उपयोग करें।

आजादी के बाद भारत मे भी इसी प्रकार की नीति अपनाई गई। नई सरकार दिखाना चाहती थी कि वह लोगों की सेहत का ध्यान रखती है। इसलिए पूरे देश में मुफ्त सेवा प्रदान करने वाली स्वास्थ्य संस्थाएं बनाई गईं। भारत सरकार ने मलेरिया जैसे संक्रामक रोगों पर नियंत्रण का बीड़ा भी उठाया, ताकि कृषि का विस्तार किया जा सके।

इसके अलावा टीका लगाने जैसी सुविधाएं भी मुफ्त उपलब्ध करायी गई। हम पहले ही देख चुके हैं कि सरकार ने उन्हीं बीमारियों को प्राथमिकता दी जो आर्थिक हितों से जुड़ी हुई थी (जैसे हैजा, चेचक मलेरिया, वगैरह)। सरकार ने उन तबको की सेहत पर ज्यादा ध्यान दिया जो राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे। तो, भारत में भी यह सरकार के ही हित में था कि वह सुविधाएं प्रदान करे और लोगों को उनके उपयोग के लिए प्रेरित भी करे *(खण्ड II देखें)*।

स्वास्थ्य की जिम्मेदारी व्यक्ति पर

यूरोप और अमरीका में सार्वजनिक स्वास्थ्य उपायों और बेहतर जीवन स्तर के फलस्वरूप संक्रामक रोगों से होने वाली मौतों में तेजी से कमी आई। परन्तु कैन्सर और दिल की बीमारियों जैसे रोग नई समस्याओं के रूप मे उभरे। ज्यादा खाना, मानसिक तनाव, धूम्रपान और व्यायाम का अभाव, आदि इन बीमारियों के मुख्य कारण थे। यहीं आकर स्वास्थ्य राज्य के बदले व्यक्ति की जिम्मेदारी बनने लगा।

सरकार ने लोगों को ज्यादा खाने, धूम्रपान आदि के खतरों से आगाह करने के लिए शिक्षा पर काफी धन खर्च किया। लोगों को यह अपराध-बोध कराया गया कि वे अपनी बुरी आदतों के कारण राष्ट्रीय स्वास्थ्य सुविधा पर एक बोझ बन रहे हैं। *(देखें बाक्स)*। ऐसी

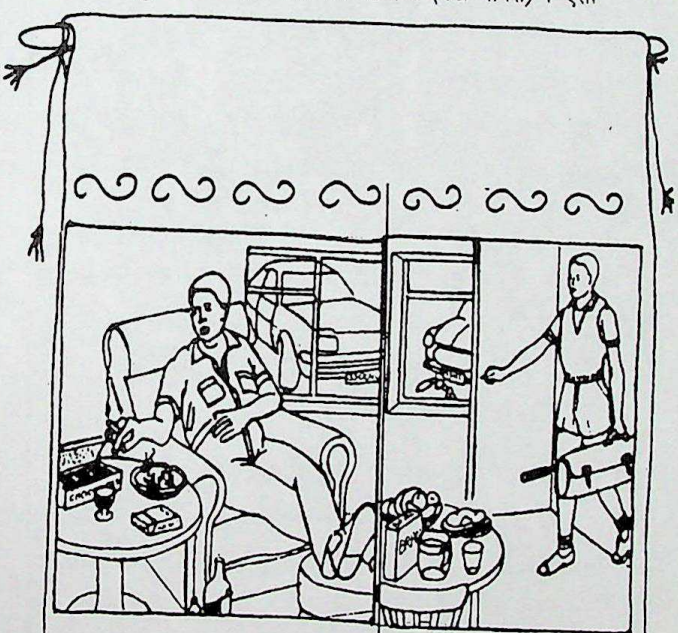

मैं इंग्लैंड की राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा पर एक बोझ हूं। मेरी असमय मृत्यु के बाद राज्य मेरे परिवार की देखभाल करेगा।

मैं देश की स्वास्थ्य सेवा पर ज्यादा दबाव नहीं डालता।

"इंग्लैंड की राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा चिकित्सा व इलाज की सुविधा दे सकती है, स्वास्थ्य की नहीं। स्वास्थ्य तो मानसिकता, निजी व सामुदायिक स्वच्छता की जीवनशैली, संतुलित आहार और इन सबसे प्राप्त शारीरिक सामंजस्य का मिला-जुला परिणाम है। यह बात औद्योगिक व विकासशील दोनों देशों के लिए सही है।"

स्रोत : 'सी हाऊ दे ग्रो'', मौर्ले और वुडलैण्ड् 1979.

स्वास्थ्य शिक्षा से यह दिखाया गया कि सरकार ने तो अपना काम कर दिया, अब जिम्मेदारी व्यक्ति की है।

परन्तु, वास्तव में सरकार का स्वार्थ कुछ और ही था। जैसे कि 20 सालों से यह पता है कि ब्रोन्काइटिस, फेफड़े के कैंसर व दिल की बीमारी का सम्बन्ध धूम्रपान से होता है। परन्तु पश्चिमी देशों की सरकारों ने सिगरेट की बिक्री या विज्ञापन पर कोई रोक नहीं लगाई।

एक अध्ययन से पता चला है कि सिगरेटों की बिक्री से ब्रिटिश सरकार को सालाना 400 करोड़ पाउंड की आमदनी होती है। *(एक पाउंड = करीब 50 रुपये)* जबकि धूम्रपान से होने वाली बीमारियों के उपचार पर हर साल मात्र 6.4 करोड पाउण्ड खर्च होता है जो कि सिगरेटों की बिक्री से होने वाली आय की तुलना में नगण्य है।

तो, जाहिर है कि सरकार वास्तव में धूम्रपान बन्द नहीं करवाना चाहती। फिर भी सरकार लोगों को इसके खतरों से आगाह करने में करीब 20 लाख पाउंड सालाना खर्च करती है। दूसरी तरफ सिगरेट निर्माताओं ने सन् 1966 में सिगरेट के विज्ञापनों पर 4 करोड़ 10 लाख पाउंड खर्च किये थे।

आय में कमी का डर इतना बड़ा है कि संयुक्त राज्य अमरीका जैसा बड़ा राष्ट्र भी अपने कर-दाताओं का पैसा तम्बाकू उद्योग में राहत देने के लिए खर्च करता है। यूरोपीय समुदाय तम्बाकू उत्पादन में लगभग 1500 मिलियन अमरीकी डालर *(1 डालर भारतीय मुद्रा में आजकल लगभग 38 रु. है)* उनके कृषि नीति के तहत राहत देता है।

भारत में स्वास्थ्य मंत्रालय के अनुसार तम्बाकू पर नियंत्रण करना है जोकि कृषि मंत्रालय की नीति के विपरीत है। कृषि मंत्रालय का उद्देश्य यह है कि तम्बाकू उत्पादन और बीड़ी, सिगरेट को बढ़ावा देना। बीड़ी व सिगरेट की बिक्री से प्राप्त कर से भारत सरकार को बहुत बड़ी आमदनी होती है। यह सरकार के लिए बड़ी बात है। इसके फलस्वरूप भारत सरकार इस बारे में गंभीरता से सोचती भी नहीं और ना ही बीड़ी-सिगरेट की बिक्री को बन्द करने के लिए जरूरी कदम उठाती है।

भारत में भी यह बदलाव आया कि 'स्वास्थ्य' अब सरकार की जिम्मेदारी न रह कर लोगों की व्यक्तिगत जिम्मेदारी बन गयी। परन्तु यहां इसके कारण बिल्कुल अलग रहे। स्वास्थ्य सुविधाएं मुहैया करवाना काफी महंगा साबित होने लगा। यह बात स्पष्ट होने लगी कि सरकार सबकी स्वास्थ्य जरूरतें पूरी नहीं कर पाएगी।

फलस्वरूप अब व्यक्तिगत जिम्मेदारी पर बल दिया जाने लगा। अब यह माना जाने लगा कि सिर्फ पैसा खर्च करके स्वास्थ्य समस्याओं को नहीं सुलझाया जा सकता। गरीब लोग अज्ञानी, अनपढ़ और पिछड़े हैं इसलिए वे न तो स्वास्थ्य सम्बन्धी सलाह मानते हैं और न ही दी जाने वाली स्वास्थ्य सुविधाओं का उपयोग करते हैं। अतः सुविधा प्रदान करने का रास्ता छोड़ कर शिक्षा का रास्ता अपनाया गया। यह माना गया कि बीमारियों की रोकथाम का सबसे अहम तरीका स्वास्थ्य शिक्षा है।

पहली नजर में लगता है कि लोगों को अच्छी बातें सिखाने में भी गलती ही क्या है। आखिर इससे स्वस्थ जीवन की शुरूआत ही होती है। यह भी उचित ही लगता है कि स्वास्थ्य शिक्षा गरीबों से मुखातिब हो। आखिर वे ही तो सबसे ज्यादा बीमार पड़ते हैं। ऊपरी तौर पर इस तथ्य की भी पुष्टि होती है कि गरीबों के रहने की जगहें ज्यादा गन्दी होती है।

गरीब लोग इसी तरह क्यों रहते हैं, यदि हम इस बात पर गौर करें तो हमें असली कारण समझ में आ जायेगी। सच यह है कि गरीब लोग अपनी गरीबी के कारण ही ऐसी बीमार जिन्दगी जीने को मजबूर हैं। यह गरीबी इस समाज में व्याप्त शोषण का ही परिणाम है। **बीमारी और शोषण के बीच के इसी रिश्ते को आज की स्वास्थ्य शिक्षा में छिपाया जाता है। सेहत के पैगामों को आंख मूंदकर मान लेने की बात में अस्वस्थता की जवाबदारी शोषकों पर से हटाकर खुद शोषित पर डाल दी जाती है।**

इस अध्याय में उठाए गए मुद्दों को ताजा उदाहरणों से समझा जा सकता है। एक उदाहरण है सूरत में सन् 1994 में फैला 'प्लेग' का आतंक और दूसरा उदाहरण एड्स महामारी का है।

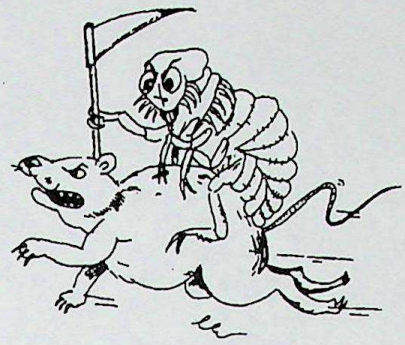

'प्लेग' महामारी का आतंक

सूरत गुजरात में औद्योगिक विकास की 'सनुहरी पट्टी' में स्थित एक शहर है। औद्योगीकरण के फलस्वरूप इस शहर की आबादी में तेजी से वृद्धि हुई। सन् 1971 में सूरत की आवादी 4.71 लाख थी। सन् 1981 तक आबादी में 87 प्रतिशत की वृद्धि हुई। सन् 1991 की जनगणना में शहर की आबादी 15.17 लाख दर्ज की गई जो सन् 1981 के मुकाबले 67 प्रतिशत ज्यादा थी।

जनसंख्या वृद्धि का कारण हीरा तराशने के उद्योग, पावरलूम, तथा रसायन, उर्वरक, पेट्रो-रसायन, तथा विद्युत उत्पादन करने वाली औद्योगिक इकाइयों में वृद्धि था। इन उद्योगों की वजह से रोजगार के अवसर बढ़े और इस वजह से बिहार, उड़ीसा आदि राज्यों से प्रवासी मजदूर यहां बड़ी तादाद में पहुंचे। इसकी वजह से शहर में विशाल झुग्गी बस्तियां बनीं जहां ये प्रवासी मजदूर रहते हैं। सूरत के सेंटर फॉर सोश्यल स्टडीज़ द्वारा किए गए एक अध्ययन के मुताबिक सन् 1961 में झुग्गी बस्तियों की संख्या 79 थी जो उन्नीस के दशक में बढ़कर 294 हो गई।

इन बस्तियों को वर्ष 2000 तक जरूरी नागरिक सुविधाएं प्रदान करने के लिए कम से कम 15,810 करोड़ रुपए की आवश्यकता होगी, ऐसा अनुमान लगाया गया है। परन्तु ये सुविधाएं मुहैया कराने के लिए उत्तरदायी नगर निगम के पास आवश्यक वित्तीय संसाधन नहीं हैं। हकीकत यह है कि नगर निगम बुनियादी सुविधाएं प्रदान करने हेतु अस्सी के दशक से ही कर्ज़ लेता चला आ रहा है।

जब सितम्बर 1994, में 'प्लेग' का आतंक मचा तो सूरत की शक्ल लगभग वैसी ही नजर आ रही थी जैसी सतरहवइ से अठारहवीं सदी में औद्योगिक क्रांति के वक्त इंग्लैण्ड के शहरों की रही होगी— भीड़भाड़, गंदगी, और पानी, निकास जैसी निहायत बुनियादी सुविधाओं का अभाव। सूरत की अधिकांश आबादी के जीवन और काम के हालात ऐसे थे कि इनमें टी. बी., हैजा, टायफॉइड, हिपेटाइटिस (यकृत शोथ), इन्फ्लुएन्जा, खसरा, मलेरिया, जैसे संक्रामक रोगों के फैलाव की अनुकूल परिस्थितियां मौजूद थीं। इस बात की भी संभावना है कि ये बीमारियां क्षेत्रीय रूप में सदा मौजूद रहती थीं और यदा-कदा महामारी के रूप में प्रकट होती रहती थीं। परन्तु सितम्बर 1994 में सूरत अंतर्राष्ट्रीय आकर्षण का केन्द्र इन बीमारियों की क्षेत्रीय मौजूदगी या महामारियों के कारण नहीं बना था।

सूरत पर दुनिया का ध्यान निमोनिक प्लेग के कारण गया। निमोनिक प्लेग एक ऐसी बीमारी है जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक ड्रॉपलेट संक्रमण के जरिये पहुंचती है। ड्रॉपलेट संक्रमण का अर्थ होता है कि छींक, खांसी, आदि के दौरान जो बारीक बूंदें मुंह से निकलती हैं उन पर सवार होकर बीमारी के कीटाणु दूसरे व्यक्ति तक पहुंचते हैं।

जैसे ही सूरत में 'प्लेग' की खबर फैली, बड़ी तादाद में लोग शहर छोड़कर भागने लगे। सूरत रेलवे स्टेशन पर ट्रेनों से सूरत छोड़ने की कोशिश करते लोगों को तितर-बितर करने के लिए पुलिस को लाठी चार्ज करना पड़ा। 'प्लेग' के विस्फोट की खबर मिलने के 72 घण्टों के अन्दर सरकार ने सूरत में महामारी नियंत्रण कानून लागू कर दिया। महामारी नियंत्रण कानून के तहत सरकार को इस बात के लिए व्यापक अधिकार मिल जाते हैं कि वह सम्बन्धित बीमारी से ग्रस्त होने की आशंका होने पर किसी भी व्यक्ति का मुआयना करे, उसे अलग-थलग करे, या गिरफ्तार कर ले। चूंकि सूरत से लोगों का पलायन जारी रहा इसलिए शहर को सील करने और फौज को सौंप देने जैसे कदमों पर भी विचार किया गया।

किसी भी व्यक्ति को 'प्लेग' के लक्षण होने पर जबरन अस्पताल में भर्ती किया गया और वहां से जाने की अनुमति नहीं दी गई। ऐसे जबरन भर्ती किए गए लोग मौका मिलने पर अस्पताल की जबरिया हिरासत से भागने लगे। रिपोर्टों के मुताबिक इस तरह अस्पताल से निकलने वाले व्यक्तियों की संख्या 105 थी। और व्यक्तियों को भागने से रोकने के लिए तथा 'फरार' व्यक्तियों की तलाश (फिर से पकड़ने) के लिए त्वरित कार्यवाही बल की दो टुकड़ियां सूरत में तैनात की गईं। त्वरित कार्यवाही बल के जवान अपनी स्टेनगनों के साथ अस्पताल पर पहरा देते थे ताकि कोई व्यक्ति भाग न सके।

1985

1995

मुझे लाल चाहिए !

लाल एवरेडी बैटरी के विज्ञापन को देखें तो विज्ञापन की ताकत समझ में आ जाती है। एवरेडी बैटरी यूनियन कार्बाइड की एक जानी मानी उपभोक्ता वस्तु थी। दिसम्बर 1984 में यूनियन कार्बाइड के भोपाल कारखाने से जानलेवा मिथाइल आइसोसायनेट व अन्य रसायन रिसे और कई हजार लोगों की जान ले ली। इन विषैली गैसों के असर से आज कोई 2 लाख लोग स्थारी रूप से बीमार हैं।

गैस रिसन के बाद, गैस पीड़ितों के संगठनों तथा भोपाल व भोपाल के बाहर उनके समर्थकों ने एवरेडी बैटरी के बहिष्कार की मुहिम चलाई। एवरेडी बैटरी को यूनियन कार्बाइड के एक प्रतीक के रूप में देखा गया। मुहिम के पोस्टरों में एवरेडी की बैटरी की बिल्ली के जबड़ों से टपकता खून दिखाया गया था।

नुकसान नियंत्रण कार्यवाही के रूप में यूनियन कार्बाइड ने अपनी बैटरी इकाई किसी दूसरी कंपनी को बेच दी। अब यह दूसरी कंपनी एवरेडी के ही नाम से बैटरियां बेच रही हैं। गोया भोपाल के लोगों के कष्ट व पीड़ा का मखौल बनाते हुए, रेड एवरेडी के विज्ञापन में 'रेड' (लाल) शब्द को खास महत्त्व दिया गया है। उनका नारा है 'मुझे लाल चाहिए'। लगता है भोपाल में लाल खून बहाकर उन्हें संतोष नहीं मिला है। गैस रिसन हादसे को दस साल बीत चुके हैं। नए विज्ञापन ने लोगों से पुरानी छबि को पोंछ डाला है।

सूरत से भागकर लोग विभिन्न शहरों में पहुंचने लगे। दिल्ली समेत कई शहरों में 'रेड अलर्ट' घोषित कर दिया गया। दिल्ली में भी महामारी नियंत्रण कानून लागू कर दिया गया। स्कूल व सिनेमा बन्द कर दिए गए तथा अन्य जगहों पर भी लोगों को इकट्ठा होने से निरुत्साहित किया गया। अलबत्ता लोगों को रामलीला देखने हेतु एकत्रित होने से रोकने की कोशिश नहीं की गई क्योंकि इसे 'धार्मिक मामला' माना गया।

आम लोगों का व्यवहार भी इससे भिन्न नहीं था। सूरत से भागे लोग जब अपने-अपने गृह नगरों या गांवों में पहुंचे तो उन्हें प्रवेश नहीं करने दिया गया। कई हाउसिंग सोसायटियों में सूरत से आए लोगों को 'प्लेग-मुक्त' होने का मेडिकल सर्टिफिकेट पेश किए बगैर अन्दर नहीं घुसने दिया गया। उन बसों पर पत्थर फेंके गए जिनमें सूरत के कामगार बैठे होते थे।

चिकित्सा समुदाय का व्यवहार भी इतना ही घटिया रहा। अन्य लोगों के साथ सूरत के कई डाक्टर व नर्सें भी शहर छोड़कर चले गए। स्थानीय लोगों ने कुछ प्राइवेट दवाखानों में आग लगा दी क्योंकि इन्होंने 'प्लेग' के लक्षण वाले मरीजों का इलाज करने से इन्कार कर दिया। उपचार के लिए सुझाई गई दवा, टेट्रासायक्लीन बाजार से गायब हो गई। यह मिलती भी तो बहुत मंहगे दामों पर। हर व्यक्ति को नकाब पहनने की सलाह दी गई थी। और एक नकाब की कीमत 3 रुपए से लेकर 35 रुपए तक थी।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कुछ देशों ने प्रतिक्रियास्वरूप भारत से उड़ने वाली उड़ानें रद्द/प्रतिबंधित कर दीं। अन्य देशों में भारत से आए यात्रियों की अनिवार्य डाक्टरी जांच की जाने लगी। सैलानियों को भारत न जाने की सलाह दी गई। भारत से निकलने वाले खाद्यान्न को रोक दिया गया और भारत के पान तक पर प्रतिबंध लगा दिया गया।

आज तक यह विवाद का विषय है कि उक्त हादसा निमोनिक प्लेग का था या नहीं। यदि यह हादसा निमोनिक प्लेग का था, तो भी ऐसी अफरा-तफरी और बदहवासी तथा उतने ही दमनपूर्ण उपाय अनावश्यक थे। टेट्रासायक्लीन रूपी चिकित्सा टेक्नोलॉजी उपलब्ध थी तथा रोकथाम के उपाय भी जाने माने हैं। फिर भी एक युद्धनुमा परिस्थिति का निर्माण कर दिया गया। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि आम तौर पर यह प्रचलित किया गया कि हरेक व्यक्ति को 'प्लेग' होने का बराबर खतरा है।

'प्लेग' शुरू होने के समय जो भी लोग सूरत में थे उन सबको प्लेग के बैक्टीरिया के वाहक के रूप में शंका की नजर से देखा जाने लगा। उनके साथ मुजरिमों जैसा सलूक किया गया। जिस तरह सन् 1915 में टायफॉइड मैरी का पीछा किया गया था, ठीक उसी तरह प्लेग की शंका वाले लोगों को त्वरित कार्यवाही बल ने खदेड़ा। चूहे निमोनिक प्लेग के फैलाव के लिए जिम्मेदार नहीं होते हैं मगर लगभग सारे बड़े शहरों में चूहों और उनके साथ पिस्सुओं को मारने का उन्माद देखा गया। उच्च वर्ग के डर के अहसास को एक प्रमुख अखबार ने इन लफ्ज़ों में अभिव्यक्ति दी :

> "सूरत जैसे समृद्ध शहरी केन्द्र में इतने वर्षों बाद प्लेग की वापसी से पता चलता है कि निजी धन-दौलत सार्वजनिक गन्दगी और बीमारी के खिलाफ कोई गारन्टी नहीं है।'
>
> *(टाइम्स ऑफ इण्डिया, 28.9.94)*

एक मर्तबा फिर आबादी के गरीब तबके की मौजूदगी से उच्च वर्ग के स्वार्थ को खतरे का अहसास हुआ। 'स्वास्थ्य शिक्षा' की इसमें कोई भूमिका नहीं थी।

एड्स महामारी पर प्रतिक्रिया

एड्स के बारे में मौजूदा जानकारी यह है कि यह यौन सम्पर्क, खून के लेन-देन और सुई, सिरिन्ज तथा अन्य ऐसे छेदक उपकरणों द्वारा फैलता है जिन्हें ठीक से जीवाणुमुक्त न किया गया हो। एड्स का वायरस संक्रमित गर्भवती स्त्री से गर्भ में पल रहे भ्रूण में भी पहुंच सकता है। फैलाव का प्रमुख कारण अलग-अलग देशों में अलग-अलग होता है।

पैटर्न 1 पश्चिमी यूरोप, उत्तरी अमरीका, दक्षिण अमरीका के कुछ इलाकों, ऑस्ट्रेलिया और न्यूझ़ीलैण्ड में पाया जाता है। यहां प्रमुख प्रभावित समूह समलैंगिक व उभयलैंगिक सम्बन्ध रखने वाले पुरुष तथा इन्ट्रावीनस नशीली दवाओं का सेवन करने वाले लोग हैं। खून का लेन-देन और खून के उत्पाद यहां वायरस प्रसार में प्रमुख भूमिका नहीं निभाते क्योंकि इन चीजों की जांच की जाती है और इन्हें एच. आइ. बी. से मुक्त करने के लिए उपचारित किया जाता है।

पैटर्न 2 अफ्रीका के कुछ इलाकों और कैरेबियाई द्वीपों में पाया जाता है। यहां वायरस प्रसार का प्रमुख मार्ग विपरीतलैंगिक (स्त्री से पुरुष, पुरुष से स्त्री) यौन हैं।

पैटर्न 3 में एशिया, अधिकांश प्रशांत क्षेत्र, मध्य पूर्व और पूर्वी यूरोपीय देश आते हैं। इन इलाकों में एच. आई. बी. संक्रमण अपेक्षाकृत हाल ही में पहुंचा है और यहां इसका प्रसार प्रमुख रूप से यौन सम्बन्धों और खून व खून से बने उत्पादों के माध्यम से होता है। भारत पैटर्न 3 में आता है।

शुरूआत में ना नुकर करने के बाद भारत सरकार ने पहला कदम उठाया कि राज्य सभा में 16 अगस्त 1989 को गुपचुप एक एड्स रोकथाम विधेयक प्रस्तुत किया। इस विधेयक के तहत् स्वास्थ्य अधिकारियों को उनके इलाके में रहने वाले या वहां बारम्बार आने-जाने वाले ऐसे व्यक्तियों के संदर्भ में व्यापक अधिकार प्रदान किए गए थे जो एच. आई. वी. संक्रमण को फैलाने वालों के सम्पर्क में आते हों।

मानव अधिकार कार्यकर्ताओं, खासकर एड्स भेदभाव विरोधी आंदोलन के कार्यकर्ताओं द्वारा व्यापक विरोध के परिणामस्वरूप दिसम्बर 1991, में यह विधेयक वापस ले लिया गया। अलबत्ता यह दिशा निर्देश तो अभी भी लागू है कि समस्त विदेशी विद्यार्थियों और एक वर्ष से ज्यादा भारत में रुकने के इच्छुक विदेशियों की एड्स बाबत जांच की जाए।

चूंकि जिन लोगों में सबसे पहले एड्स की शिनाख्त की गई थी वैसे ऐसे पुरुष थे जो अन्य पुरुषों से लैंगिक सम्बन्ध रखते थे (समलैंगिक थे) इसलिए समलैंगिक पुरुषों को प्रताड़ित किया जाने लगा। संयुक्त राज्य अमरीका में एड्स को 'गे-प्लेग' का नाम दिया गया और कहा गया कि यह (एड्स) विकृत जीवन में लिप्त समाज को ईश्वरीय दण्ड है। सुझाव तो यह भी दिया गया था कि एड्स ग्रस्त व्यक्तियों की ऊपरी भुजा पर यह बात गुदवा दी जाए ताकि उनके साथ इन्ट्रावीनज नशीली दवा का उपयोग करने वाले अन्य व्यक्तियों को बचाया जा सके, और एड्स ग्रस्त व्यक्ति की चूतड़ों पर भी यह बात गुदवा दी जाए ताकि अन्य समलैंगिक पुरुष इस वायरस से बच सकें।

भारत में वायरस प्रसार का प्रमुख माध्यम स्त्री-पुरुष यौन सम्बन्ध हैं। लिहाज़ा यहां एड्स सम्बन्धी स्वास्थ्य शिक्षा ने एक नैतिक प्रचार की शक्ल अख्तियार कर ली है। मसलन एड्स सम्बन्धी एक पुस्तिका में अविवाहित युवक-युवतियों को सलाह दी गई है कि एड्स से बचने हेतु उन्हें शादी होने तक यौन सम्बन्ध से दूर रहना चाहिए। शादीशुदा लोगों को पुस्तिका सलाह देती है कि, "एड्स वायरस से बचाव का एकमात्र तरीका यह है कि एक ही साथी के साथ यौन सम्बन्ध रखें और उसके प्रति वफादार रहें।"

स्त्री विरोधी रवैया भी खुलकर सामने आया है। भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद के भूतपूर्व महानिदेशक डॉ. ए. एस. पैन्टल कहते हैं,

> "वास्तव में गंदगी तो औरतों ने फैलाई है, क्योंकि सारा एड्स तो उनके शरीरों में ही डाला जा रहा है... यदि (भारतीय) औरतों ने दो साल पहले ऐहतियात बरती होती और विदेशी मर्दों के साथ हमबिस्तर होना बन्द कर दिया होता, तो हालात इतने खतरनाक न होते।"

एक और समूह जिसे निशाना बनाया गया है, वह है वेश्यावृत्ति में लगी महिलाओं (व्यापारिक यौन कर्मी) का। उन्हें 'वायरस का भण्डार गृह' माना जाता है जहां से तन्दुरुस्त पुरुषों को यह बीमारी लगती है। अस्सी के दशक के अन्तिम वर्षों में भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद ने अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान और दिल्ली पुलिस के साथ संयुक्त रूप से एक स्कीम शुरू की थी जिसके अन्तर्गत पेशेवर यौन कर्मियों की जबरन जांच करवाई जाती थी ताकि एड्स वायरस का पता लग सके। इस पूरी कार्यवाही में इस बात को छिपा लिया जाता है कि पुरुष से स्त्री को वायरस फैलना ज्यादा आसान है, बजाय स्त्री से पुरुष को। वास्तव में वेश्यावृत्ति में लगी महिलाएं कई पुरुषों से यौन सम्पर्क में आती हैं और इसलिए एड्स उनके लिए एक व्यवसायजनित खतरा है, जो जानलेवा है।

रक्त व रक्त उत्पादों के जरिए (शल्यक्रिया के दौरान खून देने आदि में) वायरस का प्रसार भी भारत में काफी आम बात है। सन् 1986 से 1993 के दरम्यान भारत में जिन 310 लोगों को एड्स ग्रस्त पाया गया, उनमें से 12 प्रतिशत ऐसे थे जिनका एड्स से सम्पर्क खून दिए जाने के समय हुआ था। इसकी तुलना में इन्ट्रावीनस नशीली दवाओं के इस्तेमाल के दौरान सुई की अदला-बदली के परिणामस्वरूप एड्स ग्रसित होने वाले लोग मात्र 6.5 प्रतिशत थे।

जो 12 प्रतिशत लोग खून दिए जाने की वजह से एड्स के सम्पर्क में आए, उनका एड्स ग्रस्त होना उनकी किसी गलती का नतीजा नहीं था। चूंकि इन लोगों को 'मुज़रिम' नहीं ठहराया जा सकता इसलिए चिकित्सा जगत ने सारा दोष रक्तदान करने वालों के मत्थे मढ़ना शुरू कर दिया। एड्स सम्बन्धी एक पुस्तिका में खून जरूरी होने की स्थिति में सलाह दी गई है कि "यदि आपको, आपके परिवार के किसी सदस्य को या मित्र को खून की जरूरत हो, तो बेहतर होगा कि किसी रिश्तेदार या दोस्त का खून लें। किसी पेशेवर रक्तदाता से खून खरीदने की तुलना में यह ज्यादा सुरक्षित है।"

*"अन्य बीमारियों की तरह एड्स भी एक ऐसी बीमारी है जो गरीबों पर प्रहार करती है। कुपोषण, घटिया सफाई व्यवस्था, हर किस्म के जीर्ण संक्रमण, अत्यधिक काम और तनाव, ये सभी शरीर की प्रतिरोध प्रणाली को कमजोर करते हैं। जिस व्यक्ति का प्रतिरोध तंत्र पहले से ही कमजोर हो, उस पर एड्स वायरस का आक्रमण ज्यादा आसान हो जाता है और ऐसे व्यक्ति में एड्स रोग के पूरे लक्षण प्रकट होने की आशंका भी ज्यादा रहती है तथा वह जल्दी ही मृत्यु का शिकार हो सकता है। एक मर्तबा लक्षण प्रकट होने के बाद जहां एड्स के किसी अफ्रीकी रोगी की मृत्यु दो सप्ताह के अन्दर हो जाती है वहीं पाश्चात्य देशों में ऐसा रोगी औसतन दो साल तक जीवित रहता है। अमरीका में भी अश्वेत एड्स मरीज औसतन मात्र 19 सप्ताह जीवित रह पाते हैं, जबकि श्वेत मरीज 2 से 3 वर्षों तक जीने की उम्मीद कर सकते हैं। **यानी एड्स एक नस्लीय व वर्ग विभाजित मुद्दा है।***

*दुनिया के गरीबों में औरतों की संख्या बहुत ज्यादा है। उन पर एड्स महामारी का भयानक प्रहार होगा। विपरीतलैंगिक (स्त्री-पुरुष) यौन सम्बन्धों के जरिए औरतों में एड्स संक्रमण की संभावना पुरुषों से ज्यादा होती है। वजह यह है कि योनि स्राव के मुकाबले वीर्य में एड्स वायरस की सान्द्रता कहीं ज्यादा होती है। इसके अलावा योनि की श्लेष्मा झिल्ली, लिंग की चमड़ी की तुलना में ज्यादा पारगम्य होती है; और अपनी शरीर रचना की वजह से औरतों के यौन अंग में रोग संक्रमण पुरुषों की तुलना में ज्यादा होते हैं तथा इस वजह से वे एड्स वायरस के प्रति ज्यादा कमजोर हो जाती हैं। **इन कारणों से समावना यह है कि एड्स मरीजों में सबसे बड़ा समूह औरतों का ही होगा।***

वास्तव में एड्स के इलाज व रोकथाम सम्बन्धी अनुसंधान में गरीबी या प्रदूषण की वजह से हमारी प्रतिरोध क्षमता की सति (के अध्ययन) को प्रमुख स्थान दिया जाना चाहिए। इस बात के प्रमाण बढ़ते जा रहे हैं कि पर्यावरण प्रदूषण और प्रोसेस्ड या अनप्रोसेस्ड भोजन के रूप में हम जिन विषैले रसायनों का भक्षण करते हैं उनका सम्बन्ध कई बीमारियों से है और ये बीमारियां बढ़ती जा रही हैं तथा इनकी वजह से हो सकता है कि हमारे प्रतिरोध तंत्र का क्षय हो रहा हो। हमें जन्तुओं और वनस्पतियों के साथ किए जा रहे जिनेटिक खिलवाड़-फेरबदल पर रोक लगानी चाहिए, क्योंकि इसकी वजह से ऐसा भोजन पैदा हो रहा है जिसमें अनिवार्य पोषक तत्त्व नदारद हैं। इनके उत्पादन में बड़ी मात्रा में विषैले इनपुट, हॉर्मोन/अण्डीबॉडीज़ और कीटनाशकों का इस्तेमाल होता है। इस तरह के जिनेटिक खिलवाड़-छेड़छाड़ का हमारी धरती के नाजुक पर्यावरण संतुलन पर और हमारी प्रतिरोध प्रणाली के नाजुक संतुलन पर हानिकारक प्रभाव हो रहा है। एड्स वायरस तो असामान्य व बेकाबू वायरसों की शृंखला की शायद पहली बानगी है।"

(रिफलेक्शन्स ऑन बिमेन एण्ड एड्स, आईसीस, जिनेवा, 1988)

इसी पुस्तिका में पाठक को यह सलाह भी दी गई है कि किसी पेशेवर द्वारा 'संक्रमित खून' दान के विकल्प के रूप में आप स्वयं रक्तदान करें। सच्चाई यह है कि चाहे रक्तदाता 'पेशेवर' हो या 'स्वैच्छिक', रक्तदान की क्रिया से एड्स वायरस नहीं फैलता। यानी इस पुस्तिका में संदेश यह किया जा रहा है कि पेशेवर रक्तदाता के एड्स वायरस ग्रस्त होने की आशंका-ज्यादा है और जाहिर है कि यह आशंका ज्यादा इसलिए नहीं है क्योंकि (पुस्तिका के अनुसार) वह व्यक्ति ऐसे अन्य क्रियाकलापों में भाग लेता है जिनसे एड्स का वायरस फैलता है।

इस संदेश में जिस बात पर पर्दा डाला गया है, वह है कि चाहे दोस्त या रिश्तेदार भी रक्तदान करें तो भी उसकी एड्स वायरस की उपस्थिति हेतु जांच करना जरूरी है *(बाक्स देखें)*। इसके अलावा एक बात और है कि पेशेवर रक्तदाता रक्तदान करके कोई अपराध नहीं करता। वह तो आर्थिक तकलीफों के चलते खून बेचता/बेचती है। यदि वायरस ग्रस्त खून किसी मरीज को दे दिया जाता है तो यह खून इकट्ठा करने वाले ब्लड बैंक या खून का उपयोग करने वाले अस्पताल की जिम्मेदारी है।

हर शहर ऐसे ब्लड बैंक गुप्त रूप से चलाए जाते हैं जिनके पास कोई लायसेन्स नहीं होता। ये ब्लड बैक बगैर किस जांच आदि की सावधानी बरते किसी से भी रक्त ले लेते हैं। यदि खून लेन-देन के जरिये होने वाले वायरस प्रसार का रोकना है तो इन दोषी ब्लड बैंक और अस्पतालों के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही करनी होगी।

नासिक (महाराष्ट्र) में किए गए एक अध्ययन से पता चला है कि कुल संग्रहित खून में से 50 प्रतिशत पेशेवर रक्तदाताओं से, 30 प्रतिशत रक्तदान शिविरों से और 20 प्रतिशत स्वैच्छिक दाताओं से प्राप्त होता है। कुल संग्रहित खून में से 70 प्रतिशत का इस्तेमाल 'एनीमिया मरीजों' के लिए, 20 प्रतिशत पूर्व नियोजित सर्जरी के लिए और 10 प्रतिशत आपात कालीन सर्जरी के लिए उपयोग हुआ।

स्वास्थ्य संदेशों में इस बात को नजर अंदाज कर दिया जाता है कि आखिर खून का उपयोग कौन करता हैं। यदि आधे से ज्यादा व्यक्तियों को खून एनीमिया की वजह से दिया जा रहा है, तो इसका

डॉमिनिक डीसूज़ा की मृत्यु 21 मई 1992 को हुई। वह 33 वर्ष का था। उसकी असमय मृत्यु ने उन सभी लोगों को मायूस कर दिया जो उसे जानते थे, प्यार करते थे। मगर उसकी मृत्यु ने किसी को आश्चर्यचकित नहीं किया। सन् 1989 में जब से उसे एच. आई. वी. ग्रस्त घोषित किया गया था, तब से ही डॉमिनिक, उसके दोस्त और परिवार मृत्यु के साये में जी रहे थे। एच. आई. वी. ग्रस्त घोषित किए जाने के बाद जो वर्ष बीते वे अविश्वसनीय रूप से विपरीत परिस्थिति में असाधारण साहस के साक्षी हैं। डॉमिनिक वह प्रथम भारतीय नागरिक था जिसने अपने एच. आई. वी. ग्रस्त होने के सम्बन्ध में सार्वजनिक और राजनैतिक दृढ़ता का प्रदर्शन किया। उसे 14.2.89 को अल्ल सुबह गोवा पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया। यह गिरफ्तारी गोवा सार्वजनिक स्वास्थ्य कानून, 1935 के तहत अनुचित ढंग से की गई। आरोप था कि डॉमिनिक ने अपने मित्र को रक्तदान किया। रक्तदान के समय पता चला कि डॉमिनिक एच. आई. वी. ग्रस्त था।

गोवा अधिकारियों ने डॉमिनिक को निहायत अमानवीय तथा अपमानजनक तरीके से अलग-थलग कैद में रखा। और 64 दिनों तक जानलेवा सरकारी मशीनरी उस व्यक्ति का जोश व आत्मसम्मान तोड़ने की कोशिश करती रही जो वैसे ही काफी पीड़ झेल रहा था और जिसके जीवन में गिनती के दिन बचे थे।

डॉमिनिक वर्ल्ड वाइल्ड लाइफ फन्ड के लिये 6 वर्षों से काम कर रहा था। उसे अब एक वर्ष बाद नौकरी से निकाल दिया गया, परन्तु इससे हौसला नहीं टूटा और उसने अपनी लड़ाई और न्याय के लिये अपने संघर्ष को जारी रखा। इसमें वह कभी-कभी अकेला भी पड़ गया। उसने 'पाज़िटिव पीपुल' (सकारात्मक लोग) नामक एक प्रोजेक्ट शुरू किया व चलाया। यह प्रोजेक्ट एच. आई. वी. ग्रस्त लोगों तक पहुंचकर उन्हें व उनके परिवार को देखभाल व सलाह मुहैया कराता है। (एड्स भेदभाव विरोधी आंदोलन, 1993)

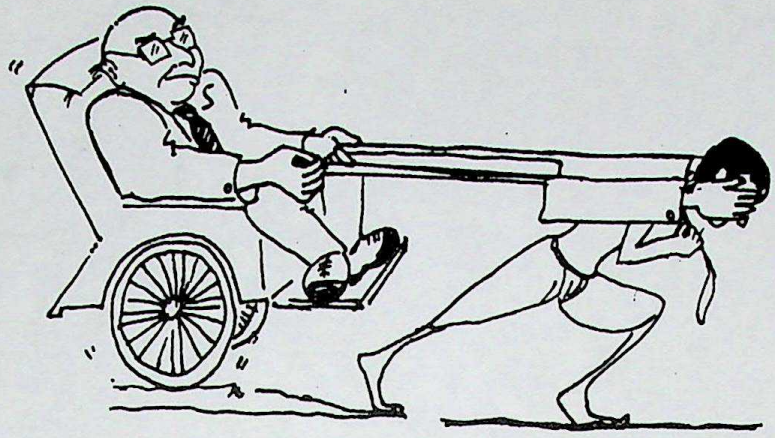

मतलब है कि ये गरीब लोग हैं, एनीमिया ग्रस्त लोग हैं। इन लोगों के मामले में इस बात की संभावना बहुत ज्यादा है कि सुरक्षा के मापदण्डों का पालन न किया जा रहा हो।

रक्तदान के अलावा एच. आइ. वी. वायरस उस समय भी फैल सकता है जब चिकित्सा, शल्यक्रिया या दंत चिकित्सा का इस्तेमाल किया जाए जिन्हें ठीक से जीवाणुमुक्त न किया गया हो। खासतौर से विशाल टीकाकरण या परिवार नियोजन शिविरों के दौरन वायरस प्रसार की संभावना ज्यादा होती है क्योंकि इन अवसरों पर जीवाणु मुक्त परिस्थिति की सामान्य सावधानियां भी नहीं बरती जातीं।

एड्स सम्बन्धी जिस पुस्तिका का ऊपर ज़िक्र किया गया उसमें यह तो बताया गया है कि चिकित्सा व शल्यक्रिया के औजारों से एड्स वायरस फैल सकता है। मगर यह कहीं नहीं बताया गया कि इस समस्या से कैसे निपटा जाए। ऐसी परिस्थिति में पीड़ित व्यक्ति को दोष देने का कोई अर्थ नहीं है क्योंकि जीवाणुमुक्त वातावरण सुनिश्चित करना स्वास्थ्य कर्मियों की जिम्मेदारी है और बेहतर होगा कि उन्हीं को शिक्षित किया जाए।

चिकित्सा प्रतिष्ठान की प्रतिक्रियाएं कई मर्तबा तो खुद उनकी स्वास्थ्य शिक्षा के संदेशों के विपरीत रही हैं। जब कभी भी उनकी देखरेख में कोई मरीज वायरस संक्रमित पाया गया, तो डाक्टर व अन्य स्वास्थ्यकर्मियों ने भय का इज़हार किया है। ऐसे मरीजों का इलाज करने से इन्कार किया गया। अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान जैसे प्रमुख अस्पतालों में भी यह देखा गया है। स्वास्थ्य शिक्षा के सारे संदेशों से ज्यादा शक्तिशाली संदेश डाक्टरों व स्वास्थ्य कर्मियों की ऐसी प्रतिक्रिया से प्रसारित होता है; संदेश यह उभरता है कि एड्स से बचाव का सबसे अच्छा तरीका यही है कि एड्स वायरस या एड्स ग्रस्त व्यक्ति से कोई सम्पर्क न रखें।

सार

ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है कि स्वास्थ्य शिक्षा के जरिये लोगों को ऐसी उपयोगी जानकारी दी जाती है, जो शायद उन्हें वैसे न मिलती। यह भी लगता है कि स्वास्थ्य शिक्षा उन लोगों के लिए चलाई जाती है जो ज्यादा बीमार पड़ते हैं (जैसे झोंपड़पट्टियों या देहाती इलाकों के निवासी)। और इसका एकमात्र उद्देश्य यही है कि लोगों को बीमारी से बचाया जाए। परन्तु, वास्तव में, स्वास्थ्य शिक्षा नियंत्रण का ही एक तरीका है। ठीक उसी तरह, जैसे पहले स्वास्थ्य, कानून थे।

हम देख ही चुके हैं कि स्वास्थ्य शिक्षा की उत्पत्ति स्वास्थ्य कानूनों में से हुई है, जिन्हें पुलिस लागू किया करती थी। ये स्वास्थ्य कानून सम्पन्न तबके के हितों की खातिर बनाए गए थे। सम्पन्न तबके को डर था कि गरीबों की बीमारियां कहीं उन तक न पहुंच जाएं। इन स्वास्थ्य कानूनों से समाज में व्याप्त शोषण पर से भी ध्यान हटाने में मदद मिली। इसी तरह से स्वास्थ्य शिक्षा भीं लोगों के व्यवहार पर नियंत्रण स्थापित करने और बीमारी के असली कारणों पर से ध्यान हटाने का नया तरीका है।

स्वास्थ्य शिक्षा नियंत्रण के प्रत्यक्ष तरीकों, जैसे बल प्रयोग या कैद आदि का इस्तेमाल नहीं किया जाता। इसलिए इसे लोगों पर नियंत्रण स्थापित करने का तरीका मानना मुश्किल होता है। जबकि देखा जाये तो, नियंत्रण स्थापित करने का यह तरीका कहीं ज्यादा कारगार होता है, क्योंकि लोग अनजाने में ही सके.शिकंजे में फंस जाते हैं।

लगातार दबाव बनाकर लोगों को खास किस्म के विचार व धारणाएं अपनाने पर विवश किया जाता है ताकि वे समाज की वर्तमान स्थिति को स्वीकार कर लें। यह अहसास भी बनाया जाता है कि इस स्थिति के लिए लोग खुद ही जिम्मेदार हैं। धीरे-धीरे लोग इन मिथ्या धारणाओं को आत्मसात् कर लेते हैं और मान लेते हैं कि अस्वस्थता उनके जीवन का अनिवार्य अंग है।

7 : परिवार नियोजन

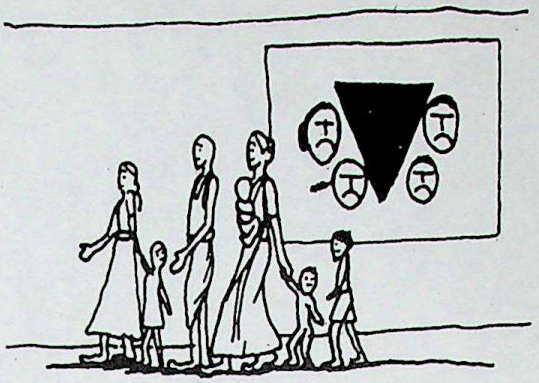

परिवार नियोजन कार्यक्रम शायद सबसे प्रसिद्ध सरकारी कार्यक्रम है, खासकर ग्रामीण क्षेत्रों में। देहाती इलाकों में स्वास्थ्य सुविधाएं गरीब लोगों की पहुंच से बाहर हैं परन्तु परिवार नियोजन कार्यक्रम ही एक मात्र ऐसा कार्यक्रम है जिसके लिए स्वास्थ्य कर्मचारी खुद लोगों तक पहुंचते हैं। यह एक ऐसा कार्यक्रम है जिसे पैसे या कर्मचारियों के अभाव का मुंह कभी नहीं देखना पड़ा है। वास्तव में इस कार्यक्रम में नतीजे हासिल करने पर बहुत बल दिया जाता है। जो कर्मचारी काम करते हैं उन्हें इनाम मिलता है और सफल नहीं होते उन्हें दण्डित किया जाता है।

इस सबके बावजूद परिवार नियोजन कार्यक्रम बहुत लोकप्रिय नहीं हुआ है। परन्तु सरकार येन-केन प्रकारेण जन्म दर को नियंत्रित करने पर तुली हुई है। इसके लिए समय-समय पर अलग-अलग रणनीतियां अपनाई जाती हैं। इन रणनीतियों में कार्यक्रम का नाम बदलने (अब यह परिवार कल्याण कार्यक्रम कहलाता है) से लेकर परिवार नियोजन करवाने वालों को नगद प्रोत्साहन राशि देना तक शामिल है।

राष्ट्रीय स्तर पर, ऐसा लग सकता है कि, सरकार जनसंख्या कम करना चाहती है ताकि सभी लोगों को बेहतर जीवन का अवसर मिल सके। वास्तव में परिवार नियोजन जैसे कार्यक्रम की जरूरत तभी पड़ती है जब सरकार की आर्थिक नीतियों के कारण ऐसा लगने लगता है कि आबादी बहुत बढ़ गई है। ऐसी स्थिति में सरकारी नीतियों से उत्पन्न समस्याओं की व्याख्या करने के लिए 'अति जनसंख्या' का बहाना बनाया जाता है। यदि हम इस बात पर गौर करें कि किन परिस्थितियों में 'अति जनसंख्या' को गरीबी का प्रमुख कारण बताया जाने लगा, तो बात साफ हो जाएगी।

व्यक्तिगत स्तर पर, यह कहा जाता है कि परिवार नियोजन से औरतों के स्वास्थ्य में सुधार आएगा क्योंकि यदि वे कम मर्तबा गर्भवती होंगी तो गर्भावस्था से जुड़ी अस्वस्थता व मौत से बची रहेंगी। यह बात सिद्धांत में सही हो सकती है, परन्तु व्यवहार में इतनी सही नहीं उतरती।

अतिजनसंख्या को गरीबी का कारण कब बताया जाता है ?

एक अंग्रेज थॉमस माल्थुस पहला व्यक्ति था जिसने कहा कि गरीबी का कारण बढ़ती हुई जनसंख्या है। सन् 1798 में उसने यह समझाने की कोशिश की कि क्यों उस जमाने में इंग्लैण्ड के शहरों में रहने वाले ढेरों लोग कुपोषण के शिकार व फटेहाल हैं और वे क्यों गरीबी की दयनीय हालत में जीते हैं।

माल्थुस के मुताबिक लोग गरीब थे, क्योंकि उनकी तादाद बहुत ज्यादा थी। खाद्यान्न की तुलना में आबादी ज्यादा तेजी से बढ़ रही थी। नतीजा यह हुआ कि कुल उपलब्ध भोजन की बनिस्पत पेट ज्यादा हो गए। इसलिए माल्थुस ने गरीबों को 'नैतिक संयम' बरतने की सलाह दी, ताकि आबादी की बाढ़ को रोका जा सके। यदि गरीब लोग इतनी तेजी से बच्चे पैदा करते रहे, तो उनकी मदद कौन कर सकता है ? यदि वे इतनी जल्द शादी न करें और 'नैतिक संयम' बरतें, तो वे खुद का भला ही करेंगे।

वास्तव में, उस वक्त इंग्लैंड में देहाती इलाकों से लोग काम की तलाश में शहरों में आ रहे थे। इसका कारण यह था कि सोलहवीं सदी से उन्नसवीं सदी की शुरूआत तक किसानों को उनकी भूमि से योजनाबद्ध तरीके से बेदखल किया गया।

सोलहवीं सदी में ऊन के दाम बढ़ने लगे। ऊन इंग्लैंड से निर्यात होने वाली प्रमुख चीज थी। जब दाम बढ़ने लगे, तो कई जमींदारों ने खेतीबाड़ी छोड़कर भेड़ें पालने का काम शुरू कर दिया। खेतों को चारागाहों में बदल दिया गया। जमींदार अपनी-अपनी जमीन के आसपास बागड़ लगाने लगे। परन्तु भेड़ पालने में इतने अधिक मजदूर नहीं लगते। इस प्रकार से ढेर सारे किसान अपनी जीविका के साधन जमीन से हाथ धो बैठे।

काश्तकारों को या तो बलपूर्वक जमीन से खदेड़ दिया गया, या लगान की दर इतनी बढ़ा दी गई कि काश्तकार के लिए खेती करना असंभव हो गया। इस प्रकार से देहाती इलाकों के लोग बड़ी संख्या में या तो

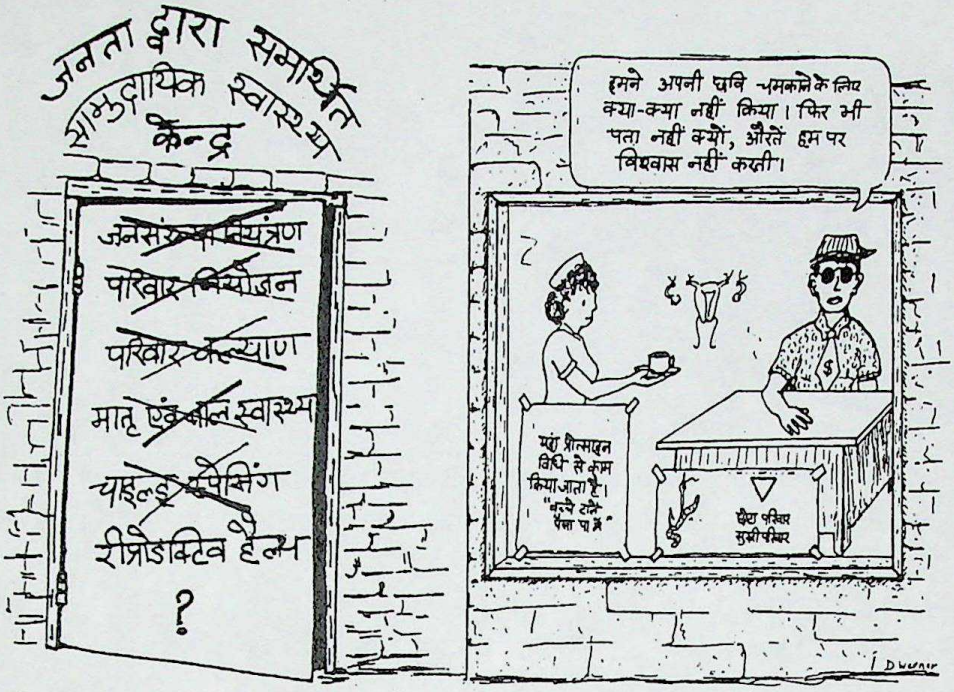

भूखों मरने लगे या भीख मांगने और चोरी करने पर मजबूर हो गए।

इस वक्त इंग्लैण्ड की सरकार ने, किसान विद्रोह के भय से, बागड़बन्दी पर रोक लगाने के लिए कानून बनाया। फलतः बागड़ों को तोड़ने व जला डालने की घटनाएं हो रही थीं। इन प्रयासों से सख्ती से निपटा गया। फलतः खानाबदोश भिखारियों के दल काफी खतरनाक हो चले थे। परन्तु जमींदारों ने कानून की परवाह न करते हुए बागड़बन्दी जारी रखी।

बहरहाल, अट्ठारहवीं शताब्दी में बागड़बन्दी को कानूनी मंजूरी दे दी गई। सरकार ने एक कानून पारित किया जिसके तहत मजदूरों को, कानूनी तौर पर बेदखल कर दिया गया। इसलिए अट्ठारहवीं सदी में और भी ज्यादा तादाद में लोग शहर पहुंचना शुरू हो गए। वैसे तो यह पलायन 16 वीं सदी से ही जारी था। इसके कारण शहर में मजदूरों की संख्या बहुत बढ़ गई। ये मजदूर कारखानों में भीषण शोषण की परिस्थिति में काम करने को मजबूर थे *(देखें, खण्ड II का अध्याय 2)*। कहां तो तंग और घनी झोंपड़पट्टियों में इन लोगों की फटेहाल जिन्दगी और कहां इसके ठीक विपरीत अमीर लोगों की विलासितापूर्ण जिन्दगी।

यह अन्तर इतना साफ था कि इसको अनदेखा नहीं किया जा सकता था। अमीरों को अपराध बोध से छुटकारा पाने का कोई बहाना चाहिए था। ऐसे में माल्थुस का यह सिद्धांत एक वरदान बनकर आया कि गरीब लोग ही खुद की गरीबी के लिए जिम्मेदार हैं। सम्पन्न वर्ग ने इसका खूब प्रचार किया। उस समय के अर्थशास्त्रियों ने भी इस सिद्धांत को अपनाया और कहा कि जब मजदूर बहुत ज्यादा हैं तो मजदूरी कम होगी। जब मजदूरों की संख्या कम होगी तो मजदूरी बढ़ेगी।

परन्तु हकीकत क्या थी ? गरीबी और 'बेशुमार गरीब लोगों' के एक जगह पर जमा होने का वास्तविक कारण क्या था ? बागड़बन्दी अभियान और कारखाना मालिकों द्वारा अपनाए गए शोषण पूर्ण तौर-तरीके।

औपनिवेशक शासन के अधीन 'अति जनसंख्या'

माल्थुस के बाद से अति जनसंख्या और गरीबी के बीच का यह सरल-सा समीकरण एक अच्छा बहाना बन गया। जो सरकार गरीबी के मूल कारण सामाजिक अन्याय और शोषण से सामना नहीं करना चाहती, वह माल्थुस को ढाल बना लेती है। बार-बार यह साबित किया जा चुका है कि लोगों के 'आधिक्य' का कारण उनका प्रजनन नहीं, बल्कि शक्तिशाली वर्ग की नीतियां होती हैं। जिस तरह से बागड़बन्दी अभियान के कारण शहरों में 'ढेरों लोग' नजर आने लगे थे, उसी प्रकार औपनिवेशक शासन के अधीन अफ्रीका, लातिनी अमरीका और एशिया में भी 'बहुत ज्यादा' लोग दिखने लगे।

भारत में भी ब्रिटिश शासन के तहत यही परिस्थिति उत्पन्न हुई। बेरोजगारी और गरीबी इस कदर बढ़ी कि 'लोगों के आधिक्य' का शक होने लगा। किसानों को मूंगफली, गन्ना, कपास, जूट, जैसी नगदी फसलें उगाने को प्रेरित किया गया। ये फसलें ब्रिटिश उद्योगों के लिए कच्चे माल के रूप में निर्यात कर दी जाती थीं। परिणामस्वरूप खाद्यान्न की पैदावार कम हो गई और किसानों को अपनी जरूरत का अनाज बाजार से खरीदना पड़ता था।

दूसरी बात यह हुई कि मशीन से बने ब्रिटिश माल, खासकर वस्त्रों के साथ कठोर प्रतिस्पर्धा के कारण भारत के कुटीर उद्योग नष्ट हो गए। हजारों कारीगर और बुनकर अपनी जीविका से हाथ धो बैठे और खेतिहर मजदूरी करने पर विवश हो गए।

तीसरा, ब्रिटिश शासकों ने लगान की एक ऐसी व्यवस्था लागू की जिससे देहाती इलाकों में गरीबी भीषण रूप से बढ़ गई। जमीन पर लगान की दर बहुत बढ़ा दी गई और जमींदारों को लगान वसूली का पूरा अधिकार दे दिया गया। इस कारण से, लगान चुकाने के लिए, किसान साहूकारों से कर्ज लेने को मजबूर हो गए। इस कर्ज पर ब्याज की दरें भी बहुत ऊंची होती थी। कर्ज न चुका पाने की दशा में किसानों से जमीन छिन जाती थीं। इस तरह से जमीन कुछेक हाथों में सिमटने लगी और किसान खेतिहर मजदूर बनते गए।

अब बड़ी संख्या में लोग न तो खुद अपनी जरूरत का अनाज पैदा कर पाते थे और न ही बाजार से खरीदने की ताकत रखते थे। नतीजन भारत में एक के बाद एक कई अकाल पड़े। सन् 1800 से 1850 के बीच सात बार अकाल पड़े, जिनमें करीब पच्चीस लाख लोगों के मरने का अनुमान लगाया गया है। सन् 1850 और सन् 1900 के बीच एक के बाद एक 24 अकाल पड़े जिनमें करीब 2 करोड़ लोग मौत के शिकार हुए। यह वही समय था जब ब्रिटिश शासकों ने भारत से अनाज का निर्यात काफी बढ़ा दिया था। हालांकि भारत में अकाल और व्यापक गरीबी के मूल में ब्रिटिश आर्थिक नीतियां थीं परन्तु ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों ने इसके लिए अति-जनसंख्या को दोषी ठहराया। मसलन वेरा एन्स्टी ने अपनी किताब "इण्डियाज़ इकनोमिक डेवलपमेंट" में लिखा, "कहां है भारत का माल्थुस ? जो भारत में बच्चों की बाढ़ के खिलाफ आवाज उठाए ?" यह विडम्बना ही है कि जब ब्रिटिश शासक भारत की गरीबी के लिए अतिजनसंख्या को दोष देने में मशगूल थे, तब ब्रिटेन की अपनी आबादी भारत की बनिस्पत ज्यादा तेजी से बढ़ रही थी। सन् 1870 से 1931 के बीच भारत की आबादी 30 प्रतिशत बढ़ी जबकि इसी दौरान ब्रिटेन की आबादी 77 प्रतिशत बढ़ गई।

अतः ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में गरीबी, बेरोजगारी और व्यापक अकालों के मूल में खेती का व्यवसायीकरण, कुटीर उद्योगों का सफाया, और अंग्रेजों की लगान व्यवस्था थी। ब्रिटेन में तो जो किसान खेती से बेदखल हुए, वे कारखानों में भर्ती कर लिए गए, परन्तु भारत में बेरोजगारों को खेती से ही गुजारा करना पड़ा। कारखाने तो अभी बनना शुरू ही हुए थे। अतः जमीन पर 'ढेर सारे लोगों' के दबाव की छवि बनी। यह छवि सन् 1947 में आजादी के बाद भी बरकरार रही।

वर्तमान भारत में 'अति जनसंख्या'

भारत सरकार की नीतियों के फलस्वरूप हमेशा लोगों का 'आधिक्य' दिखता रहा है। खण्ड I के अध्याय 8 ग में हमने देखा था कि खेती में आधुनिक टेक्नोलॉजी के प्रवेश के फलस्वरूप जमीन कुछेक लोगों के हाथों में सिमटने की प्रक्रिया तेज हुई है। यह बात विशेषकर पंजाब व तमिलनाडु जैसे इलाकों के बारे में ज्यादा सही है, क्योंकि वहीं सबसे पहले खेती में आधुनिक टेक्नोलॉजी का उपयोग शुरू हुआ था।

उदाहरण के लिए पंजाब में सन् 1955-56 से 1967-68 के बीच बड़े किसानों की जमीन में 9.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इनमें से भी, जिन बड़े किसानों की जोत 20-25 एकड़ थी, उनकी जमीन में 4 प्रतिशत वृद्धि हुई। दूसरी तरफ 100-150 एकड़ वाले किसानों की जमीन में 40 प्रतिशत की वृद्धि हुई। यह भी देखा गया कि यह वृद्धि जमीन खरीदने के परिणामस्वरूप हुई।

छोटे किसान बड़े जमींदारों के सामने टिक नहीं पाए। ये लोग भी अपनी जमीनें बेचकर खेतिहर मजदूरों की जमात में शामिल हो गए। सन् 1961-62 से 1971-72 तक के दरम्यान 10 वर्ष की अवधि में पुरुष खेतिहर मजदूरों की संख्या में 87.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि इसी दौरान ग्रामीण आबादी मात्र 21.11 प्रतिशत बढ़ी।

अब खेतिहर मजदूरों की इस बढ़ी हुई संख्या को खेती में तो रोजगार मिलना असंभव था क्योंकि जमींदारों ने मशीनों (ट्रेक्टर, हार्वेस्टर आदि) का इस्तेमाल शुरू कर दिया था। सन् 1970 में भारत में एक लाख ट्रेक्टर थे। सन् 1980 तक यह संख्या बढ़कर 4.73 लाख तक पहुंच गई। इस प्रकार से देश के कई हिस्सों में इन्सानों की जगह मशीनों ने ले ली। पंजाब व तमिलनाडु में यह सबसे ज्यादा हुआ।

खेती को श्रम-आधारित बनाकर अतिरिक्त कामगारों को रोजगार का अवसर देने की बजाय सरकार ने खेती के मशीनीकरण को प्रोत्साहन देना बेहतर समझा जबकि जापान ने प्रति हेक्टेयर 2 मजदूर लगा कर अपनी पैदावार को भारतीय प्रति हैक्टेयर पैदावार से 10 गुना कर लिया। इस मशीनीकरण के चलते लोग अपनी जमीन व जीविका से वंचित हुए।

सोचा यह गया था कि अतिरिक्त मजदूरों को उद्योगों में काम मिल जाएगा। वास्तव में, देहाती इलाकों के इन अतिरिक्त मजदूरों को जज़्ब करने के लिए तेज औद्योगिक वृद्धि की वकालत भी की गई थी। रोजगार प्रदान करने के लिए लघु व कुटीर उद्योगों के विकास पर भी बल दिया गया था। पर हकीकत में कुछ नहीं हुआ।

'अतिरिक्त' मजदूरों को काम पर लगाने में उद्योग नाकाम रहे। बड़े औद्योगिक एवं व्यापारिक घराने विशाल उद्योग लगाने के लायसेंस प्राप्त कर लेते हैं। सरकार से उन्हें धन व कच्चा माल भी मिल जाता है। कार्यकुशलता और उत्पादकता के बहाने इन उद्योगों में बड़े पैमाने पर मशीनें लगाई गई हैं। इसलिए उद्योगों में रोजगार के अवसर बहुत ही सीमित हैं। रोजगार कम तो है ही, पर इसके अलावा नई मशीनें लगने के कारण पहले से कार्यरत मजदूरों की भी छंटनी कर दी जाती है। औद्योगिक क्षेत्र के तेज विकास के बावजूद भी 'अतिरिक्त' मजदूरों को खपाया नहीं जा सका। यह बात देश में बेरोजगारी के आंकड़ों से स्पष्ट है। सन् 1956 से 1971 के बीच बेरोजगारी में 252.8 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि इसी अवधि में जनसंख्या वृद्धि मात्र 35 प्रतिशत हुई है। तो, बेरोजगारी में वृद्धि, जनसंख्या वृद्धि से 7 गुना ज्यादा रही *(देखें खण्ड I का अध्याय 7ख)*।

सरकार द्वारा अपनाई गई अन्य आर्थिक नीतियों (जैसे वन नीति, मछली पकड़ने के लिए मशीनी ट्रालर का उपयोग) के फलस्वरूप भी लोगों की जीविका के पारम्परिक साधन नष्ट हुए तथा वे और गरीब होते गए।

इस प्रकार से आजादी के बाद भारत सरकार द्वारा अपनाई गई नीतियां गरीबी दूर करने में नाकाम रही हैं। बल्कि विगत वर्षों में गरीबों की संख्या बढ़ी ही है। इसलिए सरकार अपनी असफलताओं पर पर्दा डालने के लिए 'अति जनसंख्या' के झूठ का सहारा लेती है। सरकार यह कहते नहीं थकती कि विकास तो हुआ है, पर विकास का लाभ उठाने वालों की संख्या बहुत ज्यादा बढ़ गई है; हमारी प्रगति धीमी हो रही है क्योंकि गरीब लोग लगातार बच्चे जनते चले जाते हैं और देश के सीमित संसाधनों पर बोझ बनते हैं; यदि जनसंख्या कम हो जाए, तो जो संसाधन बचेंगे उसे बांटकर सभी लोगों का जीवन स्तर बेहतर हो जाएगा।

सरकार जो कहती है, उसे एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि 100 बच्चों के लिए स्कूल का इन्तजाम करना है। हर बच्चे पर प्रतिमाह कम से कम 5 रुपये खर्च होते हैं तो सरकार को स्कूल पर 500 खर्च करने होंगे। पर यदि बच्चों की संख्या घटकर 50 रह जाए तो खर्च 250 रुपए रह जाएगा। इस प्रकार से सरकार के पास जो 250 रुपये बचेंगे उसका उपयोग स्कूलों को बेहतर बनाने या अन्य गतिविधियों में खर्च किया जा सकेगा। अतः जनसंख्या में कमी होने से सभी का जीवन स्तर बेहतर हो सकता है।

पहली नजर में यह गणित निहायत तार्किक लग सकता है। परन्तु इस गणित में दो मान्यताएं छुपी हुई हैं। पहली मान्यता यह है कि आज जीवन की बुनियादी सुविधाएं (भोजन, पानी, आवास, वस्त्र) और कल्याण सुविधाएं (जैसे स्कूल व स्वास्थ्य) देश में सबको मिल रही हैं। इसलिए जनसंख्या में कमी होने पर कुछ संसाधन की तो बचत होगी ही। दूसरी मान्यता यह है कि इस तरह से बचे संसाधनों का विवरण बाकी जनसंख्या में बराबरी से हो जाएगा या उसका इस्तेमाल किसी ऐसी गतिविधि में होगा जिससे सबका जीवन स्तर सुधरेगा।

हम इस किताब में कई बार चर्चा कर चुके हैं कि वर्तमान भारतीय संदर्भ में ये दोनों मान्यताएं खरी नहीं उतरतीं। बुनियादी सुविधाएं व कल्याण सेवाएं गरीब तक नहीं पहुंच पातीं। अधिकांश गरीब लोग देहाती इलाकों में रहते हैं और देहाती इलाकों तक ये सुविधाएं पहुंचती ही नहीं। देश के संसाधन का सबसे बड़ा हिस्सा तो शहरी सम्पन्न वर्ग हथिया लेता है। जो थोड़ी-बहुत सुविधाएं गांवों तक पहुंचती भी हैं वे

ग्रामीण सम्पन्न वर्ग के काम आती हैं *(देखें खण्ड I का अध्याय 8)*। तो, तथ्य यह है कि गरीब लोग पहले ही राष्ट्र के संसाधनों का इतना कम हिस्सा पा रहे हैं कि उनकी जनसंख्या कम होने से कोई खास बचत होने वाली नहीं है।

फिर भी थोड़ी देर के लिए हम यह मान लेते हैं कि जनसंख्या कम होने से थोड़े बहुत संसाधन तो बचेंगे ही। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि इससे सबका जीवन स्तर सुधरेगा। सवाल यह है कि क्या इस 'बचत' को सबक बीच बराबरी से बांटा जाएगा। भारत जैसे देश में जहां मुट्टी भर लोगों के हाथ में सम्पत्ति का एक बड़ा हिस्सा और निर्णय लेने की ताकत है, वहां यह साफ है कि 'बचत' का उपयोग सबके लिए नहीं किया जाएगा, गरीबों के लिए तो कतई नहीं।

अतः सरकार की यह दलील गलत है कि गरीब लोग, बढ़ती जनसंख्या के कारण, देश के संसाधनों का बड़ा हिस्सा चट कर जाते हैं। यह स्पष्ट है कि गरीबों की जनसंख्या कम होने से राष्ट्रीय बचत में कोई खास वृद्धि नहीं होने वाली। तब क्यों सरकार गरीबों पर परिवार नियोजन कार्यक्रम थोपती चली जाती है ? गरीबों की जनसंख्या को काबू में करने के काम पर 'बहुमूल्य' संसाधन खर्च करने से अच्छा तो यही होगा कि सरकार इस समस्या को अनदेखा कर दे। यह बात अजीब ही लगती है कि जो सरकार किसी और मामले में गरीबों के प्रति जवाबदेह महसूस नहीं करती, वही सरकार गरीबी हटाने में अपनी असफलता की वजह बताने को इतनी उतावली है।

इसका कारण मात्र इतना है कि भीषण गरीबी, भूख और बीमारियों के साये में जी रहे लोगों की तादाद इतनी ज्यादा है कि सरकार और सम्पन्न वर्गों के मन में भय पैदा करती है। इतिहास में ऐसे अनगिनत उदाहरण मौजूद हैं, जब भूख और मुफलिसी से तंग आकर लोग हिंसा पर उतारू हो गए (जैसा कि फ्रांस, इंग्लैंड, अमरीका, वगैरह में हुआ)। भारत के सबसे अमीर घराने के प्रसिद्ध उद्योगपति जे. आर डी. टाटा ने यही डर व्यक्त करते हुए कहा था कि "यदि जनसंख्या वृद्धि को न रोका गया, तो उथलपुथल हो जाएगी, यहां तक कि क्रांति भी हो सकती है।" पॉल एरलिश की पुस्तक 'पाप्यूलेशन बम' (जन संख्या का बम) के एक हिस्से पर टिप्पणी करते हुए महमूद ममदानी ने इसी डर को रेखांकित किया था। एरलिश ने अपनी किताब में 'जनसंख्या समस्या' का महत्त्व समझाया है। उन्होंने खुद इस समस्या का महत्त्व 'दिल्ली की एक सड़ी गर्म रात' में अचानक समझा है। वे लिखते हैं,

> "शहर की सड़कों पर (टैक्सी में) रेंगते हुए हम एक झोंपड़पट्टी के इलाके (स्लम) में पहुंचे। तापमान 100 डिग्री से ऊपर था। और हवा में धूल और धूएं के बादल छाए थे। गलियों में लोगों की चहल-पहल थी। खाना खाते हुए लोग, नहाते, सोते, लोग। आते-जाते लोग, झगड़ते लोग, चीखते लोग। टैक्सी में हाथ घुसेड़कर भीख मांगते लोग, टट्टी-पेशाब करते लोग। बसों पर लटकते लोग। ढोरों को हांकते लोग। लोग, लोग, लोग। हम भीड़ में से होते हुए धीमे-धीमे आगे बढ़े। टैक्सी का हार्न बजता रहा। धूल, शोरगुल, गर्मी, चूल्हों की आग, सब मिलकर नरक का नजारा था। हम वापस अपने होटल तक

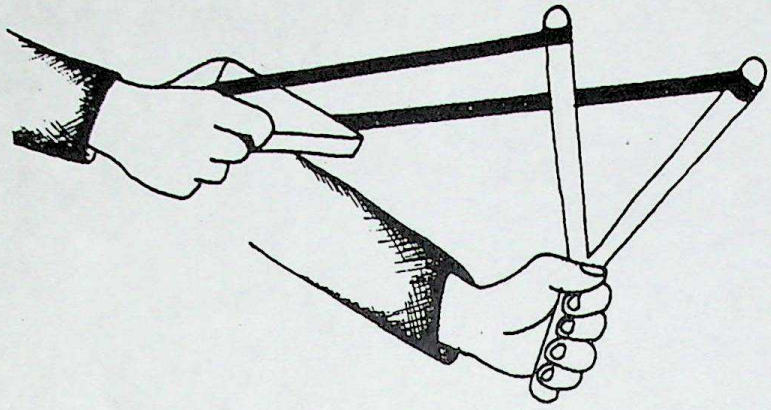

पहुंच भी पाएंगे ? हम तीनों डरे हुए थे... उस रात से मुझे अति जनसंख्या का मतलब समझ में आ गया।''

उपरोक्त बयान पर ममदानी की टिप्पणी :

''तथ्य यह है कि गर्मियों की रात में न्यूयार्क के ब्रॉडवे या लंदन के पिकेडिली सर्कस पर कहीं ज्यादा भीड़ होती है। परन्तु उस अनुभव से उनको (एरलिश को) 'अति जनसंख्या' पर चिन्ता जाहिर करने का जोश नहीं आएगा। शायद थोड़ी और संवेदनशीलता एवं थोड़े कम भय से देखें तो एरलिश समझ जाते कि उन्हें दिल्ली की भीड़ में जिस चीज ने बेचैन किया वह उस भीड़ की तादाद नहीं थी, बल्कि उस भीड़ की गरीबी थी।''

यही वह डर है, जो गरीब लोगों की बड़ी भीड़ देखकर अमीरों के मन में उठता है। इसी डर की वजह से सरकार हर हाल में जनसंख्या नियंत्रण पर ध्यान केन्द्रित करती है और गरीबी का दोष गरीबों पर मढ़ती है।

तो, कुल मिलाकर, दुनिया का पिछली तीन शताब्दियों का इतिहास दिखाता है कि लोग 'अतिरिक्त' नहीं होते। बल्कि, सरकारी नीतियां उन्हें 'अतिरिक्त' बना देती हैं। इन्हीं नीतियों की वजह से बेरोजगारी और गरीबी भी बढ़ती है। भारतीय लोगों की गरीबी भी सरकारी नीतियों का परिणाम है, न कि अति जनसंख्या का। इस संदर्भ में देखने पर समझ में आता है कि क्यों सरकार के लिए जनसंख्या नियंत्रण एक महत्त्वपूर्ण हथियार बन जाता है।

भारत सरकार अच्छी तरह से जानती है कि इस देश में गरीबी किस कदर है। परन्तु गरीबी के मूल कारणों पर ध्यान देने की बजाय, सरकार लोगों की आर्थिक मजबूरियों से फायदा उठाना चाहती है। परिवार नियोजन के लिए उन्हें आर्थिक प्रलोभन दिए जाते हैं। किन्तु इन प्रलोभनों के बावजूद सरकार के लक्ष्य पूरे नहीं होते। इससे स्पष्ट है कि गरीबी, सामाजिक उत्पीड़न और अस्वस्थता की बुनियादी समस्याओं को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

क्या परिवार नियोजन कार्यक्रम से भारत में औरतों की सेहत की स्थिति सुधारने में मदद मिलती है ?

स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं को शायद ऐसा लगे कि चाहे जनसंख्या नियंत्रण की नीति दमनपूर्ण हो, पर गर्भनिरोध के जरिए औरतों की सेहत पर तो अनुकूल असर पड़ेगा। यह भी कहा जाता है कि गर्भनिरोधक विधियों का इस्तेमाल करके औरतें सन्तानोत्पत्ति पर नियंत्रण कर सकती हैं। इससे इन्हें मां की भूमिका में बंधना नहीं पड़ेगा। सन् 1975 में अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष के सम्मेलन में घोषणा की गई थी कि ''यह हर महिला का अधिकार है कि अपनी मर्जी से और जिम्मेदारीपूर्वक बच्चों के बीच अन्तर रखने का तरीका चुन सके और इस अधिकार का उपयोग करने के लिए जरूरी जानकारी व सामग्री हासिल कर सके'' *(पार्क व पार्क)*। ये दोनों उद्देश्य तभी पूरे हो सकते हैं जब महिलाओं को गर्भनिरोध के तरीकों की पूरी-पूरी जानकारी मिले और उन्हें चुनने की स्वतंत्रता भी हो। परन्तु अधिकतर मामले में ये दोनों ही शर्तें पूरी नहीं होती।

क्या औरतों को सही जानकारी मिलती है ?

चुनाव करने के लिए जरूरी है कि महिलाओं को गर्भनिरोध के सारे तरीकों की कारगरता और सुरक्षा के बारे में पूरी जानकारी हो।

गर्भनिरोध के हर तरीके की कारगरता दो प्रकार की होती है : सैद्धांतिक कारगरता और अमली कारगरता। **सैद्धांतिक कारगरता** तब साकार होती है जब उस विधि को आदर्श तरीके से निर्देशों के मुताबिक लागू किया जाए। **अमली कारगरता** में हर किस्म के व्यक्तियों का ख्याल रखा जाता है। अर्थात् जो लोग इसका सही तरीके से इस्तेमाल करेंगे और जो लोग लापरवाही बरतेंगे।

उदाहरण के लिए, यदि 100 औरतें गर्भनिरोधक गोली का उपयोग आदर्श तरीके से निदेर्शों के मुताबिक करें, तो सैद्धांतिक कारगरता 99.66 होती है। दूसरे शब्दों में, इस विधि का उपयोग करने पर, 10,000 में से सिर्फ 34 औरतें ही गर्भवती हो सकती हैं। परन्तु यदि वास्तविक परिस्थितियों में अमली कारगरता की गणना की जाए तो

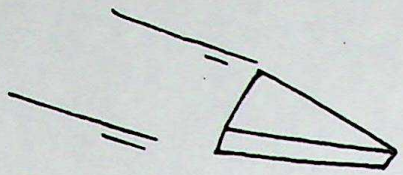

और चल दी अपने निशाने की ओर...

यह 90 से 96 की बीच होती है। अर्थात् इस गोली का उपयोग करने वाली 10,000 औरतों में से 40 से 100 औरतों के गर्भ ठहरने की संभावना बनी रहती है।

अर्थात् कारगरता का मतलब है कि यदि एक साल में 100 औरतें किसी एक विधि को उपयोग करें, तो कितने गर्भ ठहरने से बचाए जा सकते हैं। नीचे की तालिका में कुछ आम विधियों की सैद्धांतिक व अमली कारगरता दी गई है।

100 गैर-बांझ औरतों द्वारा इस्तेमाल किये जाने पर एक वर्ष में औसत गर्भ संख्या

विधि	सही व निरंतर उपयोग (सैद्धांतिक कारगरता)	औसत अनुभव (अमली कारगता)
महिला नसबंदी	0.04	0.04
पुरुष नसबंदी	0.15	0.15
गर्भनिरोधक गोली	0.34	4.10
निरोध + शुक्राणुनाशी पदार्थ	1.0 से कम	5
आइ. यू. डी (जैसे कापर टी)	1.3	5
निरोध	3	10
डायफ्राम (शुक्राणुनाशी सहित)	3	17

स्रोत : कॉन्ट्रसेप्टिव टेक्नोलॉजी, 1976-77.

अतः यदि किसी शुक्राणुनाशी पदार्थ के साथ निरोध का उपयोग किया जाए, तो यह आई. यू. डी. से ज्यादा कारगर होता है। इसी प्रकार से शुक्राणुनाशी के साथ निरोध, गर्भनिरोधक गोली और आई. यू. डी. की अमली कारगरता लगभग बराबर है। वास्तव में गोली की कारगरता और भी कम हो सकती है क्योंकि 50 से 60 प्रतिशत स्त्रियां इसे पहले साल के अंदर ही छोड़ देती हैं। परन्तु परिवार नियोजन के अभियान में इन विधियों की उपयोगिता और सुरक्षा के बारे में सही व पूरी जानकारी नहीं दी जाती।

अमरीका में डाक्टरों, नर्सों, मेडिकल छात्रों, और परिवार नियोजन कर्मचारियों से पूछा गया कि यदि कोई व्यक्ति उनसे निम्नलिखित सवाल पूछे कि, "गर्भ निरोधक गोली और आई. यू. डी., डायफ्राम, निरोध व शुक्राणुनाशी पदार्थ कितने कारगर हैं ?" तो वे क्या जवाब दिये ?

उपरोक्त व्यक्तियों ने गोली और आई. यू. डी की तो सैद्धांतिक कारगरता बताई किन्तु डायफ्राम, और शुक्राणुनाशी की अमली कारगरता। इस अध्ययन का निष्कर्ष था कि परिवार नियोजन कर्मचारी गोली व आई. यू. डी. के पक्ष में धारणा बना चुके हैं। निरोध, डायफ्राम और शुक्राणुनाशी ज्यादा सुरक्षित हैं। मगर इनको पर्याप्त बढ़ावा नहीं दिया जाता।

भारत सरकार औरतों के सामने मुख्यतः तीन विकल्प पेश करती है : आई. यू. डी., गोली और नसबन्दी। डायफ्राम अथवा प्राकृतिक जन्म नियंत्रण को समुचित प्रोत्साहन नहीं दिया जाता। जो तीन विधियां पेश की जाती हैं, उनके बारे में भी महिलाओं को सही जानकारी नहीं दी जाती।

मसलन, भारत में आई. यू. डी. सन् 1965 मे लाए गए। इस समय तक इनके प्रतिकूल प्रभावों के बारे में काफी सामग्री वैज्ञानिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी थी। फिर भी आई. यू. डी. को कारगर, सुरक्षित व काबिले बहाल (जिसका उपयोग बन्द करते ही गर्भ धारण करना पुनः संभव हो, बहाली के योग्य) बताकर इसका प्रचार किया जाता है। काबिले बहाल होने के कारण यह भी कहा जाता है कि यह बच्चों के बीच अन्तर रखने का अस्थायी उपाय है। यह कहा जाता है कि इस विधि का उपयोग करने से एक ही दिक्कत होती है, वो है, बच्चादानी में सुराख हो जाना।

कई और दिक्कतों का आमतौर पर जिक्र तक नहीं किया जाता। आई. यू. डी. का इस्तेमाल करने वाली औरतों में श्रोणि सूजन रोग (कुल्हे की सूजन) सामान्य औरतें से 50 प्रतिशत ज्यादा होता है। उन औरतों के लिए खतरा और भी ज्यादा होता है, जो यौन बीमारियों के संपर्क में आती हैं। सबसे अहम बात यह है कि श्रोणि सूजन रोग के कारण अण्डवाहिनी स्थायी रूप से बन्द हो सकती है और स्त्री बांझपन की शिकार हो सकती है।

चलती रही...

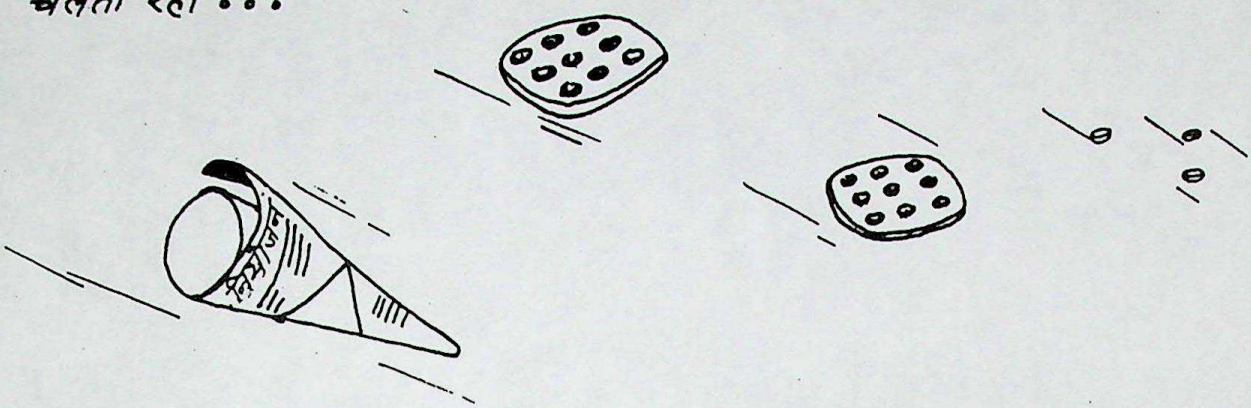

यदि आई. यू. डी. के रहते गर्भ हो जाए (जो कि 100 औरतों में से 5 औरतों में होता है), तो इन्फेशन तथा स्वतः गर्भपात का खतरा भी ज्यादा रहता है। आई. यू. डी. वाली स्त्रियों मे स्वतः गर्भपात-की दर सामान्य से तीन गुना ज्यादा होती है। आई. यू. डी. से एक और आम दिक्कत—रक्तस्राव की होती है। मासिक धर्म के समय सामान्य से 50 से 100 प्रतिशत तक ज्यादा खून बहता है। ज्यादा खून बहने के कारण लौह तत्त्व की कमी वाला एनीमिया हो सकता है। भारत में यह समस्या ज्यादा गंभीर रूप ले सकती है क्योंकि इस आयु समूह (15-44 वर्ष) की 50 प्रतिशत औरतें पहले ही अनीमिया ग्रस्त होती हैं। यह अजीब लगता है कि बांझपन और रक्त स्राव की समस्याओं के बावजूद आई. यू. डी. को अस्थायी व सुरक्षित गर्भ निरोध विधि के रूप में बढ़ावा दिया जाता है।

इसी तरह से गर्भनिरोधक गोली को भी सुरक्षित विधि कहकर बढ़ावा दिया जा रहा है। हाल में गोली को लेकर नीतिनिर्माताओं में जबरदस्त जोश पैदा हुआ है। इस जोश का नतीजा यह निकला है कि इस गर्भनिरोधक को एक नए तरीके से आगे बढ़ाने की योजना बनी है।

सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यकर्ता अब ग्रामीण औरतों को ये गोलियां सप्लाई करेंगे। इससे पहले कुछ थोड़ी-बहुत जांच वगैरह की जाएगी। कम-से-कम 26 ऐसी परिस्थितियां हैं, जिनमें इन गोलियों के उपयोग का प्रतिकूल असर हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि 26 ऐसी बीमारियां हैं, जिनके दौरान यह गोली लेने पर बीमारी और बढ़ सकती है।

गोली लेने वाली 40 प्रतिशत औरतों में एक-न-एक प्रतिकूल प्रभाव जरूर होता है। प्रतिकूल प्रभाव मितली से लेकर उच्च रक्तचाप तक कुछ भी हो सकता है। गोली के उपयोग से पित्ताशय की बीमारी, फेफड़ों मे खून के थक्के जमना, दिल का दौरा, जैसी जानलेवा बीमारियां हो सकती हैं। इसके अलावा, यदि गलती से गर्भ के प्रारंभिक महीनों में गोली ले ली गई, तो शिशु विकृत हो सकता है।

ग्रामीण इलाकों में न तो ठीक से निगरानी हो पाती है और न ही डाक्टरी देखरेख की सुविधा है। ऐसी स्थिति में गोलियों को सुरक्षित कहकर ढिंढोरा पीटना अजीब लगता है। इन गोलियों को बढ़ावा देने के तौर-तरीकों पर भी जरा गौर करें, जिनका उद्देश्य औरतों को जानकारी प्रदान करना है।

स्वास्थ्य-शिक्षा के अध्याय में हमने देखा था कि आजकल शिक्षा के कार्यक्रम विज्ञापनों जैसे लगते हैं। इस तरह के विज्ञापनों में लोगों की भय व असुरक्षा की भावना का इस्तेमाल किया जाता है और वस्तु के सम्बन्ध में वही जानकारी दी जाती है जो उत्पाद के अनुकूल हो।

गोलियों को बढ़ावा देने के अभियान में सबसे नई रणनीति 'सराबोर' कर देने की है। इसके लिए बिक्री की सामाजिक तकनीकों का उपयोग किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में अमरीका और भारत ने अगस्त 1983 में एक संयुक्त प्रोजेक्ट पर हस्ताक्षर किए हैं। इसके तहत अगले सात वर्षों में प्रचार व बिक्री के एक अभियान हेतु 10 करोड़ रुपए का प्रावधान रखा गया था। सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं के माध्यम से गोलियां बंटवाना इसी रणनीति का अंग है।

इस रणनीति की समस्याएं समझने के लिए हम बांग्लादेश में कुछ वर्ष पूर्व चलाए गए इसी तरह के कार्यक्रम पर गौर करेंगे। इस कार्यक्रम के तहत पान-बीड़ी की दुकानों से गोलियों का वितरण किया गया था। परिवार नियोजन कार्यकर्ता तो यह काम करते ही थे। इस कार्यक्रम के लिए अमरीकी सहायता संस्था यू. एस. एड. ने वित्तिय सहायता दी थी। यह कार्यक्रम औरतों और सहायता संस्था, दोनों के लिए मंहगा साबित हुआ। प्रजनन दर घटने के बजाय करीब 10 प्रतिशत बढ़ गई। (ऐसा कई बार हो जाता है कि महिलाएं एक-दो बार गोली लेना चूक जाती हैं)। दूसरा नतीजा यह हुआ कि गर्भ ठहर जाने के बाद भी कई औरतें गोलियां लेती रहीं क्योंकि गोली के कारण गर्भ के लक्षण दब जाते हैं। होता यह है कि इस गोली से कई बार गर्भ के समान लक्षण पैदा होते हैं। इसलिए महिलाएं यही समझती रहीं कि यह गोली का ही असर है। स्टीफन मिनिकिन ने अपने लेख "बांग्लादेश : दी पॉप कॉन गेम" में लिखा है कि यू. एस. एड. द्वारा प्रशिक्षित कार्यकर्ता भी कई बुनियादी सवालों के जवाब नहीं दे पाए।

आखिर निशाना हमेशा वही ...

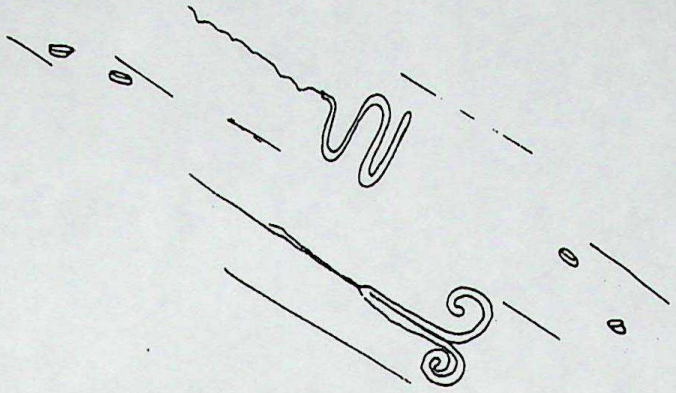

"सराबोर कार्यक्रम के 3 साल के अनुभव के बाद भी 44 प्रतिशत कार्यकर्ता यह नहीं बता सके कि मासिक स्राव शुरू होने के कितने दिन बाद यह गोली खाना शुरू करनी चाहिए। 82 प्रतिशत को यह नहीं मालूम था कि यदि कोई स्त्री 5 दिन तक लगातार गोली खाना चूक जाए, तो उसे क्या सलाह देनी चाहिये और 75 प्रतिशत यह नहीं बता सके कि इस गोली के प्रतिकूल प्रभाव क्या होंगे।"

इस कार्यक्रम को बगैर देखरेख और बगैर जानकारी दिए चलाने के पीछे यू. एस. एड्. की दलील यह थी कि एशियाई औरतों को अमरीकी औरतों की तरह दिल के दौरे या खून के थक्के (थ्रामबॉटिक एम्बोलिज़्म) की बीमारी नहीं होती। इसलिए एशियाई औरतों में गोली के कारण कम दिक्कतें पैदा होंगी।

भारतीय चिकिसा अनुसंधान परिषद की एक रिपोर्ट के मुताबिक यह दलील बेबुनियाद है। इसके अलावा यह बात भी काबिले गौर है कि गोलियों की खुराक की गणना अमरीकी औरतों के वजन के आधार पर की गई थी। यह तो आम जानकारी की बात है कि अमरीकी औरतों का वजन भारत की औसत औरत से कहीं ज्यादा होता है।

इस सराबोर कार्यक्रम की बिक्री की सामाजिक तकनीकों का इस्तेमाल करने के लिए, विज्ञापन अभियान का संचालन विशेषज्ञों द्वारा किया जा रहा है। महिलाओं को अधूरी व एकतरफा जानकारी देना इस कार्यक्रम की सफलता की एक अनिवार्य शर्त होगी।

क्या महिलाओं को चुनाव की आजादी है ?

हम पहले ही देख चुके हैं कि भारतीय परिवार में स्त्री द्वारा निर्णय लिये जाने के बहुत सीमित अधिकार होते हैं। अपने जीवन में अधिकांश स्त्रियां स्वयं को इतनी बेबस महसूस करती हैं कि वे प्रजनन सम्बन्धी निर्णय भी नहीं ले पातीं। न तो वे बच्चों की संख्या तय करने की स्थिति में होती हैं और न ही दो बच्चो के बीच का अन्तर। फिर, सामाजिक रीति-रिवाजों का तकाजा होता है कि औरत शादी के पहले साल में ही गर्भधारण करे। परिवार में औरतों की प्रतिष्ठा भी इस बात पर टिकी होती है कि वह कम-से-कम एक पुत्र को जन्म दे। इन सब कारणों की वजह से औरत को गर्भनिरोध की विधि चुनने की कोई आजादी नहीं होती। उसको थोड़ी-बहुत आजादी तभी मिल पाती है, जब परिवार का आकार सीमित करने का निर्णय ले लिया गया हो। जैसे आई. यू. डी. को दो बच्चों के बीच अन्तर रखने की अस्थायी विधि के रूप में प्रचारित किया गया था। परन्तु भारत में महिलाओं ने इनका उपयोग परिवार के आकार को सीमित करने के लिए किया। अपने प्रजनन पर कुछ हद तक नियंत्रण करने का एक मात्र तरीका, जिसे महिलाएं इस्तेमाल कर सकती हैं, वो गर्भपात करवाना होता है।

अनुमान है कि भारत में प्रतिवर्ष करीब 39 लाख महिलाएं गर्भपात करवाती है। ये गर्भपात दाइयों अथवा अनुभवी औरतों द्वारा घर पर ही गुपचुप किए जाते हैं। वैसे भारत में गर्भपात को कानून की मान्यता है। मगर औरतें सरकारी अस्पतालों से दूर, घर पर ही गर्भपात करवाना बेहतर समझती हैं। इसमें गोपनीयता बनी रहती है।

भारतीय स्त्रियों की इस दिक्कत से निपटने के लिए अब नीति निर्माता एक नए तरीके को बढ़ावा दे रहे हैं—गर्भनिरोधक इंजेक्शन जैसे डेपो प्रोवेरा, नेट-एन और एन्टी फर्टिलिटी वैक्सीन। इस विधि के पक्ष में दो तर्क दिए गए हैं। इंजेक्शन होने की वजह से इसका उपयोग पति व सास से छिपा कर किया जा सकेगा। इसलिए ज्यादा औरतें इसे अपना सकेंगी। यह भी कहा जाता है कि 'इंजैक्शन संस्कृति' की वजह से इस विधि को ज्यादा मान्यता मिलेगी। *('इंजेक्शन संस्कृति' दवा कंपनियों और डाक्टरों की देन है। एक धारणा बना दी गई है कि इंजेक्शन ज्यादा असरदार होते हैं।)*

मगर गर्भनिरोधक इंजैक्शन को बढ़ावा देने का वास्तविक कारण यह है कि भारत में आइ. यू. डी. और गोली दोनों को सीमित मान्यता ही मिली है। सन् 1965 से मार्च 1981 दौरान मात्र 87,56,000 स्त्रियां आइ. यू. डी. और 1,00,000 स्त्रियां गोली का उपयोग कर रही थीं। (इनमें से ज्यादातर शहरी मध्यम व उच्च वर्ग की महिलाएं

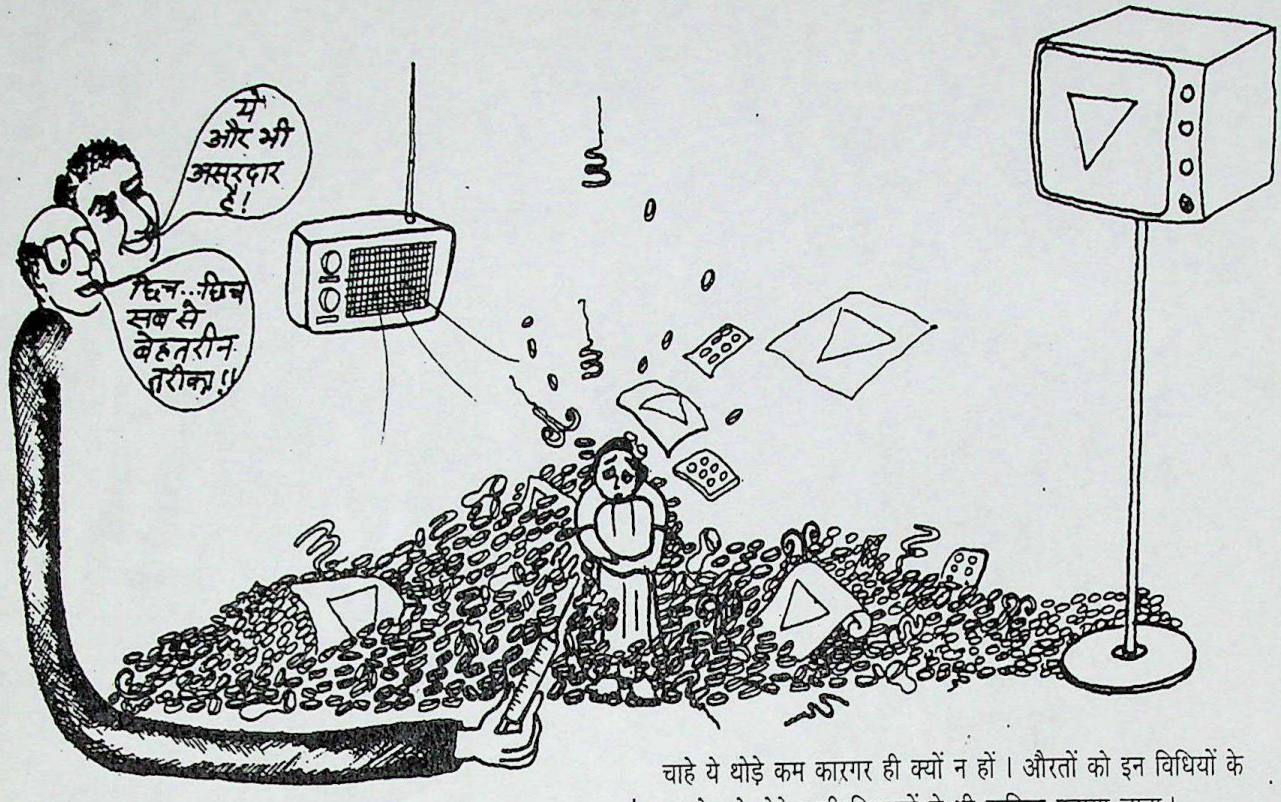

थीं।) तो, जनसंख्या नियन्त्रण कार्यक्रम के इतने प्रचार-प्रसार के बावजूद भी भारतीय स्त्रियां इन विधियों को अस्वीकार कर सकीं क्योंकि ये **विधियां बगैर बताए उन पर थोपी नहीं जा सकती।**

मगर इंजैक्शन का तरीका बगैर बताए ही औरतों पर लागू किया जा सकता है। जैसे, मान लीजिए कि कोई महिला किसी अन्य तकलीफ की वजह से स्वास्थ्य केन्द्र गई। अब इलाज के दौरान ही गर्भनिरोधक इंजेक्शन उसे लगाया जा सकता है। महिला को भान भी नहीं होगा कि वह पांच-छः महीने गर्भधारण नहीं कर सकती।

यह कोई अनहोनी सी बात नहीं है। अन्य देशों में ऐसा किया जा चुका है। गर्भनिरोधक इंजेक्शन ऐसी स्त्रियों को भी दिए गए हैं, जो मानसिक चिकित्सालय में भर्ती थी, या वे गरीब थीं, या अफ्रीकी मूल की थीं, या किसी शरणार्थी शिविर में रहती थीं।

यही सब कुछ भारत में भी दोहराया जा सकता है। जरा आपातकाल (सन् 1975-76) के समय की याद कीजिए। और आज भी औरतों को कितनी अधूरी व झूठी जानकारी दी जाती है। सरकार की नजर में तो हर तरीका जायज़ है। बस प्रजनन पर नियंत्रण होना चाहिए। इंजेक्शन तो औरतों की प्रजनन क्षमता पर पूरा नियन्त्रण स्थापित करने का हथियार बन सकता है।

सार

यह सच है कि सैद्धांतिक दृष्टि से गर्भनिरोध के जरिये औरतों की सेहत में सुधार लाया जा सकता है; परन्तु यदि वर्तमान नीतियां चलती रहीं तो ऐसा होना संभव नहीं है।

यदि सरकार को वाकई औरतों की सेहत की चिन्ता होती, तो डायफ्राम या शुक्राणुनाशी जैसे सुरक्षित उपायों को बढ़ावा दिया जाता। चाहे ये थोड़े कम कारगर ही क्यों न हों। औरतों को इन विधियों के उपयोग से होने वाली दिक्कतों से भी वाकिफ कराया जाता।

इसके अलावा, औरतों के लिए समुचित देखरेख एवं चिकित्सा सुविधा का भी इंतजाम किया जाता। पर हम जानते हैं कि ऐसा कुछ नहीं किया जाता है। सरकार तो बस यह चाहती है कि औरतें इस या उस विधि को अपनाने लग जाएं, चाहे उसके दुष्प्रभाव कुछ भी हों। इंजैक्शन को बढ़ावा देकर तो सरकार औरतों की बची-खुची स्वतंत्रता भी छीन लेना चाहती है। क्योंकि इंजैक्शन का तो पता तक नहीं चलेगा।

हाल ही में सरकार ने, परिवार नियोजन थोपने की नीयत से, महिला आंदोलन की भाषा का प्रयोग शुरू कर दिया है। जैसे, "गर्भनिरोध स्त्री का हक है"। इससे यह भ्रम होता है कि सरकार औरतों के अधिकारों के प्रति चिन्तित है। परन्तु वास्तविकता यह है कि सरकार हर कीमत पर जनसंख्या नियंत्रण करना चाहती है। परिवार नियोजन की विधियां अपनाने से औरतों का स्वास्थ्य सुधर सकता है बशर्ते औरतों की सामाजिक स्थिति में भी सुधार आये। यह बात ठीक वैसी ही है जैसे राष्ट्रीय स्तर पर परिवार नियोजन तभी सार्थक होगा जब सब लोगों की सामाजिक आर्थिक स्थिति में भी सुधार आए। मगर जब तक सरकार सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था के मूल मुद्दों, जो गरीबी को जन्म देते हैं, का सामना नहीं करती, तब तक अति जनसंख्या के भूत का इस्तेमाल गरीबों के खिलाफ होता रहेगा।

इसी 'भूत' की आड़ लेकर सरकार अपने उन प्रयासों को जायज ठहरायेगी जिनका सहारा लेकर औरतों की प्रजनन क्षमता पर नियंत्रण करना चाहती है। अतः यदि गरीबों के नजरिये से देखें, तो परिवार नियोजन कार्यक्रम की असफलता, सरकारी दमनपूर्ण नीतियों के खिलाफ लोगों के प्रतिरोध की सफलता है।

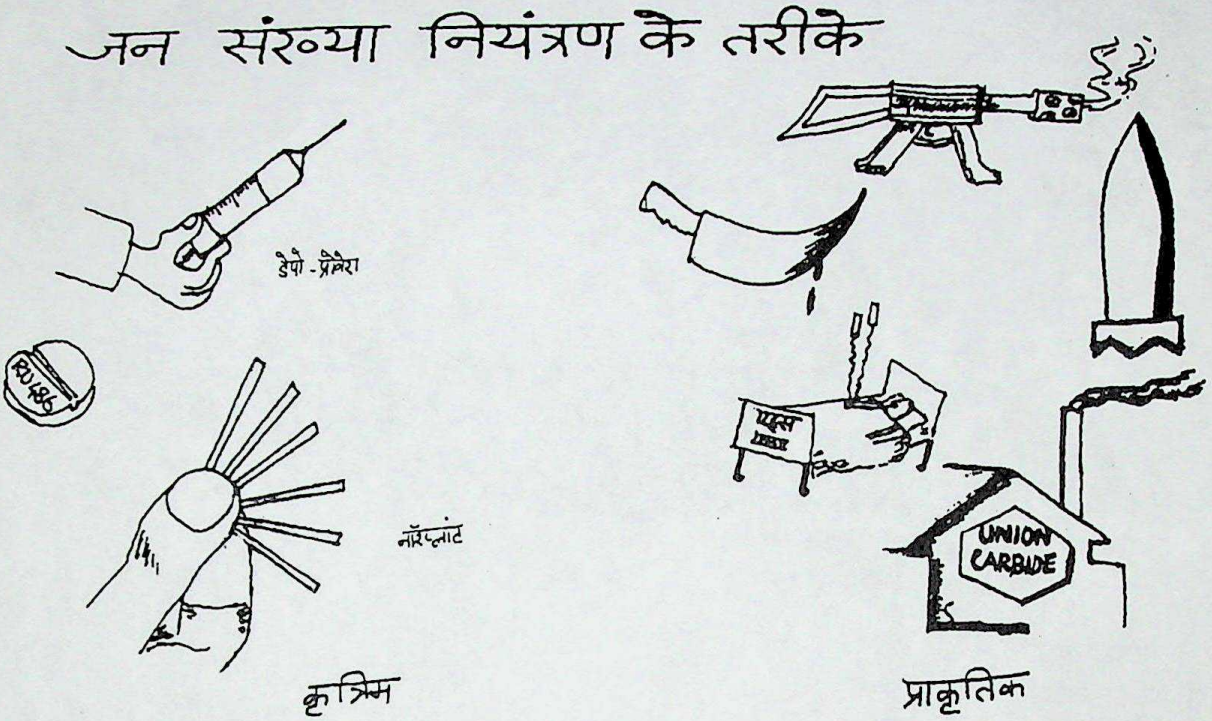

जनसंख्या वृद्धि का डर दिखाने के लिए 'विशेषज्ञ' इस तरह के आंकड़े उछालते हैं :

> भारत की आबादी (सन् 1981 में) 68.5 करोड़ है और यह दुनिया में दूसरे नम्बर पर है । दुनिया की कुल भूमि के मात्र 2.5 प्रतिशत हिस्से पर यहां दुनिया की 15 प्रतिशत आबादी रहती है । यदि आबादी इसी दर (2.4 प्रतिशत) से बढ़ती रही, तो सन् 2000 से पहले ही 1 अरब की संख्या पार कर जाएगी । अगले 31 सालों में हमारी आबादी एक बार फिर दुगनी हो जाएगी ।

ऐसे आंकड़ों का जवाब आसानी से दिया जा सकता है । पहली बात तो जनसंख्या घनत्व और विकास में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है । जनसंख्या घनत्व का अर्थ है प्रति वर्ग कि. मी. क्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों की संख्या । विकसित देशों की जनसंख्या घनत्व भारत से कहीं ज्यादा है । निम्नलिखित तालिका से यह स्पष्ट दिखता है ।

देश	जनसंख्या प्रति वर्ग कि. मी. (1981)
जापान	311
पश्चिमी जर्मनी	246
इंग्लैंड	228
भारत	200

इस बात को और अच्छी तरह से साबित करने के लिए नीचे की तालिका के आंकड़े देखिए । इनसे पता चलता है कि जनसंख्या के घनत्व या प्रतिव्यक्ति खेती योग्य भूमि का गरीबी से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

देश	जनसंख्या (1974) प्रतिवर्ग कि. मी.	प्रतिव्यक्ति खेती योग्य भूमि (हेक्टयर)
बोलीविया	5	0.63
भारत	172	0.30
हालैण्ड	326	0.06

जहां भारत और बोलीविया दोनों देशों में गरीबी माजूद है, वहीं हालैण्ड में जीवन-स्तर कहीं बेहतर है । दुर्भाग्यवश, ऐसे तुलनात्मक आंकड़े बहुत कम प्रकाशित होते हैं । जनसंख्या वृद्धि को गरीबी का कारण साबित करने के फेर में सरकार प्रायः अधूरे व नाटकीय आंकड़े पेश करती रही है ।

स्रोत : इण्डियन इकोनॉमी, दत्त व सुन्दरम्, 1983 और हाउ दी अदर हाफ डाइज़, सूज़न जॉर्ज, 1977.

लोगों की राय

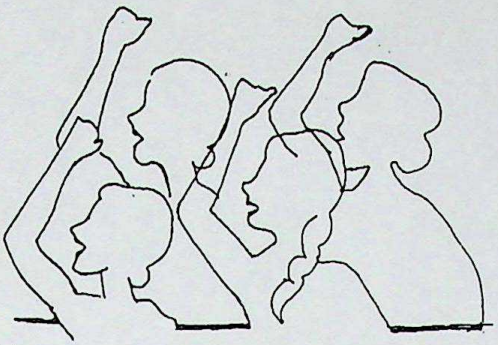

एक प्रार्थना है जनता से, कार्यकर्ताओं और यूनियनों से

जरा विचार करने की कृपा करें
हमारा चलना जारी है।
हमने ही तो चेचक को समाप्त किया था,
प्लेग का सफाया भी हमारे द्वारा ही हुआ था।
और मलेरिया से होने वाली मौतों से किसने मुक्ती दिलाई थी ?
वह भी हमने।
आंधी-तूफान और बाढ़ के समय कौन आगे आया था।
तब हम ही तो आगे बढ़े थे, सेवा के लिए।
हमारा चलना रुका नहीं, अब भी जारी है।
परन्तु हमारे दिल भारी हैं, क्योंकि लक्ष्य शानदार नहीं रहे।
परिवार कल्याण का इतिहास बनाया था, हमने।
आज भी हम चल रहे हैं, परन्तु तथाकथित 'लक्ष्यों' के विरोध में।
हम आज भी चल रहे हैं।
एक ही व्यक्ति लक्ष्य प्राप्त करे, यह भ्रष्टता है,
सफलता प्राप्त करनी है तो लक्ष्य का सुफल सबको मिले।
परिवार कल्याण के लिए जो शिक्षा दी थी, हमने।
उसी कारण से तो तुमने उसका महत्त्व समझा
और तब बदला तुम्हारा मन।
और तुम सोचने लगे परिवार नियोजन की बात।
सरकार ने जो सोचा था, उसके जो लक्ष्य थे, वे पूरे हो गए।
परिवार छोटे हो गए !
पर हमारे ऊपर विपत्तियों के पहाड़ टूट पड़े,
ये पहाड़ सरकार ने ढाए थे।
परिवार नियोजन के आंकड़े बढ़ रहे हैं, पर आंकड़ों में सच्चाई नहीं है।
हम आज आपके पास कुछ शिकायतें लेकर आए हैं।
और चाहते हैं उन्हें सुनें और हमारा साथ दें, क्योंकि हमारे सामने खतरा है।
हमें काम करने दिया जाय।
लक्ष्यों को, आंकड़ों को हटाया जाय।
हम आज भी चल रहे हैं।
चल रहे हैं।

(ऊपर लिखी पंक्तियां उस पर्ची से उधृत की गई हैं जो सेलम जिले के प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों (पी. एच. सी.) के विभिन्न कर्मचारियों के यूनियनों के द्वारा किए गए एक प्रदर्शन में वितरित की गई थी। यह प्रदर्शन 3 दिसम्बर 84, के दिन कर्मचारियों के यूनियनों ने आयोजित किया था। प्रदर्शन परिवार नियोजन सम्बन्धी लक्ष्यों के विरोध में था जो सरकार ने कर्मचारियों के लिए निश्चित किए थे। उपरोक्त मूल पंक्तियां तमिल में है।)

नॉरप्लांट के जरिए भारत की महिलाओं पर अमरीकी धनपतियों का हमला

आज हमारी सरकार गर्भ निरोध के लिए पांच साल तक के असरदार टीके का प्रचार कर रही है जिसका नाम है ''नॉरप्लांट''।

नॉरप्लांट रबड़ की छह नलियों से बना है। इन नलियों में एक रसायन रहता है (प्रोजेस्ट्राजन)। ये नलियां आपकी बांयी बाजू में कोहनी से ऊपर अंदर चमड़ी की सतह के नीचे घुसा दी जाएंगी। हर समय इन नलियों से रसायन निकल कर आपके खून में रिसता रहेगा और पांच साल तक गर्भ निरोध का काम करता रहेगा। पांच साल के खत्म होते ही नॉरप्लांट का निकलवा देना जरूरी है। उसको निकलवा देने के बाद भी दो साल तक बच्चा पैदा होने की संभावना नहीं है। यानी सात साल तक बच्चा पैदा होने की कोई संभावना नहीं होती। बचे हुये रसायन से खतरा इस बात का है कि आपका बच्चा गर्भाशय में बड़ा होने की बजाय अंडा प्रवाहित करने वाली नली में बड़ा होने लगे तो नली फट जाती है, जिसके कारण पेट में दर्द होने लगता है। अगर तुरन्त ऑपरेशन न करवाया गया तो जान भी जा सकती है।

आज सहारनपुर की महिलाओं ने 8 मार्च 1995 को विरोधी दिवस के रूप में मनाने के लिए तय किया है। अमरीका ने भारत सरकार को 800 करोड़ रुपया उत्तर प्रदेश में नॉरप्लांट लगाने के लिये दिया है। हम नॉरप्लांट जैसे खतरनाक और जानलेवा गर्भनिरोधक टीके का जबरदस्त विरोध करते हैं। इसलिए सरकार को बताना चाहते हैं कि हमारे कितने बच्चे होंगे उसका निर्णय हम खुद लेंगे। हम यह भी कहना चाहते हैं कि सरकार हमें ऐसे गर्भनिरोधक तरीके दे जिससे हमारे आने वाली पीढ़ी पर उसका कोई भी बुरा असर न हो।

हमारी मांगें :

(1) डेपो, नेट-एन, नॉरप्लांट गर्भनिरोधक विधि पर रोक लगाई जाए।

(2) हमारे लिए ऐसे गर्भनिरोधक का प्रबन्ध करें जिससे हम पर व आने वाली पीढ़ी पर गलत असर न हो।

(3) बलात्कारियों को सख्त से सख्त सजा दिलाई जाये ताकि दूसरा आदमी यह काम करने से डरे।

निवेदक :

1. घाड़ क्षेत्र महिला मोर्चा (सहारनपुर), 2. घाड़ क्षेत्र मजदूर संघर्ष समिति (हरिद्वार), 3. घाड़ क्षेत्र मजदूर मोर्चा (सहारनपुर)।

8 : ग्रामीण कार्यकर्ता

ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता का मतलब गांव के किसी व्यक्ति को 'डाक्टरी' की मोटी-मोटी बातें सिखाकर तैयार कर देना । कई लोग मानते हैं कि देहाती इलाकों में चिकित्सा सुविधाओं का यही एक मात्रा व्यवहारिक समाधान है ।

1977 से सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यकर्ता योजना के तहत ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता का प्रशिक्षण करती आ रही है । *(सरकारी योजना के ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को पहले सामुदायिक स्वास्थ्य वालंटीयर कहा जाता था । परन्तु सुविधा के लिए ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता ही प्रचलित है ।)* इस योजना को सबसे पहले भारत में आजमाने का श्रेय गैरसरकारी (स्वैच्छिक) संस्थाओं को जाता है, जिन्होंने इसे सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यक्रम का अनिवार्य हिस्सा माना । इस प्रकार से अब सरकारी व स्वैच्छिक दोनों क्षेत्रों में ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को स्वास्थ्य सुविधा के ढांचे का पहला सोपान माना जाता है ।

ऊपर से देखने पर तो लगता है कि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता प्रशिक्षण सरकार का एक क्रांतिकारी कदम है । लगता तो यह भी है कि स्वास्थ्य सुविधा को सामुदायिक रूप दिया जा रहा है । मगर अचरज इस बात पर होता है कि जो सरकार चिकित्साकर्मियों के प्रशिक्षण में अंतर्राष्ट्रीय मापदण्डों की पैरवी करती रही, वही आज ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता प्रशिक्षण को बढ़ावा दे रही है ।

इस अध्याय में इसी बात पर चर्चा की जाएगी कि वे कौन से हालात थे जिनमें ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को ग्रामीण स्वास्थ्य सुविधा का समाधान माना गया । हम इस विचार की बुनियादी मान्यताओं पर भी गौर करेंगे ।

सन् 1960 के दशक के अन्त तक यह साफ होने लगा था कि तीसरी दुनिया के अधिकतर देशों में गरीब लोगों की चिकित्सा जरूरतें पूरी नहीं हो रही हैं । खासकर ग्रामीण क्षेत्रों में स्थिति ज्यादा खराब थी । इस समस्या के प्रमुख कारण ये पहचाने गए : महंगा इलाज, संसाधनों की कमी एवं डाक्टरों व अन्य स्वास्थ्यकर्मियों की देहात में काम करने की अनिच्छा । गैरसरकारी क्षेत्र में स्वैछिक संस्थाओं द्वारा चलते फिरते अस्पताल जैसे नए विचारों को आजमाना शुरू हो चुका था । किन्तु इनकी भी अपनी सीमाएं थी । इनसे इलाज की कीमतें कम नहीं हो पाई थीं ।

आठवें दशक के शुरूआती सालों में स्वास्थ्य योजना निर्माता और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं इन समस्याओं से काफी चिन्तित हो चले थे । विश्व स्वास्थ्य संगठन के कार्यकारी मण्डल ने जनवरी 1975 में कहा,

"...हम एक बड़े संकट के कगार पर खड़े हैं— असंतोष बहुत महंगा और विनाशकारी साबित हो सकता है। इसलिए हमें तत्काल कार्यवाही करनी चाहिए। स्वास्थ्य सुविधाओं को लेकर लोगों में अलग-अलग कारणों से व्यापक असंतोष व्याप्त है।"

अतः किसी भी तरह गरीबों को तत्काल चिकित्सा सुविधा प्रदान करना अति आवश्यक हो गया। अन्यथा लोगों के 'असंतोष' को संभालना मुश्किल हो जाता।

यह नई व्यवस्था, सस्ती, गांव-आधारित और सांस्कृतिक रूप से स्वीकार्य होना जरूरी था। सस्ती होना इसलिए जरूरी था क्योंकि संसाधन सीमित थे। अधिकांश धन तो अस्पतालों पर, शहरी आबादी को बढ़िया सुविधाएं उपलब्ध कराने में, और डाक्टरों व अन्य चिकित्साकर्मियों के प्रशिक्षण में ही खर्च हो जाता था। गांव-आधारित होना भी जरूरी था अन्यथा सुविधा लोगों की पहुंच से ही परे हो जाती। सांस्कृतिक रूप से स्वीकार्य इसलिए ताकि लोगों के हानिप्रद विचार और स्वास्थ्य सम्बन्धी रिवाज आसानी से बदले जा सकें।

दुनिया भर में कई वैकल्पिक प्रणालियां मौजूद थीं। किन्तु चीन में प्रचलित प्रणाली में उपरोक्त सारे गुण मौजूद थे। चीन ने साबित कर दिया था कि सेहत में सुधार लाने के लिए महंगी टेक्नोलॉजी और उच्च शिक्षा प्राप्त चिकित्साकर्मी जरूरी नहीं हैं। चीन ने अपने सीमित संसाधन अस्पताल बनाने और डाक्टरों की ट्रेनिंग पर खर्च न करके बड़ी संख्या में बुनियादी स्वास्थ्य कार्यकर्ता तैयार करने में किए थे।

इन बुनियादी स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं को 'नंगे पैर डाक्टर' (बेअरफुट डाक्टर) कहा जाने लगा। दरअसल गांव से ही कुछ किसानों को चुनकर उन्हें चिकित्सा का उपयुक्त ज्ञान व हुनर सिखाए जाते थे। चीन की विशाल आबादी की सेहत में सुधार ने साबित कर दिया कि 'नंगे पैर डाक्टर' लोगों की चिकित्सा सम्बन्धी जरूरतें पूरी करने में सक्षम हैं।

अतः गांव के लोगों को चिकित्सा कौशल की ट्रेनिंग देना एक कारगर तरीका माना जाने लगा। डाक्टर बनाने की तुलना में यह सस्ता है। यह गांव-आधारित है क्योंकि प्रशिक्षित लोग गांव में ही काम करते हैं। और सबसे बड़ी बात यह है कि गांव के ही होने के कारण ये ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता सांस्कृतिक रूप से स्वीकार्य भी हैं। इस प्रकार से देहाती आबादी की चिकित्सा सम्बन्धी जरूरतें पूरी करने के लिए ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता एक आदर्श समाधान माना गया।

इस तरह विश्व स्वास्थ्य संगठन जैसी अंतर्राष्ट्रीय एजेन्सियों को तीसरी दूनिया की देहाती आबादी के असंतोष को नियंत्रित करने का एक

तरीका मिल गया। उनको इस बात से कोई मतलब नहीं था कि ये ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता उन देशों में बेकार साबित होंगे, जहां की सरकारें आर्थिक विषमता को दूर करने में कोई दिलचस्पी नहीं लेतीं। अब लोगों के हाथ में कोई झुनझुना तो थमाना ही था—ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता एक ऐसा ही झुनझुना था।

भारत में ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता प्रशिक्षण का कार्यक्रम सन् 1977 में शुरू किया गया। इसके पहले कई सालों से यह बात दोहराई जा रही थी कि स्वास्थ्य सुविधाएं देहाती क्षेत्रों तक नहीं पहुंच रही हैं। इसका सीधा सा कारण यह था कि डाक्टर गांवों में काम नहीं करना चाहते थे। परन्तु जब भी यह सुझाव आता कि कुछ कार्यकर्ताओं को साधारण रोगों की जांच व इलाज का काम सिखाया जाए, तो उसे नामंजूर कर दिया जाता था। नामंजूर करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय मापदण्डों की दुहाई दी जाती थी।

इसी कारण से भोर समिति ने सन् 1946 में, भारत के लिए रूसी मॉडल की सिफारिश नहीं की थी। रूस ने साधारण स्तर के स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण देकर यह दिखा दिया था कि इस श्रेणी के कार्यकर्ताओं के माध्यम से समुचित स्वास्थ्य सुविधा मुहैया कराई जा सकती है। इन स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं को फेल्डशेर कहा जाता है। किन्तु भारत में इस विचार को तभी स्वीकृति मिली जब सामाजिक व आर्थिक तनाव के कारण सत्तर-अस्सी के दशक में राजनैतिक अस्थिरता का खतरा पैदा होने लगा। ऐसा माना गया कि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता कुछ हद तक गांवों में बुनियादी स्वास्थ्य सुविधा प्रदान कर पाएंगे।

स्वैच्छिक संगठन तो इस विचार को पहले ही अपना चुके थे। उनके अनुभवों से यह साबित हो चला था कि गांव के अनपढ़ व्यक्तियों को भी छोटी-मोटी बीमारियों की जांच, इलाज और रोकथाम का काम सिखाया जा सकता है। इससे गांव की सेहत की स्थिति पर कुछ हद तक अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

अतः जब सन् 1975 में श्रीवास्तव समिति ने सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यकर्ता प्रशिक्षण का सुझाव दिया, तो सरकार ने इसे स्वीकार करके तत्काल लागू कर दिया। तो, सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यकर्ता योजना इसलिए नहीं अपनाई गई कि सरकार को जनता के स्वास्थ्य की चिन्ता

थी। न ही यह योजना इसलिए लागू की गई कि सरकार को 'गंवारों' की क्षमता पर भरोसा हो चला था। योजना लागू करने का वास्तविक कारण तो यह था कि देश की तत्कालीन राजनैतिक स्थिति में ग्रामीण लोगों को कुछ समाधान प्रदान करना जरूरी हो गया था।

भारतीय अनुभव

कुछ लोग यह दलील दे सकते हैं, कि चलिए माना कि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता योजना राजनैतिक कारणों से लागू की गई परन्तु इसके बाद भी ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता एक सार्थक भूमिका तो निभा सकते हैं। यहां हम ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के कामकाज या भूमिका का विस्तृत विश्लेषण नहीं करेंगे। हम यहां मात्र एक बुनियादी सिद्धांत के संदर्भ में ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता योजना का विश्लेषण करेंगे जिस पर ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता की सफलता टिकी है। सिद्धांत है कि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता चयन खुद गांववासी करेंगे। यह सिद्धांत तीन बातों पर आधारित था :

- **यदि सब लोग मिलकर चुनाव करेंगे, तो ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को आसानी से स्वीकार किया जाएगा।**
- **जब चुनाव लोग खुद करेंगे, तो कार्यकर्ता यह महसूस करेंगे कि उनकी प्राथमिक जिम्मेदारी लोगों के प्रति है।**
- **लोग जब चुनाव की प्रक्रिया में भाग लेंगे, तो अपनी सेहत के प्रति जिम्मेदारी का अहसास भी बनेगा।**

हम यही देखने की कोशिश करेंगे कि भारत की ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता योजना में इन बातों का क्या हश्र हुआ।

यदि सब लोग मिलकर चुनाव करेंगे, तो ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को आसानी से स्वीकार किया जाएगा

हम यह तो देख ही चुके हैं कि गांवों में लोग विभिन्न तबकों में बंटे हुए हैं। कुछ लोगों के पास ज्यादा धन, प्रभाव व शक्ति है जबकि अन्य लोग गरीब और अशक्त हैं। गांव के सारे निर्णय सम्पन्न लोगों द्वारा लिए जाते हैं। इन मामलों में गरीबों को अपनी बात करने का कोई मौका तक नहीं मिलता।

शुरूआत में, जब ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के विचार को गैर-सरकारी कार्यक्रम मे लागू किया गया, तब गांव के सम्पन्न लोग प्रायः इस काम के लिए नीची जाति की औरत का चयन करते थे। इसका कारण यह

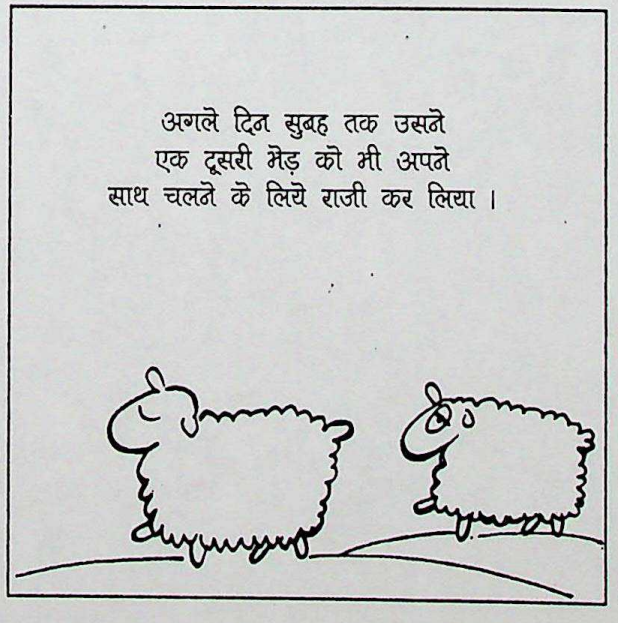

सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यकर्ता का काम नवजात एवं छोटे बच्चों को टीका लगाना, पूरक आहार का वितरण करना, मलेरिया का इलाज व खून इकट्ठे करना है। इसके अलावा उसे छोटी-मोटी बीमारियों का इलाज भी करना होता है। कुल मिलाकर विचार यह है कि आज तक जो काम मुख्यतः सरकार द्वारा किए जाते थे, उनकी कुछ जिम्मेदारी लोग भी उठाएं। सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यकर्ता, उसी समाज के व्यक्ति होने के नाते अपने समुदाय के प्रति जवाबदेह होंगे और समाज भी उनके काम पर नजर रखेगा। प्राथमिक स्वास्थ्य सुविधा में समाज के जुड़ाव व भागीदारी का मतलब यह भी है कि समाज संसाधनों की कमी को पूरा करेगा और समय आने पर कार्यक्रम भी अपने हाथ में ले लेगा।

(राष्ट्रीय स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण संस्थान)

था कि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता द्वारा किए जाने वाले काम जैसे बीमारों की देखभाल, घावों की सफाई, जचकी, आदि गंदे काम माने जाते थे।

ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता से यह भी अपेक्षा थी कि गांव के हर घर में जाएंगे। 'घर-घर भटकना' औरतों के लिए 'अच्छी' बात नहीं मानी जाती। इसलिए सम्पन्न तबके के लोग अपने घर की औरतों को ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता नहीं बनाना चाहते थे।

वास्तव में, नीची जाति की औरतों के चुनाव से स्वास्थ्य कार्यक्रमों को फायदा ही मिला। इसके कारण स्वास्थ्य सुविधा उन लोगों को मिल सकी, जो सबसे ज्यादा जरूरतमंद थे।

परन्तु जैसे-जैसे योजना आगे बढ़ी, तो आसपास के गांव वालों ने देखा कि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को अपने गांव में अच्छी इज्जत मिलती है। इसके अलावा ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को कुछ 'वेतन' भी मिलता था। इन दोनों वजहों से आगे चलकर ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के लिए ऊंची जाति की औरतों का चयन होने लगा। परन्तु ऊंची जाति की ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता नीची जाति के घरों में जाने से कतराती थीं। अब यदि स्वास्थ्य कार्यक्रम का लाभ गांव के सब लोगों को मिलना है, तो कोई न कोई रास्ता निकालना जरूरी होता था। मसलन गांव में दो ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता का चुनाव कर लिया जाता था— एक ऊंची जाति से और एक नीची जाति से। इस प्रकार से जाति व्यवस्था को बढ़ावा मिला। बहुत ही थोड़े से मामले में ऊंची जाति की ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के रवैये में बदलाव लाया जा सका।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य और परिवार कल्याण संस्थान के द्वारा किए गए एक अध्ययन में पाया गया कि 15% ग्रामीण स्वास्थ्य कर्ताओं का कहना था कि उनकी पंचायत अतिरिक्त दवाएं खरीदने के लिए पैसा देगी। मगर देखा गया कि केवल 1% ग्राम पंचायतों ने अतिरिक्त दवाओं को खरीदने के लिए पैसा दिया था।

सरकारी कार्यक्रम में, जिस तरह से ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता का चुनाव होता था, उसमें गरीब हमेशा छूट जाते थे। पहली बात थी कि व्यक्ति को आठवीं पास होना चाहिए। दूसरी बात थी कि चुनाव का काम पंचायत पर छोड़ दिया गया था। तीसरी बात थी कि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के कामों में घर-घर जाना और जचकियां करवाना शामिल नहीं किए गए। इन सब बातों के अलावा यह तथ्य भी था कि ट्रेनिंग के समय ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को 200 रुपया और बाद में 50 रुपया महीना भत्ता दिया जाता है।

कई गांवों में जमींदार, सरपंच या मुखिया ने अपने बेटों या रिश्तेदारों को नियुक्त करवा लिया। अगर चयन का काम गांव से सभी लोगों की मौजूदगी में होता, तो भी गरीब लोग किसी और का नाम लेने की हिम्मत न करते। इस वजह से ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता सम्पन्न ताकतवर तबके के हितों के अनुरूप काम करते, न कि सबसे ज्यादा जरूरतमंदों के लिए।

अतः गांव के अन्य महत्त्वपूर्ण फैसलों की तरह ही, ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता का चुनाव भी गांव का ताकतवर तबका ही करता। चुनाव इस ढंग से किया जाता कि उसी को लाभ मिले।

जब चुनाव लोग खुद करेंगे तो कार्यकर्ता महसूस करेंगे कि उनकी प्राथमिक जिम्मेदारी लोगों के प्रति है

हमने ऊपर देखा कि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के चयन में गांव का छोटा सा तबका ही सक्रिय था। फिर ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता पूरे गांव के प्रति क्यों जिम्मेदारी महसूस करते ? यदि हम मान भी लें कि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के चयन में पूरा गांव भागीदार है, तो भी इसका मतलब यह नहीं है कि वह पूरे गांव के प्रति जिम्मेदारी महसूस करेगी। जिम्मेदारी के अहसास से संदर्भ में सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्दा 'वेतन' का है। जिममेदारी उसी के प्रति होती है जो 'वेतन' दे। सरकारी कार्यक्रम में, और कई गैर सरकारी कार्यक्रमों में भी, वेतन का भुगतान स्वास्थ्य केन्द्र के प्रति जवाबदारी महसूस करते हैं, न कि गांव के प्रति या लोगों के प्रति।

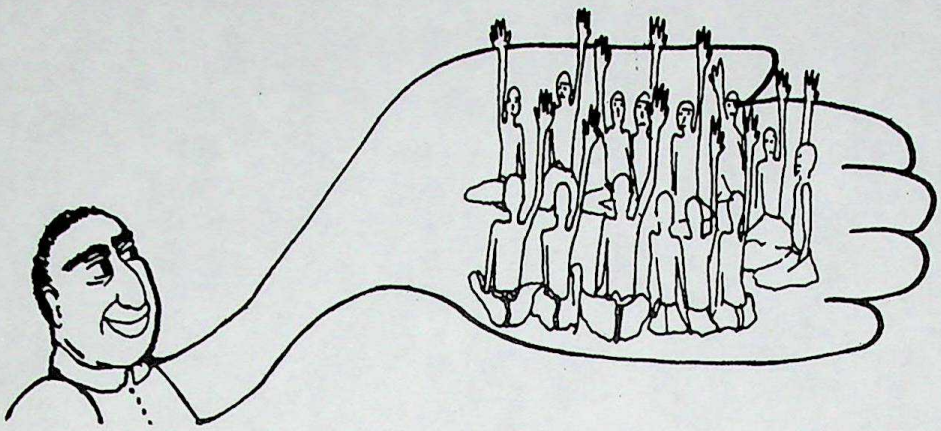

सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यकर्ता योजना : एक आकलन

सन् 1978 में राष्ट्रीय स्वास्थ्य व परिवार कल्याण संस्थान द्वारा एक अध्ययन किया गया था। इसके प्रमुख निष्कर्ष नीचे दिए गए हैं। सामाजिक स्वास्थ्य कार्यकर्ता के साक्षात्कार से पता चला कि:

1. जाति के अनुसार विभाजन	**(प्रतिशत)**
अनुसूचित जाति व जनजाति	21.2
अन्य जातियां	77.4
2. उम्र के अनुसार विभाजन	**(प्रतिशत)**
15—19 वर्ष	13.4
20—29 वर्ष	65.9
30—39 वर्ष	17.9
40 से ऊपर	2.8
3. शिक्षा की दृष्टि से विभाजन	**(प्रतिशत)**
निरक्षर	0.3
प्राथमिक	29.1
हाई स्कूल	62.1
कॉलेज व उससे ज्यादा	8.5
4. लिंग के आधार पर विभाजन	**(प्रतिशत)**
पुरुष	93.7
स्त्री	6.3

पहले तो हमें यह समझना होगा कि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को वेतन देने का निर्णय क्यों लिया गया। जब शुरूआत में स्वास्थ्य कार्यक्रमों की ओर से ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता का विचार लोगों के सामने रखा गया, तो उन्होंने कार्यकर्ता चयन करने में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई। इसका सीधा सा कारण यह था कि उन्हें विश्वास ही नहीं हुआ कि उनमें से ही कोई व्यक्ति बीमार की जांच और इलाज का काम सीखकर कारगर ढंग से इलाज कर सकेगी।

फिर कई व्यवहारिक दिक्कतें भी थीं। ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के कामकाज में समय लगाना पड़ता था और यह अपेक्षा स्वाभाविक थी कि उस समय का कुछ तो भुगतान होना चाहिए। यह भी दिखता था कि स्वास्थ्य दल के अन्य सदस्यों को वेतन मिलता है। लोगों की नजर में ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता स्वास्थ्य केन्द्र के स्टाफ का हिस्सा था। इसलिए स्वाभाविक ही लगता था कि स्वास्थ्य केन्द्र उसको भी वेतन दे।

गांव के लोगों की उदासीन और वेतन की उम्मीद को मद्दे नजर रखते हुए स्वास्थ्य केन्द्रों को यह ठीक जान पड़ा कि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को कुछ भत्ता दे दिया जाए। यह भी सोचा गया कि एक बार ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता की उपयोगिता समझ में आ जाने पर लोग उसकी सेवाओं का खर्च खुद वहन करने को तैयार हो जाएंगे। परन्तु इस सम्बन्ध में किए गए प्रयास ज्यादा सफल न हो सके। आखिर लोग यह तो देख ही चुके थे कि स्वास्थ्य केन्द्र आवश्यक भुगतान करने में सक्षम हैं।

दूसरी तरफ, कई स्वास्थ्य कार्यक्रमों में गांव द्वारा भुगतान को बढ़ावा ही नहीं दिया गया। इन कार्यक्रमों की मान्यता यह थी कि जो भुगतान करेगा, उसी का नियंत्रण होगा। यदि गांव द्वारा वेतन दिया गया तो ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता पर गांव के शक्तिशाली तबके का नियंत्रण हो जाएगा। उसका पूरा समय उन्हीं लोगों की जरूरतें पूरी करने में चला जाएगा और अन्य लोगों पर वह ध्यान ही नहीं दे पाएगी। इसलिए ज्यादा बेहतर होगा कि कार्यक्रम की तरफ से वेतन दिया जाए और नियंत्रण कार्यक्रम के हाथ में ही रहे।

हाल ही में यह सुझाव दिया गया है कि सरकारी ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को पैसा पंचायत के माध्यम से दिया जाए। परन्तु यह सर्वविदित है कि पंचायतें बहुसंख्य लोगों के हितों का प्रतिनिधित्व नहीं करती।

तो, जब तक ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता का चुनाव मुट्ठी भर लोग करेंगे और उसको गांव के बाहर की किसी एजेन्सी से पैसा मिलेगा, तब तक वह पूरे गांव के प्रति जवाबदेह महसूस नहीं करेगी। मगर हम देख ही चुके हैं कि शोषणपूर्ण समाज में ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता

को पूरे गांव के प्रति जवाबदार बनाने का प्रश्न कितना मुश्किल और जटिल है।

लोग जब चुनाव की प्रक्रिया में भाग लेंगे, तो अपनी सेहत के प्रति जिम्मेदारी का अहसास भी बनेगा

इस बात का अर्थ क्या है ? खण्ड I में हम देख चुके हैं कि लोगों की सेहत पर प्रभाव डालने वाली प्रमुख बातें हैं—अपर्याप्त भोजन, कपड़े व आवास, पीने के साफ पानी की कमी, और स्वास्थ्य सुविधाओं का अभाव। हमने यह भी देखा था कि सेहत में सुधार के लिए जरूरी है कि लोग इन संसाधनों के बंटवारे को प्रभावित कर सकें।

अच्छी तरह प्रशिक्षित ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता गांव के लिए एक नियामित है। उसकी सेवाओं से लोगों का स्वास्थ्य-स्तर सुधर सकता है। ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के चयन में भागीदार होने का मतलब है कि लोग ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता नामक संसाधन पर नियंत्रण स्थापित करने की कोशिश कर रहे हैं। यह निर्णय छोटा ही सही, पर इस निर्णय-प्रक्रिया में शरीक होने से लोगों में आत्मविश्वास पैदा होगा। इस आत्मविश्वास से उन्हें आगे चलकर ज्यादा बड़े निर्णय करने में भी मदद मिलेगी।

यह बहुत अच्छी बात होगी। पर हकीकत में लोगों को ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के चुनाव जैसे छोटे-छोटे फैसलों से भी महरूम रखा जाता है। हमने यह भी देखा कि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता पूरे गांव के प्रति जवाबदेह महसूस नहीं करते। ऐसी स्थिति में लोग इसके काम पर नियंत्रण कैसे रख सकते हैं ?

इस तरह के सामाजिक नियंत्रण के अभाव के कारण, ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता द्वारा अपने ज्ञान हुनर का दुरूपयोग करने की पर्याप्त गुंजाइश है। यह देखा गया है कि सरकार द्वारा प्रशिक्षित कई ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता अपना निजी कारोबार जमा लेते हैं (और प्राइवेट डाक्टरों की तरह गलत-सही तरीका अपनाते हैं)। वे दवाइयों की मनमानी कीमत वसूलते हैं और अनावश्यक इन्जेक्शन भी ठोंकते हैं। इस तरह से वे अपने ज्ञान व हुनर का दुरुपयोग उन्हीं लोगों के खिलाफ करते हैं, जिनकी मदद करने के लिए वे प्रशिक्षित किए गए थे।

तो यह मान्यता एक सपना ही रह गई कि चुनाव की प्रक्रिया में भागीदारी के फलस्वरूप लोग अपनी सेहत को प्रभावित करने वाले अन्य कारकों को भी नियंत्रित कर पाएंगे।

संक्षेप में, ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता प्रशिक्षण इस मकसद से शुरू किया गया था कि इससे देहाती गरीब लोगों को स्वास्थ्य की सुविधा मिलेगी। यह तय किया गया था कि 2 साल की अवधि में 5 से 8 लाख ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता प्रशिक्षित हो जाएंगे। वैसे तो इस बात में शक है, पर यदि इतने ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता तैयार हुए हैं, तो भारत के हर गांव में एक ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता होना चाहिए।

इस प्रकार से यह मकसद तो पूरा हो गया कि गांव में एक प्रशिक्षित स्वास्थ्य कार्यकर्ता हो। परन्तु जरूरी नहीं कि सबको स्वास्थ्य सुविधा प्रदान करने का मकसद भी पूरा हुआ हो।

इसका कारण यह है कि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के चयन या उसके काम की निगरानी में अधिकांश लोग शामिल नहीं रहे। ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को वेतन भी या तो स्वास्थ्य केन्द्र से मिलता है या सरकार से। इसलिए उनका काम गांव के सम्पन्न तबके की मर्जी के अनुसार चलता है। भारत और चीन के ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता कार्यक्रम में यही बुनियादी अन्तर है।

चीन में, जहां ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता विचार का जन्म हुआ वहां चयन का काम स्थानीय कम्यून द्वारा किया गया। ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के कामकाज की निगरानी भी कम्यून (समूह) द्वारा की जाती है। कम्यून ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता की चिन्ता भी करता है। जब ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता बीमारों की देखरेख में व्यस्त हो, तो कम्यून के बाकी सदस्य उसके खेत पर श्रमदान करते हैं। यह माना गया था कि जो बात चीन में सफल रही वह भारत में भी सफल रहेगी। परन्तु यहां इस बात को नजरअन्दाज कर दिया गया कि चीन में ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के प्रशिक्षण के साथ-साथ महत्त्वपूर्ण सामाजिक बदलाव भी हो रहे थे।

उस दौरान चीन में बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे थे। सम्पन्न लोगों की जमीन व अन्य संपत्ति को गरीबों में बांटा जा रहा था। इस प्रकार से गरीबों की ताकत बढ़ रही थी। जो लोग पहले बिलकुल अशक्त थे, अब वे अपनी जिन्दगी के फैसलों में शरीक हो रहे थे। ऐसी स्थिति में ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता एक और साझा संसाधन था। उसके माध्यम से लोग चिकित्सा ज्ञान नामक संसाधन पर सामूहिक नियंत्रण स्थापित कर सके। पहले यह संसाधन औपचारिकरूप से प्रशिक्षित चिकित्सकों के पास कैद था। यह वे बदलाव थे जिनकी बदौलत चीन में ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता योजना सफल हुई।

9 : उपचार की सुविधा

उपचार की सुविधा किसी भी चिकित्सा प्रणाली का अनिवार्य हिस्सा है। परन्तु आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में इलाज को ही सबसे ज्यादा महत्त्व दे दिया गया है। इसके कई कारण हैं, जिन्हें हम खण्ड II में देख चुके हैं।

पहला, आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का विकास ऐसे समय में हुआ जब प्रकृति के कई और पहलुओं पर भी इंसानी नियंत्रण संभव होने लगा था। अतः इस प्रणाली का लक्ष्य यह था कि ऐसी तकनीकें ईजाद की जाएं जिनसे बीमारी की प्रक्रिया में हस्तक्षेप संभव हो सके।

दूसरा, उस समय तक मानव शरीर को एक मशीन के रूप में देखा जाने लगा था। अतः बीमारी का अर्थ था कि मानव शरीर के किसी पुर्जे के कामकाज में गड़बड़ी है। जिस प्रकार मशीन के ठप्प हो जाने का इकलौता कारण ढूंढा जा सकता है, उसी तरह से चिकित्साशास्त्र में बीमारी का एक प्रत्यक्ष कारण ढूंढने की कोशिश हुई। लाजमी था कि प्रत्यक्ष कारणों का ही इलाज भी ढूंढा गया।

तीसरा, आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में बीमारी का कोई कारगर इलाज खोजे जाने से बहुत पहले ही इस प्रणाली के चिकित्सकों (डाक्टरों) ने अन्य चिकित्सकों को येन केन पछाड़कर चिकित्सा के पेशे पर वर्चस्व स्थापित कर लिया था। एकबार वर्चस्व स्थापित हो जाने पर ये डाक्टर ही तय करने लगे कि चिकित्सा सुविधा का लक्ष्य क्या हो। यह इनके ही हित में था कि चिकित्सा शास्त्र का पूरा ध्यान बीमारी को रोकने का कमाल दिखा सकते थे। यह चीज व्यापारियों के भी हित में थी। इसी दिशा में चिकित्साशास्त्र के विकास को व्यापारियों ने संरक्षण प्रदान किया।

चौथा, अब डाक्टर पूरी तरह से मरीजों से मिलने वाली फीस पर निर्भर हो गए थे। इसलिए उनका आर्थिक हित इसी में था कि उनकी औषधियां ही एकमेव तरीका मानी जाएं। इस तरह से, अन्य वस्तुओं की तरह, चिकित्सा सुविधा बिकाऊ की चीज बन गई। और इसकी बिक्री की शर्तें डाक्टरों की मर्जी से तय होने लगीं।

पांचवा, जब लोगों के बीच आधुनिक चिकित्सा प्रणाली चल निकली, तो दवाइयों, रोग निदान के साधनों, शल्य क्रिया उपकरणों, आदि के उत्पादन की जरूरत सामने आई। उत्पादन का काम उद्योगपतियों ने संभाला और विज्ञापन के जरिए इन चीज़ों की मांग और बढ़ाई।

इस प्रकार से एक ऐसी चिकित्सा प्रणाली का विकास हुआ जिसमें बीमारी से निपटने के जबरस्त तरीके मौजूद थे। किन्तु इस प्रणाली का विकास विभिन्न तबकों के आर्थिक स्वार्थों से जुड़ा था। इस वजह से अनैतिक तरीके इस प्रणाली का अभिन्न अंग बन गए।

हमारे देश में भी आधुनिक चिकित्सा प्रणाली को अधिकृत रूप से अपनाया गया। अतः भारत में भी उपरोक्त सारी बातें देखी जा सकती हैं। इस प्रणाली का सबसे अहम योगदान है—उपचार की सुविधा। मगर यह इतनी महंगी है कि हमारे देश के अधिकांश लोग इसका लाभ नहीं उठा पाते। चिकित्सा का कारोबार कुछ चुनिंदा लोगों के हाथों में सिमट गया है। इस वजह से अन्य लोगों को चिकित्सा का ज्ञान व हुनर हासिल करने से वंचित रखा जाता है। कारोबार पर इस तरह के शिकंजे की वजह से डाक्टर बेरोकटोक मरीजों का शोषण करते चले जाते हैं।

दूसरी तरफ दवा और उपकरण बनाने वाली कंपनियों ने बाजार पर एकाधिकार जमा लिया है। इस एकाधिकार के बल पर वे अनावश्यक, मंहगे और कई बार खतरनाक उत्पादन बजार में बेचने में सफल हो जाती हैं।

इन सब दिक्कतों के चलते, देहाती इलाकों में इलाज की सुविधा मुहैया कराने में कई समस्याएं है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, गांव के लोग आधुनिक प्रणाली का इस्तेमाल या तो फौरन राहत पाने के लिए करते हैं या फिर तब करते हैं जब बाकी उपाय नाकाम हो जाएं। किन्तु डाक्टर इन इलाकों में काम करना नहीं चाहते। जो करते भी हैं, वे प्राइवेट प्रैक्टिस करते हैं और मनमानी फीस वसूलते हैं।

सरकारी पी. एच. सी. में सदैव स्टाफ व उपकरणों का अभाव रहता है। इस कारण पी. एच. सी. अपना अपेक्षित काम नहीं कर पाते। कुल मिलाकर, नर्स व पैरामेडिकल कर्मचारियों पर यह जिम्मेदारी आ जाती है कि वे जांच करके रोग का इलाज करें। हालांकि उन्हें इस

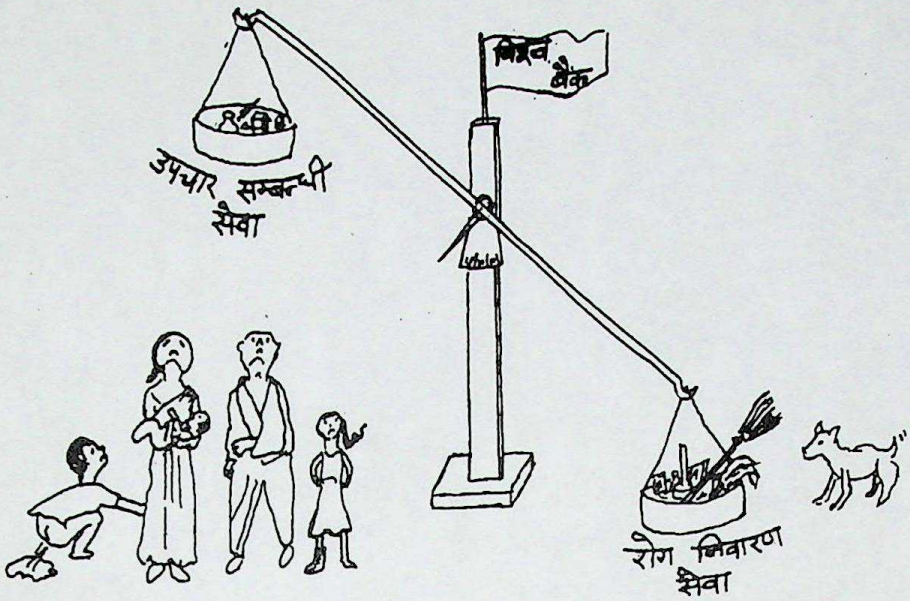

काम का प्रशिक्षण नहीं दिया जाता है। दरअसल, डाक्टर की निगरानी के बगैर, नर्स द्वारा दवा दिया जाना गैरकानूनी माना जाता है। ऐसी स्थिति में नर्सें अपनी भूमिका निभाने की भरसक कोशिश करती हैं।

परन्तु इलाज का कामकाज अपने हाथ में लेने के कारण ये स्वास्थ्य कार्यकर्ता भी डाक्टरों व दवा कंपनियों की अनैतिक कार्य प्रणाली में हिस्सेदार बन जाते हैं। उदाहरण के लिए, दवा कंपनियां पहले सिर्फ डाक्टरों से ही सम्पर्क करती थी। किन्तु अब उनके बिक्री एजेन्ट ग्रामीण क्षेत्रों में नर्सों के पास भी पहुंचने लगे हैं।

यह नया ढर्रा ज्यादा खतरनाक है क्योंकि दवाइयों की जानकारी नर्सों की पहुंच से बाहर होती है। अतः इस अध्याय में हम कोशिश करेंगे कि इस सम्बन्ध में स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं की कुछ मदद कर सकें, ताकि वे आधुनिक प्रणाली का ठीक से उपयोग करते हुए चिकित्सा की समस्याओं से निपट सकें।

इलाज का आधार है सही निदान और दवाइयों का उचित प्रयोग। यदि किसी दवाखाने या स्वास्थ्य केन्द्र में उपकरणों का अभाव है, तो रोग की पहचान के लिए मरीज के शारीरिक लक्षणों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इसके लिए मरीज की जांच का अभ्यास, अस्पताली स्थिति से कहीं ज्यादा चाहिए। ग्रामीण क्षेत्र में कार्यरत नर्सें रोग निदान व इलाज के बारे में जानकारी व्यवस्थित रूप से हासिल नहीं कर पातीं। उन्हें अपने अनुभव से ही ये बातें सीखनी होती हैं। यह अनुभव किसी अस्पताल में या किसी अनुभवी नर्स के साथ काम करते हुए मिलता है। इससे भी ज्यादा उन्हें अपनी सफलताओं व गलतियों से सीखना होता है।

दवा का नुस्खा लिखना एक बड़ी जिम्मेदारी है। जो भी व्यक्ति यह जिम्मेदारी उठाए, उसे अपने आपको इसके लिए अच्छी तरह तैयार करना चाहिए। *(इस संदर्भ में **डेविड वर्नर** की किताब "जहां डाक्टर न हो" मददगार साबित हो सकती है। इस पुस्तक की मदद से कोई भी व्यक्ति दवाखाने के स्तर पर रोग निदान व इलाज कर सकती है। यह पुस्तक क्षेत्रीय भाषाओं में भी उपलब्ध है।)*

इलाज का दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू है दवाइयों का विवेकसम्मत उपयोग यानि हर औषधि का उपचार के मकसद से प्रयोग। आधुनिक प्रणाली में हरेक बीमारी के लिए खास औषधि का विकास किया गया है। अतः एक ही बीमारी वाले कई मरीजों का इलाज एक ही दवा से किया जा सकता है बशर्ते कि अन्य कोई उलझन न हो। मगर हकीकत में अलग-अलग डाक्टरों के नुस्खों में बहुत फर्क होते हैं और दवाइयों का तर्कहीन उपयोग किया जाता है। दवा कंपनियां भी ऐसी दवाइयों को बढ़ावा देती है, जो वास्तव में जरूरी ही नहीं होतीं। दवाइयों के बारे में कई प्रचलित धारणाओं के कारण भी दवाइयों का अधिक उपयोग या दुरुपयोग होता है।

सन् 1978 में शान्ता प्रभुशंकर ने डाक्टरों के नुस्खों का एक अध्ययन किया था। वाराणसी जिले के विभिन्न संस्थानों में कार्यरत डाक्टरों को 20 आम बीमारियों से सम्बन्धित वर्णन (अर्थात् इतिहास, शारीरिक स्थिति, लक्षण व पहचान) दिये गये। उनसे कहा गया कि वे वर्णन के अनुसार नुस्खा लिख दें। इस अध्ययन में देखा गया कि पी. एच. सी. और जिला हस्पताल में कार्यरत डाक्टर सबसे ज्यादा दवाइयां लिखते हैं जबकि प्रचलित धारणा के विपरीत मेडिकल शिक्षा संस्थानों से जुड़े डाक्टर सबसे कम दवाइयां लिखते हैं।

सबसे ज्यादा दी जाने वाली दवाइयां सल्फा और एण्टीबायोटिक थीं। इसके बाद टॉनिक, लवण विटामिन जैसी पोषण-पूरक चीजों का नम्बर आता है। इसमें भी अन्य डाक्टरों की बनिस्बत पी. एच. सी. के डाक्टर ज्यादा एण्टीबायोटिक और ज्यादा पोषण-पूरक दवाइयां लिखते हैं।

इस अध्ययन के मुताबिक एण्टीबायोटिक व सल्फा दवाइयों का दुरुपयोग सबसे ज्यादा होता है। अन्य डाक्टरों की तुलना में पी. एच. सी डाक्टर ये दवाइयां ज्यादा लिखते हैं।

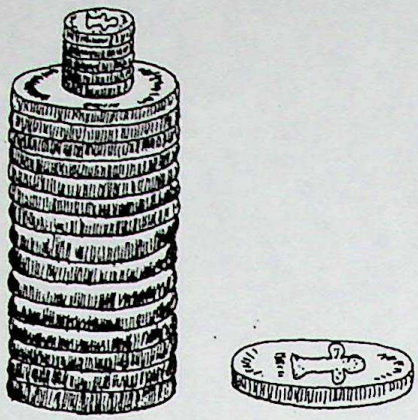

जहां तक दवा की कीमत का सवाल है, तो जिला अस्पताल, पी. एच. सी. सबसे महंगा इलाज करते हैं। हर बीमारी के इलाज के खर्च में डाक्टरों में बहुत अन्तर देखे गए।

नुस्खा लिखने सम्बन्धी तौर-तरीकों का एक अध्ययन महाराष्ट्र के सतारा ज़िले में सन् 1993 में किया गया। इस अध्ययन से पता चला कि

- सभी तरह के डाक्टरों में तर्कसंगत पर्चियों (नुस्खों) का अनुपात कम था।
- काफी सारे नुस्खों में बेतुकु, गैर जरूरी, हानिप्रद दवाइयां और गैर जरूरी इन्जेक्शन शामिल थे।
- निजी (प्राइवेट) डाक्टरों की तुलना में सरकारी डाक्टर ज्यादा तर्कसंगत दवा-नुस्खे देते हैं।

इसी अध्ययन में इस बात पर भी गौर किया गया कि मरीजों के लिए इन दवाइयों की कीमत कितनी होती है। यह देखा गया है कि दवाइयों पर खर्च किए गए पैसे में से 63.6 प्रतिशत अनावश्यक था और इसे पैसे की बर्बादी ही कहा जा सकता है। पूरे सतारा जिले में दवाइयों पर सालाना 22 करोड़ रुपए खर्च किए जाते हैं। इसमें 17.7 करोड़ रुपए डाक्टरों द्वारा लिखी गई अनावश्यक दवाइयों पर बर्बाद होते हैं। (विस्तृत जानकारी के लिए तालिका देखें।) रिपोर्ट के लेखकों की राय है कि "आज भारत में लोगों को पर्याप्त उपचार नहीं मिल पाता, तो इसका कारण यह नहीं है कि हम गरीब हैं बल्कि यह है कि काफी सारा पैसा बेतुकी दवाइयों पर बर्बाद होता है।"

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने 75 ऐसे कारण खोजे हैं जिनकी वजह से डाक्टर गलत नुस्खे लिखते हैं। इनमें से कुछ आम कारण निम्नानुसार हैं।

1. गलत निदान

जब सही निदान के लिए पर्याप्त समय व सुविधा न हो, तो डाक्टर ज्यादा दवाइयां लिख देते हैं। अस्पतालों के भीड़ भाड़ वाले बाह्य रोगी विभाग में यही स्थिति होती है। यहां डाक्टरों को थोड़े से समय में सौ-सौ मरीज देखने होते हैं। मेडिकल छात्रों का प्रशिक्षण बड़े अस्पतालों में होता है जहां निदान की कई सुविधाएं जैसे प्रयोगशाला, एक्सरे आदि मौजूद रहती है। इन सुविधाओं के अभाव में डाक्टर को मात्र शारीरिक जांच के आधार पर रोग निदान करना पड़ता है।

2. दवा के बारे में सही जानकारी का अभाव

कई बार डाक्टरों को दवाओं और उनकी उपयुक्त खुराक के बारे में पर्याप्त जानकारी नहीं होती। कारण यह है कि कॉलेज का ज्ञान तो कुछ ही वर्षों में हवा हो जाता है। डाक्टर न तो नियमित रूप से अध्ययन करते हैं और न ही उन्हें रिफ्रेशर कोर्स का अवसर मिलता है।

बेतुके नुस्खों की वजह से बर्बादी

	निजी क्षेत्र	सरकारी क्षेत्र	कुल
क. कुल विश्लेषित नुस्खे (पर्चियां)	68	84	152
ख. डाक्टरों की पर्चियां की प्रतिदिन कीमत (रुपए)	467.62	315.67	783.3
ग. मानक औषधि उपचार के	144.09	140.82	284.91
घ. बेतुके नुस्खों की वजह से	323.53	174.85	498.38
ङ. मरीज द्वारा खर्च किए गए पैसे में बर्बादी का प्रतिशत	69.19%	55.39%	63.63%
च. प्रतिदिन प्रति नुस्खा बर्बादी (रुपए)	4.76	2.08	3.28

घ. की गणना ग – ख से की गई है।

ङ. की गणना $\frac{\text{घ}}{\text{ख}} \times 100$ से की गई है।

च. की गणना $\frac{\text{घ}}{\text{क}}$ से की गई है।

स्रोत : ए. फड़के एवं अन्य, एफ. आर. सी. एच., 1995.

दूसरा, रोजाना नई दवाइयां बाजार में आ जाती हैं। मेडिकल शिक्षा में डाक्टरों को किसी नई औषधि को ठोंक बजाकर परखना नहीं सिखाया जाता। औषधि विज्ञान का उनका ज्ञान दवा के प्रभाव और उसके प्रतिकूल असर तक ही सीमित रहता है। इसमें हर नुस्खे की कीमत की जानकारी का कोई स्थान नहीं होता।

3. दवा कंपनियों की भूमिका

दवा कंपनियों का स्वार्थ इसी में है कि डाक्टर बेतुके नुस्खे लिखें। कंपनियों के बिक्री एजेन्ट (सेल्स रिप्रेजेन्टेटिव) डाक्टरों को यही घुट्टी पिलाते हैं कि कैसे उनकी कम्पनी का माल ही सर्वोत्तम है। जैसे वे कहेंगे कि उनकी कंपनी द्वारा बनायी गयी लौह औषधि साधारण व सस्ते फेरस सल्फेट से बेहतर है। यदि औषधी विज्ञान की कोई किताब उठाकर देखें तो पता चलेगा कि फेरस सल्फेट इस नई औषधि के बराबर ही कारगर है। परन्तु डाक्टर बिक्री एजेन्ट की बात को सही मानकर नई दवा लिखना शुरू कर देते हैं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने पाया कि वास्तव में बिक्री एजेन्ट और विज्ञापन ही डाक्टरों के लिए जानकारी के प्रमुख स्रोत है। बल्कि कभी-कभी तो यही एक मात्र स्रोत होता है। बिक्री एजेन्ट डाक्टरों को दवा के मुफ्त नमूने और कई उपहार (जैसे पेन, घड़ी, विदेश यात्रा वगैरह) भी देते हैं। दवा कंपनियां स्वाभाविक रूप से अपने माल के पक्ष वाली जानकारी ही देती हैं। उस दवा के प्रतिकूल प्रभाव, दिक्कतें, प्रभावहीनता, आदि बातें कम करके बताई जाती हैं। कभी-कभी तो पूरी तरह छिपा ली जाती हैं।

दवा के बारे में निष्पक्ष जानकारी उपलब्ध न होने के कारण डाक्टर कंपनी द्वारा दी गई जानकारी की उचित जांच पड़ताल भी नहीं कर पाते।

4. बाजार से दवा नदारद

जब किसी बीमारी का लम्बा व नियमित इलाज करना हो, तो यह एक बड़ी समस्या बन जाती है। उदाहरणार्थ टी. बी. या कुष्ठ रोग। इन बीमारियों की दवाइयां में ज्यादा मुनाफा नहीं मिलता। अतः कंपनियां ये दवाइयां कम से कम बनाती हैं और अपना पैसा ज्यादा मुनाफे वाली दवाइयों में लगाती हैं।

कई बार दवा कंपनियां बाजार में किसी दवा का कृत्रिम अभाव भी पैदा कर देती हैं। इसकी वजह से डाक्टर को उसी कंपनी द्वारा बनाई गई दूसरी दवा लिखना पड़ती है।

5. विदेशों से मिलने वाली मुफ्त दवाएं

कई गैर-सरकारी संस्थाओं को विदेशों से उपहार के रूप में मुफ्त दवाइयां मिलती हैं। गैर-अंग्रेजी भाषी देशों की दवाइयों पर सारी जानकारी किसी अनजानी भाषा में लिखी जाती है। नतीजा यह होता है कि ये दवाइयां स्वास्थ्य केन्द्रों में पहुंच तो जाती हैं मगर डाक्टर यह तक समझ नहीं पाते कि इनके प्रमुख घटक क्या हैं या इनके प्रतिकूल प्रभाव और दिक्कतें क्या हैं।

6. मुनाफे की भावना

हमारे देश में प्राइवेट प्रैक्टिस आम बात हो गई है। प्राइवेट प्रैक्टिस में सारा धन्धा इस बात पर टिका है कि डाक्टर मरीज से कितना पैसा ऐंठ पाते हैं और अपने ग्राहकों को कितने समय तक बांधे रख पाते हैं। अतः डाक्टर का मुख्य मकसद मरीज को संतुष्ट करना होता है। ऐसे में, डाक्टर दवा कंपनियों द्वारा प्रचारित इस धारणा को ही आगे बढ़ाते हैं कि 'अच्छा' डाक्टर महंगी दवा लिखता है और दवाइयों की संख्या जितनी ज्यादा होगी, इलाज उतना ही जल्दी होगा।

डाक्टर प्रायः यह भी दिखाने की कोशिश करते हैं कि उन्हें चिकित्साशास्त्र की नवीनतम जानकारी पता है। इसलिए वे बाजार में उपलब्ध नई से नई दवा देने की कोशिश करते हैं।

यह बात सर्वविदित है कि कई डाक्टरों का पड़ौस के मैडिकल स्टोर से समझौता होता है कि यदि वे महंगी दवा लिखेंगे तो उन्हें कुछ कमीशन मिलेगा और जिन डाक्टरों का अपना मेडिकल स्टोर होता है, वे तो चाहेंगे ही कि मरीज ज्यादा-से-ज्यादा दवाइयां खरीदें।

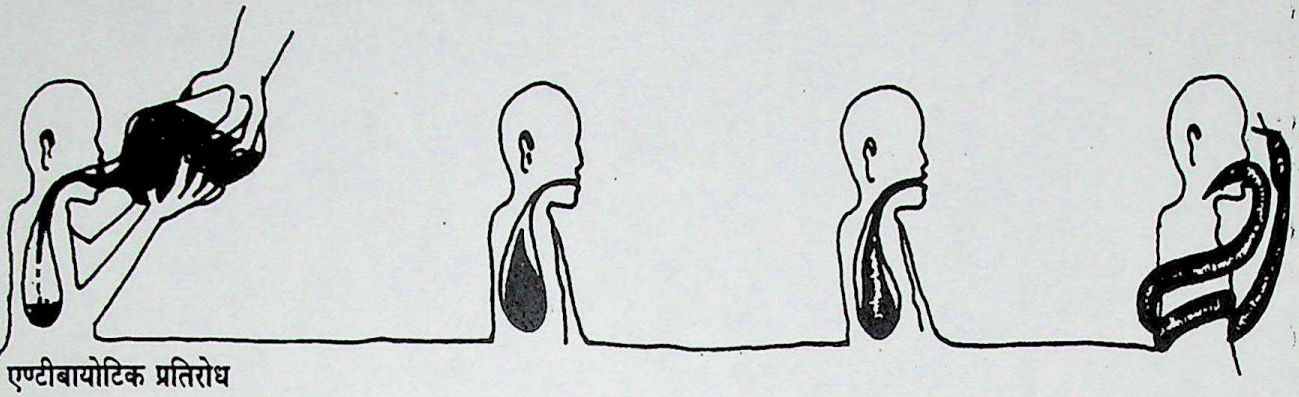

एण्टीबायोटिक प्रतिरोध

प्रतिजैविकी (एण्टीबायोटिक) दवाइयों के खिलाफ प्रतिरोध का पहला मामला सन् 1972 में सामने आया था। केरल के कालीकट जिले में मोतीझरा की महामारी हुई। इस समय यहां 3000 ऐसे मामले पाए गए जो क्लेरोम्फिनेकाल प्रतिरोधी थे। शीघ्र ही यह पता लगा कि यहां सन् 1971 में बच्चों में वायरस के खिलाफ आन्त्र शोध की एक महामारी फैली थी। उस समय क्लोरोम्फिनेकाल का जरूरत से ज्यादा इस्तेमाल किया गया था। हालांकि जीवाणुनाशी वायरस के खिलाफ कारगर नहीं होते, परन्तु फिर भी काफी मात्रा में बच्चों को दिए गए। डाक्टरों का सबसे पसन्दीदा जीवाणुनाशी दरअसल दो औषधियों का मिश्रण था–क्लोरोम्फिनेकाल और स्ट्रप्टोमायसिन। यह मिश्रण आज भी ब्राण्ड नाम से बाजार में विकता है। अब सरकार इस मिश्रित दवा पर बन्दिश लगाना चाहती है। जीवाणुनाशी के इस अतिरेक के फलस्वरूप मोतीझरा की प्रतिरोधी महामारी पैदा हुई। मोतीझरा महामारी तो सन् 1972 के साथ खत्म हो गई परन्तु उत्तरी केरल का यह इलाका हमेशा के लिए 'प्रतिरोधी मोतीझरा' का इलाका बन गया। सन् 1976 में फिर से प्रतिरोधी मोतीझरा की महामारी फैली।

सन् 1978 के बाद से कई बड़े-बड़े शहरों में दल-प्रतिरोधी मोतीझरा के मामले प्रकाश में आए है। इनमें मद्रास, बम्बई, चण्डीगढ़ जैसे शहर शामिल हैं। यह मामला ऐसा नहीं है कि एक जगह का प्रतिरोधी-संक्रमण पूरे देश में फैल रहा हो। हर बार नए सिरे से दवा-प्रतिरोध उभरता है।

अस्पताल, जहां जीवाणुनाशी औषधियों का मुक्तहस्त से उपयोग होता है, शायद नवजात शिशुओं के लिए सबसे असुरक्षित स्थान साबित हो।

(विज्ञान व पर्यावरण केन्द्र)

7. मरीज की शुभकामनाएं

सभी मरीज तत्काल राहत चाहते हैं। यदि मरीज संतुष्ट हुआ, तो उसी डाक्टर के पास बार-बार आएगा। दवा कंपनियों के विज्ञापनों के जरिए मरीजों के दिमाग में कई धारणाएं भी बना दी गई हैं। जैसे कि सेहत के लिए विटामिन व टॉनिक जरूरी है, या यह कि इंजेक्शन गोली से बेहतर है, आदि।.

कई बार खुद मरीज की भी इच्छा होती है कि उसे टॉनिक या इंजेक्शन मिलना चाहिए। कई डाक्टर जानते हैं कि ये औषधियां बेकार हैं पर मरीज की इच्छा पूरी करने के लिए लिख देते हैं। कई बार ऐसा भी होता है कि किसी मरीज को दवा की कोई जरूरत नहीं होती, पर ऐसे दबाव के कारण उसे दवाई दी जाती है। इसमें सबसे बुरी व कभी-कभी खतरनाक बात यह है कि मरीज को तत्काल चमत्कारिक राहत दिलाने के लिए दवाइयां दी जाती हैं। बच्चों को एनाबोलिक स्टीराइड दिया जाना इसकी सबसे ताजा मिसाल है। यह दवाई ऐसे बच्चों को दे दी जाती है जो थके थके से रहते हैं या जिनका वजन नहीं बढ़ता। परन्तु इसके खतरनाक साइड प्रभाव हो सकते हैं।

8. डाक्टर -डाक्टर भटकना

एक सी परिस्थितियों में एक ही बीमारी के लिए विभन्न डाक्टरों के नुस्खे अलग-अलग होते हैं। मरीज एक डाक्टर के पास जाता है। और दो-एक दिन में ठीक न हो, तो दूसरे डाक्टर के पास चला जाता है। दूसरा डाक्टर पहले वाली दवाइयां नहीं देना चाहता। वह नई दवाइयां लिख देता है। इस तरह से एक बीमारी के लिए मरीज को दो-तीन जीवाणुनाशी दवाइयां दे दी जाती हैं और एक की भी खुराक पूरी नहीं हो पाती।

9. दवा लेने का गलत तरीका

बहुधा मरीज दवा गलत तरीके से लेते हैं। या तो वे मात्रा कम कर लेते हैं ताकि इलाज ज्यादा देर तक चले या मात्रा बढ़ा देते हैं ताकि जल्दी राहत मिल जाए। कई बार दवाइयां गलत समय पर ले जाती हैं और कई बार तो मरीज दवा लेना ही भूल जाते हैं। लम्बे इलाज के दौरान बीच में ही दवा बन्द कर लेते हैं। टी. बी. के मामले में

सांघातिक मलेरिया (मेलिग्नेन्ट मलेरिया)

मच्छरों में कीटनाशी के खिलाफ उत्पन्न प्रतिरोध के अलावा भी मलेरिया से जुड़ी एक और भयानक समस्या है। मलेरिया का एक रूप प्लाजमोडियम फाल्सिपेरम होता है, जिसे मेलिग्नेन्ट या सांघतिक मलेरिया भी कहा जाता है। प्लाज़मोडियम फाल्सिपेरम क्लोरोक्विन के खिलाफ प्रतिरोधी होता जा रहा है। यदि इलाज न किया जाए, तो प्लाज़्मोडियम फाल्सिपेरम के 40 प्रतिशत मरीज मौत के शिकार हो जाते हैं। एशिया व लातीनी अमरीका में क्लोरोक्विन के विरुद्ध मलेरिया परजीवी का प्रतिरोध पहले से ही ज्ञात है। एशिया में यह सबसे पहले थाइलैण्ड में सन् 1960 के दशक मे देखा गया। यहां से यह पश्चिमी एशिया की तरफ फैला। उत्तर-पूर्वी भारत में यह सबसे पहले सन् 1973 में पाया गया। आज नागालैण्ड, आसाम, मेघालय, अरुणाचल प्रदेश और मिज़ोरम में क्लेरोक्विन-प्रतिरोध व्यापक रूप से देखा जा रहां है और बिहार, बंगाल, आन्ध्रप्रदेश, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश के मिर्ज़ापुर जिले एवं दिल्ली के उत्तर के इलाके में भी फैल चुका है।

(विज्ञान व पर्यावरण केन्द्र)

प्रायः ऐसा होता है क्योंकि दवा की क्रियाविधि उन्हें ठीक से समझाई नहीं जाती। मरीज को लगता है कि तकलीफ दूर हो जाने के बाद दवा खाने की क्या जरूरत। आखिर तकलीफ दूर करने के लिए ही तो दवा खाई थी।

कई बार चिकित्साकर्मी पूरी जानकारी व निर्देश भी नहीं दे पाते। भीड़ भाड़ वाले बाह्य रोगी विभाग में ऐसा ही होता है। यह देखा गया है कि गुदा में रखने वाली गोली को मरीज खा लेते हैं क्योंकि उन्हें बताया ही नहीं गया था कि गोली का गुदा में डालना है। बहुत सारी दवाइयां होने भर भी मरीज भ्रमित हो जाते हैं कि कौन- सी दवा कब लेना है।

10. दाम का सवाल

मान लीजिए कि सही मात्रा में दवा लिख दी गई। तो भी हो सकता है कि मरीज के पास एक-दो दिन की दवा खरीदने का ही पैसा हो। यह भी संभव है कि मरीज के पास इन्जेक्शन का पैसा तो हो, पर इन्जेक्शन लगवाने के लिए पैसा न हो। कई बार स्वास्थ्य केन्द्र इस समस्या से पार पाने के लिए मुफ्त दवा वितरित करते हैं। परन्तु लोगों की नजर में सिर्फ बेकार चीजें ही मुफ्त में बांटी जाती है। अतः इन मुफ्त की दवाइयों को बेकार समझा जाता है। वाकई जब सरकार ने सारी गर्भवती औरतों को लौह व फोलिक एसिड की गोलियां बांटना शुरू किया, तो अगले ही दिन से ये गोलियां कचरे डिब्बों की शोभा बढ़ाने लगीं।

कई बार ऐसा भी होता है कि जितनी दवाइयां लिखी गई हैं, उनमें से मरीज एक-दो ही खरीद सकता है। ऐसे में पर्ची में सबसे ऊपर लिखी दवाइयां ही खरीद ली जाती हैं। मगर कई डाक्टर सबसे पहले गैर-जरूरी दवाइयां लिखते हैं और जरूरी दवाइयां आखिर में। इस तरह से मरीज का सारा पैसा गैर-जरूरी दवाइयों पर खर्च हो जाता है। और इलाज भी नहीं हो पाता।

उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट है कि कई कारणों से दवाइयों का अति उपयोग व दुरुपयोग होता है। बहरहाल सबसे प्रमुख कारण है डाक्टरों के मुनाफे की लालसा और दवा कंपनियों का दबाव। जब प्राइवेट प्रैक्टिस का बोलबाला है, तो यह स्वाभाविक ही है। दवाइयों का ऐसा बेतुका उपयोग चिन्ता का विषय है क्योंकि बढ़ती संख्या में अनिवार्य दवाइयों के खिलाफ प्रतिरोध विकसित हो रहा है और ये जीवन रक्षक दवाइयां भी बेकार होती जा रही हैं। दवा के इस तरह के तर्कहीन उपयोग का गरीबों पर और भी ज्यादा प्रभाव पड़ता है। वे जितना ज्यादा पैसा दवाइयों पर खर्च करते हैं, उतना ही भोजन का बजट कम होता जाता है। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि दवाइयों का उपयोग बहुत सोच समझकर किया जाए।

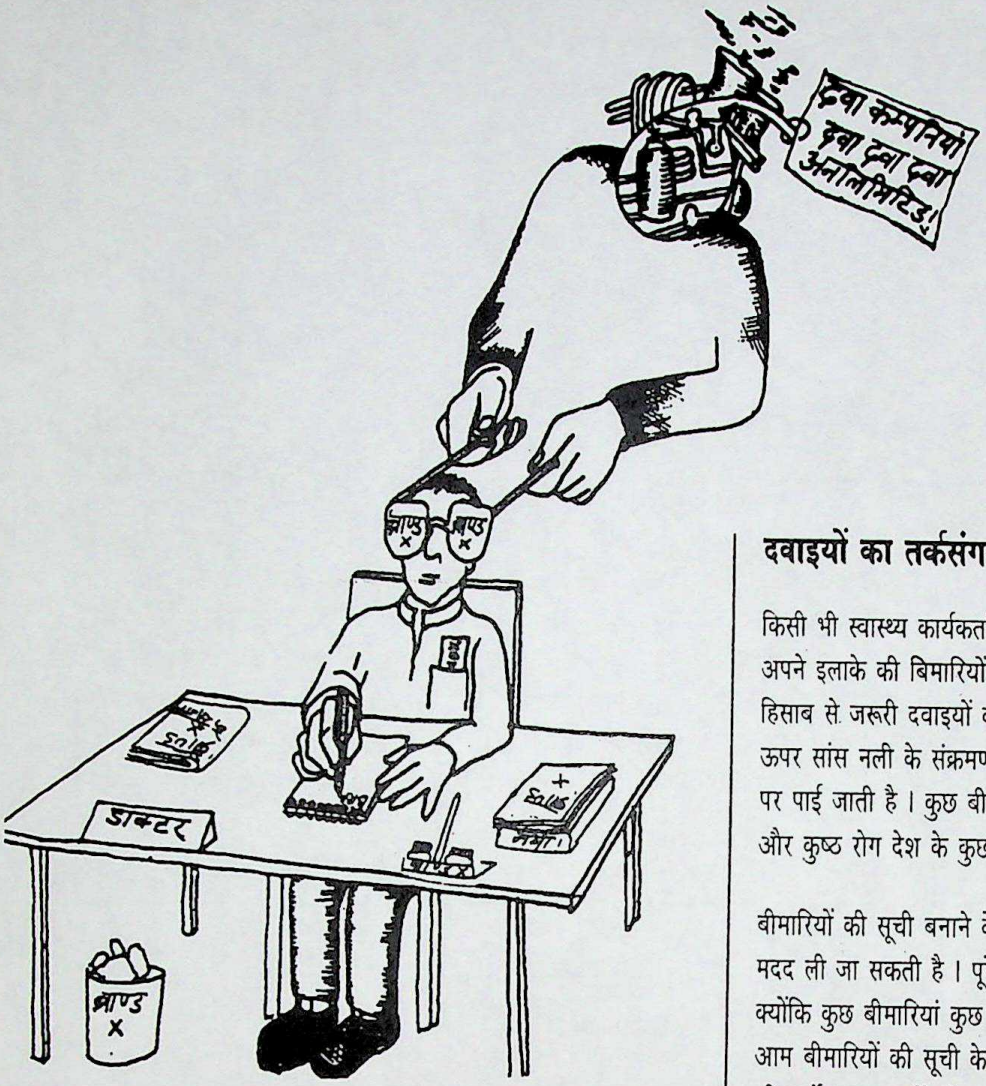

5 में से 4 बीमारियां अपने आप ठीक हो जाती हैं। इसका मतलब है कि दवा ले या न ले, मरीज ठीक हो जाएगा। गरीबों की अधिकांश स्वास्थ्य समस्याएं गरीबी की वजह से होती हैं। इन समस्याओं का समाधान दवाइयों से नहीं किया जा सकता।

अफ्रीका व लातिन अमरीका के कई देशों में, जहां के लोगों की स्वास्थ्य समस्याएं भारत जैसी ही हैं, लोग अपनी सालाना आमदनी का 50 प्रतिशत स्वास्थ्य यानि जड़ी बूटियों, आधुनिक दवाइयों, डाक्टर तक पहुंचने, आदि पर खर्च कर देते हैं। कई बार इसके लिए उन्हें ऊंचे ब्याज पर कर्ज लेना पड़ा है। उपचार के बाद, यदि मरीज ठीक भी हो जाए, तो भी परिवार के पास भोजन के लिए पैसा नहीं बच जाता। इसके कारण परिवार के सदस्य फिर बिमार पड़ जाते हैं। **अतः महंगी स्वास्थ्य सुविधा खराब सेहत का प्रमुख कारण बन जाती है।**

("हैल्पिंग हैल्थ वर्कर्स लर्न", डेविड वर्नर और बिल बोअर की पुस्तक के आधार पर)

दवाइयों का तर्कसंगत इस्तेमाल

किसी भी स्वास्थ्य कार्यकर्ता का पहला काम यह होना चाहिए कि वह अपने इलाके की बिमारियों के पैटर्न का अध्ययन करे और उसके हिसाब से जरूरी दवाइयों की सूची बना ले। दस्त, कृमि (कीड़े) और ऊपर सांस नली के संक्रमण जैसी बीमारियां तो पूरे देश में आमतौर पर पाई जाती है। कुछ बीमारियां, जैसे हाथी पांव (फाइलेरिया), घेंघा और कुष्ठ रोग देश के कुछ हिस्सों में ज्यादा होती हैं।

बीमारियों की सूची बनाने के लिए साल के ओ. पी. डी. रजिस्टर की मदद ली जा सकती है। पूरे साल के रिकार्ड का अध्ययन जरूरी है क्योंकि कुछ बीमारियां कुछ विशेष मौसमों में ही ज्यादा होती हैं। आम बीमारियों की सूची के आधार पर स्वास्थ्य कार्यकर्ता हर बीमारी की सर्वोत्तम दवाइयों की सूची बना सकती है।

उपयुक्त दवाइयों की सूची बनाना एक मुश्किल काम है, क्योंकि हमारे देश में कोई 30,000 दवाइयां बेची जाती है। मगर इनमें से 1 प्रतिशत से भी कम यानि 116 दवाइयों से ही हमारे देश की बुनियादी जरूरतें पूरी हो सकती हैं। भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद और भारतीय समाज विज्ञान परिषद की रिपोर्ट "सबके लिए स्वास्थ्य" के अनुसार, गांव के स्तर पर तो मात्र 18 दवाइयां ही जरूरी हैं। इसका मतलब यह हुआ कि देश में बिकने वाली अधिकांश दवाइयां जरूरी नहीं हैं। अर्थात् इनका इस्तेमाल अनुपयुक्त है। उपयुक्त दवा चुनते वक्त स्वास्थ्य कार्यकर्ता कुछ बातें ध्यान में रखें। दवा एसी चुने जो :

- कारगर हो
- पहली पंक्ति की हो
- एक ही अवयव से बनी हो
- आसानी से ली जा सके और
- सस्ती हो।

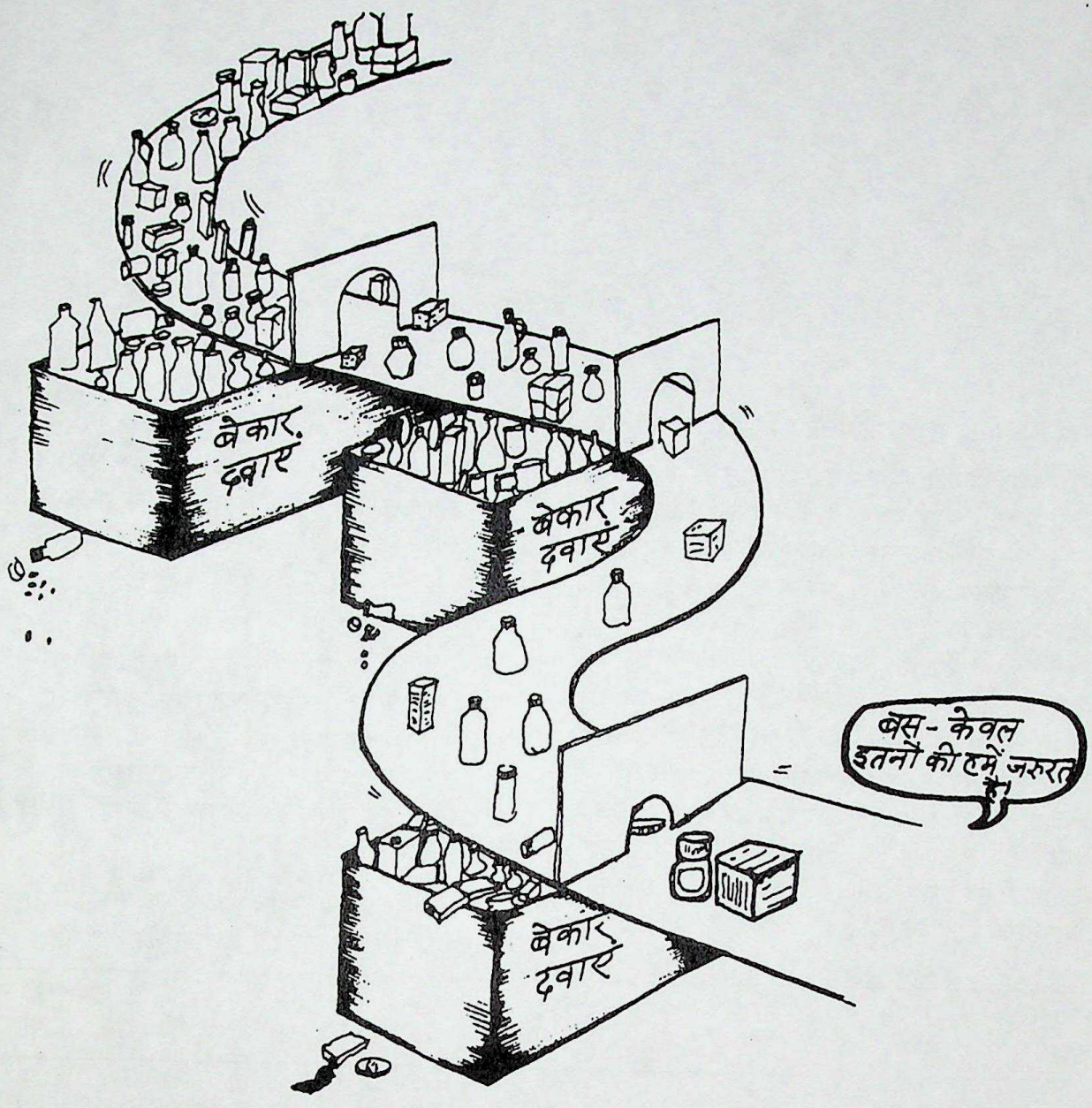

कारगर दवाइयों का चुनाव

बाजार में मिलने वाली ढेर सारी दवाइयों में से बहुत ही कम ऐसी हैं, जिनकी गहन जांच हुई है और जिनका महत्त्व प्रमाणित हो चुका है। क्लोरोक्विन, जीवणुनाशी, कृमिनाशी आदि दवाइयां इस श्रेणी में रखी जा सकती है। यदि सही तरह से प्रयोग की जाएं, तो ये बेशक कारगर साबित होती हैं। दूसरी ओर, कई दवाइयां ऐसी हैं, जिनका उपयोग आमतौर पर होता है पर उनका असर या तो सीमित है या शंकास्पद है या असर है ही नहीं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के मुताबिक खांसी के सिरप, खांसी की चूसने वाली गोलियों, कान की ड्राप्स और नाक के स्प्रे की उपयोगिता को लेकर पर्याप्त सबूत नहीं हैं। इसके अलावा इन सारी औषधियों में जीवाणुनाशी की थोड़ी मात्रा होती है जो आगे चलकर नुकसानदेह हो सकती है।

ताजा अनुसंधानों से पता चला है कि दस्त की सारी दवाइयां जैसे लोमोटिल, मैक्साफार्म आदि न सिर्फ अनुपयोगी बल्कि खतरनाक भी हैं।

अधिकांश टॉनिक व विटामिन औषधियों की उपयोगिता बहुत सीमित हैं। इनमें बहुधा कोई एक विटामिन शरीर की जरूरत से बहुत ज्यादा मात्रा में होता है।

चमड़ी के कई मलहम, जैसे पेनिसिलिन मलहम, जले के मलहम, स्टीराइड वाले मलहम, आदि अनुपयोगी और खतरनाक हैं। इसलिए स्वास्थ्य कार्यकर्ता को चाहिए कि वह ऐसी दवाइयां चुनें जो कारगर प्रमाणित हो चुकी हों।

जहां तक संभव हो, पहली पंक्ति की दवाई इस्तेमाल करें

पहली पंक्ति की दवाई से तात्पर्य उन दवाइयों से है जिनका उपयोग किसी बिमारी के इलाज में सबसे पहले किया जाता है। दूसरी पंक्ति की दवाइयां वे हैं जिनका उपयोग तभी किया जाता है जब पहली पंक्ति की दवाइयां नाकाम रहें। उदाहरण के लिए, आइ. एन. एच., स्ट्रेप्टोमायसिन, पी. ए. एस. तथा थाएसिटाज़ोन, टी. बी. के लिए पहली पंक्ति की दवाइयां हैं। इथेम्ब्यूटॉल, पाइरेजिनामीड तथा रिफेम्पिसिन दूसरी पंक्ति की दवाइयां हैं।

टी बी. के इलाज में पहली पंक्ति और दूसरी पंक्ति दोनों ही किस्म की दवाइयां कारगर है, किन्तु दूसरी पंक्ति की दवाइयां ज्यादा शक्तिशाली, ज्यादा महंगी और ज्यादा खतरनाक हैं। दूसरी पंक्ति की दवाइयों के आम उपयोग के कारण टी. बी. के बेक्टीरिया में इनके खिलाफ प्रतिरोध क्षमता विकसित होती जा रही है। इस प्रकार से ये जीवनरक्षक दवाइयां बेकार होती जा रही हैं।

एक ही अवयव वाली दवाई

बाजार में ऐसी बहुत कम औषधियां हैं जिनमें एक ही अवयव हो। टेट्रासायक्लीन, पेनिसिलीन, फेरस सल्फेट, एस्पिरिन, आदि इस तरह की औषधियां है। दूसरी तरफ, अधिकांश औषधियों में मुख्य दवा के अलावा कई अन्य पदार्थ भी मिले रहते हैं। इन्हें मिश्रित औषधि कहा जाता है।

मिश्रित औषधियों के कुछ उदाहरण है : ए. पी. सी. (**एस्पिरिन** + फिनेसिटीन + कैफीन), **क्लोरेम्फिनेकाल** + स्ट्रेप्टोमायसिन; **टेट्रासायक्लीन** + एनाल्जीन + विटामिन सी; मल्टीविटामिन, आदि। उपरोक्त मिश्रित औषधियों में एस्पिरिन, क्लोरेम्फिनेकाल तथा टेट्रासायक्लीन मुख्य अवयव है। अन्य अवयवों की थोड़ी-सी मात्रा ही मिलाई जाती है।

मिश्रित औषधियों में इन गौण पदार्थों की भूमिका काफी संदेहास्पद है। ये इतनी कम मात्रा में होते हैं कि इनका कोई प्रभाव होना

एस्पिरिन से बनी दवाइयां	अवयव 1977	कीमत प्रति गोली (पैसे)	अवयव 1996****	कीमत प्रति गोली (पैसे)
एस्पिरिन	एस्पिरिन 300 मि. ग्रा.	3	एस्पिरिन 300 मि. ग्रा.	15.2
एस्रो माइक्रोफाइन्ड	एस्पिरिन 350 मि. ग्रा. + कैफीन 20 मि. ग्रा.*	8	एस्पिरिन 325 मि. ग्रा. + पैरासिटमोल 250 मि. ग्रा.	27.5
कोडोपायरीन	एस्पिरिन 250 मि. ग्रा. + फिनेसिटीन 250 मि. ग्रा.*** + कोडीन 8 मि. ग्रा.	14	एस्पिरिन 250 मि. ग्रा. + पैरासिटमोल 250 मि. ग्रा. + कोडीन 1% से कम	50.0
ड्रिस्टान	एस्पिरिन 230 मि. ग्रा.+ फिनेसिटीन 97 मि. ग्रा.*** + कैफीन 16 मि. ग्रा.* फिनाईल एफरीन 5 मि. ग्रा. + फैनिन्डेमीन 10 मि. ग्रा. + विटामिन सी** 20 मि. ग्रा.	18	एस्पिरिन 325 मि. ग्रा. + कैफीन 30 मि. ग्रा. + फिनाईल एफरीन 5 मि. ग्रा.	28.0
वेगेनीन	एस्पिरिन 250 मि० ग्रा.+ फिनेसिटीन 250 मि. ग्रा.*** + कैफीन 32 मि. ग्रा. + कोडीन 7 मि. ग्रा.*	24	एस्पिरिन 250 मि. ग्रा. + पैरासिटमोल 250 मि. ग्रा. कोडीन 1% से कम	38.2

* प्रभाव पैदा करने के लिए जरूरी न्यूनतम मात्रा से कम

** बहुत कम मात्रा

*** अत्यधिक विषैलेपन के कारण इसे मिलाना ठीक नहीं

**** सन् 1977 से 1995 में दवा कंपनियों ने अपने ब्राण्ड दवाओं का संयोजन बदल दिया है। हालांकि ये दवाइयां अभी भी अविवेकी हैं। संयोजन बदलने के बाद भी कंपनियों ने अपने दवाओं का ब्राण्ड नाम नहीं बदला है।

एक प्याली चाय या काफी में 60 मि. ग्रा. कैफीन होता है उपरोक्त में किसी दवाई में इतनी भी कैफीन नहीं होती।

स्रोत : टाइम्स ऑफ इण्डिया, अगस्त 1977, (मुकर्रम भगत की पुस्तक आस्पेक्ट्स ऑफ ड्रग इण्डस्ट्रीज़ इन इण्डिया में उद्धरित) और रुक्मणी आनंदानी, 1996.

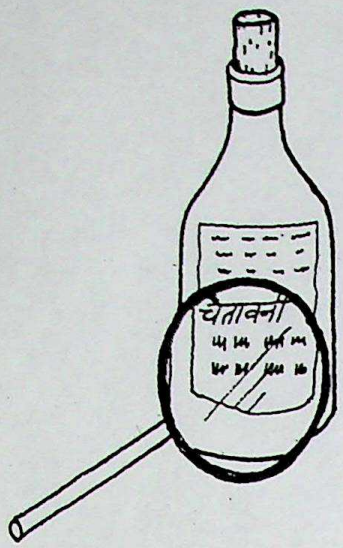

असंभव है (तालिका देखें) विटामिन सी, मल्टीविटामिन या कैफीन जैसी चीजें वैसे भी उपयोगी नहीं हैं। फिर भी दवा कंपनियां मिश्रित औषधियां बेचने की बहुत कोशिश करती हैं क्योंकि ये ज्यादा महंगी होती है और इनकी बिक्री में ज्यादा मुनाफा होता है।

यदि किसी मरीज में मिश्रित की प्रतिक्रिया (रिएक्शन) हो जाए, तो यह कहना भी मुश्किल हो जाता है कि रिएक्शन किस अवयव की वजह से हुई होगी। मसलन, यदि किसी मरीज को स्ट्रेप्टोपेनिसिलिन दी गई हो, तो रिएक्शन स्ट्रेप्टोमायसीन या पेनिसिलीन या दोनों के मिले-जुले असर के कारण हो सकती है। एक अवयव वाली दवाइयां ज्यादा कारगर, सुरक्षित और सस्ती होती हैं। मिश्रित दवाइयों की बजाय इनका चयन ज्यादा उपयुक्त होगा।

विशिष्ट संक्रमण के लिए निर्दिष्ट दवा का सावधानीपूर्वक इस्तेमाल करें

क्लोरेम्फिनेकाल और स्ट्रेप्टोमायसीन जैसी दवाइयां विस्तृत दायरे वाली जीवाणुनाशी दवाइयां हैं अर्थात् ये कई किस्म के संक्रमणों के खिलाफ कारगर होती हैं। मगर मोतीझरा के खिलाफ मात्र क्लोरेम्फिनेकाल ही कारगर होती है। इसी प्रकार से टी. बी. के इलाज मे स्ट्रेप्टोमायसीन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसलिए इन दवाइयों का इस्तेमाल मोतीझरा और टी. बी. के इलाज के लिए ही करना चाहिए। अन्य बीमारियों में इनका उपयोग करने से इन दवाइयों के खिलाफ प्रतिरोध की समस्या उत्पन्न हो सकती है। अन्य बीमारियों में इस्तेमाल होने से कई बार बाजार में इन दवाइयों की कमी हो जाती है। और वास्तविक जरूरतमन्द मरीजों को नहीं मिल पाती हैं।

अपेक्षाकृत सुरक्षित दवा चुनें

हर औषधि जहर ही होती है। अतः किसी भी औषधि के इस्तेमाल में खतरा तो है ही। आमतौर पर दवा की निर्दिष्ट खुराक बीमारी के इलाज के लिए तो काफी होती है, पर इतनी नहीं होती कि शरीर पर अपना विषैला असर दिखा सके।। अर्थात् दवा की खुराक इतनी रखी जाती है कि उसका नुकसानदेह असर सुरक्षित सीमा से ज्यादा न होने पाए।

परन्तु कुछ दवाइयां अपेक्षाकृत ज्यादा विषैली होती हैं, चाहे निर्धारित मात्रा में ही क्यों न ली जाएं। कारण यह है कि कोई भी दवा पूरे शरीर पर प्रभाव डालती है, न कि शरीर के मात्र उस एक हिस्से पर जिसका इलाज किया जा रहा है। जैसे कि गर्भनिरोधक गोली, मुख्यतः अण्डा-जनन रोकने के लिए ली जाती है, किन्तु इसका असर बाकी शरीर पर भी होता है। इसकी वजह से सिरदर्द, मितली, मोटापा, खून की नलियों में खून के थक्के बनना, आदि कई दिक्कतें भी पैदा हो सकती हैं।

अपेक्षाकृत सुरक्षित दवाइयां भी लम्बे समय तक ली जाएं तो कई बार गंभीर नुकसान हो सकता है। जैसे एनाल्जीन की तुलना में एस्पिरिन काफी सुरक्षित दवा है। मगर यदि मरीज को पहले से अल्सर या अम्लीयता (एसिडिटी) की शिकायत हो, तो एस्पिरिन से समस्या और बढ़ सकती है। यदि पहले से ऐसी समस्या न भी हो, तो भी लम्बे समय तक एस्पिरिन लेते रहने से आमाशय के अन्दरूनी त्वचा को नुकसान हो सकता है और रक्तस्राव हो सकता है। पेरासिटामोल एस्पिरिन से ज्यादा सुरक्षित है, किन्तु यदि पेरासिटामोल भी लम्बे समय (एक सप्ताह से ज्यादा) तक ली जाए तो इससे जिगर (लीवर) को क्षति हो सकती है और यह विषैली साबित हो सकती है।

इसके अलावा कई दवाइयां शरीर का कुदरती संतुलन बिगाड़ देती हैं। शरीर में कई बैक्टीरिया मौजूद रहते हैं। इनमें से कुछ शरीर के सामान्य कामकाज में सहायक होते हैं जबकि कुछ शरीर के लिए हानिकारक होते हैं। विस्तृत दायरे वाले जीवणुनाशी सारे बैक्टीरिया को खत्म कर देते हैं। उपयोगी बैक्टीरिया भी नष्ट हो जाते हैं। इसकी बजह से कई दिक्कतें पैदा हो सकती हैं, खासकर फफूंद और दस्त का हमला हो जाती है और इनका इलाज भी काफी कठिन है।

सामान्यतः गोलियां और कैपसूल, इन्जेक्शन की बनिस्बत ज्यादा सुरक्षित होते हैं। कारण यह है कि इन्जेक्शन का असर शीघ्रता से होता है। इन्जेक्शन की वजह से पीलिया, जख़्म, पोलियो आदि समस्याएं पैदा हो सकती हैं और कभी-कभी तंत्रिकाओं को भी क्षति पहुंच सकती है। इन्जेक्शन का इस्तेमाल तभी करना चाहिए जब मरीज की हालत गंभीर हो। जहां गोली से काम चल सके, वहां इन्जेक्शन का उपयोग कतई नहीं करना चाहिए।

दवा ऐसे चुनें जो आसानी से ली जा सके

आमतौर पर बच्चों को दवा लेने में कठिनाई होती है। या तो वे दवा को थूक देते हैं, या उन्हें उल्टी हो जाती है, या बड़ी गोलियां उनके गले में फंस जाती हैं। वयस्कों को भी दवा लेने में दिक्कत हो सकती है। किन्तु वयस्कों की कठिनाई का सम्बन्ध दवा की खुराक या दवा लेने के समय, आदि को ठीक से न समझ पाने से होता है।

बच्चों के लिए तरल के रूप में दवा लेना आसान होता है। अलबत्ता सिरप ज्यादा महंगे होते हैं। एक तरीका यह हो सकता है कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता खुद सिरप तैयार करें। इन्जेक्शन का उपयोग निहायत जरूरी होने पर ही करें।

गोली का चुनाव करते समय, वही गोलियां खरीदें जिनकी कम मात्रा खानी होती है। दिन में 6 बार 1-1 गोली या 4 बार 2-2 गोली खाने से बेहतर हेगा कि दिन में 1-1 गोली खानी पड़े। मरीज को जितनी कम गोलियां खानी पड़ें, उतना अच्छा।

दवा सस्ती चुनें

कई बार ऐसा होता है कि सबसे कारगर और सुरक्षित दवा सबसे महंगी भी होती है। मसलन अमीबाजन्य आंव या दस्त का इलाज मेट्रोनिडेजोल (फलेजिल), या डाइआइडोहायड्राक्सी-क्वीन (डायडोक्वीन) या आयडोक्लोरोहायड्राक्सीक्वीन (एन्टरोवायफार्म) में से किसी एक दवा से किया जा सकता है। इनमें से मेट्रोनिडेजोल ज्यादा कारगर और सुरक्षित है परन्तु यह ज्यादा महंगी भी है। डाइआइडोहायड्राक्सीक्वीन इतनी कारगर नहीं है। लम्बे समय तक इसका उपयोग करने से आंखों की क्षति, लकवा और मूत्राशय की समस्या उत्पन्न हो सकती है। आइडोक्लोरोहायड्रक्सीक्वीन भी ली जा सकती है परन्तु आंखों की क्षति का ख़तरा बढ़ जाता है। दरअसल, कई देशों में तो इस पर प्रतिबंध लगा दिया गया है।

तो, मेट्रोनिडेजोल सर्वोत्तम दवाई है। परन्तु यदि मरीज इसका खर्च न उठा सके, तो स्वास्थ्य कार्यकर्ता मुफ्त में तो दवाई नहीं दे सकते। मरीज खाली हाथ लौट जाएगा। ऐसी स्थिति में डाईआयडोहायड्राक्सी क्वीन का उपयोग किया जा सकता है या कुछ समय तक मेट्रोनिडेजोल देकर फिर डाइआयडोहायड्रक्सीक्वीन जारी रख सकते हैं। स्वास्थ्य कार्यकर्ता के लिए यह एक मुश्किल चुनाव होगा पर उसे ऐसी परिस्थितियों से निपटना पड़ेगा। *(वास्तव में कोई कारण नहीं है कि मेट्रोनिडेजोल जैसी जरूरी दवाइयां इतनी महंगी हों। ऐसी स्थिति में सरकार की दवा नीति और दवा कंपनियों की मुनाफाखोरी के कारण पैदा होती है। यह निहायत शर्म की बात है कि पैसे न होने की वजह से गरीब लोगों को सुरक्षित दवा की जगह खतरनाक दवा लेनी पड़ती है।)*

ऊपर हमने देखा कि किस तरह से स्वास्थ्य कार्यकर्ता उपयुक्त दवाइयों का चुनाव कर सकते हैं। "सबके लिए स्वस्थ्य" रिपोर्ट में जरूरी दवाइयों की एक सूची दी गई है। इस सूची में सभी दवाइयों के मूल नाम दिए गए हैं। इनका चुनाव देश में व्याप्त बीमारियों के पैटर्न के आधार पर किया गया है।

इस सूची की मदद से स्वास्थ्य कार्यकर्ता अपने केन्द्र के लिए जरूरी दवाइयों की सूची बना सकती है। शायद सूची में कुछ फेरबदल भी करना पड़े। जैसे कि यदि उसके इलाके में हाथी पांव की समस्या नहीं है, तो उसे थायोकार्बेमेजीन रखने की जरूरत नहीं है। हालांकि स्ट्रेप्टोमायसीन कई बीमारियों के लिए सुझाई गई है पर हमारा सुझाव होगा कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता इसे सिर्फ टी. बी. के लिए सुरक्षित रखे।

सन् 1995 में भारत सरकार ने अपने एक आदेश डी. पी. सी. ओ. 1995 (ड्रग्स प्राइस कन्ट्रोल आर्डर, 1995) के द्वारा 94 दवाओं की कीमतों पर कन्ट्रोल समाप्त कर दिया है। इसका सीधा मतलब दवा कंपनियां अब इन दवाओं की मनमानी कीमत वसूल करेंगी, अब उन पर कोई अंकुश नहीं रहेगा। ये दवाइयां बुनियाद और जीवनरक्षक दवाइयां हैं।

सामुदायिक स्तर पर जरूरी दवाइयां

नाम	उपयोग
1. एस्पिरिन	दर्दनिवारक, बुखार व गठियाबाह के लिए
2. क्लोरोक्वीन	मलेरिया, अमीबिएसिस, जिआर्डिएसिस, फीता कृमि, गंभीर लेप्रा रिएक्शन
3. सल्फोनामाइड	बैक्टीरियाजन्य आंव, पेशाब नली का संक्रमण, मेनिंगोकोकल मेनिंजाइटिस, चानक्रॉइड, ट्रेकोमा तथा इन्क्लूजन कन्जेकटीवायटिस
4. स्ट्रेप्टोमायसीन	टी. बी., पेशाब नली का संक्रमण, मेनिन्जाइटिस, बैक्टीरिमिया, बैक्टीरिया जन्य एण्डोकार्डाइटिस, सांस नली का संक्रमण
5. पैनिसिलीन	सांस नली का संक्रमण, रूमेटिक ज्वर, मेनिन्जाइटिस, आस्टिओमेलाइटिस, ओटाइटिस मीडिया, आदि
6. थाएसिटेज़ोन	टी. बी.
7. आइसोनिएनिजड	टी. बी.
8. डेप्सोन (डी. डी. एस)	कुष्ठ रोग, प्लाज्मोडियम फाल्सीपेरम (मलेरिया)
9. पाइपरेज़ीन	गोली व सूत्र कृमि
10. मेबेन्डेजोल	कृमि के खिलाफ कारगर (एंटी-हेल्मिंथिक)
11. डाइआयडोहायड्राक्सी क्वीन	अमीबिएसिस
12. मेट्रोनिडेजोल	आंत व जिगर की अमीबिएसिस, ट्राइकोमानिएसिस, जिआर्डिएसिस, आदि
13. फेरस सल्फेट	लौह तत्त्व की कमी वाली एनीमिया
14. विटामिन ए	कमी होने पर
15. मिश्रित विटामिन बी	कमी होने पर
16. थयोकार्बेमेज़ीन	हाथीपांव (फाइलेरिया)
17. सल्फर मलहम	खुजली, सोरिएसिस, रिंग कृमि, लूपस इरिथेमेटोसस
18. पुनर्जलन लवण	निर्जलन के समय

ये जरूरी दवाइयां देश के बीमारी के पैटर्न के अनुसार चुनी गई हैं परन्तु ये बहुत कम मात्रा में उपलब्ध होती हैं। इन दवाइयों की वास्तविक जरूरत का कोई सरकारी अनुमान नहीं लगाया गया है।

("सबके लिए स्वास्थ्य : एक वैकल्पिक रणनीति", 1981.)

दवा की कीमत कम करें

भले ही स्वास्थ्य कार्यकर्ता दवाइयों का सावधानीपूर्वक इस्तेमाल करें और दवा तभी दे जब जरूरी हो, तो भी कई लोग ऐसे होंगे जो इनका खर्च वहन नहीं कर सकेंगे। इस समस्या से निपटने के लिए स्वास्थ्य कार्यकर्ता दो महत्त्वपूर्ण उपाय कर सकते हैं :

- जहां तक संभव हो मूल (जिनेरिक) नाम वाली दवाइयां ही खरीदें और
- बल्क (या थोक) दवा ही खरीदें।

इन दो उपायों को अपनाकर दवाइयों की कीमत में 25 से 50 प्रतिशत तक की कमी की जा सकती है।

मूल (जिनेरिक नाम वाली दवाइयां)

बाजार में विकने वाली दवाइयों के प्रायः तीन नाम होते हैं: रासायनिक नाम, मूल नाम और ब्राण्ड नाम।

☞ **रासायनिक नाम :** हर दवाई में एक मुख्य अवयव अर्थात् रासायनिक पदार्थ होता है। इस नाम से हमें उस औषधि की

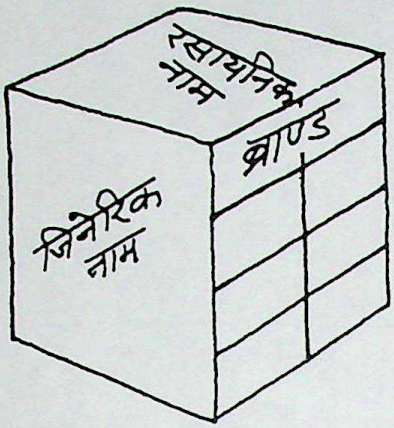

संरचना व संघटन का पता चलता है। इस नाम का उपयोग सिर्फ औषधि विज्ञान में किया जाता है। ये नाम अक्सर बहुत लम्बे होते हैं और याद रखने में कठिनाई होती है। नुस्खा लिखने में इनका उपयोग नहीं किया जाता।

☞ **मूल (जिनेरिक) नाम :** चूंकि रासायनिक नाम लम्बे व कठिन होते हैं, इसलिए हर दवा को एक छोटा जिनेरिक नाम दिया जाता है। यह नाम अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मान्य होता है। जिनेरिक नाम में दवा के मुख्य रासायनिक अवयव का भी उल्लेख होता है।

☞ **ब्राण्ड नाम :** हरेक दवा कई कंपनियों द्वारा बनाई जाती है। हर कंपनी दवा को अलग-अलग नाम देती है। यही उस दवा के ब्राण्ड नाम हो जाते हैं।

उदाहरण के लिए, एसीटाइल सेलिसिलिक एसिड रासायनिक नाम है। पूरी दुनिया में इस दवा को एस्पिरिन के जिनेरिक नाम से जाना जाता है। एस्पिरिन कई कंपनियां बनाती हैं और हरेक कंपनी इसे अलग-अलग नाम से वेचती है।

ब्राण्ड नाम क्यों ? : कोई भी कंपनी नई दवा बनाने से पहले काफी पैसा व समय अनुसंधान पर खर्च करती है। इस दवा के रासायनिक तथा जिनेरिक नाम होते हैं। जो कंपनी इस दवा को बनाती है वह इसे वेचकर मुनाफा कमाना चाहती है। अतः कंपनी इस दवा का पेटेन्ट (उत्पादन का अधिकार) ले लेती है। अब कुछ वर्षों तक कोई अन्य कंपनी इसका उत्पादन नहीं कर सकती। कंपनी दवा को एक ब्राण्ड नाम भी दे देती है। ऐसा इसलिए किया जाता है ताकि डाक्टर इसी नाम के आदी हो जाएं और नुस्खा लिखते वक्त इसी ब्राण्ड नाम का इस्तेमाल करें।

कुछ सालों बाद पेटेन्ट की अवधि समाप्त हो जाती है। अब कोई भी कंपनी इस दवा को बनाकर बेच सकती है। परन्तु तब तक डाक्टर पुराना ब्राण्ड नाम लिखने के आदी हो चुके हैं। नई कंपनियां अपनी उसी दवा को उसी ब्राण्ड नाम से नहीं बेच सकती। अतः वे अपने नए ब्राण्ड नाम के तहत यही दवा बेचती है। हर कंपनी डाक्टरों को समझाती है कि उसी की दवा सर्वोत्तम है। दवा तो वही है। इसलिए अलग-अलग कंपनियां अपनी अपनी दवा में कुछ और पदार्थ मिलाना शुरू कर देती हैं और कहतीं हैं कि नए पदार्थ के कारण उनकी दवा बेहतर है।

या फिर वे यह भी कहती हैं कि उन्होंने दवा इस तरह से बनाई है कि उसके विषैले प्रभाव कम हो गए हैं। इस सम्बन्ध में कई कंपनियां यह भी कह डालती हैं कि उनकी दवा की क्वालिटी बेहतर है। इस सबके अलावा हर कंपनी विज्ञापन और बिक्री के प्रोत्साहन पर बेतहाशा पैसा खर्च करती हैं।

हर कंपनी अपने बिक्री एजेन्ट (मेडिकल रिप्रेजेंटेटिव) डाक्टरों और अब नर्सों के पास भेजती है। कंपनियां डाक्टरों को दवा के मुफ्त नमूने और नाना प्रकार के 'उपहार' देती है। दवाइयों को आकर्षक तरीके से पैक करने का भी प्रचलन है। बिक्री बढ़ाने के इन सारे तरीकों की कीमत तो खैर दवा के मूल्य में जुड ही जाती है। इसी कारण से ब्राण्ड नाम से बिकने वाली दवाइयां बहुत महंगी होती हैं।

दवाइयों की बढ़ती कीमतों को देखते हुए कई सरकारें व अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं यह विचार कर रही हैं कि ब्राण्ड नाम को पूरी तरह समाप्त कर दिया जाना चाहिए और सारी दवाइयां जिनेरिक नाम से ही बेची जानी चाहिए।

दवा कंपनियां जी तोड़ कोशिश कर रही हैं कि ऐसा न होने पाए क्योंकि इससे उनका मुनाफा जो कम हो जाएगा। उनकी दलील है कि यदि सारी दवाइयां जिनेरिक नामों से बिकने लगीं, तो यह पता लगाना मुश्किल हो जाएगा कि कौन सी दवा किस कंपनी ने बनाई है। इसलिए दवा कंपनियां ब्राण्ड नाम के पक्ष में कई दलीलें देती हैं। इन दलीलों को समझना जरूरी है, अन्यथा कार्यकर्ता कंपनी के एजेन्टों की बातों से भ्रमित हो सकते हैं।

जिनेरिक व ब्राण्ड नामों से बिकने वाली दवाइयों की तुलनात्मक कीमतें

दवा का नाम	किस नाम से बिकता है	नाम जिनेरिक / ब्राण्ड	कौन	कीमत प्रति कोली (रुपये)
टेट्रासायक्लीन हायड्रोक्लोराइड	टेट्रासायक्लीन कैपसूल (250 मि. ग्रा.)	जिनेरिक	साइपर	0.60
	एक्रोमायसीन कैपसूल (250 मि. ग्रा.)	ब्राण्ड	सिनेनेमिड	0.89
	होस्टासायक्लीन कैपसूल (250 मि. ग्रा.)	ब्राण्ड	हेक्स्ट	0.93
एम्पीसिलीन ट्राइहाइड्रेट	एम्पीसिलीन कैपसूल (250 मि. ग्रा.)	जिनेरिक	नेटको	2.30
	एम्पीलीन कैपसूल (250 मि. ग्रा.)	ब्राण्ड	लइका	2.64
	रोसीलीन कैपसूल (250 मि. ग्रा.)	ब्राण्ड	रैनबैक्सी	2.65 + 4%
क्लोरेम्फिनेकाल	क्लोरेम्फिनेकाल कैपसूल (500 मि. ग्रा.)	जिनेरिक	साराहबाई	1.71
	एन्टरोमायसिटीन कैपसूल (500 मि. ग्रा.)	ब्राण्ड	डे'ज मेडिकल	2.16
	पेराक्सिन कैपसूल (500 मि. ग्रा.)	ब्राण्ड	बेरिंगर नोल	2.28
	क्लोरोमायसिटीन कैपसूल (500 मि. ग्रा.)	ब्राण्ड	पार्क डेविस	3.54

स्रोत : रुक्मणी आनंदानी, 1996.

जैविक उपलब्धि

हर दवा कंपनी कहती है कि उसके द्वारा बनाई गई दवा की जैविक उपलब्धि बेहतर है। जैविक उपलब्धि का अर्थ होता है कि दवा के मुख्य अवयव किस गति से खून में रिसते हैं। खून में मिलकर ही दवा हमारे ऊतकों तक पहुंचती है।

दो दवाइयों की रासायनिक संरचना एक होने पर भी उनकी कारगरता भिन्न हो सकती है। शरीर पर दवा का प्रभाव इस बात पर भी निर्भर करता है कि वह किस तरह बनाई गई है। कणों का आकार, रंगीन पदार्थों की उपस्थिति, पैक करने की विधि (गोली या केपसूल) और अन्य कई कारणों की वजह से दवा की जैविक उपलब्धि पर प्रभाव पड़ता है।

उदाहरण के लिए मान लीजिए कि 'अ', 'ब' तथा 'स' तीन कंपनियां एक ही दवा बनाती हैं। तीनों से खून में अन्ततः बराबर मात्रा में दवा पहुंचती है। परन्तु हो सकता है कि कंपनी 'अ' की दवा इतनी तेजी से खून में पहुंच जाए कि विषैली साबित हो। दूसरी तरफ हो सकता है कि कंपनी 'ब' की दवा बहुत धीमी गति से खून में पहुंचे और खून में कभी भी आवश्यक मात्रा में एकत्रित ही न होने पाए। ऐसी स्थिति में यह असरहीन रहेगी। यदि कंपनी 'स' की दवा ऐसी है जो सही दर से खून में पहुंचती है और सही मात्रा में खून में एकत्रित होती है, तो यह प्रभावकारी साबित होगी। इसका असर भी पर्याप्त समय तक बना रहेगा।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि अलग-अलग कंपनियों द्वारा बनाई गई दवा की समान मात्रा लेने पर भी शरीर पर अलग-अलग असर हो सकता है।

हर कंपनी दावा करती है कि जैविक उपलब्धता और विषैलेपन के दृष्टिकोण से उसकी दवा सर्वश्रेष्ठ है। **मगर वास्तविकता यह है कि जैविक उपलब्धि की कसौटी मात्र 42 दवाइयों पर लागू होती है। ये दवाइयां आमतौर पर दवाखानों के स्तर पर इस्तेमाल नहीं की जाती।**

एक और बात यह है कि जब कंपनियां ऐसे दावे करती है, तो अक्सर उनके पास कोई वैज्ञानिक सबूत नहीं होता। और यदि उनका दावा सही भी हो, तो भी तथ्य यह है कि एक ही कंपनी द्वारा बनाई गई दवा की जैविक उपलब्धता बैच दर बैच बदलती रहती है।

दवा की क्वालिटी

दवा कंपनियां दावा करती है कि उनकी ब्राण्ड नाम वाली दवाइयां छोटे उत्पादकों की जिनेरिक नाम वाली सस्ती दवाइयों से बेहतर होती हैं। अमरीका के दवा नियंत्रण अधिकारी ने पाया कि यह दावा सही नहीं है। दोनों किस्म की दवाइयों में घटिया क्वालिटी बराबर मात्रा में देखी गई। भारत में भी हाथी समिति ने काफी खोज के बाद यही निष्कर्ष निकाला था।

मुश्किल नाम

दवा कंपनियों की एक दलील यह है कि जिनेरिक नाम ज्यादा लम्बे व मुश्किल होते हैं। इन्हें आसानी से याद नहीं रखा जा सकता। उनके मुताबिक डाक्टरों को ब्राण्ड नाम उपयोग करने में आसानी होती है। जबकि सच यह है कि एक औसत डाक्टर करीब 100 दवाइयों के नाम व खूराक याद रख सकता है। किसी भी डाक्टर के लिए 100 जिनेरिक नाम याद रखना बेशक आसान होगा, बजाय हजारों ब्राण्ड नामों के।

मेडिकल कॉलेज में सभी डाक्टरों को औषधि विज्ञान पढ़ाया जाता है। इसमें दवाइयों के जिनेरिक नाम हैं प्रयुक्त होते हैं। दवा सम्बन्धी जानकारी के सारे औपचारिक स्रोत (जैसे पाठ्यपुस्तक या चिकित्सा पत्रिकाएं) जिनेरिक नाम का ही इस्तेमाल करते हैं। यदि डाक्टर शुरू से ही जिनेरिक नामों का उपयोग करें, तो उन्हें निश्चित ही कोई मुश्किल नहीं होनी चाहिए।

भारत सरकार ने सन् 1975 में, इन सारी दलीलों की जांच पड़ताल करने के लिए एक समिति (हाथी समिति) का गठन किया था। समिति से कहा गया था कि वह इन सब मामलों के सम्बन्ध में सोच-विचार कर सुझाव दे ताकि देश की दवा स्थिति सुधारी जा सकी। समिति ने सिफारिश की थी कि कई नुकसानदेह दवाइयों पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाना चाहिए और धीरे-धीरे ब्राण्ड नाम की जगह जिनेरिक नामों का इस्तेमाल किया जाना चाहिए। किन्तु सरकार ने इतने सालों में इन सिफारिशों को लागू करने का पूरे मन से कोई प्रयास नहीं किया। बहुराष्ट्रीय कंपनियों का दबाव ही इस निष्क्रियता का मूल कारण है।

संक्षेप में, ब्राण्ड नाम की दवाइयां खरीदने में कोई लाभ नहीं है। ब्राण्ड नाम के पक्ष में दी गई दवा कंपनियों की दलीलें सही नहीं है और लोग इनसे भ्रमित होते हैं। स्वास्थ्य कार्यकर्ता के लिए बेहतर होगा कि वे जिनेरिक नाम से दवाइयां खरीदें। ये अच्छी और सस्ती होती हैं।

थोक दवा खरीदें

एक दवाखाने या स्वास्थ्य केन्द्र में बड़ी मात्रा में दवा की जरूरत नहीं होती। किन्तु कई दवाखानों को प्रायः एक ही तरह की दवाइयों की जरूरत होती है। यदि कई केन्द्र मिलकर सामूहिक रूप से 3 से 6 दवाइयां खरीदें, तो वे थोक में खरीद सकते हैं। थोक में खरीदने के कई फायदे हैं :

- दवाइयां किसी थोक विक्रेता से खरीदी जा सकती हैं। थोक विक्रेता सस्ती दरों पर दवा देंगे।
- थोक में खरीदते समय दवाखाने वाले मोल भाव करने की स्थिति में होंगे।
- बड़ी मात्रा में दवाई की पैकिंग का खर्च भी कम बैठेगा।

अतः थोक खरीददारी कीमत कम करने का अच्छा उपाय है। परन्तु इसके लिए किसी को पहल करके आसपास के दवाखानों में सम्पर्क करना होगा। दवा की आवश्यक मात्रा की गणना, खरीददारी का संयोजन और दवा के विवरण की जिम्मेदारी भी लेनी होगी। फिर ज्यादा मात्रा में दवा खरीदने के लिए दवाखानों के पास पैसा भी होना चाहिए।

मरीजों को दवा के उपयोग सम्बन्धी पूरी जानकारी दें

पहले ही बताया जा चुका है कि कई बार दवा का उपयोग गलत ढंग से किया जाता है क्योंकि मरीज को समुचित जानकारी नहीं होती। लोगों के मन में इस बारे में कई सवाल रहते हैं कि किसी दवा को किस ढंग से लेना है। इसलिए स्वास्थ्य कार्यकर्ता को चाहिए कि वह तसल्ली से पूरी बात समझाए। यदि मरीज यह समझ जाएं कि दवा किस तरह से असर करती है, तो वे उसका उपयोग और अच्छी तरह से कर पाएंगे। उन्हें यह भी बताना होगा कि इन निर्देशों का पालन करना क्यों जरूरी है।

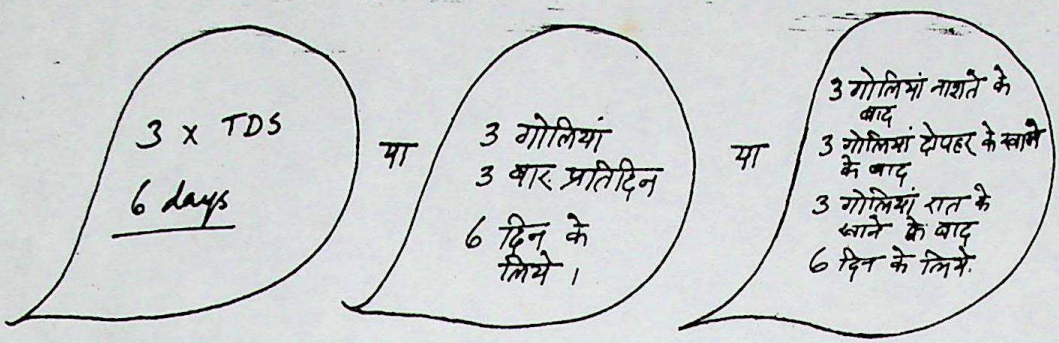

दवाई कैसे असर करती है ?

लोगों को कृमि की दवाई के बारे में समझना तो आसान है कि यह दवा पेट में जाकर कीड़ों को खत्म करती है। कृमि काफी बड़े होते हैं। लोग उन्हें खुद देख सकते हैं। दवा एक जहर है जो कीड़ों को तो मार डालती है पर इन्सान को ज्यादा नुकसान नहीं पहुंचाती।

एण्टीबायोटिक (प्रतिजैविकी) के बारे में समझाना थोड़ा मुश्किल है क्योंकि कीटाणु कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे लोग खुद देख सकें। बहरहाल, स्वास्थ्य कार्यकर्ता यह समझा सकते हैं कि हमारे शरीर में कई तरह के बहुत छोटे-छोटे जीव होते हैं। जब शरीर में इनकी संख्या बहुत बढ़ जाती है, तो ये मनुष्य को बीमार बना देते हैं। आमतौर पर शरीर इन्हें बढ़ने से रोकता है परन्तु यदि व्यक्ति कमजोर व कम पोषित हो, तो इन छोटे-छोटे जीवों को बढ़ने का मौका मिल जाता है। इससे व्यक्ति बीमार पड़ जाता है। ऐसी स्थिति में इन जीवों को खत्म करने के लिए जीवाणुनाशी दवाई की जरूरत पड़ती है।

सही समय पर दवाई की सही मात्रा

मरीज को यह समझना पड़ेगा कि बीमारी के कीटाणु को खत्म करने में कुछ समय लगता है। यह अवधि बीमारी पर निर्भर करती है। हर गोली अथवा कैपसूल में दवा (ज़हर) की थोड़ी मात्रा होती है और इसका असर कुछ ही समय तक रहता है। जब हम दवा थोड़े-थोड़े समय के बाद अन्तर से लेते रहते हैं, तो शरीर में लगातार दवा (जहर) की एक निश्चित मात्रा मौजूद रहती है। इस प्रकार के कीटाणुओं को पूरी तरह से खत्म किया जा सकता है।

आमतौर पर, एक-दो दिन में मरीज की तबियत सुधरने लगती है मगर इसका मतलब यह नहीं है कि कीटाणु खत्म हो चुके हैं। यदि सारे कीटाणुओं के खत्म होने से पहले ही दवा लेना बन्द कर दें, तो बीमारी फिर लौट सकती है और यदि दवा की अधूरी खुराक ली जाए, तो बाकी बचे हुए कीटाणु इस दवा के आदी हो जाते हैं। तब उन पर इस दवा का असर नहीं होगा। ऐसा होने पर बीमारी ज्यादा खतरनाक हो जाती है। अब इन कीटाणुओं को खत्म करने के लिए ज्यादा शक्तिशाली दवा (जहर) लेनी पड़ेगी।

लोगों को यह भी समझाना पड़ेगा कि जरूरत से ज्यादा दवा लेने से भी नुक्सान हो सकता है। सारी दवाइयां जहरीली होती हैं और यदि ज्यादा मात्रा में खा ली जाएं, तो मानव शरीर पर भी इनका विषैला असर होने लगता है।

इसके अलावा मरीज को यह भी बताना चाहिए कि दवा कितनी मात्रा में, कितने-कितने समय पर और कितने दिनों तक लेनी होगी।

लोगों को शायद 'दिन में 4 बार' जैसी भाषा समझ में न आए। यह कहना बेहतर होगा कि एक गोली सुबह, एक गोली दोपहर, एक गोली शाम को और एक गोली रात को ले।

स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं को ऐसा कोई तरीका ढूंढना पड़ेगा जिससे यह समझाया जा सके कि तरल दवा कितनी मात्रा में लेनी है। हो सकता है मरीज के घर पर चम्मच न हो या यदि हो, तो छोटा-बड़ा हो। स्वास्थ्य कार्यकर्ता को पता लगाना पड़ेगा कि उनके इलाके में लोग तरल पदार्थ की थोड़ी-सी मात्रा कैसे नापते हैं। इस सम्बन्ध में दाई या किसी चिकित्सक मदद कर सकते हैं।

दवा के नुकसान-देह 'साइड' प्रभाव

स्वास्थ्य कार्यकर्ता को लोगों को बताना चाहिए कि वे जो दवाई ले रहे हैं, उसके क्या साइड प्रभाव हो सकते हैं। लोगों को आगाह कर देना चाहिए कि यदि कोई गंभीर गड़बड़ी दिखे, तो दवा लेना बन्द कर दें। यदि किसी दवा को भोजन से पहले, भोजन के साथ, या बाद में लिया जाना हो तो, यह बात भी मरीज को अच्छी तरह से समझाना चाहिए। लोगों को चेतावनी दी जानी चाहिए कि कई दवाइयों का सेवन करते वक्त शराब पीना खतरनाक होता है। मसलन, यदि एस्पिरिन को शराब के साथ ले लिया जाए, तो पेट में तेज जलन हो सकती है। इसी प्रकार से मेट्रोनिडेज़ोल को शराब के साथ लेने पर तेज मितली हो सकती है।

स्वास्थ्य कार्यकर्ता को तसल्ली कर लेना चाहिए कि मरीज सारे निर्देश ठीक तरह से समझ चुका है। जरूरी हो, तो मरीज से सारे निर्देश दोहराने को कहना चाहिए।

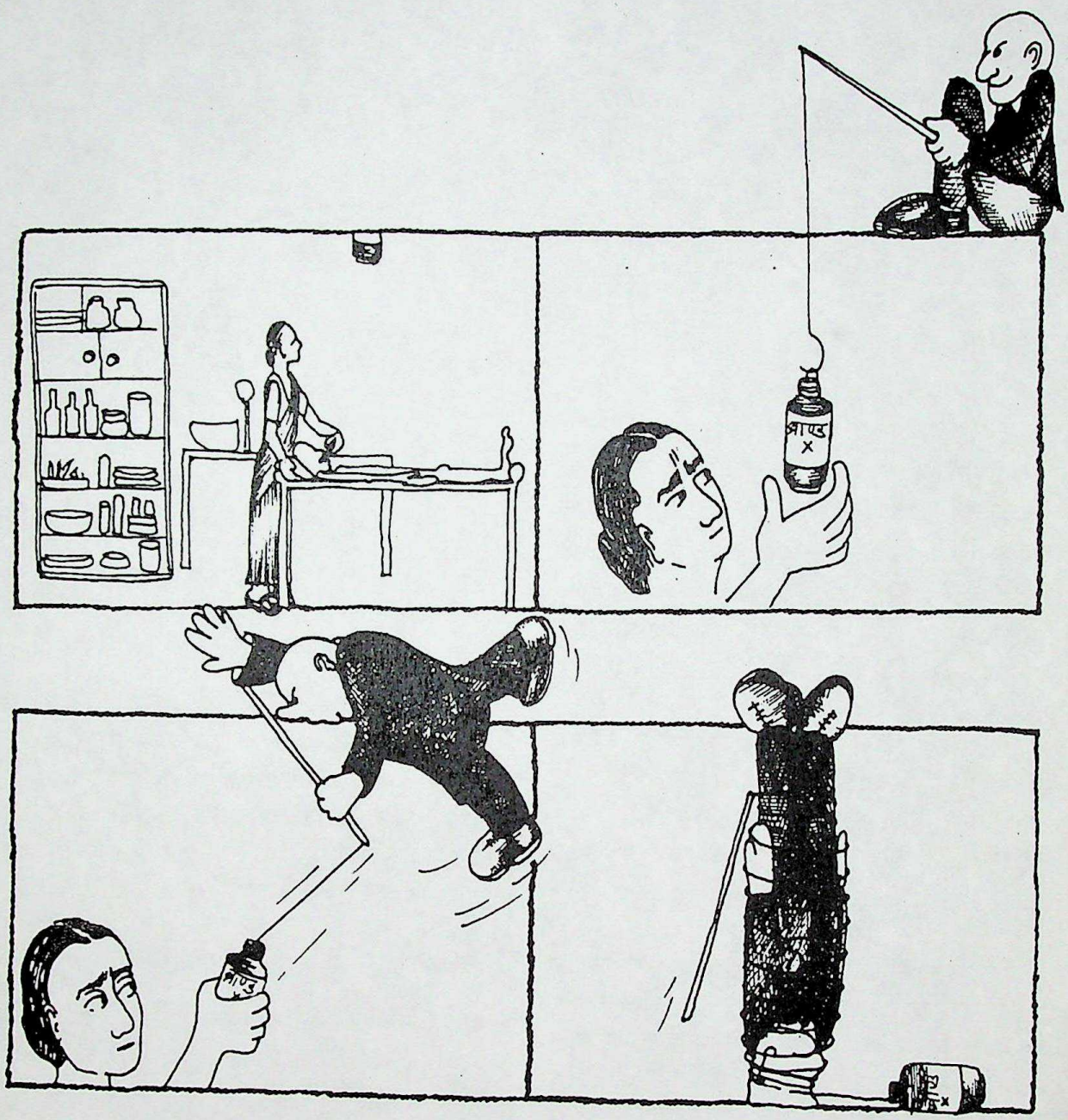

निष्कर्ष

इस अध्याय में हमने देखा कि दवाइयों के दुरुपयोग एवं अति उपयोग के क्या कारण होते हैं और इसके कारण लोगों की सेहत को हानि पहुंच सकती है। हमने इस समस्या से निपटने के कुछ व्यवहारिक सुझाव भी दिए।

स्वास्थ्य कार्यकर्ता शायद इन सारे सुझावों पर अमल न कर पाए क्योंकि सारी जरूरी दवाइयां उपलब्ध नहीं होती। लोगों को यह समझाने में भी शायद समय लगेगा कि दवाइयां खतरनाक होती हैं या इन्जेक्शन हानिकारक होते हैं।

अलबत्ता, स्वास्थ्य कार्यकर्ता को कोशिश करनी चाहिए कि वह दवाइयों का यथासंभव तर्कसंगत इस्तेमाल करें और लोगों मे भी यही नजरिया पैदा करें। उसे दवा कंपनियों के विज्ञापनों के प्रभाव से बचने की कोशिश भी करनी होगी।

अन्ततः सभी लोगों को जरूरी दवाइयां तभी मिल पाएंगी जब सारे स्वास्थ्य कार्यकर्ता, अपने नजरिये में परिवर्तन करें और नुकसानदायक तथा गैर जरूरी दवाइयां खरीदने से इंकार कर दें। हर स्वास्थ्य कार्यकर्ता की इसी तरह की कोशिशों से चिकित्सा के अनैतिक तौर-तरीकों को बदला जा सकेगा।

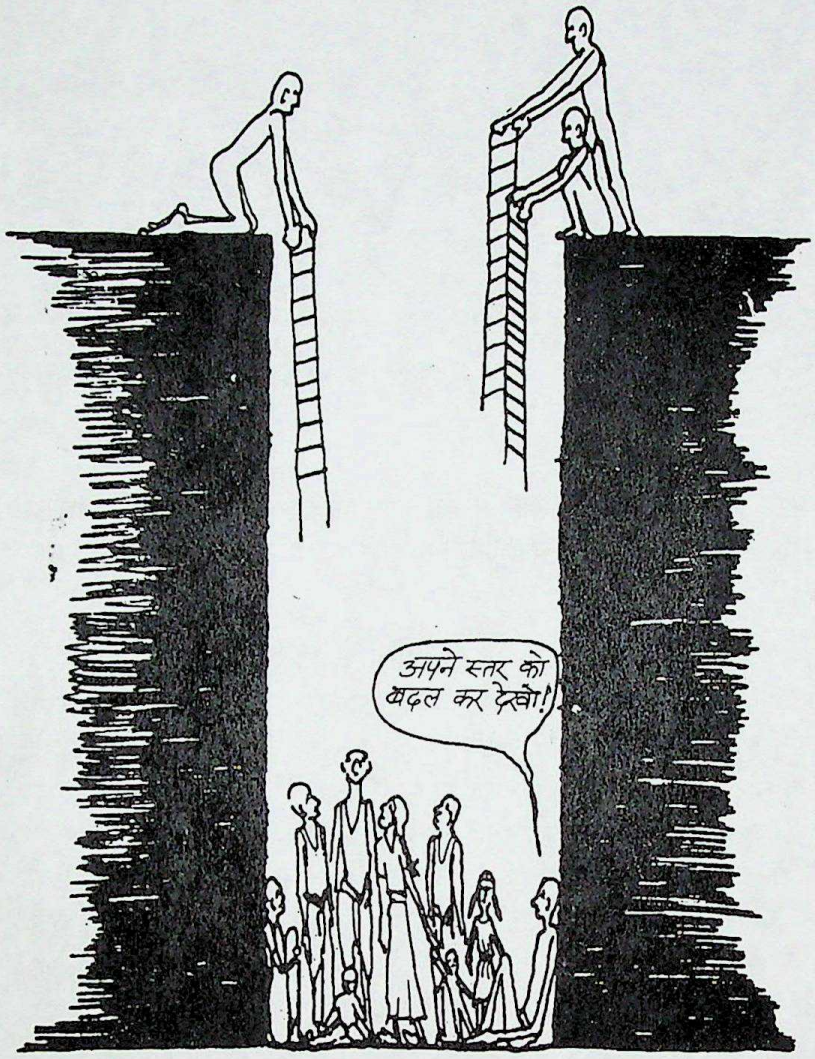

इस खण्ड में हमने देखा कि स्वास्थ्य कार्यक्रम इस तरह से बने हैं कि उनमें मात्र प्रत्यक्ष स्वास्थ्य समस्याओं की बात की जाती है। इन कार्यक्रमों में अस्वस्थता के मूल कारकों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता।

इन स्वास्थ्य कार्यक्रमों की सीमाएं वास्तव में आधुनिक चिकित्सा प्रणाली की सीमाओं की ही झलक है। इस विषय पर हमने खण्ड II में चर्चा की थी। इस प्रणाली में स्वास्थ्य समस्याओं से सामाजिक स्तर पर निपटने के उपाय आज तक विकसित नहीं किए गए हैं।

किन्तु इस हकीकत से मुंह नहीं मोड़ा जा सकता कि अस्वस्थता के मूल में सामाजिक व्यवस्था ही है। सेहत में सचमुच सुधार तभी आ सकता है जब हम सामाजिक व्यवस्था के स्तर पर भी बीमारी से निपटने के उपाय करें।

यही हकीकत ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं के सामने सबसे बड़ी चुनौती है। एक ओर तो वे देखते हैं कि सामाजिक परिवर्तन में भागीदार बने बिना स्वास्थ्य कार्यक्रमों को चलाने की सीमाएं हैं। दूसरी ओर उन्हें यह भी लगता है कि सामाजिक मुद्दों के संदर्भ में उनका प्रशिक्षण अधूरा है।

अगले खण्ड में हम देखेंगे कि किस तरह से कुछ स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं ने इस चुनौती का सामाना किया और खुद के लिए एक नई भूमिका रची।

खण्ड 4 :
भूमिका

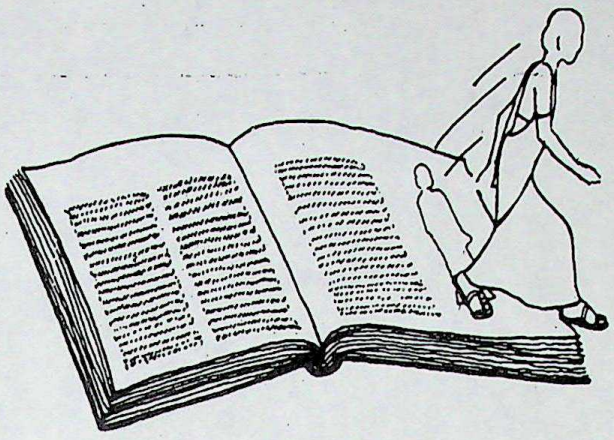

यदि हम यह मानते हैं कि बीमारी दरअसल आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक माहौल का नतीजा है, तो हमें यह भी मानना होगा कि स्वास्थ्य की स्थिति में दूरगामी सुधार के लिए इस माहौल को बदलना जरूरी है।

ग्रामीण क्षेत्र के संदर्भ में इस बात का अर्थ यह है कि अस्वस्थता गरीबी और शोषण का परिणाम है। यह लोगों के बीच की गैर-बराबरी का परिणाम है। यह गैर-बराबरी जीवन स्तर, पोषण और साफ पेयजल तथा चिकित्सा जैसी सुविधाओं की ही हो सकती है। इसी गैर-बराबरी से तय होता है कि लोग अपने जीवन को किस हद तक खुद नियंत्रित कर पाते हैं। इस दृष्टिकोण से देखने पर हम समझ पाएंगे कि वास्तव में दस्त से होने वाली मौतें मूलतः गरीबी और शोषण का नतीजा हैं। गरीबी और शोषण की वजह से ही लोग अल्पपोषण के शिकार होते हैं। सामाजिक रिवाजों की वजह से नीची जात के लोगों को पीने का साफ पानी तक नहीं मिल पाता। गरीबी की वजह से ही लोग 'जीवन रक्षक घोल' जैसी 'आसान' तकनीक का फायदा नहीं उठा पाते और सबसे बढ़कर ताकतवर लोगों के 'सामाजिक वर्चस्व' की वजह से गरीब लोग इन हालातों को बदलने की पहल करने में भी लाचार महसूस करते हैं। दस्त से होने वाली मौतों में स्थायी तौर पर कमी लाने के लिए इन सारी परिस्थितियों को बदलना होगा।

आज आधुनिक चिकित्सा प्रणाली बीमारी के इन पहलुओं को कोई महत्त्व नहीं देती। उल्टे इस प्रणाली में तो यह मिथ्या धारणा बनायी गई है कि बीमारी का इलाज व्यक्ति या उसके पर्यावरण के स्तर पर किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा रहा है कि बगैर सामाजिक बदलाव के ही पूरी आबादी की सेहत में सुधार लाना संभव है। इसीलिए आधुनिक प्रणाली द्वारा सुझाए गए समाधान एक ओर तो अदूरदर्शितापूर्ण होते हैं तथा दूसरी ओर समाज के शक्तिशाली तबकों के हित में होते हैं। उन लोगों को तो एकदम भुला दिया जाता है, जो सबसे ज्यादा जरूरतमन्द और बेबस हैं।

बीमारी के कारणों की व्यापक समझ और आधुनिक प्रणाली की सीमाओं को जानने के बाद, यह स्पष्ट है कि स्वास्थ्य के कामकाज का ढर्रा बदलना होगा। इसी प्रकार से, बीमारी व अस्वस्थता से निपटने के लिए, स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं की भूमिका में भी बदलाव लाना होगा। इसका मतलब होगा कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता को दवाखाने में बैठकर मरीजों का इलाज करने की बजाय अपना ज्यादा वक्त गांव में अस्वस्थता के मूल कारणों को समझने में लगाना होगा। इलाज करने से तात्कालिक रूप से मरीज ठीक तो हो जाएंगे पर दोबारा-तिबारा बीमार पड़ने से बच नहीं सकेंगे। दवाखाने से दवा लेकर वे गांव चले जाते हैं। और फिर वही रोजमर्रा का संघर्ष शुरू हो जाता है। फिर वही अस्वस्थ वातावरण और वही सामाजिक परिस्थितियां, जिनके कारण वे बीमार पड़े थे। दवाखाने आने वाले 75 से 80 प्रतिशत मरीज तो ऐसी बीमारियों से ग्रस्त होते हैं, जिनका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष कारण भोजन या स्वच्छ पेय जल का अभाव

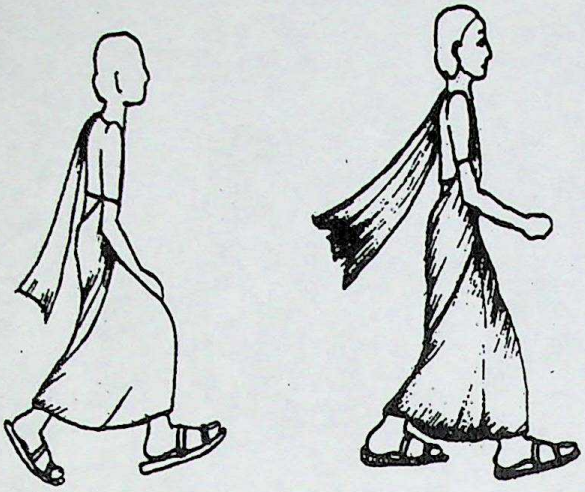

होता है। ऐसी स्थिति में बीमारी के इलाज का सही मायने में अर्थ यह होगा कि बीमारी के मूल कारणों के बारे में कुछ किया जाए।

स्वास्थ्य कार्यकर्ता को गांव में उन तबकों को पहचानना होगा, जो सबसे ज्यादा दबे हुए हैं और अपना कामकाज इन्हीं को ध्यान में रखते हुए करना होगा क्योंकि यही वे लोग हैं जिन पर अस्वस्थता का खतरा सबसे ज्यादा होता है। चूंकि गरीबी व शोषण अस्वस्थता के मूल कारण हैं इसलिए स्वास्थ्य कार्यकर्ता लोगों से मेलजोल में 'निष्पक्ष' या 'उदासीन' नहीं रह सकती। उसे स्पष्ट फैसला करना होगा कि वह किस तबके के साथ काम करेगी—अमीर या गरीब।

एक बार यह निर्णय कर लेने पर कि वह किस तबके पर ध्यान केन्द्रित करेगी, स्वास्थ्य कार्यकर्ता को उस तबके के सारे लोगों के साथ काम करना होगा। वह अपना काम इस तबके के कुछ खास परिवाारों तक सीमित नहीं कर सकती। आखिर इस तबके के सारे लोगों की सामाजिक व आर्थिक परिस्थिति एक सी है। इन परिस्थितियों में बदलाव लाना थोड़े से लोगों के बस की बात नहीं है। गरीबों की ताकत उनकी संख्या में है। शोषण के कारणों की सामूहिक समझ बनाकर और अपनी ताकत को संगठित करके ही लोग अपनी शक्ति का अहसास कर पाएंगे। स्वास्थ्य कार्यकर्ता को लोगों की समझ को विस्तृत करने के हर अवसर का उपयोग करना चाहिए और उनका आत्मविश्वास तथा साहस विकसित करने में मदद देनी चाहिए।

लोगों के साथ मिलकर उसे गांव में उपलब्ध सारे संसाधनों का इस्तेमाल करना होगा। ये संसाधन पैसा, सामग्री, श्रम या लोगों के हुनर, आदि कुछ भी हो सकते हैं। स्वास्थ्य कार्यकर्ता को गांव के लिए निर्धारित सरकारी संसाधनों का भी इस्तेमाल करना होगा। ये विकास खण्ड अधिकारी और प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र में उपलब्ध होते हैं। इन संसाधनों को प्राप्त करने की प्रक्रिया, वस्तुतः लोगों की अपने अधिकारों की समझ बढ़ाने और सामूहिक रूप से अपना हक मांगने की प्रक्रिया होगी। स्वास्थ्य कार्यकर्ता का अन्तिम लक्ष्य यही होना चाहिए कि लोग एकजुट हों, खुद निर्णय लें, और अपनी शक्ति का अहसास कर पाएं। इस नई भूमिका में स्वास्थ्य कार्यकर्ता को स्वास्थ्य के अलावा भी कई बातें और हुनर सीखने होंगे, जो उसे शायद प्रशिक्षण में न सिखाए गए हों। गांव के लोगों के साथ काम करने के लिए एक संवेदनशीलता और मेलजोल बढ़ाने की सामर्थ्य की जरूरत होती है। इसके लिए कई हुनर भी जरूरी होते हैं, जैसे सही प्रश्न पूछना, जानकारी इकट्ठी करके व्यवस्थित करना, सामूहिक कार्यवाही के लिए लोगों को जोड़ना, और लोगों में सामूहिक निर्णय की सामर्थ्य का विकास करना। इस खण्ड में हम बताएंगे कि इस नई भूमिका में स्वास्थ्य कार्यकर्ता क्या-कुछ कर सकती है। इसके लिए वह उन लोगों के अनुभवों से सीख सकती है, जो इस दिशा में काम कर रहे हैं।

1 : काम करने के लिए गांवों का चुनाव

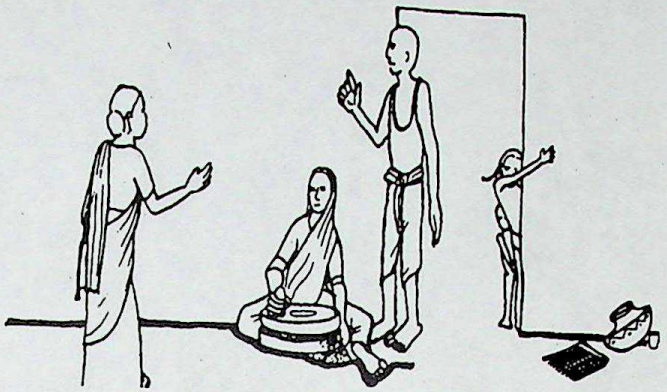

स्वास्थ्य कार्यकर्ता की भूमिका में एक महत्त्वपूर्ण बदलाव यह आना चाहिए कि अब वह एक-एक मरीज पर ध्यान देने की बजाय लोगों के समूह की सेहत पर ध्यान केन्द्रित करे। लोगों के साथ मिलकर वह बीमारी के सामाजिक कारणों को पहचाने की कोशिश करेगी और अस्वस्थता की समस्या से निपटने के उपाय ढूंढेगी। इसका मतलब यह हुआ कि अब से उसे लोगों को, उनकी जीवनशैली को, उनके परस्पर सम्बन्धों को समझने का प्रयास करना होगा। इस काम में काफी समय लगेगा। अतः गांवों संख्या सीमित करनी होगी। अब उसे इन गांवों में नियमित रूप से जाना है (कम-से-कम सप्ताह में एक बार)। फिर उसे गांव जाने का समय कुछ इस तरह से तय करना होगा कि उस समय लोग गांव में मिल जाएं और उनके पास फुरसत हो। आमतौर पर शाम को ही लोग आराम से बैठकर बातें कर पाते हैं। अतः गांव जाने के समय के अनुसार अपने बाकी काम का तालमेल बैठाना होगा। कई लोगों के अनुभवों से लगता है कि एक स्वास्थ्य कार्यकर्ता 2-3 गांवों में काम कर सकती है। आधा दिन वह अपनी संस्था (दवाखाना, स्वास्थ्य केन्द्र या अस्पताल) में व्यतीत कर सकती है। और दोपहर या शाम को गांव में जा सकती है। परन्तु यह तो हर स्वास्थ्य कार्यकर्ता को खुद ही तय करना होगा कि वह कितने गांवों में काम करे। यदि वह अकेली न होकर एक टीम की सदस्य है, तो ज्यादा गांवों में भी काम किया जा सकता है।

स्वास्थ्य कार्यकर्ता को शायद गांव में इस तरह से काम करने का तजुर्बा नहीं होगा। इसलिए उसे गांव के चयन में सावधानी बरतनी होगी। यदि वह ऐसे काम करे जहां उसे कम समस्याओं का सामना करना पड़े और उसके काम का प्रभाव भी नजर आए तो उसमें आत्मविश्वास बढ़ेगा। इस आत्मविश्वास के बल पर वह आगे और चुनौतियों का सामना कर पाएगी। गांव का चयन करते समय कुछ बातों का ध्यान रखना जरूरी है, ताकि सफलता की संभावना ज्यादा रहे। इस अध्याय में इन्हीं बातों की चर्चा की जाएगी।

भौगोलिक स्थिति

अधिकांश स्वास्थ्य कार्यकर्ता शायद पहले से ही किसी ग्रामीण अस्पताल, दवाखाने या स्वास्थ्य केन्द्र मे कार्यरत होंगे। इसलिए अपनी संस्था के आसपास के गांव चुनना ही व्यवहारिक रहेगा। इन गांवों मे स्वास्थ्य कार्यकर्ता को नियमित रूप से जाना होगा। अतः यात्रा में बहुत समय और पैसा खर्च नहीं होना चाहिए। बेहतर होगा कि ऐसे गांव चुने जाएं जहां पैदल ही पहुंचा जा सके या कम-से-कम यातायात की सस्ती सुविधा उपलब्ध हो। गांव ऐसे चुनना चाहिए, जहां हर मौसम में पहुंचा जा सके। यह बात खासकर उन इलाकों में ध्यान रखनी होगी जहां बारिश में कई गांव आसपास से कट जाते हैं।

गांव चुनने में एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि ये सारे गांव एक ही ब्लॉक में आते हों। कारण यह है कि ग्रामीण विकास की सारी सरकारी सुविधाएं ब्लाक ऑफिस के जरिए मिलती है। यदि गांव अलग-अलग ब्लॉक में हुए, तो स्वास्थ्य कार्यकर्ता को एक ही काम के लिए अलग-अलग ब्लॉक आफिस में जाना पड़ेगा।

आबादी

चूंकि स्वास्थ्य कार्यकर्ता अपनी पूरी ताकत कुछ ही गांवों में लगाने वाली है, इसलिए बेहतर होगा कि गांव न तो बहुत बड़े हों और न बहुत छोटे। 100 से 200 आबादी वाले छोटे से गांव में काम करने से बहुत थोड़े लोगों को फायदा मिल पाएगा। दूसरी तरफ डेढ़-दो हजार से ज्यादा आबादी वाले गांव में काम करना बहुत मुश्किल होता है। क्योंकि सारे परिवारों से सम्पर्क रखना मुश्किल हो जाता है। बड़े गांवों में लोग कई बार दो-तीन परस्पर विरोधी गुटों में बंटे होते हैं। ऐसी स्थिति में सामूहिक कार्यवाही के लिए लोगों को संगठित करना मुश्किल हो जाता है। स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं ने अपने अनुभवों से सीखा है कि करीब 1000 आबादी वाले गांव में काम करना सबसे उचित रहता है।

गांव की जनसंख्या का हिसाब लगाते वक्त यह ध्यान रखना जरूरी है कि कई गांवों में छोटी-छोटी बस्तियां (टोले) होती हैं, जो एक-दूसरे से काफी दूरी पर बसी होती हैं। कई बार इन्हें भूल से अलग-अलग गांव मान लिया जाता है। उदाहरण के लिए,

> बिहार में सूखा राहत कार्य के दौरान स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं का एक दल हर हफ्ते एक गांव जाया करता था। इस गांव में

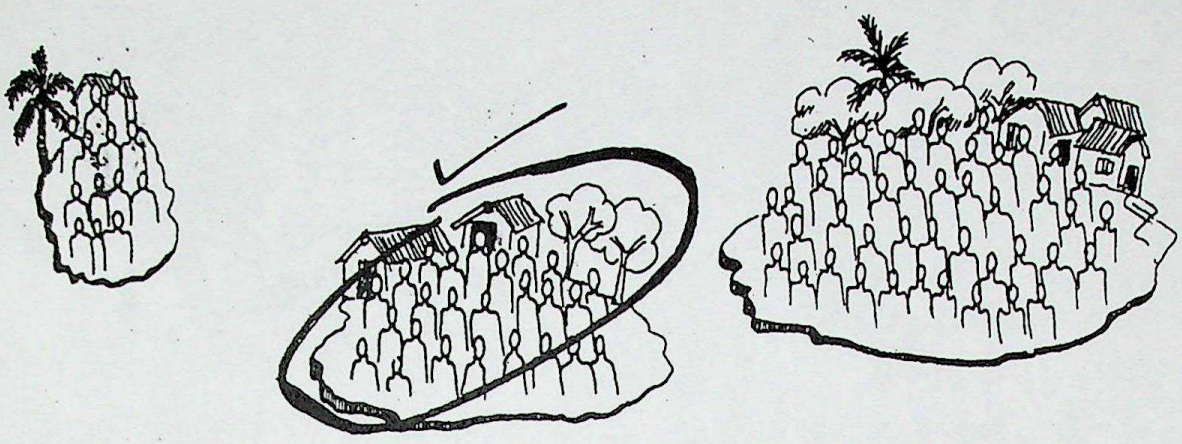

गैर-आदिवासी हिन्दुओं के करीब 30 घर थे। लगभग 3 माह बाद, एक दिन यह दल रास्ता भटक गया। उन्होंने वहां काम करते कुछ आदिवासियों से रास्ता पूछा। आदिवासियों ने एक तरफ इशारा करके बता दिया। यह वह रास्ता नहीं था, जिस पर वे हर हफ्ते जाते थे। स्वास्थ्य कार्यकर्ता जब उस गांव में पहुंचे, तो गांव को पहचान ही नहीं पाए। यही उसी नाम का एक आदिवासी गांव था। गांव के लोगों से बात करते हुए उन्हें पता चला कि वास्तव में उस गांव में 4 बस्तियां हैं जो एक-दूसरे से 3 से 4 फर्लांग की दूरी पर हैं। अलग-अलग बस्तियों में आदिवासी, मुस्लिम, हिन्दू और इसाई रहते हैं। अब तक यह दल सिर्फ हिन्दू बस्ती में जाता रहा था। वहां के लोगों ने जानबूझकर उन्हें अन्य बस्तियों के बारे में नहीं बताया।

ऐसे गांवों में काम करना ज्यादा आसान होता है जहां कि घर दूर-दूर छितरे न हों। आदवासी गांवों में ऐसा होता है। ऐसे गांवों में हर बार थोड़े से परिवारों से ही सम्पर्क हो पाता है। किन्तु यदि आदिवासी इलाके में काम करना है, तो इस समस्या को स्वीकार करने के अलावा और कोई चारा नहीं है।

आर्थिक स्थिति

स्वास्थ्य कार्यकर्ता का लक्ष्य उन लोगों के साथ काम करने का होना चाहिए, जो सबसे ज्यादा जरूरतमन्द हैं। अतः उसे ऐसे गांव चुनने चाहिए जहां खेतिहर मजदूर और छोटे किसानों या गरीब कारीगरों की तादाद ज्यादा हो। कई बार गांव के लोग बार-बार स्वास्थ्य कार्यकर्ता से अपने गांव में काम करने का आग्रह करते हैं। ऐसी स्थिति में भी, स्वास्थ्य कार्यकर्ता को पता लगाना चाहिए कि गांव जरूरतमन्द है या नहीं और वहां उसकी मदद की आवश्यकता है या नहीं। उदाहरण के लिए,

दो स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं ने अपने स्वास्थ्य केन्द्र से करीब 13 कि. मी. दूर एक गांव चुना। वे वहां सघन रूप से काम करना चाहती थीं। वे सप्ताह में एक बार इस गांव में जाती थीं। उन्होंने ए. एन. एम. की मदद से वहां एक मातृ एवं बाल स्वास्थ्य कार्यक्रम भी शुरू कर दिया। उनके काम की खबरें फैलने लगीं। एक दिन पड़ौस के गांव के कुछ नेताओं ने उनसे सम्पर्क किया और आग्रह किया कि उनके गांव में भी काम शुरू करें। "आप जो चाहेंगी, वह मदद हम देंगें, बस आप आइए।" परन्तु दोनों स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं ने विनम्रतापूर्वक इंकार कर दिया। वे जानती थी कि लगभग पूरा गांव सम्पन्न है। सबके पास के नाले से अच्छी सिंचाई होती है और अधिकतर लोग 2 से 3 फसलें ले लेते हैं। अधिकांश परिवारों के पास मवेशी भी हैं। स्वास्थ्य कार्यकर्ता अपने इलाके के निर्धन गांवों की मदद करना चाहती थीं। सम्पन्न लोग उनकी सेवाओं का लाभ उठा सकते हैं पर वे खुद आगे होकर उनकी मदद करने को नहीं जाएंगी।

अपने देश के कुछ हिस्सों में ऊंची जाति के सम्पन्न लोग अलग गांव में रहते हैं। इसी प्रकार से कुछ गांव ऐसे भी हैं जहां सिर्फ बनिये रहते हैं। ये अन्य गांवों में अपना व्यापार चलाते हैं। ऐसे गांवों में काम करने का ज्यादा लाभ नहीं है। ये लोग अपनी जरूरत की सुविधाएं खुद जुटा सकते हैं और वैसे भी इनकी सेहत अच्छी ही होती है।

उपलब्ध सुविधाएं

स्वास्थ्य कार्यकर्ता जिस गांव में काम करना चाहती हो, वहां उपलब्ध सुविधाओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिए। हो सकता है कि किसी गांव में पहले से ही सरकारी उप-केन्द्र हो एवं ए. एन. एम. नियुक्त हो। दो स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं के लिए एक ही गांव में काम करना थोड़ा मुश्किल हो सकता है। उनके लक्ष्य व काम करने के तरीकों में विरोधाभास हो सकता है। वैसे भी एक ही गांव में दोहरी सुविधा देने का कोई मतलब नहीं है।

गांव में उपलब्ध सुविधाओं से लोगों की आर्थिक व सामाजिक स्थिति का अन्दाजा लगाया जा सकता है। जैसे कि, गांव में प्राथमिक शाला होना तो आम बात है मगर यदि किसी गांव में हायर सेकेण्डरी या तकनीकी विद्यालय हो, तो अनुमान लगाया जा सकता है कि उस गांव

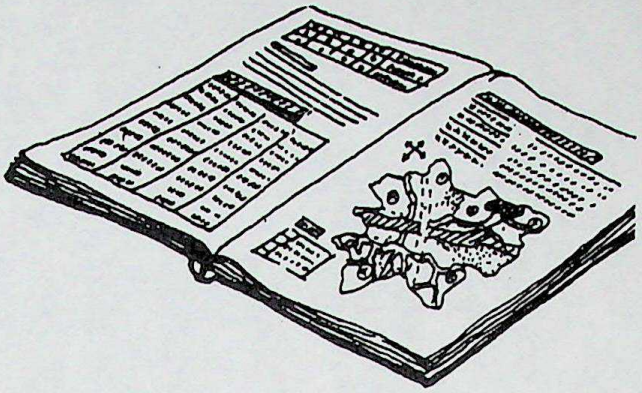

में कई परिवार होंगे जो उच्च शिक्षा का खर्च उठा सकते हैं। इसका मतलब यह भी हो सकता है कि गांव में कतिपय ऐसे प्रभावशाली लोग हैं जो गांव में ये सुविधाएं ला पाए।

किसी इलाके में रेलवे, पक्की सड़क, नियमित बस सेवा, आदि का मतलब यह हो सकता है कि उस इलाके में गांवों से लकड़ी, कोयले, खनिज आदि का दोहन किया जा रहा है। ऐसी सुविधाओं से यह भी पता चलता है कि वहां के गांवों पर बाहरी प्रभाव काफी होगा। ऐसे गांवों में लोगों में अक्सर प्रतिस्पर्धा और महत्त्वाकांक्षा की भावना ज्यादा हो सकती है और वे शहरी जीवनशैली की नकल करने को आतुर रह सकते हैं। यहां लोगों के आपसी सम्बन्ध काफी अलग ढंग के होते हैं और उन्हें किसी सामूहिक कार्यक्रम के लिए साथ लाना मुश्किल होता है।

स्वास्थ्य कार्यकर्ता से सहयोग करने की इच्छा

गांव चुनते वक्त यह बात सबसे महत्त्वपूर्ण है। अपने और अपने काम के प्रति लोगों के रुख को समझने के लिए कई बार गांव जाना पड़ सकता है। गांवों में कुछेक अधिकृत नेता होते हैं जैसे सरपंच, उपसरपंच, पंचायत सदस्य आदि। जब पहली बार गांव में जाएं, तो पता लगाना चाहिए कि सरपंच वगैरह कौन हैं और उनसे मिलने की कोशिश करनी चाहिए। गांव में नेताओं से मिले बगैर, सीधे लोगों से मिलना, उचित नहीं समझा जाता। इन नेताओं से मिलकर अपना परिचय देना होगा और बताना होगा कि गांव आने का उद्देश्य क्या है। स्वास्थ्य कार्यकर्ता कह सकती है कि वह गांव में स्वास्थ्य का काम करना चाहती है और इस सम्बन्ध में लोगों से बातचीत करने आई है। आगे चलकर भी स्वास्थ्य कार्यकर्ता को चाहिए कि वह इन नेताओं से मिलती रहे और उनसे गांव की स्वास्थ्य समस्याओं पर चर्चा करे। ये चर्चाएं महत्त्वपूर्ण हैं। इन्हीं से उसे अन्दाज लगेगा कि ये नेता गांव की भलाई में रुचि लेंगे या नहीं। आमतौर पर नेता लोग शुरू में तो बाहरी मदद का स्वागत करते हैं। पर हो सकता है कि किसी गांव के नेता के बाहरी व्यक्तियों के प्रति शंकालु हों और उनके प्रति उदासीनता या नाराजगी जाहिर करें। कभी-कभी तो वे असभ्यता से भी पेश आते हैं। यदि किसी गांव के नेता शुरू से ही उसके काम के प्रति विरोध का रुख जाहिर करें, तो बेहतर होगा कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता उस गांव को न चुने। उस गांव में वह कुछ नहीं कर पाएगी। स्वास्थ्य कार्यकर्ता को एक और बात के प्रति भी सतर्क रहना होगा। हो सकता है कि शुरुआत में जिन नेताओं ने उसका स्वागत किया था, वे ही बाद में उसका विरोध करने लगें।

गांव में अधिक-से-अधिक लोगों से मिलने की कोशिश करनी चाहिए। यहां भी स्वास्थ्य कार्यकर्ता को अपने आने का मकसद स्पष्ट करना होगा। पहली बार में तो वह सारे परिवारों से नहीं मिल पाएगी। किन्तु कोशिश करनी चाहिए कि दो-चार बार में सबसे मिल लिया जाए। बातचीत के दौरान उसे यह कोशिश करनी चाहिए कि लोग अपने बारे में, अपने काम के बारे में, अपने परिवार के बारे में बताएं। कुछेक बार गांव का चक्कर लगाने के बाद स्वास्थ्य कार्यकर्ता को अन्दाज लग जाएगा कि लोगों का उसके प्रति रुख क्या है— वे उसके आने से खुश हैं, उदासीन हैं, या नाराज हैं। गांव में भ्रमण के दौरान स्वास्थ्य कार्यकर्ता को इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि गांव के अन्दर कोई स्पष्ट टकराव तो नहीं है। जैसे कि, हो सकता है कि गांव के दो जमींदारों के बीच लम्बे समय से झगड़ा चला आ रहा हो और पूरा गांव उनके समर्थन में विभाजित हो। ऐसी स्थिति में किसी मसले पर गांव के सारे लोगों को साथ लाना मुश्किल होगा। गांव में धर्म, राजनैतिक पार्टी या जाति, आदि के झगड़े भी हो सकते हैं। ऐसे टकराव का स्वास्थ्य कार्यकर्ता के कामकाज पर प्रतिकूल असर पड़ सकता है।

ऐसा गांव चुनना बेहतर होगा, जिसमें स्वास्थ्य कार्यकर्ता या उसकी संस्था का पहले कोई सम्पर्क न रहा हो। यदि स्वास्थ्य कार्यकर्ता पहले ऐसी किसी गतिविधि मे जुड़ी रही हो (जैस मुफ्त इलाज सेवा या आहार कार्यक्रम) जिसकी वजह से लोग उसे एक 'दाता' के रूप में देखने लगे हों, तो नए रिश्ते बनाने में दिक्कत होगी। ऐसे गांव में काम करना बेहतर होगा, जहां लोगों की कोई पूर्व निर्धारित उम्मीद न हो।

संक्षेप में, सघन स्वास्थ्य कार्य के लिए अपनी संस्था के पास के गांव चुनना चाहिए। गांव चुनने से पहले भौगोलिक स्थिति, आबादी,

आर्थिक स्थिति और उपलब्ध सुविधाओं का अध्ययन करना होगा। सबसे बड़ी बात यह है कि लोग सहयोग देने को तैयार हों। बिलकुल आदर्श गांव मिलना तो मुश्किल है पर कम से कम शुरूआत में ऐसा गांव चुनना चाहिए जहां समस्याएं कम हों।

गांव चुनने के लिए जरूरी जानकारी

उपरोक्त कसौटियों के आधार पर गांव चुनने के लिए, अच्छा होगा यदि सबसे पहले 15 से 20 कि. मी. के इलाके का नक्शा बना लिया जाए। नक्शा ब्लॉक आफिस या जिला सांख्यिकी पुस्तक में मिल जाएगा। इस नक्शे पर राज्य, जिले, ब्लॉक, गांव, आदि की सीमाएं बना लें। फिर सड़कें, रेलवे, जंगल आदि के निशान लगा लें। उस इलाके में मौजूद प्रमुख सुविधाएं, जैसे स्वास्थ्य व शिक्षा संस्थाएं, रेलवे स्टेशन, बस स्टैण्ड, पोस्ट आफिस, आदि भी चिन्हत कर लें।

जनगणना पुस्तक में से गांवों की आबादी पता लग जाएगी। पुस्तक में दी गई जानकारी शायद कुछ पुरानी हो क्योंकि जनगणना 10 वर्षों में एक बार की जाती है। आखिरी जनगणना सन् 1991 में हुई थी। इसलिए 1991 की जनगणना के आंकड़ों के आधार पर हर गांव की जनसंख्या का ताजा अनुमान लगाना होगा। इसके सालाना 2 प्रतिशत वृद्धि मानकर चल सकते हैं। गांवों में जनसंख्या वृद्धि की यही दर है। उदाहरण के लिए यदि 1991 की जनगणना में किसी गांव की आबादी 2,500 थी और हमें 1994 में उस गांव की आबादी का अनुमान लगाना है। इसके लिए निम्नानुसार गणना की जा सकती है।

(वास्तव में यह गणना चक्रवृद्धि की तरह करना चाहिए। यहां हमने सरलता की दृष्टि से साधारण दर से गणना की है। छोटी आबादी के लिए इससे बहुत अन्तर नहीं आएगा।)

जनगणना पुस्तिका में गांव की आर्थिक स्थिति के विषय में भी थोड़ी-बहुत जानकारी रहती है। गांव में खेती योग्य जमीन, भूमिहीन मजदूरों की संख्या, बेरोजगारी, उद्योग आदि की जानकारी इस पुस्तिका में मिल जाएगी।

गांव में उपलब्ध सरकारी स्वास्थ्य सुविधाओं की जानकारी के लिए अन्य स्रोत टटोलने होंगे। जिले के प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र व उपकेन्द्रों की सूची जिला स्वास्थ्य अधिकारी से मिल जाएगी। वे यह भी बता सकेंगे कि इन केन्द्रों पर कौन-कौन से कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं। उनसे यह भी पता चल जाएगा कि जिले की स्वास्थ्य सुविधाओं के संदर्भ में भावी सरकारी योजनाएं क्या हैं। जिला चिकित्सा अधिकारी से जिले के अस्पतालों, उनमें उपलब्ध सुविधाओं तथा कर्मचारियों के विषय में जानकारी मिल जाएगी। कई राज्यों में ये दो पद अलग-अलग नहीं होते। उस स्थिति में सारी जानकारी जिला स्वास्थ्य अधिकारी के पास मिल जाएगी।

कई कार्यक्रमों जैसे कुष्ठ नियंत्रण, परिवार नियोजन, टी. बी. नियंत्रण आदि के लिए जिले में एक विशेष अधिकारी होता है। इन कार्यक्रमों के बारे में ज्यादा जानकारी के लिए इसी अधिकारी से सम्पर्क करना होगा। ब्लॉक के स्तर पर, पी. एच. सी. के प्रभारी डाक्टर के पास उपकेन्द्रों, दवाखानों तथा कार्यक्रमों की जानकारी मिल जाएगी। पी. एच. सी. के डाक्टर यह भी बता सकेंगे कि उस इलाके में बीमारी का पैटर्न क्या है। वास्तव में बीमारी के पैटर्न सम्बन्धी जानकारी तो स्वास्थ्य कार्यकर्ता को अपने दवाखाने के रजिस्टर से भी मिल सकती है।

दवाखाने में आने वाले मरीज भी इलाके के बारे में जानकारी के अच्छे स्रोत साबित हो सकते हैं। इन लोगों से गांव पहुंचने के रास्तों, शार्ट कट सुविधा, आदि की पक्की जानकारी मिल सकती है। इन्हीं लोगों

$$\text{वर्तमान जनसंख्या} = \text{पिछली जनगणना के समय जन संख्या} + \frac{2 \times \text{पिछली जनगणना के समय जनसंख्या} \times \text{पिछली जनगणना के बाद बीते वर्षों की संख्या}}{100}$$

$$\text{अर्थात् वर्तमान जन संख्या (1994)} = 2500 + \frac{2 \times 2500 \times 3}{100} = 2650$$

चित्र 1

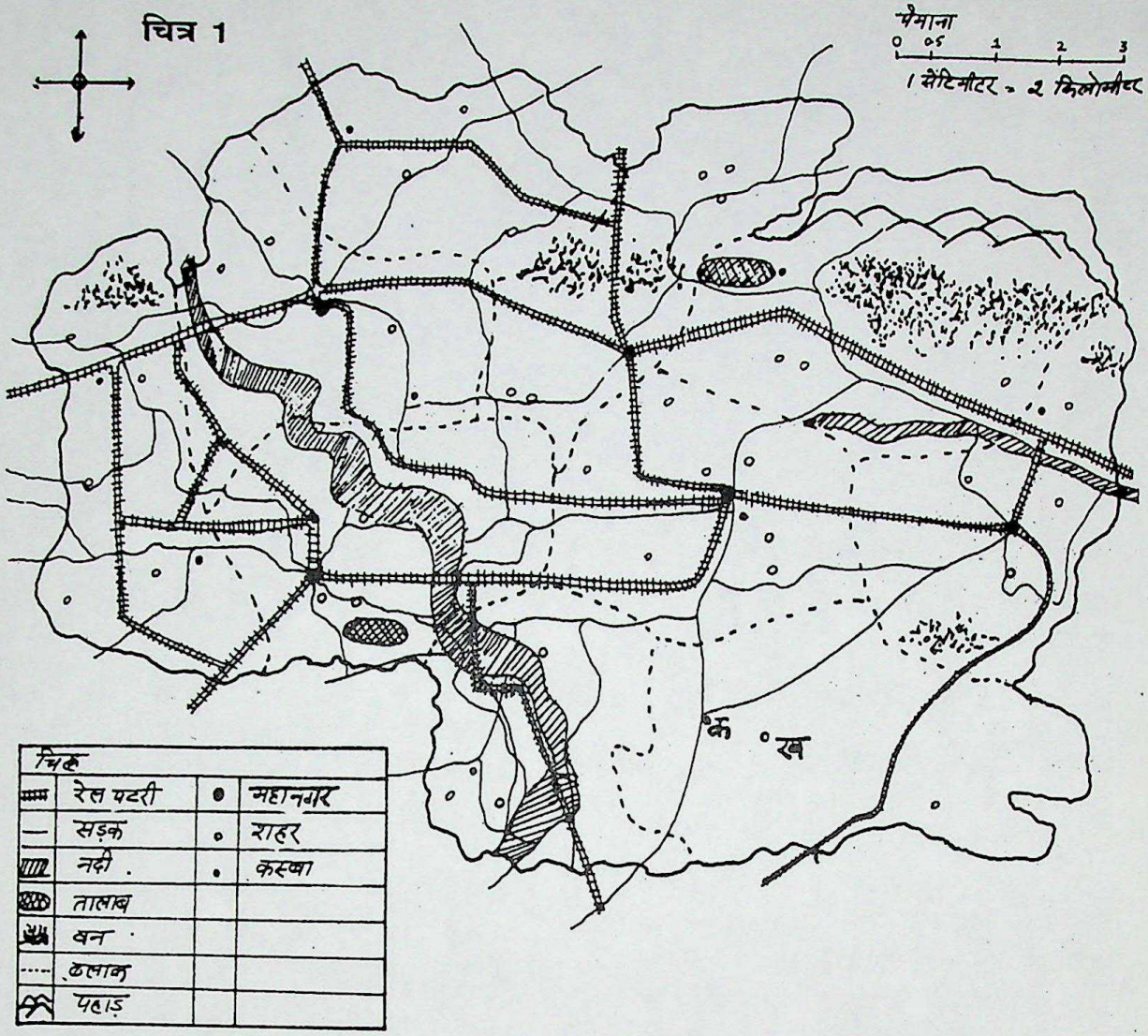

नक्शा किसी भौगोलिक क्षेत्र का चित्र होता है। नक्शे में किसी इलाके की प्रमुख जानकारी अंकित रहती है जैसे प्राकृतिक चीजें (नदियां, पहाड़, जंगल, झीलें), संचार व्यवस्था (सड़कें, रेल लाइन) बस्तियां (गांव, शहर, कस्बे) और राजनैतिक व प्रशासिनिक सीमाएं (पंचायत, ब्लाक, जिला) आदि। इन सबको नक्शे पर चिह्न के रूप में दिखाया जाता है। चिह्नों का अर्थ नक्शे के साथ ही दिया रहता है। जितने छोटे इलाके का नक्शा होगा उतनी ज्यादा विस्तृत व बारीक जानकारी उसमें अंकित की जा सकेगी। जैसे कि किसी पंचायत के नक्शे में विभिन्न गांवों के बारे में तरह-तरह की जानकारी अंकित रहेगी, जबकि जिले के नक्शे में यह संभव नहीं।

नक्शा हमेशा किसी पैमाने के आधार पर बनाया जाता है। पैमाने से हमें पता चलता है कि नक्शे पर बनी किसी रेखा की लम्बाई और वास्तविक दूरी के बीच क्या सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए चित्र 1 के नक्शे का पैमाना है, 1 से. मी. = 2 कि. मी.। इसका मतलब यह हुआ कि इस नक्शे पर 1 से. मी. की दूरी वास्तव में 2 कि. मी. के बराबर होगी। नक्शे पर बने बिंदुओं के बीच की वास्तविक दूरी पता करने के लिए पैमाने की जानकारी आवश्यक है।

आमतौर पर नक्शे पर दिशा रहती है यानि यह संकेत दिया रहता है कि नक्शे में कौन सा हिस्सा पूर्व है, कौन-सा पश्चिम, उत्तर या दक्षिण। नक्शे में दिशा मालूम होने से किसी नए इलाके में घूमने-फिरने में मदद मिलती है। नक्शे पर दी गई दिशा और वास्तविक दिशा की तुलना करके पता चल जाएगा कि हम सही दिशा में चल रहे हैं या नहीं।

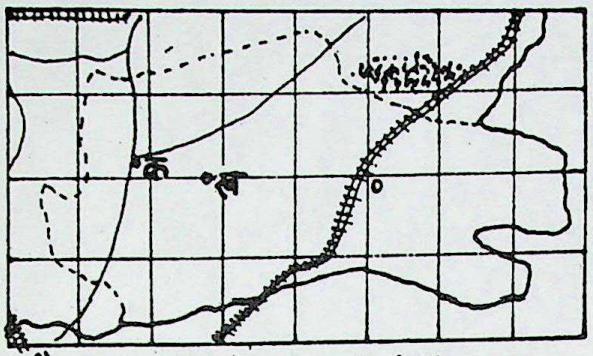

चित्र 2

पैमाना : 1 सेंटीमीटर = 2 किलोमीटर

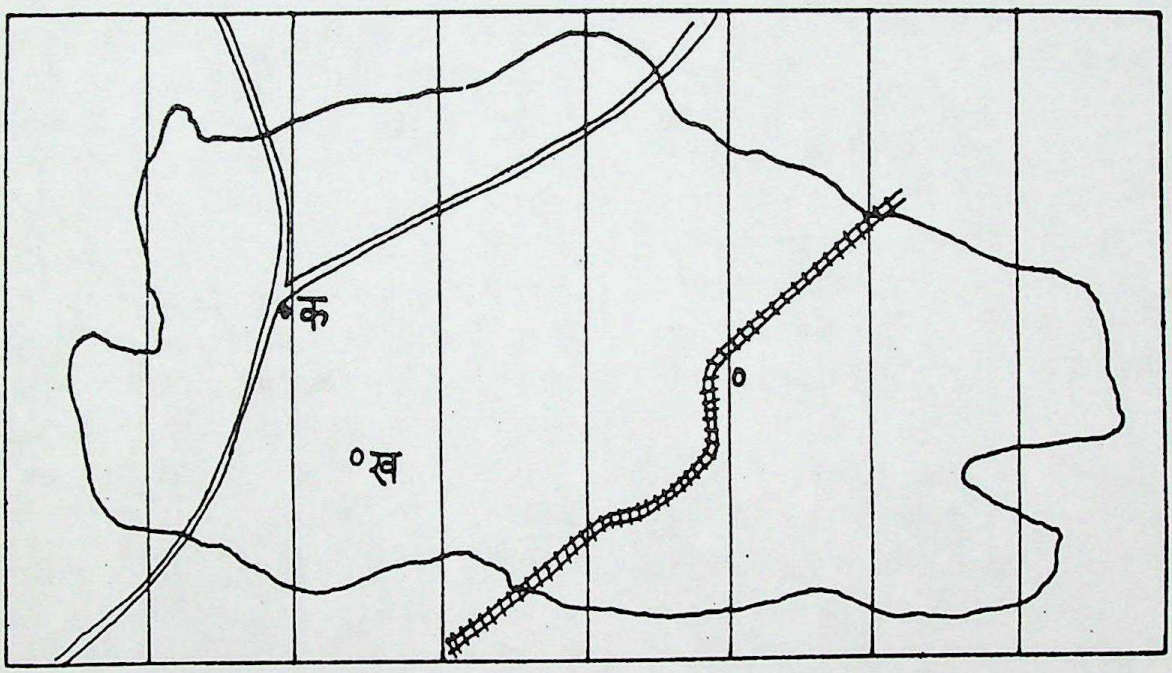

पैमाना : 2 सेंटीमीटर = 2 किलोमीटर

चित्र 3

कई बार ऐसा हो जाता है कि ब्लॉक का बड़ा नक्शा नहीं मिल पाता। छोटे नक्शे में सारी बातें साफ-साफ अंकित नहीं की जा सकती। छोटे नक्शे को बड़ा करने का तरीका नीचे दिया गया है : सबसे पहले छोटे नक्शे पर पेंसिल से आड़ी और खड़ी रेखाएं खींच लें, ताकि बराबर आकार के वर्ग बन जाएं– जैसा कि चित्र 2 में दिखाया गया है। अब एक सादे कागज पर उतने ही वर्ग बना लें। ये वर्ग आकार में पहले से बड़े होने चाहिए। अब नए बड़े वर्गों पर नक्शे की नकल वर्ग-दर-वर्ग करके उतार लें। आपका बड़ा नक्शा तैयार है (चित्र 3)।

उपरोक्त उदाहरण में पहले नक्शे पर 1 वर्ग से. मी. वाले वर्ग बनाए गए हैं (चित्र 2)। फिर एक सादे कागज पर 2 से. मी. भुजा वाले वर्ग बनाए गए। इसके बाद नक्शे की लाइनों को इनके अनुरूप खींचा गया। इस प्रकार से हमें दुगनी साइज का नक्शा मिल गया। इस नए नक्शे का पैमाना भी बदल जाता है। इसमें 2 सै. मी. = 2 कि. मी. होगा।

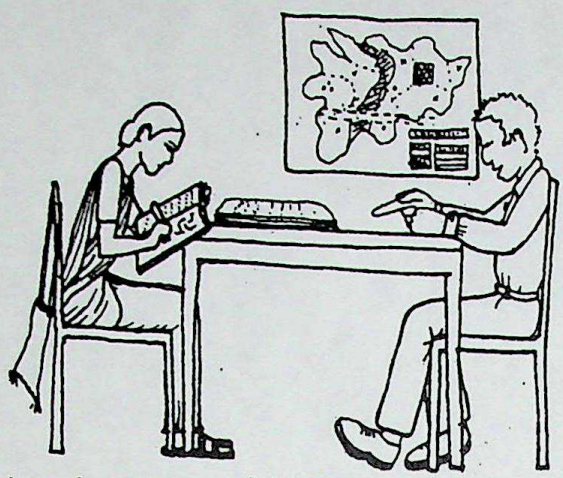

से यह भी पता चल सकता है कि गांव के रास्ते साल भर खुले रहते हैं या नहीं। इन सारी जानकारियों के आधार पर कार्यकर्ता अपने नक्शे पर उन गांवों को चिन्हित कर सकती है, जहां काम शुरू किया जा सकता है। यदि वह सिर्फ दो गांवों में काम करना चाहती है, तो वह इनमें से किन्हीं दो गांवों में जाना शुरू कर सकती है। इन शुरूआती यात्राओं का मकसद अब तक एकत्रित जानकारी की जांच करना होगा। हो सकता है कि नक्शे पर गांव पास दिखाया गया हो, पर वास्तव में ज्यादा दूर हो। यह भी संभव है कि कई लोग गांव छोड़कर चले गए हों और वास्तव में गांव की जनसंख्या घट गई हो। या शायद आखिरी जनगणना के बाद उस गांव में कई नई सुविधाएं जुड़ गई हों। शुरूआती यात्राओं का मकसद ज्यादा से ज्यादा लोगों से बात करना भी है, ताकि अपने भावी काम के बारे में लोगों की प्रतिक्रिया पता चल सके।

यह ध्यान रखें कि ऊपर बताई गई सारी बातें मात्र सामान्य सुझाव हैं। इन्हें कठोर नियम मानकर पालन करने की जरूरत नहीं है। कई बार, हालातों को ध्यान में रखकर, इनमें से कई बातों को ताक पर रख देना पड़ेगा। नीचे एक उदाहरण के द्वारा बताया गया है कि एक स्वास्थ्य कार्यकर्ता ने गांव चुनने की समस्याओं को कैसे सुलझाया।

एक उदाहरण : बसिया

गीता एक ए. एन. एम. थी। वह बिहार के आदिवासी इलाके में काम करती थी। वह एक दवाखाने की इन्चार्ज थी। दवाखाना सप्ताह में 6 दिन, सुबह 9 बजे से शाम 5 बजे तक खुला रहता था। उसकी मदद के लिए पास के गांव की एक प्रशिक्षित दाई थी। दवाखाने के काम के अलावा, दाई जचकियां भी करवाती थी— दवाखाने में भी और गांव में भी।

ग्रामीण स्वास्थ्य रक्षा का एक प्रशिक्षण लेने के बाद गीता कुछ गांवों में काम करना चाहती थी। उसके अपने वरिष्ठ अधिकारियों से बात की। गीता ने उन्हें बताया कि दवाखाने में बहुत कम मरीज आते हैं। इसलिए शायद गांव मे स्वास्थ्य सम्बन्धी काम करना ज्यादा उपयोगी होगा। पहले तो अधिकारी दवाखाना रोज थोड़ी देर के लिए भी बन्द करने पर राजी न हुए। परन्तु कई बार बातचीत के बाद, यह तय हुआ कि गीता बुधवार और शनिवार को दोपहर में दवाखाना बंद कर सकती है। अब गीता के पास सप्ताह में दो दिन खाली थे। उसने गांव चुनने का काम शुरू कर दिया। छुट्टी के दिन वह सुन्दरनगर के ब्लॉक आफिस गई। वह आसपास के गांवों की जानकारी लेना चाहती थी। बी. डी. ओ. तो आफिस में नहीं थे पर एक अन्य अधिकारी की मदद से उसे जनगणना पुस्तिका मिल गई। उसमें सुन्दरनगर ब्लॉक का नक्शा भी था। किन्तु यह नक्शा बहुत ही छोटा था। गीता ने यह बात अधिकारी को बताई। अधिकारी ने उसे दीवाल पर टंगा ब्लाक का बड़ा नक्शा देखने को कहा। इस नक्शे में ढेर सारी जानकारी चित्रित थी। कई तो गीता की समझ में भी नहीं आई। अन्ततः गीता ने अधिकारी से अनुरोध किया कि वे उसके स्वास्थ्य केन्द्र के सामने आसपास का नक्शा बनाने में उसकी मदद कर दें। इस नक्शे में उसने गांवों के नम्बर डाल दिये। हर नम्बर के गांव का नाम और जनसंख्या उसने अलग से नोट कर ली। उसने जनगणना पुस्तिका से निम्नलिखित जानकारी भी नोट की।

उस इलाके की आबादी में :

"हिन्दू	*85%*
मुस्लिम	*10%*
इसाई	*1%*
अन्य	*4%"*

हिन्दुओं में प्रमुख जातियां थीं—ब्राह्मण, राजपूत और कायस्थ। 1981 में आबादी का 44 प्रतिशत हिस्सा अनुसूचित जाति व जनजाति का था। सुन्दरनगर ब्लॉक में 50 प्रतिशत से ज्यादा आबादी आदिवासियों की थी और 12 प्रतिशत अनुसूचित जातियों की।"

उसने इलाके की आर्थिक जानकारी को पढ़कर प्रमुख बातें लिख दीं। खेतिहर अर्थव्यवस्था की हालत बुरी थी। फिर भी,

"सुन्दरनगर की 89 प्रतिशत आबादी खेती पर निर्भर है। भूमि चकबंदी रिपोर्ट के मुताबिक प्रति परिवार औसत कृषि भूमि

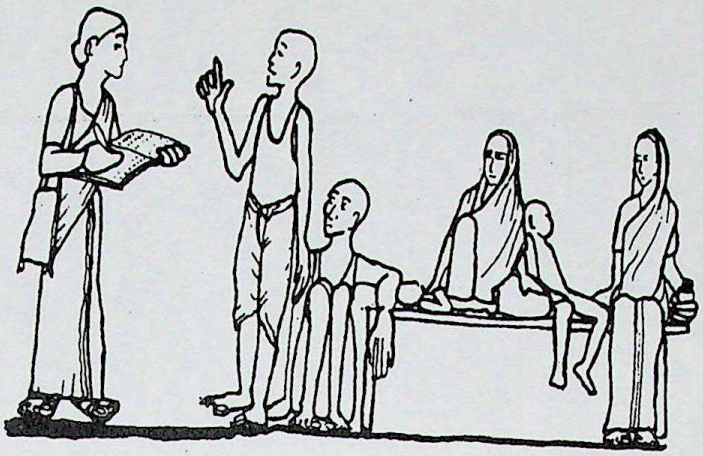

3.1 एकड़ है। इस इलाके में कृषि जोत की उचित साइज 20 से 30 एकड़ मानी जाती है।

सिंचाई सुविधा न होने के कारण एक ही फसल ली जाती है। इस इलाके की प्रमुख फसलें मक्का, दालें, ज्वार और धान हैं।

खेतिहर मजदूरों की संख्या काफी है पर काम सिर्फ खेती के मौसम में ही मिलता है। पुरुष मजदूरों की दैनिक मजदूरी 2.50 रुपये और स्त्रियों की 2.00 रुपये है।

वनउपज, इमारती लकड़ी काटना तथा बीनना भी रोजगाार के साधन हैं। रामपुर जिले का सुन्दरनगर ब्लॉक लकड़ी के व्यापार का प्रमुख केन्द्र है। अप्रैल और मई के महीनों में महुआ के फूल बीनना और उससे तेल और शराब बनाना कई लोगों के रोजगार का प्रमुख जरिया है।''

सुन्दरनगर में कोई उद्योग नहीं था। गीता ने निम्नलिखित जानकारी भी नोट की :

''पूरे जिले की साक्षरता दर 15.1 प्रतिशत और ब्लॉक की 12.8 प्रतिशत। हालांकि सरकारी सिफारिश के अनुसार हर गांव में प्राथमिक शाला होनी चाहिए परन्तु सुन्दर नगर ब्लाक में ऐसा नहीं है।''

ब्लॉक आफिस से जितनी जानकारी मिल सकती थी, वह सब ले लेने के बाद गीता अगली छुट्टी के दिन पी. एच. सी. गई। यहां उसे पता चला कि स्वास्थ्य उपकेन्द्र जंगा, गरखा और कुकुट में है। इसमें से जो उसके नक्शे में थे, उन गांवों पर उसने + का चिन्ह लगा लिया। इससे पता चलता था कि उन गांवों में उपकेन्द्र हैं। उसने इन उपकेन्द्रों में नियुक्त ए. एन. एम. के नाम भी लिख लिये। उसने डाक्टर को बताया कि वह अपने दवाखाने के पास के दो गांवों मे काम करना चाहती है और उनसे सुझाव मांगा।

पी. एच. सी. के डाक्टर ने कहा कि ए. एन. एम. को 7 वां नंबर के गांवों तक पहुंचने में दिक्कत होती है। डाक्टर का कहना था कि यदि गीता उन गांवों में काम करे, तो बहुत अच्छा रहेगा। गीता ने डाक्टर से निकटस्थ रेफरल अस्पताल तथा पी. एच. सी. के कार्यक्रमों के बारे में भी पूछा। उसे पता चला कि निकटतम रेफरल अस्पताल 50 कि. मी. दूर वागा में है। उसे यह भी मालूम पड़ा कि पी. एच. सी. के तहत टी. बी., कुष्ठ रोग, ट्रेकोमा और मलेरिया नियंत्रण कार्यक्रम चलाए जाना प्रस्तावित है किन्तु दवा और कर्मचारियों के अभाव के कारण काम नहीं हो पा रहा है। परिवार नियोजन और मातृ-बाल स्वास्थ्य —ये दो कार्यक्रम ही फिलहाल चलाए जा रहे हैं। इनमें भी कई बार टीकों का अभाव हो जाता है।

गीता ने अब तक एकत्रित जानकारी पर गौर किया। उसने देखा कि जनसंख्या के आंकड़ों के आधार पर वर्तमान जनसंख्या निकालना जरूरी है। फिर उसे स्वास्थ्य केन्द्र से इन सारे गांवों की दूरी का भी अन्दाज नहीं था। उसने जनसंख्या की गणना की और पैमाने के आधार पर अपने स्वास्थ्य केन्द्र से गांवों की दूरी भी निकाली। गीता ने दाई और अपने मरीजों से भी दूरियों और पहुंचने के तरीकों के बारे में जानकारी ली। उसे पता चला कि पूरे इलाके में एक ही पक्की सड़क है। दरअसल अधिकांश सड़कें पगडंडियों जैसी थीं। अपने अनुभव से उसे यह भी मालूम था कि कुछ गांव बारिश के मौसम में बिल्कुल कट जाते हैं। उसे याद था कि कई मरीज बरसात में दवाखाने नहीं पहुंच पाते थे।

अब गीता ने सोचना शुरू किया कि किन दो गांवों में काम शुरू किया जाए। सबसे पहले उसने उन गांवों की सूची बनाई जो दवाखाने से 4 कि. मी. तक की दूरी पर थे। अन्य गांवों तक पहुंचने में उसे बहुत समय लगता, इसलिए उनके बारे में सोचना ही बेकार था। इस प्रकार से 10 गांवों की सूची तैयार हो गई। फिर उसने इन गांवों की जनसंख्या पर ध्यान दिया। कोई भी गांव बहुत बड़ा नहीं था। गांव क्र. 3, 4, 5 और 8 की आवादी 200 से कम थी। अतः गीता ने इन गांवों को सूची से हटा दिया। उसने बसिया और गांव क्र. 1 को भी काट दिया क्योंकि यहां पर उसके दवाखाने द्वारा मुफ्त आहार कार्यक्रम चलाया जाता था और इसे यकायक बन्द कर दिया गया था। खैर, उसने तय किया कि वह इन दोनों गांवों में चक्कर जरूर लगाएगी क्योंकि ये उसके दवाखाने के सबसे पास थे। और आबादी भी बहुत कम नहीं थी। वहां जाकर उसे समझ में आया कि लोग आहार कार्यक्रम को लेकर अभी भी रुष्ट हैं। कुछ लोगों ने तो उससे पूछा भी था कि क्या वह कार्यक्रम फिर से शुरू हो रहा है।

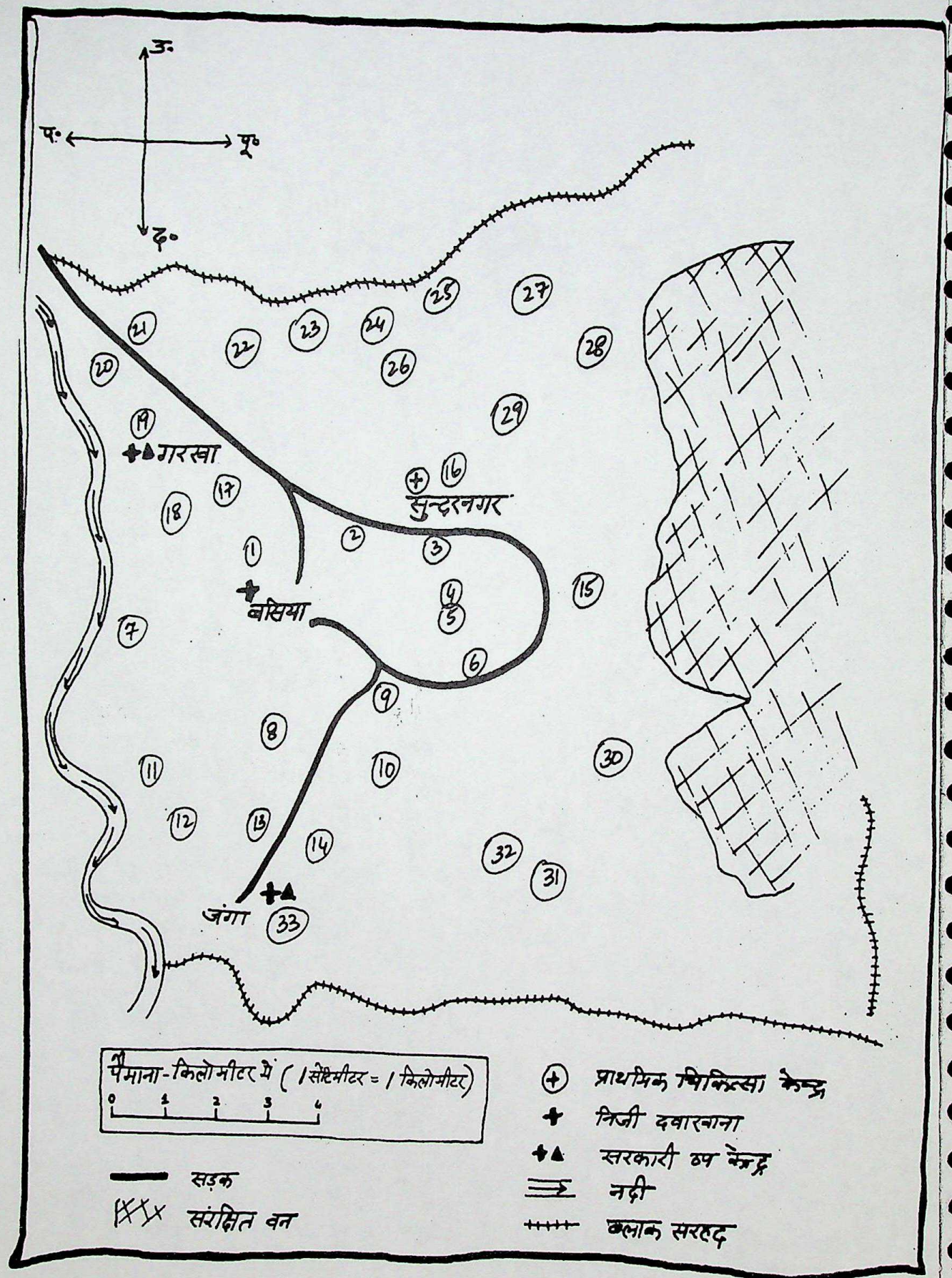
उ०
प०
पू०
द०
गरखा
सुन्दरनगर
बसिया
जंगा
पैमाना-किलोमीटर में (1 सेंटीमीटर = 1 किलोमीटर)
0 1 2 3 4
सड़क
संरक्षित वन
प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र
निजी दवाखाना
सरकारी उप केन्द्र
नदी
खलाक सरहद

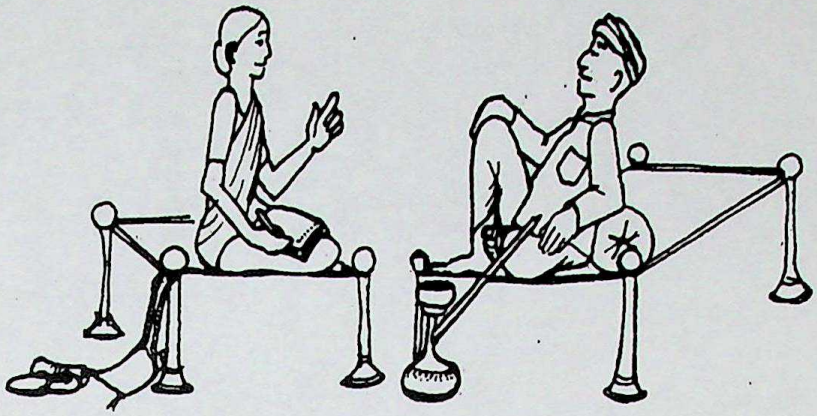

बसिया के दस कि. मी. की दूरी के अन्दर आने वाले गांव

गांव	जनसंख्या	दूरी कि. मी.)
बसिया	432	2
1	616	$1^1/_2$
2	550	3
3	57	3
4	108	3
5	48	3
6	7	5
7	903	4
8	170	3
9	500	3
10	602	5
11	390	$6^1/_2$
12	138	7
13	84	6
14	6	8
15	598	7
16	1080	5
17	663	3
18	25	4
19	1756	5
20	67	7
21	770	9
22	152	8
23	866	9
24	92	9
25	248	10
26	100	8
27	240	10
28	119	8
29	289	7
30	757	12
31	678	10
32	168	9
33	1224	10

इसके आधार पर उसने इन गांवों में काम न करने का फैसला किया। अब गांव क्र. 2, 9, 7 और 17 बचे थे। गीता को याद था कि पी. एच. सी. डाक्टर ने 7 व 11 नम्बर के गांव का सुझाव दिया था। परन्तु 11 नम्बर का गांव तो बहुत दूर था गांव नम्बर 7 थोड़ा दूर तो था और इसकी आबादी 1000 के लगभग थी। पी. एच. सी डाक्टर ने भी इसका सुझाव दिया था। अतः गीता ने इस गांव में जाने का फैसला किया। उसने पहले ही मरीजों से पता लगा लिया था कि इस गांव तक पहुंचने के लिए एक शार्ट कट है। उसे बहुत आश्चर्य हुआ कि वहां पहुंचने में उसे एक घंटा भी नहीं लगा। वह सबसे पहले गांव के मुखिया से मिली। मुखिया बहुत नम्र स्वभाव का था और उसका रुख भी सहयोग का लगा। उसने गीता के सवालों का जवाब बेहिचक दिया। गीता ने जनगणना पुस्तिका की कुछ जानकारियों को चेक भी कर लिया। मुखिया को इस बात पर अचरज जरूर हुआ कि गीता फसलों और साक्षरता जैसी बातों की भी जानकारी पूछ रही थी। गीता ने उसे समझाया कि फसलों की जानकारी से उसे यहां के लोगों के प्रमुख भोजन का अनुमान लगेगा। साक्षरता के बारे मे समझाते हुए गीता ने बताया कि उसके काम में स्वास्थ्य शिक्षा भी शामिल है। वह बात मुखिया को पूरी तरह से समझ नहीं आई। उसने कहा कि आज तक किसी स्वास्थ्य कार्यकर्ता ने ऐसे सवाल नहीं पूछे थे। बहरहाल, उसकी बहुत इच्छा थी कि गीता गांव में कुछ स्वास्थ्य सम्बन्धी काम शुरू करें क्योंकि उनके आसपास कोई सुविधा नहीं थी। जब गीता चलने लगी, तो मुखिया ने अपना एक आदमी उसके साथ भेजा ताकि उसे गांव में कोई दिक्कत न हो।

गीता को थोड़ा अजीब सा लगा पर जल्दी ही वह इसका मकसद समझ गई। गांव में घर काफी दूर-दूर थे। कुछ घरों में बातचीत करने के बाद उसे लगा कि इस गांव में काम नहीं करना चाहिए क्योंकि यहां तो सबसे सम्पर्क करने में ही बहुत समय लगेगा। गांव की आबदी भी तो कम नहीं थी। मगर गांव के लोगों का उत्साह देखकर उसने तय किया कि यदि वह और कोई ठीक-ठाक गांव न चुन पाई, तो यहीं लौटेगी।

इस समय तक गीता थोड़ी हताश हो चली थी। वह अपनी सूची के दस में से सात गांव तो काट चुकी थी। उसे लगा था कि वह शायद गांव में काम कर ही नहीं पाएगी। कुछ दिनों बाद गीता ने अन्य गांवों में जाने का फैसला किया। गांव जाते वक्त रास्ते में दाई ने उसे बताया कि क्र.17 के गांव जाने का एक शार्ट कट है पर रास्ते में एक गहरा नाला पड़ता है। उसमें लगभग हर समय कमर तक पानी होता है। तो यह गांव तो कट ही गया। गांव क्र. 2 जाते वक्त गीता पी. एच. सी. की ए. एन. एम. से टकरा गई। उसके साथ गीता कुछ घरों गई। लोग शायद ए. एन. एम. से बहुत खुश नहीं थे। वह

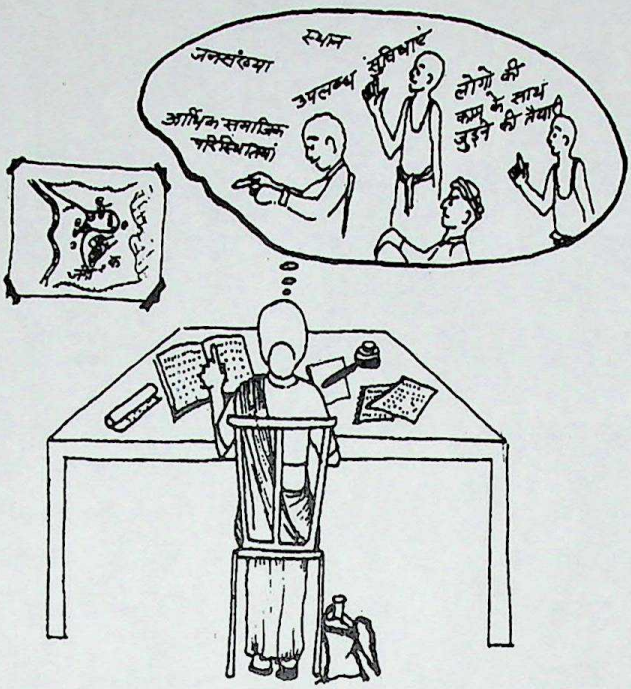

परिवार नियोजन के बारे में पूछती थी और वे गोलमोल जवाब देते थे।

तब गीता ने खुद ही उनसे बातें करने की कोशिश की पर फिर भी जवाब वैसे ही रहे। एक-दो लोगों ने पूछा कि वह भी ए. एन. एम. के साथ काम करती है क्या ? गीता ने ए. एन. एम. से पूछा कि वह कितनी दफा गांव आती है, तो पता लगा कि यह गांव पी. एच. सी. के पास ही है और वह प्रायः यहां आती रहती है। उसे अपना परिवार नियोजन का लक्ष्य भी पूरा करना होता है। काफी सोचने के बाद गीता को लगा कि इस गांव में काम करना ठीक नहीं रहेगा। थोड़ा-बहुत जो उसने देखा था, उससे उसे लगा कि लोगों का सलूक दोस्ताना नहीं है। उसे लगा कि लोगों को यह समझाने में ही बहुत ताकत खर्च हो जाएगी कि उसके और सरकारी ए. एन. एम. के उद्देश्य अलग-अलग हैं।

अब सिर्फ गांव क्र. 9 बच गया था। यह मुख्य सड़क से एकदम लगा हुआ था। पता नहीं क्या सोचकर गीता अभी तक नहीं गई थी। रास्ते में उसे एक पुराना मरीज मिल गया। गीता ने बातों-बातों में उसे बताया कि वह उसी के गांव जा रही है। गीता ने उसे यह भी बताया कि वह शायद उसके गांव में स्वास्थ्य का काम शुरू करेगी। उस मरीज ने गीता को गांव की सारी स्वास्थ्य समस्याओं के बारे में बता डाला। वह तो गीता को मुखिया और सरपंच के पास भी ले गया। गीता और भी कई परिवारों से मिली।

बातचीत के दौरान गीता ने परिवारों की संख्या, मुख्य व्यवसाय, गांव की प्रमुख जातियों और स्कूल आदि के बारे में सामान्य सवाल पूछे। उसे यह भी पता लगा कि मुख्य सड़क के इतना नजदीक होने के बावजूद गांववालों को ज्यादा फर्क नहीं पड़ता। अधिकतर लोगों के पास कोई वाहन नहीं था। सड़क का मुख्य उपयोग तो जंगल से लकड़ी ढोने के लिए होता था। परन्तु गांव के लोग इस धन्धे में नहीं थे। अधिकतर लोग खेती का काम करते थे। बातचीत में गीता को ध्यान नहीं रहा कि अंधेरा हो चला था। वह जल्दी-जल्दी लौटने को हुई। उसकी बचैनी देखकर एक-दो लोग उसके साथ हो लिए। गीता इस गांव को लेकर काफी उत्साहित थी। थोड़ा दूर जरूर था पर लोग बहुत सहृदय और अच्छे थे। फिर भी उसने सोचा कि एक-दो चक्कर और लगाने के बाद ही कुछ तय करेगी।

अगली बार, वह कुछ और परिवारों से मिली। यहां भी मकान थोड़े दूर-दूर थे पर 7 नम्बर के गांव जैसी हालत नहीं थी। साल भर हर मौसम में गांव आ जा सकते थे। सबसे बड़ी बात तो यह पता चली कि इस गांव में कोई ए. एन. एम. नहीं आती थी क्योंकि यह उनके उपकेन्द्रों से दूर है। अतः गीता ने सप्ताह में एक दिन इस गांव में काम करने का फैसला किया। इसके बाद भी एक दोपहर और खाली बच गई थी।। उसने सोचा कि उसका भी कुछ न कुछ सदुपयोग वह कर ही लेगी।

दो सप्ताह बाद दवाखाने में कुछ लोग उससे मिलने आए। शायद गांव नम्बर 1 में उसके जाने की खबर सब तरफ फैल गई थी। ये लोग गांव क्र. 10 के थे और चाहते थे कि गीता उनके गांव में भी काम करे। गीता ने कहा कि वह सोचेगी। उसे मालूम था कि एक ही दिन में दोनों गांव जाना मुमकिन नहीं है। दूसरी तरफ उसे लगा कि सप्ताह में दो बार एक ही जगह जाना भी समय की बरबादी है। उसने इस बारे में गांव क्र. 9 व 10 के कुछ परिवारों से बात की। किसी ने सुझाव दिया कि वह रात किसी एक गांव में रुक जाए। इस तरह से वह दोनों गांवों में 1-1 दिन रह सकती है। गीता ने इसके बारे में पहले कभी सोचा नहीं था। परन्तु दोनों गांव के लोग इतना जोर डाल रहे थे, तो उसने सोचा कि वह अपने अधिकारियों से बातचीत करके फैसला करेगी।

2 : गांव से परिचय

एक बार गांव चुन लेने के बाद, स्वास्थ्य कार्यकर्ता का अगला काम होगा, उस गांव के जीवन को अच्छी तरह से समझना। खासकर उसे यह समझना होगा कि गांव के विभिन्न तबकों के लोग किस तरह जीते हैं और उनके परस्पर सम्बन्ध कैसे हैं। इससे अस्वस्थता के सामाजिक कारकों को पहचानने में मदद मिलेगी। स्वास्थ्य कार्यकर्ता को इस सम्बन्ध में विशेष प्रयास करना होगा क्योंकि वह खुद एक अलग सामाजिक सांस्कृतिक व आर्थिक माहौल से आई है। एक प्रकार से वह गांव के लिए बाहरी व्यक्ति है। स्वास्थ्य कार्यकर्ता गांव को तभी समझ पाएगी जब वह गांव के लोगों से एक नजदीकी रिश्ता बनाए। उसे गांव की जिन्दगी के हर पहलू में रुचि लेना होगा, न कि सिर्फ दवा बांटने में। जब वह उनके जीवन में रुचि लेगी, तो लोग भी खुलेंगे और उसे बाहरी व्यक्ति मानना बंद कर देंगे।

गांव को जानने के क्रम में, स्वास्थ्य कार्यकर्ता का मुख्य लक्ष्य यह होना चाहिए कि लोग अपने जीवन को लेकर सवाल करें। उसका उद्देश्य स्वास्थ्य कार्यक्रम चलाने के लिए ढेर सारी जानकारी जल्दी से जल्दी इकट्ठी करना नहीं है।

गांव के जीवन को समझने की शुरूआत रोजमर्रा के कामकाज, जैसे पानी लाना, लकड़ी बीनना, खेतों में काम, खाना पकाना, बच्चों की देखभाल, ढोर चराना, आदि को गौर से देखने समझने से हो सकती है। इससे वह समझ पाएगी कि लोग अपना समय कैसे व्यतीत करते हैं, परिवार के विभिन्न सदस्य क्या-क्या काम करते हैं, और हर काम से जुड़े रीति-रिवाज क्या हैं। मसलन, क्या लोग काम पर जाते वक्त भोजन व पानी साथ लेकर चलते हैं या क्या कोई अन्य व्यक्ति उनका भोजन पहुंचाता है या क्या वे खाना खाने घर आते हैं ? क्या लोग खेतों पर लगातार काम करते हैं या बीच में आराम भी करते हैं ? क्या पानी व लकड़ी लाने का कोई खास समय है ? रोज कितना समय इस काम में लगता है ? लोग अनाज कहां रखते हैं और उसे कीड़ों, चूहों, आदि से कैसे बचाते हैं ? इन छोटी-मोटी बातों से गांव का जीवन समझने में मदद मिलेगी।

स्वास्थ्य कार्यकर्ता को जनगणना पुस्तिका से कुछ जानकारी तो मिल ही गयी थी। अब उसको और गहराई में जाना होगा। जैसे जनगणना पुस्तिका से उसे मालूम पड़ ही गया होगा कि गांव में विभिन्न जातियां हैं, विभिन्न धर्म हैं, और लोग अलग-अलग व्यवसाय में लगे हैं। गांव के लोगों में से मिल जुलकर उसने यह भी पता कर लिया होगा कि कौन कौन लोग किस किस जाति-धर्म के हैं और उनका पेशा क्या है ? इसी प्रकार से उसे यह भी पता है कि गांवों में स्कूल, दवाखाना, बस, आदि की क्या सुविधाएं हैं। अब वह लोगों से इनके बारे में चर्चा कर सकती है कि कौन से परिवार इन सुविधाओं का उपयोग करते हैं और इन सुविधाओं के बारे में लोगो के क्या मत हैं। जब लोगों से थोड़ी और घनिष्ठता बन जाए, तो आर्थिक पहलू पर भी बातचीत हो सकती है। वह पता लगा सकती है कि कौन-कौन से परिवार भूमिहीन हैं और किन परिवारों के पास कितनी जमीन है, सिंचाई के साधन हैं या बारिश पर ही निर्भर रहना पड़ता है, कितनी फसल लेते हैं, आदि।

परिवारों के बारे में ये बुनियादी बातें पता लगा लेने के बाद स्वास्थ्य कार्यकर्ता यह पता लगा सकती है कि इन बातों का लोगों के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है। जैसे कि गांव के कुछ परिवार नीची जाति के होंगे। क्या इन परिवारों की बस्ती गांव से बाहर है ? क्या उन्हें कुछ निर्धारित काम ही करने की अनुमति है ? क्या उन्हें कुछ खास रिवाज मानने पड़ते हैं या गांव के अन्य लोगों के साथ किसी विशेष तरीके से बर्ताव करना होता है ? (जैसे शायद वे ऊंची जाति के लोगों के सामने चप्पल न पहन सकते हों ?) क्या ग्रामीण संस्थाओं में उनका प्रतिनिधित्व है ? क्या गांव के फैसलों में इन परिवारों को शामिल किया जाता है ? क्या गांव में कुछ स्थान ऐसे भी हैं जहां नीची जाति के लोगों का प्रवेश निषेध है ?

क्या उन्हें गांव के कुएं से पानी लेने की इजाजत है ? क्या वे गांव के समारोहों में भाग लेते हैं ? नीची जाति के लोगों की जिन्दगी और ऊंची जाति के लोगों की जिन्दगी में क्या अन्तर है ? इस प्रकार जमीन होने-न-होने का क्या असर पड़ता है ? भूमिहीन होने, थोड़ी भूमि होने, काफी जमीन होने का परिवार के जीवन पर क्या असर पड़ता है ? क्या जोत का आकार बदलने का असर खेती के तौर-तरीकों पर भी पड़ता है ? क्या थोड़ी जमीन वाले परिवारों के पास

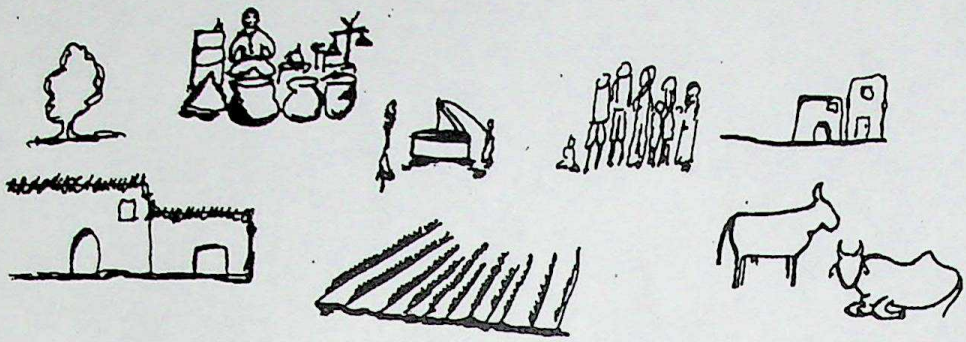

सिंचाई की सुविधा है ? किसी और के पम्प से पानी लेने में कितना पैसा खर्च होता है ? क्या छोटे किसानों के पास खेती के अपने औजार हैं ? बड़े खेतों और छोटे खेतों के उत्पादन में क्या अन्तर है ? छः सदस्यों के परिवार के लिए जरूरी अनाज पैदा करने के लिए कितनी जमीन चाहिए ? बारिश न होने या देर से होने पर लोग कैसे काम चलाते हैं ? क्या भूमिहीन या छोटे किसान काम की तलाश में शहर चले जाते हैं । जमीन की मिल्कियत का जीवन स्तर पर क्या असर पड़ता है ?

गांव में आने-जाने के दौरान स्वास्थ्य कार्यकर्ता गांव की प्रमुख स्वास्थ्य समस्याएं पहचान पाएगी । वह गांव की दाई, देसी चिकित्सकों आदि से बातचीत करके भी स्वास्थ्य सम्बन्धी धारणाओं व रिवाजों की जानकारी ले सकती है ।

बातचीत के ज़रिये वह गांव के लोगों की आशाओं, चिन्ताओं को भी समझ सकती है । उसे यह ध्यान रखना होगा कि गांव के अलग-अलग लोगों के हित अलग-अलग होते हैं । इन अन्तरों को ध्यानपूर्वक देखना होगा । जैसे गांव के शिक्षित युवाओं और अशिक्षित लोगों के हित अलग-अलग होंगे । भूमिहीन मजदूरों की समस्याएं, बटाईदारों या किसानों से अलग होंगी । औरतों को कुछ लोग सहयोग करने को तत्पर होंगे, तो कुछ नहीं । कुछ लोग तटस्थ होंगे, तो कुछ निराशावादी । कुछ परिवारों की पुरानी रंजिश की वजह से आपस में बातचीत बन्द हो सकती है । अतः लोगों की समस्याओं को समझते हुए स्वास्थ्य कार्यकर्ता को यह भी समझना होगा कि कितने लोग कुछ करने को उत्सुक हैं ।

गांव में कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनकी सभी इज्जत करते हैं । इन लोगों का काफी असर होता है । गांव के सभी लोग इनसे सलाह-मशवरा करते हैं । जैसे कई बार स्कूल के शिक्षक या रिटायर्ड पोस्टमास्टर को लोग काफी मानते हैं क्योंकि वे पढ़ लिख सकते हैं । औरतें गांव की बुजुर्ग महिला से मशवरा करती हैं । फिर हर गांव में कुछ 'विघ्न संतोषी' भी होते हैं । ये लोग जब-तब अफवांहें उड़ाकर, इधर की बात उधर लगाकर, झगड़ा फसाद करवाने के चक्कर में रहते हैं । दोनों किस्म के लोगों को पहचानना बहुत जरूरी है क्योंकि ये स्वास्थ्य कार्यकर्ता के काम में मदद भी दे सकते हैं और अड़ंगे भी डाल सकते हैं । लोगों पर इनका अच्छा खासा प्रभाव होता है और गांव के फैसलों को भी ये प्रभावित करते हैं ।

उपरोक्त चर्चा से स्वास्थ्य कार्यकर्ता को कुछ हद तक समझ में आया होगा कि गांव के बारे में क्या कुछ समझने की जरूरत है । गांव को समझने में वह तभी सफल हो सकेगी जब वह गांव वालों से अच्छे रिश्ते बना पाए । उसकी सफलता इस बात पर भी निर्भर करेगी कि गांव के लोग उसे किस रूप में देखते हैं । लोग बहुत जल्दी सामने वाले की भावना ताड़ जाते हैं । उन्हें एहसास हो जाता है कि आप उनको अपने से छोटा समझती हैं, नापसन्द करती हैं, या सचमुच उनके प्रति सहानुभूति रखती हैं । स्वास्थ्य कार्यकर्ता को लोगों से बातचीत करते समय बहुत सचेत रहना होगा और लोगों की भावनाओं का आदर करना होगा ।

चूंकि वह एक भिन्न माहौल से आई है, इसलिए हो सकता है कि उसकी कुछ बातें गांव के रीति रिवाजों से मेल न खाएं । जैसे वह किसी पेड़ के नीचे बैठकर सुस्ताने लगे या उसकी पत्ती तोड़ ले । हो सकता है कि वह पेड़, किसी वजह से, पवित्र माना जाता हो । या वह घर में घुसते समय चप्पल उतारना भूल जाए । या वह किसी बच्चे की तंदरुस्ती की तारीफ कर दे और लोग यह समझें कि इससे बच्चे को नजर लग जाएगी । ऐसी भूल-चूक होना स्वाभाविक है । किन्तु यदि स्वास्थ्य कार्यकर्ता समझ जाए कि उसकी बात से लोगों को बुरा लगा है, तो खेद व्यक्त करना चाहिए और वह गलती दोबारा नहीं करनी चाहिए ।

लोगों से बात करते वक्त, किस बात को कब पूछना चाहिये, इसका भी ध्यान रखना होगा । लोग किसी विषय पर बात करना तभी पसन्द करते हैं जब उन्हें सार्थक लगे या उनकी दिलचस्पी हो । जैसे शादी या जचकी सम्बन्धी रिवाजों की बात तभी करना उचित होगा, जब ऐसा कोई कार्यक्रम होने वाला है । इसी प्रकार से आबादी के निष्क्रमण के बारे में लोगों की भावनाएं उसी समय समझी जा सकती है जब इसकी नौबत आए । लोग अपने खेत की उपज का क्या करते हैं, यह जानने का बेहतर वक्त कटाई का मौसम होगा । ऐसे वक्त पर बात उठाने

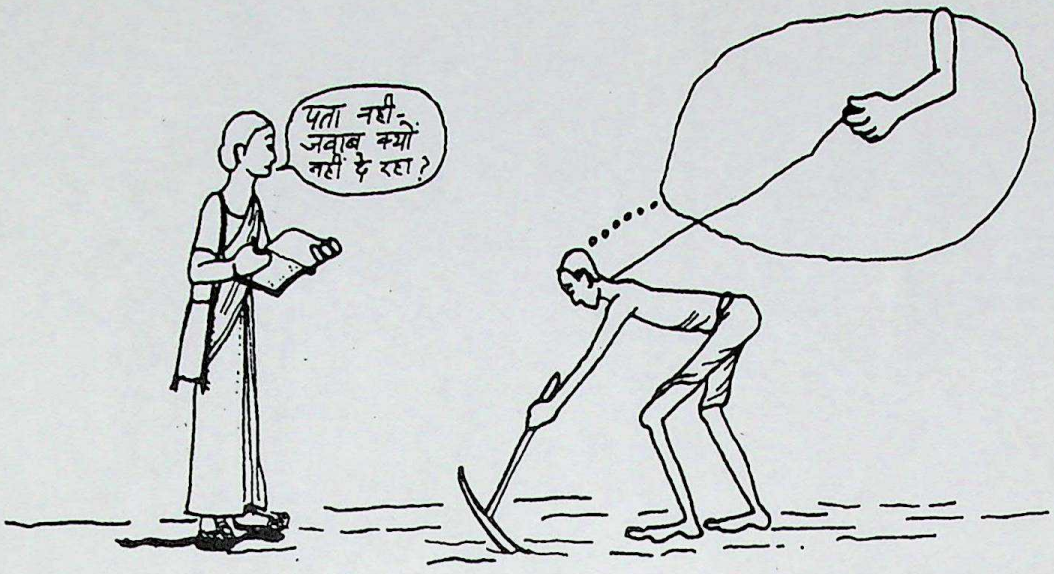

का एक फायदा यह भी होता है कि आप कई ऐसी बातें भी देख सकेंगी, जिन्हें लोग महत्त्वपूर्ण नहीं मानते ।

लोगों को समझना कुछ हद तक इस बात पर भी निर्भर है कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता किस तरह से सवाल पूछती है । जिन विषयों पर लोग आसानी से बात करते हों, उनके बारे में सीधे सवाल से स्पष्ट जानकारी मिल जाएगी । जैसे मान लीजिए कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता जानना चाहती है कि क्या वह गांव मलेरिया कार्यक्रम के तहत आता है । "क्या आपका गांव मलेरिया कार्यक्रम में शामिल किया गया है ?" या "क्या सरकार मलेरिया के बारे में कुछ करती है ?" जैसे प्रश्न पूछने की बजाय यह पूछना ज्यादा अच्छा होगा कि "क्या पिछले छः महीनों में कोई छिड़काव करने आया था ?" क्या " गांव में कोई व्यक्ति मलेरिया की दवा रखता है ?" इसी प्रकार से यदि वह जानना चहती है कि गांव में बटाई की प्रथा है या नहीं तो यह पूछने की बजाय कि "क्या गांव में लोग दूसरे की जमीन पर खेती करते हैं ?" ज्यादा बेहतर यह होगा कि वह बटाईदारी के लिये प्रयुक्त स्थानीय शब्द पता लगा ले और उसके बारे में पूछे ।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता को सीधा जवाब चाहिए पर विषय ऐसा है जिसके बारे में लोग सीधी जानकारी देना नहीं चाहते । कितनी जमीन है, बटाई की शर्तें, गर्भपात के तरीके आदि ऐसे ही कुछ विषय हैं ।

कई बार लोग, अपने ही किन्हीं कारणों से, सही जानकारी नहीं देते । मसलन :

> पंजाब के एक गांव में परिवार नियोजन कार्यकर्ताओं ने सारे परिवारों को कण्डोम (निरोध) बांटे थे । अगली बार कार्यकर्ताओं ने आदमियों से पूछा, "क्या तुमने निरोध का उपयोग किया था ?" सभी ने "हां" कह दिया । बाद में एक शोधकर्ता इसी गांव में एक अध्ययन करने पहुंचा । उसने देखा कि गर्भनिरोधकों का उपयोग नहीं किया जाता था । जब लोगों से पूछा गया कि उन्होंने परिवार नियोजन कार्यकर्ताओं को गलत जानकारी क्यों दी, तो उन्होंने कहा, "हम उन्हें नाराज नहीं करना चाहते थे । बेचारों ने कितनी मेहनत की थी ।"

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता को जो जानकारी चाहिए, वह मिल नहीं पाती क्योंकि लोग साफ-साफ जबाब नहीं दे पाते । जैसे वह जानना चाहती है कि लोग हरी सब्जियां खाते हैं या नहीं । अधिकांश लोग इसका ठीक-ठीक जवाब नहीं दे पाएंगे क्योंकि मौसम में तो सभी हरी सब्जियां खाते हैं । जब उनसे पूछा जाए, तो कहेंगे कि "कभी-कभी खाते हैं" । इससे स्वास्थ्य कार्यकर्ता का उद्देश्य पूरा नहीं होता । इसी प्रकार से यदि स्वास्थ्य कार्यकर्ता जानना चाहे कि धान किस दाम पर बिकता है, तो भी एक स्पष्ट उत्तर मिलना असंभव है । आखिर धान की कीमत साल भर एक जैसी तो रही नहीं । यदि वह जानना चाहे कि इस इलाके में मजदूरी की दर क्या है, तो भी स्पष्ट उत्तर नहीं मिलेगा । हर काम की मजदूरी में भी अन्तर होता है ।

यदि स्वास्थ्य कार्यकर्ता किसी बात पर लोगों का मन जानना चाहती है, तो घुमा-फिराकर (अप्रत्यक्ष) सवाल पूछना ज्यादा अच्छा होगा । एक सीधा सवाल पूछने से कुछ हासिल नहीं होगा । सीधा प्रश्न पूछे जाने पर लोग कई बार अपना वास्तविक मत नहीं बताते । वे अक्सर स्वास्थ्य कार्यकर्ता के मनभाती बात कहने लगते हैं । मसलन,

> एक स्वास्थ्य कार्यकर्ता जानना चाहती थी कि क्या लोग गांव में एक दवाखाने की जरूरत महसूस करते हैं ? उसने लोगों से पूछा, "क्या आपको गांव में एक दवाखाने की जरूरत है ?" सबने सिर हिलाकर "हां" कह दिया । उन्होंने सोचा कि जब कोई दे रहा है तो मना क्यों किया जाए ।

शायद वास्तविक मत जानने का बेहतर तरीका यह होता कि कई

सम्बन्धित सवाल पूछे जाएं जैसे, "बीमार पड़ने पर कहां जाते हो ?" "कितनी दूर जाना पड़ता है ?" "क्या दिन में किसी भी समय मदद मिल जाती है ?" "पैसा कितना खर्च होता है ?" वगैरह ।

कई बार लोगों के उत्तर के आधार पर स्वास्थ्य कार्यकर्ता को अपने प्रश्न अलग ढंग से पूछने पड़ेंगे या उसे प्रश्नों में फेरबदल भी करना पड़ सकता है । उसे यह पता लगाना पड़ेगा कि मनचाही जानकारी क्यों नहीं मिल पा रही है । हो सकता है कि उसके प्रश्न अस्पष्ट हों, या लोग पूरी तरह बात को समझ न पा रहे हों या शायद वे बात न करना चाहते हों । ज्यादा अच्छा होगा कि वह उसी प्रश्न को दूसरे ढंग से पूछे, ताकि सही जानकारी मिल सके । कई बार अपने प्रश्न को कुछ समय तक टाल देना भी उचित रहता है । कुछ समय बाद जब लोगों की बात करने की इच्छा हो, तो फिर से बात शुरू की जा सकती है ।

लोग अक्सर नाजुक मुद्दों पर बात नहीं करना चाहते जैसे अन्यायपूर्ण प्रथाएं, परिवार की आमदनी, कर्जा, आदि । इसका कारण यह होता है कि या तो इन्हें निजी मामला समझा जाता है या इनका सम्बन्ध गांव के सत्ता संतुलन से होता है ।

लोगों की सम्पत्ति, शक्ति व प्रभाव में अन्तर होते हैं । कुछ लोगों के पास ज्यादा जमीन, सम्पत्ति और शक्ति होती है । ये लोग अपनी सम्पत्ति उजागर करने में झिझकते हैं क्योंकि हो सकता है कि उनकी सम्पत्ति का कुछ हिस्सा गैरकानूनी हो । इसी प्रकार से शायद यह भी हो सकता है कि बहुत ज्यादा ब्याज पर पैसा चलाते हों । उन्हें डर रहता है कि यदि स्वास्थ्य कार्यकर्ता को इन बातों का पता चल जाए, तो वह उन्हें कहीं उलझन में न डाल दे । लोग कई बार स्वास्थ्य कार्यकर्ता को शंका की नजर से भी देखते हैं कि वह क्यों ऐसे मामलों में दिलचस्पी ले रही है जिनका स्वास्थ्य से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है । गांव के गरीब लोग भी इन विषयों पर बात नहीं करते परन्तु उनके कारण अलग हैं । हो सकता है कि उन्होंने जमींदार से कर्ज लिया हो और चुका न पाए हों । शायद उन्होंने अपनी जमीन गिरवी रखी हो । शायद उन्होंने कर्ज के बदले अपने आपको या अपने बच्चों को, जमींदार के पास बंधुआ बना दिया हो । ऐसे में, अपनी आर्थिक स्थिति की बात करना उनके लिए दुखदायी होता है । वे इसे नसीब का फेर मान ले हैं । इसलिए उन्हें लगता है कि इसके बारे में बात करने से क्या फायदा ? उन्हें यह भी लगता है कि जमींदार सोचेगा कि वे उसके खिलाफ शिकायत करते हैं । और वह उन्हें नुकसान पहुंचा सकता है ।

इन सब बातों की वजह से यह बहुत जरूरी है कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता गांव के विभिन्न लोगों से बातचीत करे । लोग खुलकर तभी बातचीत करेंगे जब स्वास्थ्य कार्यकर्ता को वे बाहरी व्यक्ति मानना बन्द कर देंगे । खासकर गरीब लोग तो तभी खुलेंगे जब उन्हें यकीन हो जाएगा कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता उनकी तरफ है ।

लोगों को समझने में समय लगता है । स्वास्थ्य कार्यकर्ता का लक्ष्य मात्र ढेर सारी जानकारी इकट्ठी करके अपनी गतिविधि की योजना बना लेना नहीं है । वास्तव में उसका लक्ष्य लोगों को समझना और उन्हें खुद के जीवन के विषय में सवाल करने के लिए प्रेरित करना है । लोगों से ढेर सारे सवाल पूछते फिरना और उनके जवाबों को तुरन्त लिख लेना या कोई औपचारिक सर्वेक्षण करना, इन सबसे लोगों को लगेगा कि वह स्वयं के फायदे के लिए जानकारी इकट्ठी करना चाहती है । इससे वह लोगों के करीब आने की बजाय उन से दूर हो जाएगी और लोगों के मन में शंकाएं पैदा होंगी । इस लिए कोशिश

करनी चाहिए कि सारी जानकारी बातचीत और चर्चाओं के माध्यम से ली जाए। इस सम्बन्ध में काफी संवेदनशीलता और सावधानी की जरूरत है।

यह तो असंभव है कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता सब कुछ याद रखे। ज्यादा अच्छा यह होगा कि हर बार गांव से लौटकर वह जरूरी जानकारी एक नोट बुक में दर्ज कर ले। इसमें जो भी महत्त्वपूर्ण बात उसने देखी हो वो, महत्त्वपूर्ण घटनाएं तथा अन्य काम आने वाली जानकारियां लिख लेना चाहिए। महत्त्वपूर्ण बातचीतों का सारांश भी लिखना उचित होगा। साथ ही वह गांव के बारे में अपने एहसास भी नोट कर सकती है।

हर गांव के लिए अलग-अलग नोट बुक रखना उचित है। शुरूआत में गांव के बारे में वह सारी जानकारी लिख लेनी चाहिए, जो उसने गांव चुनने से पहले इकट्ठी की थी। नोट बुक में गांव चुनने के कारण भी लिख लेना चाहिए। इसके बाद गांव की हर यात्रा की जानकारी तारीखवार लिखनी चाहिए। इस तरह से यह उसकी गांव डायरी बन जाएगी। यदि किसी दिन वह गांव न जा पाए, तो यह भी लिख देना चाहिए और साथ में न जाने का कारण भी। नीचे एक स्वास्थ्य कार्यकर्ता नीला और एक सामाजिक कार्यकर्ता चारू की गांव-डायरी के कुछ अंश दिए गए हैं।

एक उदाहरण

नीला और चारू फरवरी 1983 से देवली गांव में जाती रही हैं। यह गांव उनके दवाखाने से ढाई कि. मी. दूर है। ये लोग सप्ताह में एक दिन गांव जाती हैं। देवली मध्यप्रदेश में उड़ीसा की सीमा के नजदीक है। गांव एक छोटी नदी के किनारे बसा है। यह नदी बारिश के मौसम के अलावा सूखी रहती है।

रेलवे लाइन और मुख्य सड़क गांव से एक कि. मी. दूर से गुजरती है। देवली स्टेशन पर कुछ यात्री गाड़ियां रुकती हैं। देवली की आबादी का बड़ा हिस्सा खेतिहर मजदूरों का है, जो नीची जाति के हैं। ऊंची जाति के 15 परिवारों के पास गांव की 90 प्रतिशत जमीन है। रेशम की बुनाई एक महत्त्वपूर्ण उद्योग है। गांव के परिवारों के लिए यही जीविका का प्रमुख साधन है। सन् 1981 की जनगणना के आधार पर देवली की जनसंख्या 1,102 है।

डायरी लिखने को लेकर चारू में आत्मविश्वास नहीं है। इसलिए आमतौर पर नीला ही लिखने का काम करती है। मगर लिखने से पहले, दोनों चर्चा कर लेती हैं। नीचे 22 मार्च से 31 मई 1983, तक की डायरी के अंश दिए गए हैं।

22 मार्च

दोपहर 2.10 बजे गांव पहुंचे। आज हमने छः परिवार के लोगों से मुलाकात की। ये घर मुख्य गली में था और सबके मकान पक्के थे। पंचायत सदस्य के यहां भी गए, पर वह घर पर नहीं था। उसकी पत्नी ने बताया कि वह उड़ीसा गया हुआ है। यह बताकर वह वापस अंदर चली गई। उसका व्यवहार काफी रूखा था। अंदर से तो घर साफ-सुथरा था परन्तु बच्चे बाहर गली में ही टट्टी करते हैं। हमने दो घरों में औरतों को बताया कि इससे बीमारी फैल सकती है। हमने उनसे खाना ढंककर रखने को भी कहा। अगली बार जब हम जाएंगी तो शायद 'मक्खी से बीमारी' वाला फ्लैशकार्ड सैट साथ ले जायेंगी। हम जिन घरों में गए, वहां कोई बीमार नहीं था।

भजनचा के घर में सब बहुत खुश थे। उन्होंने हमारी आवभगत की और गर्मा-गर्म लड्डू खिलाए। लड्डू भजनचा के बेटे के आने की खुशी में बनाए जा रहे थे, जो इन्दौर में सरकारी नौकरी करता है। हम करीब साढ़े पांच बजे वापस लौट आए।

29 मार्च

दोपहर 2.45 पर गांव पहुंचे और शाम 6 बजे लौटे। आज हम दस घरों में गए। ये सभी घर गली में थे। हमेशा की तरह हमने औरतों से गपशप की। सिर्फ रामदयाल की पत्नी कामती ने ही

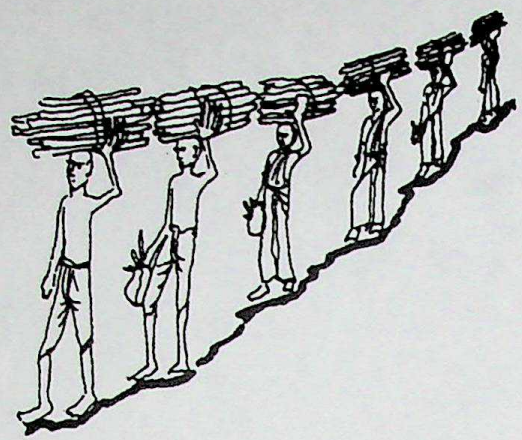

हमसे खुलकर बातचीत की। तीन साल पहले राणा का पी. एच. सी में नसबंदी का आपरेशन हुआ था। उसने बताया कि तब से उसे तमाम किस्म के दर्द और तकलीफें होती रही हैं। उसने हमें आपरेशन का निशान भी दिखाया और अपनी तकलीफों के लिए दवा मांगी। हमने अगली बार दवा ले आने का वादा किया। हमने उसे यह भी समझाया कि उसकी तकलीफों का कारण नसबंदी नहीं है, मगर उसे यकीन नहीं हुआ। उसने और भी कई औरतों के नाम गिनाए जिन्हें इसी तरह की तकलीफें होती रहती हैं। बातों के दौरान कामती ने हमें बताया कि उसकी पड़ोसन की बेटी जचकी के लिए आई हुई है। हमें पता नहीं था कि तुलसीमा की कोई शादी शुदा बेटी भी है। तुलसीमा तो काफी जवान दिखती है और उसके अब छोंटा बच्चा भी है।

हमने तय किया कि तुलसीमा की बेटी से मिल लेना चाहिये कि सब ठीक-ठाक तो है परन्तु तुलसीमा ने कह दिया कि जचकी से पहले हम उसकी बेटी से मिल ही नहीं सकतीं। हमें लगा कि मजाक कर रही है। हमने तो हंसते हुए पूछा कि भला क्यों नहीं मिल सकते ? मगर वह गंभीर थी। उसने गंभीरता पूर्वक कहा कि तुम तो परदेशी हो और तुम्हारे देखने से मेरी बेटी को नजर लग जाएगी।

मुझे बहुत बुरा लगा, परन्तु चारू के लिए यह कोई नयी बात नहीं थी। चारू पहले जिस गांव में काम करती थी वहां इस तरह की बात पहले भी सुन चुकी थी। वहां से चलकर हमने दो औरतों को कुएं के नजदीक कपड़े-बर्तन धोते देखा। कुएं में खूब पानी था पर उन औरतों ने अपना पूरा काम एक ही बाल्टी पानी से निपटा लिया। कुएं के आसपास पानी जमा था और वहीं कीचड़ भरा हुआ था।

हालांकि इस बार हम अपना फ्लैशकार्ड सेट साथ ले गई थीं, परन्तु हमने उसका उपयोग नहीं किया। क्योंकि एक तो औरतें बहुत व्यस्त थीं और दूसरे उन्होंने वैसा उत्साह भी नहीं दिखाया। हम पंचायत सदस्य के घर भी गईं। वह उड़ीसा से तो लौट आया था, परन्तु हिसाब-किताब के काम में व्यस्त था। फिर उसके साथ 4-5 आदमी और भी थे। हम तो लौट आना चाहती थीं, पर उसने चाय का आग्रह करके हमें रोक लिया।

वापसी में हम भजनचा के बेटे से मिलने उसके घर गए। मैं तो जाना नहीं चाहती थी, क्योंकि अभी भी मैं तुलसीमा के व्यवहार से बेचैन थी, परन्तु चारू ने कहा कि हम नहीं जायेंगे तो भजनचा को बुरा लगेगा। सो हम भजनचा के घर पहुंचे। उसका बेटा शहर से ट्रांजिस्टर लाया था। उसने ट्रांजिस्टर तो हमें दिखाया पर खुद बात करने में झिझकता रहा। बातचीत के दौरान पता चला कि उसने दसवीं पास की थी और अब वह इन्दौर के किसी सरकारी दफ्तर में चपरासी लग गया था। उसकी मां अब उसकी शादी का जुगाड़ बैठाने में लगी हुई है।

5 अप्रैल

इस बार हम बुनकरों के मोहल्ले में गए। सब औरतें-बच्चे रेशम तैयार करने, रेशम के सूत को सुखाने, गुच्छों को सुलझाने, वगैरह के काम में लगे हुए थे। आदमी अंदर बैठकर रेशमी साड़ियां बुन रहे थे। औरतों से बातचीत के दौरान पता चला कि यह उनका पुश्तैनी धंधा है। पहले तो देवली में बुनकरों की आबादी और भी ज्यादा थी। परन्तु पिछले सालों में रेशम की कीमतें बढ़ने के कारण रेशमी साड़ियों की मांग घट गई थी और बहुत से बुनकर गांव छोड़कर शहरों में बस गए थे। मकान बहुत छोटे थे और अंदर अंधेरा सा था मगर करघे तो अंदर ही रखे थे और मर्द लोग उस अंधरे में ही उन पर काम कर रहे थे। अंदर इतना अंधेरा था कि हमें तो देखने में भी मुश्किल हो रही थी।

एक औरत ने हमें मट्ठा पीने को दिया। उनको इतना काम था कि हमें लग रहा था कि उनका वक्त बरबाद कर रहे हैं। शायद शाम को आना बेहतर होता।

जब हम गांव से लौट रहे थे, तभी एक लड़का भागता हुआ हमें बुलाने आया। उसने बताया कि कोई बीमार है और हमें ऊंची जाति के मोहल्ले में धुलुआ के घर की तरफ ले गया। धुलआ पंचायत सदस्य का भतीजा है। उसकी पत्नी रसिया के नाखून में

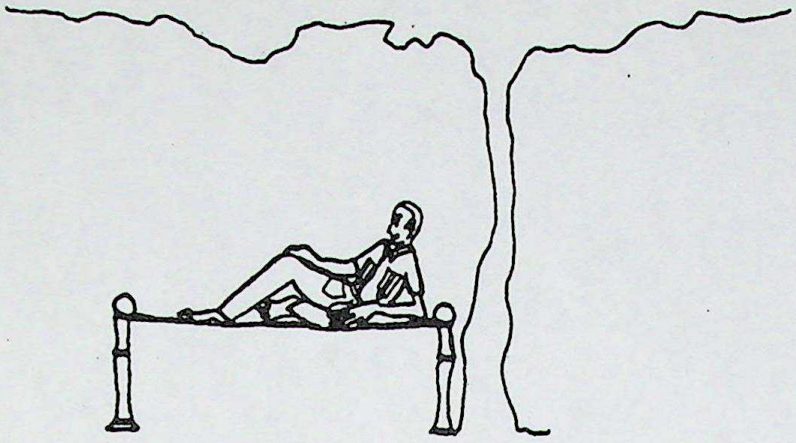

इन्फेक्शन हो गया था और वह दर्द से कराह रही थी। नाखून में बहुत मवाद भर गया था और पूरी उंगली सूजकर लाल हो गई थी। उसे बुखार भी था। मैंने एक चाकू मांगा, उसे गर्म किया और घाव को काटकर सारा मवाद निकाल दिया। फिर एक साफ कपड़े से घाव पर मलहम पट्टी कर दी। इसके बाद हमने उनसे कहा कि किसी को दवाखाने भेजकर दवा मंगवा लें। धुलुआ ने हमें सलाह दी कि हम गांव आते वक्त दवा साथ लाया करें क्योंकि इससे कई लोगों को फायदा होगा। हमने इस सुझाव पर विचार करने का वादा किया। शाम करीब 5 बजे हम वापस लौटे।

12 अप्रैल

आज सबसे पहले रसिया से मिले। उसकी अंगुली ठीक हो रही थी। फिर हरिजन बस्ती में गए, पर कोई मिला नहीं; सारे घर बंद थे। तेज गर्मी के बावजूद कुछ बच्चे गली में खेल रहे थे। एक बड़ी लड़की से पूछने पर पता लगा कि कुछ लोग तो खेतों में गए हैं, पर अधिकतर लोग जंगल में गए हैं। बच्चे नंग-धड़ंग और गंदे थे, उनके बाल उलझे हुए थे और पेट फूले हुए थे। जब हम लौट रहे थे तो हमारी नजर 70 साल के एक बूढ़े पर पड़ी जो पेड़ के नीचे खाट पर लेटा था। उसने हमें बुलाकर खाट पर बैठाया। उसने बताया कि वह पहले फौज में था। दूसरे विश्वयुद्ध के समय वह फौज में गया था और उसकी ड्यूटी भारत के उत्तर-पूर्वी सरहदी इलाकों में थी। उसे अंग्रेजी के कुछ शब्द आते थे और मौका मिलते ही वह उनका उपयोग करने से चूकता नहीं था। उसने हमसे पूछा कि हम गांव में क्या कर रही हैं? जब पता चला कि हम उसी गांव में काम करना चाहती हैं, तो वह बहुत खुश हुआ। उसने बताया कि हरिजन बस्ती बहुत गरीब तथा पिछड़ी हुई है और यहां मदद की जरूरत है। उसने हमें अगली बार उसके घर आने को भी कहा। उसने बताया कि उसकी पत्नी का देहान्त हो गया है और उसके बाल-बच्चे नहीं है, इसीलिए वह अपने भाई के साथ रहता है। उसे गांव के बारे में काफी जानकारी थी। हमें लगता है कि उससे मेलजोल बढ़ाना शायद मददगार साबित हो। लौटते वक्त, हमने बस स्टैण्ड पर पंचायत मेम्बर की घरवाली को देखा। हमें दूर से ही देखकर उसने नमस्ते किया और दौड़ कर हमारे पास आयी। उसने बड़े प्यार से बातें की। हमें तो यह सब देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। चारू का कहना है कि ये सब रसिया की अंगुली का इलाज किये जाने के कारण है।

19 अप्रैल

आज हरिजन बस्ती में शाम को गए। पूरी बस्ती में चहल-पहल थी। औरतें घर के बाहर ही खाना पका रही थीं और मर्द, अलग-अलग झुंड में बैठकर बीड़ी पीते हुए गपशप कर रहे थे। रिटायर्ड फौजी ने गर्मजोशी से हमारा स्वागत किया और वहां बैठे आदमियों से परिचय करवाया। अपनी बहू से उसने चाय बनाने को कहा। हमें तो एक-एक कप मिल गया जबकि फौजी और दो अन्य आदमी एक ही कप में से चाय पीने लगे। लोग उसे सूबेदारजी के नाम से बुला रहे थे। हमने भी अपने कपों से कुछ चाय तश्तरियों में डालकर पास बैठे लोगों को दी पर उन्होंने इंकार कर दिया। हमने उनके साथ थोड़ी देर बातचीत की। हमने उन्हें बताया कि जब हम पिछली बार आये थे तो हमें बस्ती सुनसान मिली थी। उन्होंने बताया कि जून तक खेती बाड़ी का काम ज्यादा नहीं होता, इसीलिए वे जंगल से लकड़ी बीनने और उसे बेचने शहर चले जाते हैं। उन्होंने कुछ कन्द-मूल भी इकट्ठे किए थे जो अब औरतें पका रही थीं। हम ज्यादा बातचीत नहीं कर पाए क्योंकि बीच-बीच में सूबेदारजी विश्वयुद्ध किस्से सुनाने में मशगूल हो जाते थे।

हम जहां भी जाते, बच्चों का झुंड हमारे पीछे-पीछे आता। औरतें बहुत मिलन सार और बातूनी थीं। लगभग सारे घरों में एक ही चीज पक रही थी—बाजरे की मोटी-मोटी रोटियां और कंद मूलों की सब्जी।

एक बूढ़ी औरत खांखरे (ढाक) के पत्तों से पत्तलें बना रही थी। वह दिन में करीब 50 पत्तलें बनाकर सवा रुपया कमा लेती थी।

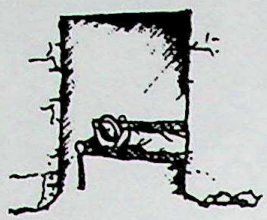

हर घर में मुर्गियां फुदक कर रही थीं। औरतों ने बताया कि मुर्गी के अण्डे के बीस पैसे मिल जाते हैं। हमने उन्हें बताया कि अण्डे में जितने पोषक तत्त्व होते हैं, उनकी कीमत तो बीस पैसे से ज्यादा है। इसलिए अण्डे बेचने की बजाय बच्चों को खिलाना चाहिए। बच्चे बिलकुल मरियल नजर आ रहे थे। औरतों ने बताया कि अण्डे 'गर्मी' करते हैं और बच्चों को पचते नहीं हैं। अभी तो यूं ही गर्मी के दिन हैं। इन औरतों को सच में स्वास्थ्य शिक्षा की जरूरत है।

हम जिससे भी मिले, उसने हमसे पूछा कि हम गांव क्यों आए हैं? हमने बताया कि हम गांव में स्वास्थ्य का कामकाज करना चाहते हैं। इस बारे में हम पंचायत सदस्य और गांव के पटेलों से पहले ही बात कर चुके हैं। उनका सवाल था कि फिर हम साथ में दवाई लेकर क्यों नहीं आयी हैं? मुझे और चारू को इस बारे में कुछ निर्णय लेना ही पड़ेगा। सभी को आश्चर्य होता है कि ये कैसी नर्सें हैं, जिनके पास दवाईयां भी नहीं हैं?

कुल मिलाकर, अच्छी यात्रा रही। पहली बार हम लोग शाम के समय गांव गई थीं। शाम को जाने का निर्णय अच्छा रहा। हमने यह भी तय कर लिया है कि हम महीने में तीन बार हरिजन तथा बुनकर बस्ती में जाएंगी। यहां शाम को ही जाना ठीक रहेगा, क्योंकि उसी समय ये लोग फुरसत में होते हैं। इसके अलावा महीने में एक बार हम ऊंची जाति के मोहल्ले में जाएंगी। वहां दोपहर में जाना ठीक होगा। तब उन घरों की औरतें फुरसत में होती हैं। चूंकि हमारा मकसद गरीबों के लिए काम करने का है इसलिए हमने हरिजनों के बीच ज्यादा समय लगाने का निर्णय लिया। ऊंची जाति के लोग तो सम्पन्न हैं, उनके घर भी पक्के हैं और उनका रहन-सहन भी ठीक-ठाक दिखता है। यह अलग बात है कि उन्हें भी स्वास्थ्य शिक्षा की जरूरत है। बुनकर भी काफी कमा लेते होंगे–आखिर रेशम जो बुनते हैं।

26 अप्रैल

आज हरिजन बस्ती में गए। डिस्पेन्सरी में एक जचकी का केस आ जाने की वजह से निकलने में थोड़ी देर हो गई। गांव पहुंचने तक शाम हो चुकी थी। इस कारण से थोड़ी जल्दबाजी में यात्रा निपटानी पड़ी। इस बार पहली बार हम कुछ दवाइयां साथ ले गयी थीं। धुनुआ के घर में दो बच्चों को दस्त लगे थे। हमने उनकी मां को 'जीवन रक्षक घोल' के बारे में समझाया। वह कहने लगी कि आज रात तो वह, यह घोल पिला देगी पर कल तो उसे जंगल जाना पड़ेगा, तब क्या होगा? इसलिए उसकी इच्छा थी कि दस्त रोकने की गोली मिल जाए। हमने उसे समझाया कि 'जीवन रक्षक घोल' ज्यादा कारगर है। हमने यह भी सुझाव दिया कि वह इकट्ठा घोल बनाकर घर छोड़ जाए, उसकी बड़ी लड़की दोनों बच्चों को पिलाती रहेगी। परन्तु मां इस सबसे संतुष्ट नहीं दिखी। पता नहीं वह घोल पिलाने का इंतजाम करेगी या नहीं। फिर हम गोधुआ के घर गए। उसके परिवार में बहुत बच्चें हैं। उसकी पत्नी किश्ती ने बताया कि उसे 10 बच्चे हुए, पर 4 मर गए। अभी वह गर्भवती लग रही थी, पर हमने पूछा नहीं। यह परिवार बहुत गरीब लगता है। जितना खाना वह बना रही थी, वह सबके लिए पर्याप्त नहीं था। गोधुआ की मां भी उन्हीं के साथ रहती है। किश्ती बहुत दुबली-पतली और कमजोर है। हम, वहां ज्यादा नहीं रुके। वह बहुत थकी-मांदी सी दिख रही थी और शायद उसकी बात करने की इच्छा भी नहीं थी। शायद, उसका सास से झगड़ा हुआ था। सास ने चारू से किश्ती की शिकायत भी की थी। सूबेदारजी से भी मिले; हमेशा की तरह उनके आसपास लोगों का जमघट था। वे लोग किसी बात पर गंभीरता से विचार कर रहे थे। उन्होंने हमें भी बुला लिया। जब हमने पूछा कि मामला क्या है, तो सूबेदारजी ने बताया कि कल वन रक्षकों (फारेस्ट गार्डों) ने कुछ लोगों को तंग किया था। फारेस्ट गार्ड न सिर्फ उनकी लकड़ी छीन ले गए बल्कि हरेक पर दस-दस रुपये जुर्माना भी कर दिया। इसलिए आज अधिकतर आदमी जंगल नहीं गए। औरतें सुबह-सुबह जाकर कुछ खाने की चीजें ले आईं थीं, परन्तु वे जल्दी ही वापस आ गईं। जंगल कर्मचारियों के डर से उन्होंने लकड़ी तक नहीं बीनी।

वे लोग चर्चा कर रहे थे कि अब कल जंगल में जाएं या पहले रेंजर को कुछ रिश्वत दे दें। हमने पूछा कि क्या यह, इस तरह

की पहली घटना हुई है। उन्होंने बताया कि हर साल ही वे रेंजर को रिश्वत दे देते हैं, परन्तु इस साल नया रेंजर आ गया है और वह दुगनी रकम की मांग कर रहा है। उन्होंने अभी तक पैसा नहीं दिया है क्योंकि मांग बहुत ज्यादा है। सारे लोग सूबेदारजी से यह पूछ रहे थे कि क्या जुर्माना भरना ज्यादा ठीक रहेगा ?

हमने उनसे पूछा कि जब जंगल से लकड़ी काटना गैर-कानूनी है और जुर्माना हो सकती है, तो वे जंगल में जाते ही क्यों हैं ? आदमियों ने बताया कि उनके पास और कोई विकल्प नहीं है। गर्मियों में खेतीबाड़ी का काम कुछ होता नहीं और मजदूरी से जो पैसा मिलता है, वह उसी दिन खत्म हो जाता है। अभी यदि वे लकड़ी नहीं बेचें, तो उनके पास अनाज खरीदने के लिए भी पैसा नहीं होगा। उनके लिए दूसरा रास्ता यही है कि वे साहूकार से कर्ज लें। हमें पता चला था कि पंचायत सदस्य भी एक साहूकार है। यदि वे कर्ज लेते, तो हर महीने 1 रुपये पर 50 पैसे ब्याज लगता, जो कि बहुत ही ज्यादा है। यदि वे कोई रकम, जेवर वगैरह गिरवी रखें तो ब्याज की दर कम हो जाती है। परन्तु अपनी चीज गिरवी, निहायत मजबूरी में ही रखी जाती है।

बातचीत चलती रही, परन्तु अंधेरा होने लगा था। अतः हमें वापस लौटना पड़ा। वापसी में, मैं और चारू बहुत निराशा महसूस कर रहे थे। ऐसी स्थिति में लोग आखिर क्या करें ?

3 मई

दोपहर में गांव पहुंचे। रास्ते में ही हरिजन बस्ती की दाई मिल गई। वह लालवत गांव में एक जचकी निपटाकर लौट रही थी। उसे वहां से एक रुपया और नई चूड़ियां मिली थीं। हालांकि उस गांव में भी एक दाई है, परन्तु कुछ परिवार अभी भी इस दाई को ही बुलवाते हैं। उसने बताया कि लालवत गांव वालों को उस पर इसीलिए भरोसा है क्योंकि उसका खानदान, कई पीढ़ियों से यह काम कर रहा है। जबकि लालवत की दाई का सिर्फ दो पीढ़ियों से ही यह काम करना शुरू हुआ है। लोग उसे बहुत शुभ समझते हैं, क्योंकि उसने जितनी जचकियां करवायी थीं, अधिकतर में लड़का पैदा हुआ था। इस बार भी लड़का ही पैदा हुआ। लालवत की दाई को इससे बहुत ईर्ष्या होती थी। हमने जब उससे पूछा कि लड़का ही पैदा हो, इसके लिए वह क्या उपाय करती है तो, उसने बताया कि उसके पास कुछ जड़ी - बूटियां हैं, जो वह जच्चा को खिला देती है। जड़ी-बूटियों के बारे में पूछने पर, उसने गोल मोल सा जबाव दे दिया। यह तो साफ था कि वह हमें बताना नहीं चाहती थी।

उसने बड़ी गंभीरता से यह भी बताया कि जड़ी-बूटियां तभी कारगर होती हैं, जब गर्भ के दौरान आम, बैंगन, पपीते, जैसी कई चीजों से परहेज किया जाए। फिर कई सारे रीति-रिवाजों का पालन भी करना पड़ता है। जैसे गर्भवती औरत को शाम के समय दहलीज पर नहीं बैठना चाहिए, सोते समय बाईं करवट लेटना चाहिए, वगैरह। हम दाई के साथ उसके घर तक गए। उसके पड़ोस का घर खुला था। हम अंदर गए तो देखा कि एक औरत खाट पर पड़ी है। तेज बुखार से उसका बदन तप रहा था।

तत्काल चारू ने गीले कपड़े से उसे स्पंज करना शुरू कर दिया। दाई टोकती ही रह गई कि तेज बुखार में ठंडा पानी नहीं लगाना चाहिए। धीरे-धीरे बुखार कम हो गया। चलने से पहले हम औरत को एस्पिरिन दो गोलियां देना चाहती थीं। परन्तु उसने पिछली रात से कुछ नहीं खाया था और न ही उस समय घर में खाना था। हमने सोचा कि उसके लिए कुछ बना दें, पर घर में आधा कप चावल के अलावा कुछ नहीं था। दाई ने कहा कि वह अपने घर से एक रोटी लाकर दे देगी। हमने एस्पिरिन दाई को देकर कहा कि इन्हें रोटी खाने के थोड़ी देर बाद दे देना। वापस जाने से पहले एक बार फिर उस औरत का हालचाल मालूम करने का वादा करके हम ऊंची जाति के मोहल्ले में चली गयीं। सुखरा की पत्नी ने अभी-अभी खाना खाया था और वो लेटने की तैयारी कर रही थी। घर की दूसरी औरतें और उसके तीन बच्चे पहले ही सो चुकें थे। एक बच्चे को दस्त लगे थे। उसने हमें वह दवाई दिखाई जो शहर के प्राइवेट डाक्टर ने उसके लिए दी थी। उसने बताया कि डाक्टर ने एक इन्जेक्शन भी दिया था

परन्तु दस्त तो बंद नहीं हुए। दवाई पाउडर के रूप में थी, इसीलिए उसने पूछा कि इसका उपयोग कैसे करें? बच्चे को एक चम्मच पाउडर खिलाने की कोशिश, वह पहले ही कर चुकी थी। परन्तु बच्चे ने खाने से इंकार कर दिया था। पाउडर वास्तव में, जीवन रक्षक घोल का पाउडर था। हमने उसे घोल बनाने का तरीका समझाया और साथ ही यह भी बताया कि उसे घोल का यह पैकेट बाजार से खरीदने की जरूरत नहीं है। वह यह घोल घर पर ही चीनी, नमक और नींबू से बना सकती है। हमने उसे यह भी समझाया कि दस्त रोग कैसे फैलता है, और पूछा कि वह कौन से कुएं से, पीने का पानी लाती है?

उसने बताया कि करीब-करीब सभी लोग, एक ही कुएं से पानी लेते हैं या फिर नदी में गड्ढ़ा खोदकर पानी लाते हैं। गांव में दो कुएं और हैं पर उनमें एक कुएं का पानी खारा है। इस का पानी सिर्फ बर्तन-कपड़ों के लिए लिया जाता है। जबकि तीसरे कुएं का पानी तो कोई इस्तेमाल ही नहीं करता है, क्योंकि पांच साल पहले एक औरत ने खुदकुशी कर ली थी और बाद में दो बच्चे कुएं में गिर गए थे। इसी कारण से कोई भी व्यक्ति उस कुएं के पास फटकता तक नहीं है क्योंकि ऐसा कहते हैं कि उस औरत का भूत पास जाने वाले को कुएं में खींच लेगा।

हम कुछ और घरों में भी गए, पर कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं हुई। तीन बच्चों की खुजली, चार के दस्त और एक औरत के बुखार का इलाज किया। ऊंची जाति के मोहले में सभी संयुक्त परिवार हैं। भाई, उनकी पत्नियां, बच्चे और दादा-दादी साथ ही रहते हैं, उनका खाना एक ही चूल्हे पर बनता है।

धुन्नी मल के तो, परदादा भी जिन्दा हैं। दूसरी तरफ हरिजन बस्ती में एक घर में एक ही परिवार रहता है। ऊंची जाति के मोहल्ले में सबके घर पक्के हैं और अलग से रसोई घर तथा आंगन की व्यवस्था है। शौचालय किसी घर में नहीं है। शौच के लिए बड़े लोग खेतों में जाते हैं, जबकि बच्चे गलियों में ही शौच करते हैं। सिर्फ पंचायत सदस्य के घर पर शौचालय है। हमें उसकी पत्नी ने बताया कि यह भी सिर्फ तीन साल पहले बनाया गया, क्योंकि सरकारी अधिकारी उनके घर ठहरते हैं। फॉरेस्ट रेंजर भी कभी-कभी उनके घर आता है। उसकी इनसे बड़ी पटती है।

हमने सोचा कि हरिजन लोगों की जंगल सम्बन्धी समस्या के बारे में पंचायत सदस्य से बात करनी चाहिए। शायद वह, रेंजर से कुछ कह सुनकर मामला निपटा सके। परन्तु पंचायत सदस्य तो उड़ीसा गया हुआ था। उसकी पत्नी ने हमें शर्बत भी पिलाया। वह शायद किसी और जिले के एक संपन्न परिवार की है। उसके पिता जमींदार थे। उसने शिकायत की कि उसे देवली में अच्छा नहीं लगता है, क्योंकि एक तो यह गांव उसके गांव से छोटा है और यहां सुविधाएं भी नहीं हैं। उसे कोई बातचीत करने वाला भी नहीं मिलता है। उसके पति तो व्यापार के सिलसिले में उड़ीसा या इन्दौर या दूसरी जगह जाते रहते हैं। हमारे पूछने पर उसने बताया कि वे कपड़े का व्यापार करते हैं। उसने यह भी बताया कि जब कभी वह अकेली होती है, तो रसिया उसी के घर सो जाती है। उसका परिवार संयुक्त नहीं है।

उसके जेठजी बिलासपुर में दुकान चलाते हैं। लीला को इस बात का भी गर्व था कि उसकी चारों सन्तानें लड़के हैं। सबसे बड़ा लड़का 10 साल का है और एक बोर्डिंग स्कूल में पढ़ता है। दूसरा लड़का गांव के प्रायमरी स्कूल में पढ़ता है। उसकी इच्छा है कि इस बार उसके एक लड़की हो फिर वह आपरेशन करवा लेगी। लीला इतनी अच्छी तरह से बातें कर रही थी और थोड़ी डींग भी मार रही थी। हमने बातों-बातों में उससे यह भी पूछा कि उनके पास कितनी जमीन है। इस सवाल पर लीला तुरन्त यह कहकर चुप्पी मार गई कि ये सब बातें, उसके पति को ही मालूम हैं। इसके बाद एकदम, उसके बर्ताव में थोड़ा रूखापन आ गया। शायद हमें यह सवाल नहीं पूछना चाहिए था।

वापसी में हम हरिजन बस्ती में बीमार औरत को देखने चले गए उसकी तबियत काफी ठीक हो गई थी और वह घर का कामकाज करने लगी थी।

10 मई

चारू छुट्टी पर थी और दवाखाने का काम इतना ज्यादा था कि गांव जाना न हो सका ।

17 मई

इस बार भी नहीं जा पाई क्योंकि चारू अभी भी छुट्टी पर है । हरिजन बस्ती से एक मरीज दो दिन पहले आया था । मैंने उससे जंगल की समस्या के बारे में पूछताछ की । उसने बताया कि दो हफ्ते पहले उन्होंने रेंजर को घूस दे दी थी, तब से कोई समस्या नहीं हुई है । मैंने पूछा कि घूस देने कौन गया था ? क्या वे सब लोग सामूहिक रूप में गए थे ? उसने बताया कि "नहीं, सिर्फ लक्ष्मण और भानर गए थे ।" इन दोनों को मैं जानती हूं । दोनों बार, जब मैं गांव गई, तब वे सूबेदारजी के साथ बैठे थे । उसने मुझे पूछा कि मैं और चारू बहुत दिनों से गांव क्यों नहीं आए ? तो मैंने कहा कि अगले हफ्ते आएंगे । वास्तव में, मैं अकेली भी जा सकती थी, पर अकेले जाने में मुझे थोड़ी घबराहट होती है ।

24 मई

आज हम अपने साथ दवाखाने के चौकीदार रामसिंह को भी ले गए, क्योंकि हम हरिजन तथा बनुकर दोनों बस्तियों में जाना चाहते थे और हमें पता था कि लौटने में देर हो जाएगी ।

सूबेदारजी हमें देखकर बहुत खुश हुए । उन्होंने हमारा परिचय अपने भतीजे सुखदेव से कराया । वह रायपुर में अपने रिश्तेदारों के पास 2 महीने रहकर लौटा था । वहां वह नौकरी की तलाश में गया था, पर नौकरी मिली नहीं थी । सूबेदारजी को सुखदेव से बहुत लगाव था । एक तो वह घर में सबसे छोटा था और फिर बस्ती में एक ही पढ़ा-लिखा लड़का था । 4 साल पहले दसवीं फेल होने के बाद से ही, वह नौकरी की तलाश में था । चारू और मुझे उसका बढ़िया पहनावा देखकर बहुत आश्चर्य हुआ— साफ कमीज, इस्तरी किया हुआ पैंट और घड़ी । पूरी बातचीत के दौरान वह एक पुराने अखबार को उलटता-पलटता रहा । उसने हमसे, हमारे काम के बारे में, कई सवाल पूछे और बताता रहा कि यह गांव बहुत पिछड़ा हुआ है और वह यहां टिकना नहीं चाहता है । हमने सुझाव दिया कि जब तक वह फालतू है, तब तक बच्चों के लिए रात्रि स्कूल क्यों नहीं चलाता ? इस पर उसने सीधे पूछ लिया कि क्या हम उसे इस काम के लिए पैसा देंगे ? हमने कहा कि हमारे पास तो पैसा नहीं है ।

रामसिंह तो सूबेदार जी की कहानियों में रम गया । उसे थोड़ी देर बाद बुनकर मोहल्ले में आने के लिए कहकर, हम चल दिए । जब बुनकर मोहल्ले में पहुंचे तो लोग सोने की तैयारी कर रहे थे । तुरन्त, किसी ने हमारे बैठने के लिए एक खटिया बिछा दी और एक लालटेन जलाकर, सब घेरा बनाकर बातचीत करने बैठ गए । उन्होंने बताया कि पिछले तीन हफ्तों से उन्हें काम नहीं मिला है और वे पंचायत सदस्य से उधार पैसा लेकर रोज एक समय खाना खा रहे हैं । रेशम के कीड़े में कोई बीमारी फैल गई है कि रेशम नहीं मिल पाता है । हमने उन्हें सुझाव दिया कि वे सहकारी समिति बनाकर सरकारी खादी बोर्ड से जुड़ सकते हैं । इससे उन्हें नियमित बिक्री की सुविधा मिल जाएगी ।

31 मई

नीला तीन-चार दिन से तेज गर्मी की वजह से अस्वस्थ सी है । मैं रामसिंह के साथ हरिजन बस्ती और बुनकर मोहल्ले में गई । बीच में पंचायत के सदस्य के घर भी रुकी । वह घर पर ही था । हमेशा की तरह उसने अच्छी तरह बात की, नीला के बारे में पूछा और हमसे काम के बारे में भी पूछताछ की । बातचीत के दौरान, मैंने उससे पूछा कि वह बुनकरों की एक सहकारी समिति क्यों नहीं बनवा देता ? यह सुनते ही उसने बुनकरों को भला बुरा कहना शुरू कर दिया । वे कितने आलसी हैं, मूर्ख हैं, पिछड़े हैं, वगैरह । उसने समझाया कि ये लोग सारा पैसा खाने और शराब पर बरबाद कर देते हैं और उन्हें बचत का मतलब तक नहीं मालूम । फिर, उसने कहा कि सहकारिता का मतलब तो यह होता है कि लोग एक-दूसरे की मदद करें, परन्तु ये लोग तो हमेशा एक-दूसरे से झगड़ते रहते हैं ।

यह सब कह चुकने के बाद उसने मुझसे पूछा कि मेरी दिलचस्पी सहकारी समिति में क्यों है ? क्या बुनकरों ने इस बारें में कुछ कहा था ? मैंने कहा, बुनकरों ने कुछ नहीं कहा, बल्कि मैंने ही सहकारी समिति की उपयोगिता के बारे में पढ़ा था । इसीलिए मैं सोच रही थी कि यह विचार कैसा रहेगा । उसने मुझे कहा कि तुम यहां स्वास्थ्य कार्य करने के लिए आती हो, नेतागिरी के लिए नहीं । मैं समझ गई थी कि किसी कारण से वह गुस्सा हो रहा है, इसलिए मैंने विषय बदल दिया ।

लीला एक हफ्ते के लिए मायके गई थी । मैंने उसके तथा बच्चों के हालचाल पूछे । जब मैं चलने को हुई तो पंचायत सदस्य ने मजाक के लहजे में कहा, ''बहन जी, लोगों के स्वास्थ्य की चिन्ता करो, आजकल गांव में बहुत लोग बीमार पड़ रहे हैं ।'' मुझे उनका लहजा बिलकुल पसन्द नहीं आया । मैंने नीला को पूरा हाल सुनाया तो उसका कहना था कि पंचायत सदस्य को सहकारी समिति का विचार बिल्कुल नहीं भाएगा, क्योंकि इससे उसके अपने धंधे पर असर पड़ेगा । मुझे भी यह बात ठीक लगी । शायद, उससे, इस सम्बन्ध में कुछ भी कहने से पहले मुझे सोचना चाहिए था । अगली बार सावधान रहूंगी ।

बुनकर मोहल्ले में भी गई । शाम का धुंधलका छाने लगा था । औरतें कुछ पका रहीं थीं । मैंने देखा कि बाजरे को पानी में उबालकर दलिया बनाया जा रहा है । ''यही हम पिछले 4 दिनों से खा रहे हैं'' औरतों ने कहा । सभी लोग कमजोर और मायूस दिखे । बस वे यही कहते रहे कि ''हमें अगर रेशम का धागा नहीं मिला तो बस भगवान ही मालिक है ।''

मुझे और नीला को पहले लगता था कि बुनकरों की हालत हरिजनों से बेहतर है परन्तु हमारा विचार सही नहीं था । बुनकर भी गरीब ही थे, यही सोचते हुए मैं हरिजन बस्ती पहुंची । कुछ समय सूबेदारजी के साथ बिताया । उनको टाल भी नहीं सकते और एक बार वे शुरू हो जाएं तो रुकने का नाम नहीं लेते । उन्होंने नीला के हाल चाल पूछे और पूछा कि इतनी देर कहां हो गई ? मैंने उन्हें बता दिया कि पहले मैं पंचायत सदस्य के घर गई और फिर बुनकर मोहल्ले । मैंने उन्हें यह भी बताया कि बुनकरों को पिछले चार दिनों से, खाना तक नहीं मिला है और यह भी मैं उनके लिए एक सहकारी समिति शुरू करने की बात सोच रही हूं । सूबेदारजी ने कहा कि समिति नहीं चल सकती । उन्होंने बताया कि कुछ सालों पहले कुछ सामाजिक कार्यकर्ता आये थे और बुनकर सहकारी समिति शुरू भी की थी, परन्तु किसी कारण वह चल नहीं पाई थी । सूबेदारजी ने कहा कि उन्हें पूरी बात तो नहीं मालूम पर इतना पता है कि समिति शुरू हुई थी, रजिस्टर भी कराई गई थी क्योंकि एक सामाजिक कार्यकर्ता उनको यह सब बताया करता था ।

नीला और मैंने इस विषय पर काफी विचार विमर्श किया कि न तो पंचायत सदस्य और न ही बुनकरों ने मुझे पहले वाली समिति के बारे में बताया । हमने तय किया कि इसके बारे में और पता करना चाहिए ।

रामसिंह अभी भी सूबेदारजी की कहानियों से बोर नहीं हुआ था । एक तरह से अच्छा ही है, क्योंकि इस बहाने, वह हमारे साथ गांव आता रहेगा । और हम उसे, सूबेदारजी के पास छोड़कर गांव में ज्यादा समय बिता सकेंगे ।

डायरी के इन पृष्ठों से हमें देवली गांव व इसके लोगों का अच्छा परिचय मिलता है । हमें पता चलता है कि लोग क्या-क्या काम करते हैं, उनके परस्पर सम्बन्ध कैसे हैं और उनकी समस्याएं क्या हैं । स्वास्थ्य कार्यकर्ता और लोगों के आपसी सम्बन्धों को समझने में भी इससे मदद मिलती है ।

इस तरह की डायरी रखने से नीला व चारू को कई फायदे हैं । **पहला,** डायरी से उन्हें सारी बातें याद रखने में मदद मिलती है । जैसे वे किसी घटना या वार्तालाप पर गौर करना चाहें, तो डायरी पढ़कर अपनी याद ताजा कर सकती हैं । चूंकि उन्होंने डायरी में

लोगों के नाम भी लिखे हैं, इसलिए उन्हें विभिन्न घटनाओं से जुड़े लोगों का ख्याल भी रहेगा। यदि कोई नई कार्यकर्ता उस गांव में जाए, तो उसे इससे बहुत मदद मिलेगी।

दूसरा, डायरी से उन्हें यह भी ध्यान रहेगा कि कौन-सी जानकारी छूट गई है। अगली बार यह जानकारी ली जा सकती है। हर बार गांव जाने से पहले स्वास्थ्य कार्यकर्ता अपनी डायरी पर एक नजर डाल लें, तो वे पिछली बार की घटनाओं व वार्तालाप को याद कर सकती हैं और अगली कार्यवाही की तैयारी कर सकती हैं। जैसे लगता है कि नीला या चारू ने उस औरत पर आगे ध्यान नहीं दिया जिसके दो बच्चे दस्त से पीड़ित थे और वह जीवनरक्षक घोल देना नहीं चाह रही थी। यदि दिया भी हो, तो उन्होंने डायरी में कुछ नहीं लिखा। इस तरह की कार्यवाही के परिणाम डायरी में जरूर लिखना चाहिए। इससे हमें पता चलता है कि लोगों के स्वास्थ्य सम्बन्धी तौर-तरीकों में बदलाव हो रहे हैं।

तीसरा, डायरी की मदद से लोगों की समस्याओं की सूची बनाई जा सकती है और तय किया जा सकता है कि इनमें से किस-किस समस्या पर काम किया जाना चाहिए। देवली की डायरी से पता चलता है कि निम्नलिखित समस्याएं या तो स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं ने खुद देखी या लोगों ने जिक्र किया :

- कर्ज पर ब्याज की दरें बहुत ज्यादा है।
- जंगल अधिकारियों द्वारा रिश्वत की मांग।
- बच्चों को घर पर छोड़ कर माता-पिता काम पर गए हैं।
- रेशम की सप्लाई न होने पर बुनकरों के पास काम नहीं।
- आसपास चिकित्सा की कोई सुविधा नहीं।

चौथा, हालांकि डायरी में मुख्यतः स्वास्थ्य कार्यकर्ता के अपने एहसास ही लिखे जाते हैं, परन्तु फिर भी इसका उपयोग खुद के काम के मूल्यांकन के लिए किया जा सकता है। हर दो-तीन महीने में एक बार पूरी डायरी पढ़कर यह समझा जा सकता है कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता और लोगों के रवैये में क्या कुछ अन्तर आया है। यह भी देखा जा सकता है कि किन निर्णयों का अच्छा प्रभाव हुआ है और किनका बुरा प्रभाव हुआ है। देवली की डायरी के आधार पर देखते हैं कि वहां के स्वास्थ्य कार्यकर्ता अपने काम का मूल्यांकन कैसे कर सकती हैं।

लोगों के प्रति स्वास्थ्य कार्यकर्ता के रवैये में परिवर्तन

स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं के रवैये में बदलाव साफ दिखाई देता है। पहले वे फ्लैश कार्डों के माध्यम से स्वास्थ्य-शिक्षा पर ही पूरा ध्यान लगा रही थी। धीरे-धीरे उनमें गरीबों के प्रति सहानुभूति व लगाव पैदा हुए। उन्होंने देखा कि गरीब लोग अपने जीवन की हालत को बदलने में कितने असमर्थ हैं। शुरूआत में वे ऊंची जाति के घरों से शुरू करना चाहती थीं। आगे चलकर वे हरिजन बस्तियों और बुनकरों के घरों में ज्यादा समय बिताने लगीं। धीरे-धीरे उन्होंने यह भी महसूस किया कि लोगों की समस्याएं, जितना उन्होंने सोचा था, उससे कहीं ज्यादा गंभीर हैं। वे यह भी विचार करने लगीं कि इन समस्याओं के समाधान के लिए वे क्या मदद कर सकती हैं।

स्वास्थ्य कार्यकर्ता के प्रति लोगों के रुख में परिवर्तन

फिलहाल इस सम्बन्ध में कुछ कहना संभव नहीं है। क्योंकि इतना वक्त नहीं गुजरा कि स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं के प्रति लोगों के रवैये में आये परिवर्तनों को आंका जा सके। बहरहाल, डायरी से यह तो पता चलता ही है कि पंचायत सदस्य की पत्नी लीला का व्यवहार अब स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं के साथ ज्यादा दोस्ताना हो गया है। इसके विपरीत पंचायत सदस्य, जो पहले मित्रतापूर्ण था, अब थोड़ी कटुता का प्रदर्शन करने लगा है।

काम पर सकारात्मक प्रभाव वाले निर्णय

शाम को हरिजन व बुनकर बस्ती में जाना, रात को देर हो जाने के भय से बचने के लिए रामसिंह को साथ ले जाना और सम्पन्न लोगों से पूरी तरह कटे बगैर गरीबों के साथ ज्यादा समय बिताना, ये तीन ऐसे निर्णय कहे जा सकते हैं जिनसे काम में मदद मिली।

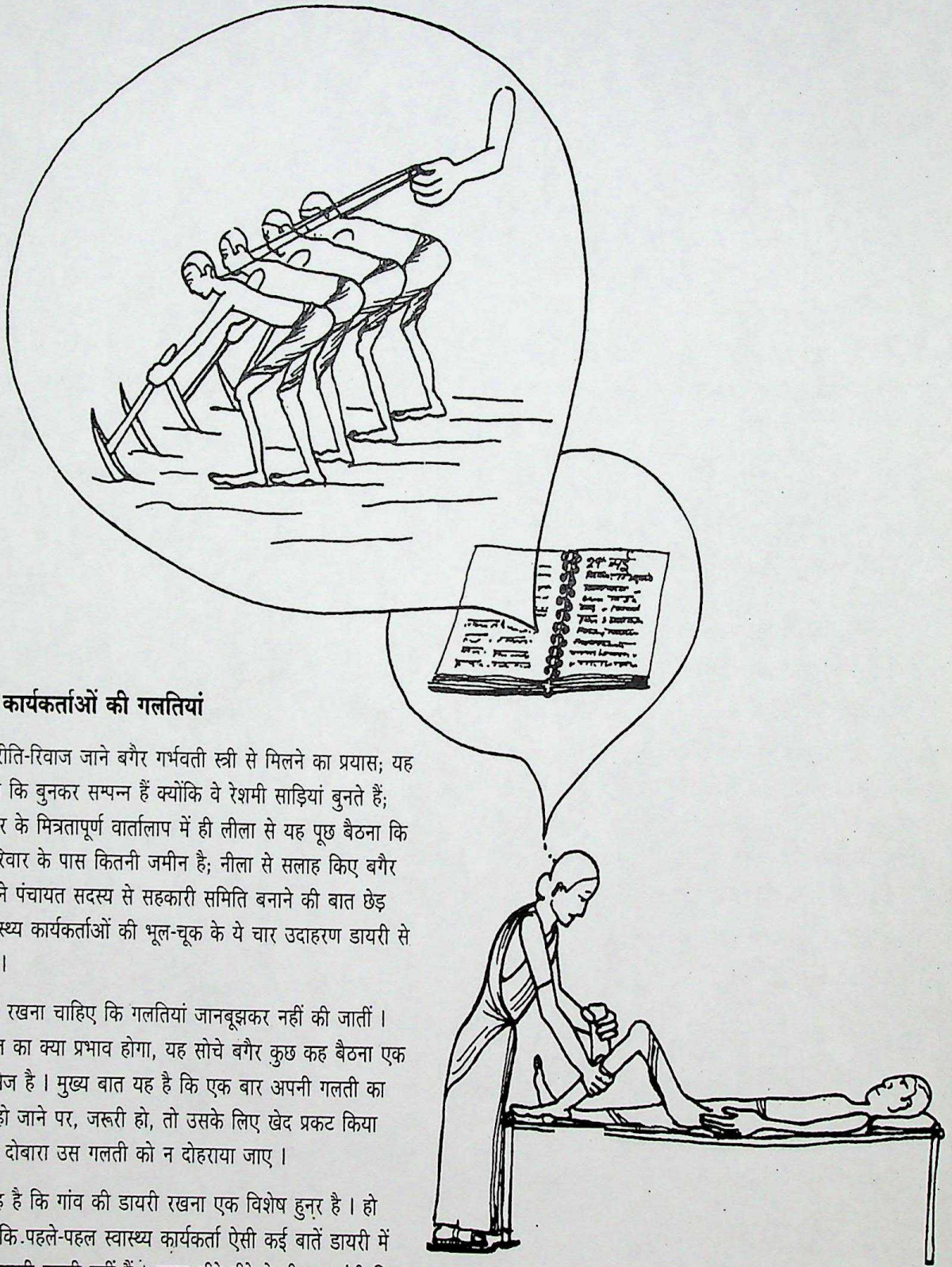

स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं की गलतियां

गांव के रीति-रिवाज जाने बगैर गर्भवती स्त्री से मिलने का प्रयास; यह मान लेना कि बुनकर सम्पन्न हैं क्योंकि वे रेशमी साड़ियां बुनते हैं; पहली बार के मित्रतापूर्ण वार्तालाप में ही लीला से यह पूछ बैठना कि उसके परिवार के पास कितनी जमीन है; नीला से सलाह किए बगैर ही चारू ने पंचायत सदस्य से सहकारी समिति बनाने की बात छेड़ देना; स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं की भूल-चूक के ये चार उदाहरण डायरी से मिलते हैं।

यह ध्यान रखना चाहिए कि गलतियां जानबूझकर नहीं की जातीं। किसी बात का क्या प्रभाव होगा, यह सोचे बगैर कुछ कह बैठना एक मामूली चीज है। मुख्य बात यह है कि एक बार अपनी गलती का अहसास हो जाने पर, जरूरी हो, तो उसके लिए खेद प्रकट किया जाए और दोबारा उस गलती को न दोहराया जाए।

सारांश यह है कि गांव की डायरी रखना एक विशेष हुनर है। हो सकता है कि पहले-पहल स्वास्थ्य कार्यकर्ता ऐसी कई बातें डायरी में लिखें जो उतनी जरूरी नहीं हैं। परन्तु धीरे-धीरे वे सीख जाएंगी कि क्या लिखना है। वे स्पष्ट और संक्षेप में लिखना भी सीख जाएंगी।

3 : स्वास्थ्य समस्याओं को हल करने में लोगों की मदद

इस समय तक, स्वास्थ्य कार्यकर्ता, गांव के लोगों के जीवन, गांव में रहने वाले अलग-अलग तबकों, उनके रोजमर्रा के सम्बन्धों और उनकी समस्याओं को कुछ हद तक समझ चुकी होगी। उसे कुछ हद तक यह भी समझ में आने लगा होगा कि गांव की सामजिक व आर्थिक स्थिति और आम बीमारियों के बीच क्या सम्बन्ध है। उसने लोगों के साथ एक घनिष्ठ सम्बन्ध भी बना लिया होगा। लोगों के साथ बातचीत करते हुए स्वास्थ्य कार्यकर्ता को यह भी समझ में आया होगा कि लोग खुद की स्वास्थ्य समस्याओं से किस तरह निपट सकते हैं। अब वह लोगों के साथ मिलकर समस्याओं से निपटने के उपायों पर विचार-विमर्श की शुरूआत कर सकती है।

काम के इस मुकाम पर स्वास्थ्य कार्यकर्ता को यह तय करना होगा कि उसे किस तबके के साथ काम करना चाहिए ? उसे पता है कि गांव बंटा हुआ है। कुछ लोग शक्तिशाली हैं और दूसरों की जिन्दगी पर उनका नियंत्रण है। वास्तव में इसी शक्ति के आधार पर यह तय होता है कि गांव में कौन स्वस्थ होगा और कौन नहीं। गरीबों की समस्याओं और अस्वस्थता के मूल कारणों से निपटने के प्रयास में स्वास्थ्य कार्यकर्ता का टकराव गांव के शक्तिशाली तबके से होना अवश्यंभावी है क्योंकि इन दो तबकों के हित परस्पर विरोधी हैं। स्वास्थ्य कार्यकर्ता निष्पक्ष रहकर गरीबों और अमीरों दोनों के साथ काम करती रहे, यह संभव नहीं है। 'निष्पक्ष' होने का मतलब कई बार अमीरों का पक्ष लेना हो जाता है। अतः गरीबों और शोषितों की समस्याओं से जूझते वक्त स्वास्थ्य कार्यकर्ता को स्पष्ट रूप से पक्ष लेना ही होगा।

हमने खण्ड-I में देखा था कि लोगों के जीवन पर नियंत्रण करने वाला तबका बहुत ताकतवर है। जमीन और संपत्ति के बल पर उनके पास आर्थिक ताकत है। वे ऊंची जाति के हैं और शिक्षित हैं। अतः उनके पास सामाजिक ताकत है। फिर उनके पास सारे निर्णय लेने की, सारी महत्त्वपूर्ण संस्थाओं को नियंत्रित करने की राजनैतिक ताकत है। इसके विपरीत गरीबों के पास आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, कोई ताकत नहीं है। उनकी एक मात्र शक्ति उनकी संख्या है।

संगठित होकर ही वे अमीरों पर दबाव डाल सकते हैं और शोषण के खिलाफ लड़ सकते हैं। लोगों की इस शक्ति को विकसित करना ही स्वास्थ्य कार्यकर्ता का उद्देश्य होना चाहिए। उसे कोशिश करनी चाहिए कि लोग एक साथ मिलकर सामूहिक रूप से उन परिस्थितियों को बदल सकें, जो उन्हें स्वस्थ जीवन से वंचित करती हैं। उसे इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए काम करना चाहिए, धीरे-धीरे और सतर्कता से।

समूह बनाना

लोगों को जोड़ना

शुरूआत में लोगों को साथ लाने के लिए स्वास्थ्य कार्यकर्ता कई मौकों का इस्तेमाल कर सकती है। किसी मरीज से या परिवार से बातचीत करते हुए वह एक समूह बनाने का विचार व्यक्त कर सकती है। शिक्षाप्रद मनोरंजन कार्यक्रम, नाटक, कठपुतली का खेल, वगैरह के माध्यम से लोगों को इकट्ठा किया जा सकता है *(वर्नर तथा बोअर की किताब "हैल्पिंग हैल्थ वर्कर्स लर्न" में इस सम्बन्ध में कई बढ़िया सुझाव दिए गए हैं)*। ऐसे मौकों पर सामूहिक चर्चा का अच्छा माहौल बन सकता है। कई बार गांव में पहले से ही समूह मौजूद होते हैं। मसलन युवा लोग खेलकूद या मौज मजे के लिए मिलते होंगे। इसी तरह से महिलाएं भजन इत्यादि के लिए इकट्ठी होती हैं। जहां भी लोग किसी सामान्य मकसद के लिए इकट्ठे होते हैं, वहां स्वास्थ्य कार्यकर्ता अपनी कल्पनाशीलता व हुनर के जरिए एक समूह विकसित कर सकती है।

गांव की किसी महत्त्वपूर्ण घटना से भी शुरूआत की जा सकती है। उदाहरण के लिए,

> गुजरात के एक आदिवासी गांव के लोग एक बांध पर मजदूरी करते थे। उन्हें सुबह जल्दी काम पर जाना होता था। इसलिए वे सुबह 4 बजे उठकर, घर का कामकाज निपटाकर 6 बजे बांध स्थल पर पहुंच जाते। काम शुरू होने के कुछ महीनों बाद, दुर्भाग्यवश, देर से पहुंचने के कारण उनमें से कई लोगों की मजदूरी में कटौती की गई। बांध के अधिकारियों ने यह धमकी भी दी कि यदि ये लोग ठीक समय से न पहुंचे तो वे दूसरे गांव से मजदूर ले आएंगे। एक स्वास्थ्य कार्यकर्ता ने जल्दी ही उनकी दिक्कत पहचान ली–वे लोग रतौंधी के शिकार थे। उसने विटामिन ए के केप्सूल सब लोगों को दिए। इसका

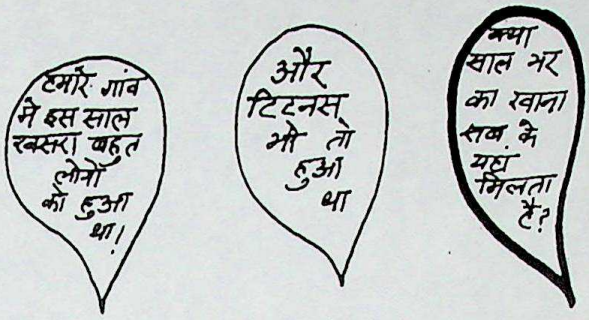

बड़ा नाटकीय प्रभाव हुआ और वे फिर एक बार काम पर ठीक समय पर पहुंचने लगे। स्वास्थ्य कार्यकर्ता ने इस मौके का फायदा उठाया। उनकी अन्य समस्याओं पर चर्चा करने और समाधान ढूंढने के लिए उसने लोगों को साथ जोड़ने में सफलता पाई।

यह जरूरी नहीं कि ऐसी घटना स्वास्थ्य से ही सम्बन्धित हों। एक अन्य उदाहरण देखें,

तमिलनाडु में एक स्वास्थ्य कार्यकर्ता लोगों से कई बार जिक्र कर चुकी थी कि गांव के कुएं के आसपास जगत बनाना और कुएं को ढंक कर रखना जरूरी है। गांव में पीने के पानी का यही एक स्रोत था। लोग अक्सर सिर हिला देते और कह देते थे कि सुझाव तो अच्छा है। मगर इस बारे में करते कुछ नहीं थे। एक दिन दुर्घटनावश एक बच्चा कुएं में गिर गया। इस दुर्घटना और स्वास्थ्य कार्यकर्ता के प्रयासों के फलस्वरूप लोग इकट्ठे हुए और एक सामूहिक काम हाथ में लिया। यहीं से गांव में एक नियमित समूह की भी शुरूआत हुई।

अतः स्वास्थ्य कार्यकर्ता को सतर्क रहकर, लोगों को इकट्ठा करने के लिए, ऐसे मौकों का फायदा उठाना चाहिए। कई बार लोगों को साथ लाने में कई दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। परिवारों के पुराने आपसी झगड़ों या जातीय विभाजन के चलते ऐसी दिक्कतें आ सकती हैं। कई बार नीची जाति में भी विभिन्न जातियों और उपजातियों के बीच तनाव रहता है। कई बार घर इतने दूर-दूर होते हैं कि नियमित रूप से इकट्ठे होना असुविधाजनक होता है। खासकर आदिवासी गांवों में ऐसा होता है। वहां हर घर के आसपास उस परिवार का खेत होता है। स्वास्थ्य कार्यकर्ता के प्रति लोगों का रुख भी आड़े आ सकता है। कई लोग एकदम उदासीन हो सकते हैं जबकि दूसरे लोगों के मन में यह धारणा हो सकती है कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता तो सिर्फ सेहत की समस्या ही सुलझा सकती हैं। संभव है कि कुछ लोगों की भावना यह भी हो कि आर्थिक दशा सुधारने के लिए स्वास्थ्य कार्यकर्ता आर्थिक मदद दें। स्वास्थ्य कार्यकर्ता को ये बातें अजीब लगेंगी। मगर उसे समझने की कोशिश करनी चाहिए कि ऐसी बातें लोगों के जेहन में आती कैसे हैं। धीरे-धीरे चर्चाओं और अपने व्यवहार के जरिये वह लोगों के रुख में बदलाव ला सकती है।

बहरहाल समस्या जो भी हो, स्वास्थ्य कार्यकर्ता को कोशिश जारी रखनी चाहिए कि लोग साथ जुड़ें। अलबत्ता, यदि इसमें कोई गंभीर समस्या दिखाई दे, तो उसे किसी दूसरे गांव में काम करने की बात सोचनी चाहिए। स्वास्थ्य कार्यकर्ता को एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत याद रखना होगा। यदि लोगों को इकट्ठा होने में फायदा दिखेगा तो वे जरूर इकट्ठा होंगे। लोग अपनी किसी जरूरत को पूरा करने के लिए इकट्ठा होते हैं–वह जरूरत सामाजिक, भावनात्मक या आर्थिक हो सकती है। यदि समूह, उनकी जरूरत पूरी नहीं कर सकता , तो वे अलग हो जाएंगे।

चर्चा की शुरूआत

चूंकि स्वास्थ्य कार्यकर्ता चाहती है कि लोग बीमारी की असली वजह को समझें और उसे चुनौती दें, इसलिए जरूरी होगा कि वह नवगठित समूह के साथ इस पर नियमित रूप से चर्चा करें। चर्चा शुरू करने के कई तरीके हो सकते हैं। किसी बच्चे या वयस्क की हाल में हुई मौत, जिसे आसानी से बचाया जा सकता था, पी. एच. सी. या किसी अन्य सरकारी कर्मचारी के साथ का कोई बुरा अनुभव, जमींदार के साथ तनाव–इनमें से किसी से भी चर्चा की शुरूआत हो सकती है। यह भी जरूरी नहीं कि चर्चा शुरू करने के लिए ऐसी किसी घटना का इन्तजार किया जाए। लोगों से उनकी समस्याओं के बारे में पूछताछ करते हुए भी समूह में चर्चा शुरू की जा सकती है।

अखवार या पत्रिका की कोई खबर भी लोगों की समस्याओं पर बातचीत का आधार बन सकती है। चर्चा शुरू करवाने का एक और तरीका नीचे विस्तार में दिया गया है। इसमें कुछ सामान्य-सी बातें हैं। अपने इलाके की परिस्थिति के अनुसार इनमें फेरबदल करना जरूरी होगा।

स्वास्थ्य कार्यकर्ता लोगों से कहे कि वे अपनी समस्याओं की सूची बनाएं। जो समस्या सबसे पहले निपटानी हो वह पहले नम्बर पर हो,

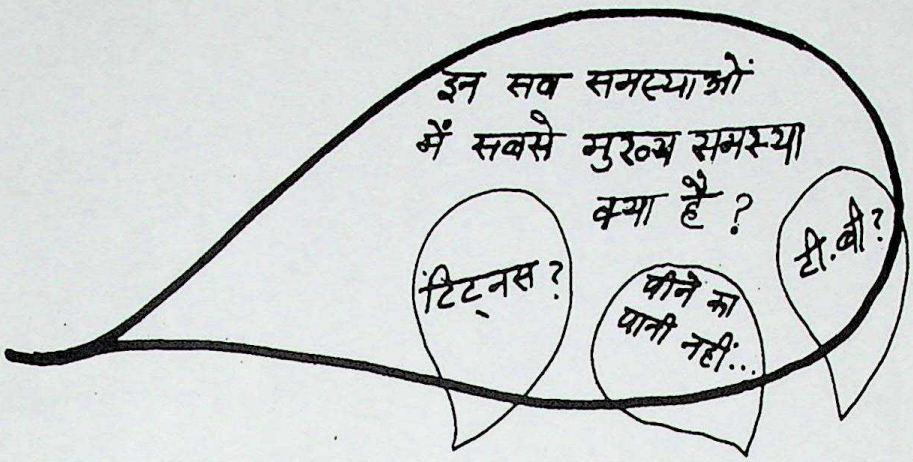

वगैरह। इस प्रकार से समस्याओं की प्राथमिकता-सूची बनेगी। लोगों को ही यह तय करना होगा कि कौन-सी समस्याएं ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं। यह तय करने के लिए उन्हें यह देखना होगा कि–(1) समस्या कितनी आम है। अर्थात् इससे कितने लोगों पर असर पड़ता है ? और (2) समस्या कितनी गंभीर है ? जो समस्याएं गंभीर भी हैं और ज्यादा लोगों को प्रभावित भी करती हैं, वे प्राथमिक समस्याएं हैं। फिर समूह इस बात पर चर्चा कर सकता है कि इन समस्याओं की वजह क्या है। एक बार 'वजहों' की सूची बन जाने पर तय किया जा सकता है कि वे किन 'वजहों' से निपट सकते हैं और कैसे। उपरोक्त प्रक्रिया का फायदा यह है कि लोग अपनी जिन्दगी और अपनी समस्याओं के बारे में व्यवस्थित रूप से सोचने को प्रेरित होते हैं।

एक उदाहरण

एक गांव में एक समूह के लोगों ने चर्चा करके निम्नलिखित समस्याओं की सूची बनाई :

- टिटेनेस
- खाने की कमी
- कृमि (कीड़े)
- ईंधन (जलाऊ लकड़ी) का अभाव
- खसरा
- कर्ज और ब्याज की ऊंची दर
- वेचक
- आवास
- नशा
- चिकित्सा सुविधा का अभाव
- पीने के पानी का अभाव
- चमड़ी के रोग
- पर्याप्त जमीन या पैसे का अभाव
- रोजगार का अभाव
- कंपकंपी वाला बुखार
- लिखना-पढ़ना न आने की वजह से धोखा खाना
- दस्त
- टी. बी.

यह स्पष्ट है कि इस सूची में कोई क्रम नहीं है। जिस क्रम में लोगों ने समस्याएं बताई, स्वास्थ्य कार्यकर्ता ने उन्हें उसी क्रम में नोट कर लिया। फिर यह तय करने की बारी आई कि इनमें से कौन-सी समस्या ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। स्वास्थ्य कार्याकर्ता ने पूछा कि हर समस्या **कितनी आम** है।

समूह का विचार था कि टिटेनस बहुत आम समस्या नहीं है। स्वास्थ्य कार्यकर्ता ने एक बड़े कागज की बाईं तरफ लिख दिया। दूसरी समस्या यानि चिकिसा सुविधा के अभाव को काफी व्यापक माना गया क्योंकि लगभग सभी इससे प्रभावित होते हैं। स्वास्थ्य कार्यकर्ता ने इसे कागज के एकदम दाहिने छोर पर लिख दिया। अगली समस्या भोजन का अभाव थी। काफी चर्चा के बाद समूह इस नतीजे पर पहुंचा कि उस समूह में से कुछ ही लोगों को पर्याप्त खाना मिलता है। अधिकांश लोग बहुत गरीब हैं और भरपेट खाना नहीं खा सकते। परन्तु चूंकि सब लोग इस समस्या से त्रस्त नहीं थे, इसलिए इसे 'चिकित्सा सुविधा का अभाव' के बाईं तरफ लिख दिया गया।

स्वास्थ्य कार्यकर्ता का कागज अब कुछ यों दिखने लगा :

कम व्यापक (बिरली)	व्यापक	ज्यादा व्यापक	सबसे व्यापक
टिटेनस		भोजन की कमी	चिकित्सा सुविधा का अभाव

समूह ने एक के बाद एक सारी समस्याओं पर विचार किया। हर बार पहले की समस्याओं से तुलना करके तय करते थे कि यह समस्या कितनी व्यापक है। खसरा के बारे में उन्होंने पाया कि यह टिटेनस से तो ज्यादा व्यापक है पर कृमि या चमड़ी के रोगों जितनी व्यापक भी नहीं है। तो स्वास्थ्य कार्यकर्ता ने खसरा का नाम टिटेनस और दूसरी पंक्ति के बीच लिख दिया।

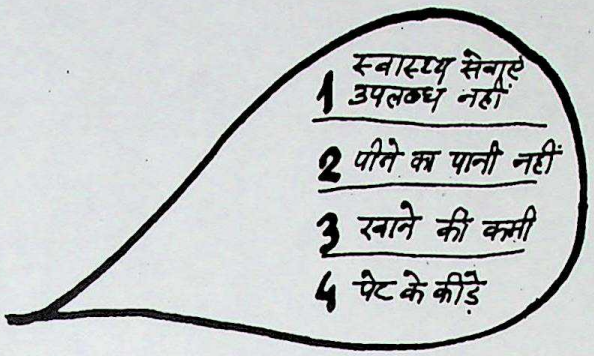

चर्चा के अन्त में कागज कुछ ऐसा दिखने लगा था :

कम व्यापक (बिरली)	व्यापक	ज्यादा व्यापक	सबसे व्यापक
टिटेनस	–खसरा	–खाने की कमी	–चिकित्सा सुविधा का अभाव
	–आवास	–कृमि	–पीने का पानी न मिलना
	–कंपकंपी वाला बुखार	–चमड़ी के रोग	
		–ईंधन की कमी	
	–चेचक	–पर्याप्त जमीन या पैसा न होना	
	–नशा		
	–टी. बी.	–रोजगार की कमी	
		–कर्जा और ब्याज की ऊंची दरें	
		–दस्त	
		–पढ़े-लिखे न होने के कारण धोखा खाना	

इसके बाद समूह में हर समस्या को लेकर यह चर्चा शुरू हुई कि कौन-सी समस्या **कितनी गंभीर** है। स्वास्थ्य कार्यकर्ता ने एक नया पन्ना लिया। इस पर उसने कम गंभीर समस्याओं को बाईं तरफ और ज्यादा गंभीर समस्याओं को दाहिनी तरफ लिखा। चर्चा के अन्त में जो चित्र उभरा वह निम्नानुसार था :

कम गंभीर	गंभीर	ज्यादा गंभीर	सबसे गंभीर
–चमड़ी के रोग	–चिकित्सा सुविधा का अभाव	–पीने के पानी की कमी	–टिटेनस
–कृमि			–भोजन का अभाव
–आवास	–पढ़े लिखे न होने से धोखा खाना	–खसरा	–पर्याप्त जमीन व पैसा न होना
–चेचक		–ईंधन का अभाव	
–नशा	–कंपकंपी वाला बुखार	–रोजगार की कमी	
		–टी. बी.	
		–कर्जा और ब्याज	
		–दस्त	

इसके बाद समूह ने ज्यादा अहम समस्याओं की सूची बनाई।

ये समस्याएं ऐसी थीं, जो **ज्यादा गंभीर और ज्यादा व्यापक** थीं।

ज्यादा व्यापक और ज्यादा गंभीर
–भोजन की कमी
–पीने का पानी नहीं
–ईंधन का अभाव
–रोजगार का अभाव
–दस्त, कर्जा और ब्याज की ऊंची दरें

गंभीर किन्तु कम व्यापक	ज्यादा व्यापक किन्तु कम गंभीर
–टिटेनस	–कृमि
–टी. बी.	–चमड़ी के रोग
–खसरा	–पढ़ा लिखा न होने से धोखा खाना
	–चिकित्सा सुविधा का अभाव

बाकी सारी समस्याएं कम व्यापक और कम गंभीर थी। समूह ने तय किया कि इनसे बाद में निपटा जा सकता है। बाद की बैठकों में समूह ने इस बात पर भी चर्चा की कि सबसे अहम समस्याओं के लिए कौन-सी सामाजिक परिस्थितियां जिम्मेदार हैं। समस्याओं से निपटने की दिशा में यह पहला कदम था।

समाधान की तलाश

लोगों के साथ मिलकर समस्याओं का समाधान तलाश करने में, स्वास्थ्य कार्यकर्ता की भूमिका यह होनी चाहिए कि वह लोगों को विभिन्न विकल्पों पर चर्चा के लिए प्रोत्साहित करें। शुरूआत में आसान समस्याओं का सामना करके कुछ सफलता अर्जित करने से लोगों का आत्मविश्वास बढ़ेगा। इस बढ़े हुए आत्मविश्वास के बल पर वे ज्यादा बड़ी चुनौतियों का सामना कर सकेंगे।

नीचे दो उदाहरणों की मदद से दर्शाया गया है कि दो अलग-अलग स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं ने टी. बी. की समस्या का सामना करने के लिए

क्या तरीके अपनाए। पहले उदाहरण में आशा ने पहले से मौजूद समूह का सहारा लिया जबकि दूसरे उदाहरण में स्वास्थ्य कार्यकर्ता मीरा ने टी. बी. की समस्या सुलझाने के लिए महिलाओं को संगठित किया।

उदाहरण- 1

आशा एक नर्स है। वह पिछले करीब 10 महीनों से गांव की औरतों के साथ नियमित बैठकें करती आ रही है। आशा ने इस समूह की शुरूआत एक समस्या के संदर्भ में की थी। लोगों के पास, खासकर आड़े वक्त में पैसा नहीं होता। औरतों ने आशा से अलग-अलग इस सम्बन्ध में कई बार बात की थी। काफी चर्चा के बाद औरतों ने तय किया कि वे हर हफ्ते जो कुछ बचा सकती हैं, उसे एक जगह जमा करेंगी। हर हफ्ते औरतें 3-5 रुपये लाती थीं। आशा यह सारा पैसा नजदीक के एक बैंक में जमा कर देती थी। एक नोट बुक में हर औरत द्वारा जमा किए गए पैसे का ब्यौरा लिख दिया जाता था। जब भी किसी औरत को पैसे की जरूरत होती, तो वह समूह में अपनी बात रखती। समूह ही इस बात का फैसला करता। समूह द्वारा कुछ सामान्य कामकाज के लिए भी पैसे का उपयोग किया जाता था, जैसे सभी सदस्यों के लिए सब्जी के बीज खरीदना, वगैरह। महीने में तीन बार आशा गांव की स्वास्थ्य समस्याओं जैसे खुजली, दस्त आदि पर भी चर्चा करती थी। वह औरतों को सामान्य इलाज की कई छोटी-मोटी बातें भी सिखाती थी।

समूह की सारी औरतों को पता था कि सुमित्रा को टी. बी. है। इस वजह से सुमित्रा, गांव की औरतों से ज्यादा मेलजोल नहीं रख पाती थी। वह साप्ताहिक बैठक में भी नहीं आ पाती थी। एक दिन सुमित्रा आशा से सलाह करने गई। वह पिछले दो साल से इलाज करवा रही थी। वह जानना चाहती थी कि क्या गोली चालू रखनी चाहिए। सुमित्रा से बातचीत करके आशा की समझ में आया कि किसी कारण से सुमित्रा का इलाज देर से शुरू हुआ था। सुमित्रा से बैठक में आकर अपना अनुभव सुनाने को कहा। सुमित्रा थोड़ी झिझकी पर जब आशा ने उसे इसका महत्त्व समझाया, तो वह मान गई। आशा ने बात शुरू की और चर्चा चल निकली।

आशा : कुछ दिनों पहले हमने बातचीत की थी कि टी. बी. गांव की एक सबसे बड़ी समस्या है। थोड़े दिन पहले सुमित्रा मेरे पास दवाई के बारे में पूछने आई थी। मैंने सोचा कि क्यों न पूरे समूह में चर्चा की जाए। सबसे पहले देखते हैं कि किसी व्यक्ति को कैसे पता चलता है कि उसे टी. बी. हो गई है।

आशा : लोगों को टी. बी. होने का पता कैसे चलता है ?

— मुझे लगता है कि जब चढ़ाई चढ़ते हैं, तो सांस फूल जाती है।

— मेरे काका को टी. बी. हुई थी। उनकी सांस तो कभी नहीं फूली। पर उन्हें बहुत खांसी चलती थी। हम सो नहीं पाते थे। पूरी रात वे खांसते जाते, खांसते जाते...।

— बहुत दर्द होता है। खांस-खांसकर छाती में दर्द होने लगता है और बलगम के साथ ढेर सारा खून निकलता है। आदमी बहुत दुबला हो जाता है, छाती की हड्डियां दिखने लगती हैं।

आशा : तुम लोगों ने टी. बी. पहचानने के सारे ही तरीके बता दिए हैं। पर बच्चों की टी. बी. कैसे पहचानेंगे। क्या बच्चों को टी. बी. नहीं होती ?

(समूह में चुप्पी छा गई। फिर किसी ने झिझकते हुए कहा)

— मेरे ख्याल से नहीं होती।

आशा : बच्चों को भी टी. बी. होती है। परन्तु उन्हें खांसी नहीं चलती। यदि बच्चा दुबला होता जाए और ठीक न खाए, तो मुमकिन है कि उसे टी. बी. हो। शायद पूछताछ करके हमें पता चल जाएगा कि ऐसा कोई बच्चा गांव में है या नहीं।

आशा : चलो, जरा गांव में टी. बी. के मरीजों के बारे में सोचते हैं

— मेरे काका को टी. बी. थी।

— रामू की पत्नी को टी. बी. है।

— छः महीने पहले लक्ष्मण की बच्ची मर गई थी। कहते हैं उसे टी. बी. थी, पर पता नहीं।

— क्या, रामू की घरवाली ? मुझे तो लगता है रामू को भी टी. बी. है। इतना खांसता रहता है पर डाक्टर को नहीं दिखाता।

(सभी सुमित्रा की तरफ देखते हैं, पर उसका नाम नहीं लेते।)

सुमित्रा : (खिसियाकर) मेरे बारे में तो सभी को मालूम है।

आशा : टी. बी. हो जाने पर गांव के लोग क्या करते हैं ?

— खांसी ठीक होने की राह देखते हैं।

— गुनिया के पास जाते हैं।

— भगवान से मिन्नत करते हैं।

— बहुत बुरी हालत हो जाए, तो डाक्टर को दिखाते हैं।

आशा : डाक्टर के पास कब जाते हो ?

— जब हालत खराब हो जाए।

— जब काम न करते बने।

आशा : सुमित्रा, तुम्हें कैसे पता चला था कि तुम्हें टी. बी. है।

सुमित्रा : बहुत खांसी चलती थी और थूकती थी, तो खून निकलता था। तो जब मैं डाक्टर के पास गई तो उसने बताया कि मूझे टी. बी. है।

आशा : तुम्हें खांसी कितने दिनों से चल रही थी ? तुम खांसी के लिए डाक्टर के पास नहीं गई ?

सुमित्रा : मुझे खांसी बहुत दिनों से थी और कमजोरी भी। एक दिन जमींदार की घरवाली ने मुझे कहा कि तुम ठीक से काम नहीं करती। उन्होंने कहा कि यदि मैं ठीक से काम नहीं करूंगी, तो वे मुझे निकाल देंगे। तब में डाक्टर के पास गई और ताकत की सुई लगाने को कहा। मैंने डाक्टर को बताया कि मुझे बहुत कमजोरी है और थोड़ी खांसी है। डाक्टर ने मुझे सुई लगाई और पीने की दवा दी। उसने कहा कि जब भी खांसी आए, पी लेना। मेरी जान में जान आई कि चलो टी. बी. तो नहीं है।

आशा : तुमने डाक्टर को क्यों नहीं बताया कि तुम्हें बहुत ज्यादा खांसी है।

(सुमित्रा मुस्कराकर चुप हो गई।)

क्या डाक्टर ने स्टेथोस्कोप से तुम्हारी छाती की जांच की थी ?

सुमित्रा : नहीं, बस उसने पूछा कि तुम्हें क्या तकलीफ है और दवा दे दी।

आशा : तो, इसका मतलब यह है कि जब तुमने खखार में खून की बात बताई, तभी डाक्टर ने बताया कि तुम्हें टी. बी. हुई है।

सुमित्रा : हां।

आशा : तुम्हारी बात से पता चलता है कि लोगों को टी. बी. का पता काफी देर से चलता है। एक कारण तो यह है कि हम अच्छे होने की राह देखते रहते हैं या फिर हम तब तक बैठे रहते हैं जब तक कि काम करना मुश्किल न हो जाए। दवाखाने जाते भी हैं, तो जरूरी नहीं कि ठीक से जांच हो। खैर, डाक्टर ने और क्या कहा ?

सुमित्रा : उसने मुझे कुछ दवाइयां दी। नर्स ने मुझे अण्डा, मांस, वगैरह खाने को कहा। खूब दूध पीने को भी कहा।

(सब हंसते हैं।)

आशा : तुम लोग हंस क्यों रहे हो ?

— यदि हमारे पास अण्डे, मांस, दूध खरीदने के पैसे हों, तो हमें टी. बी. होगी ही क्यों ?

— अभी परसों ही जब मैं बदन दर्द के लिए दवाखाने गई तो नर्स बहिन जी ने मुझे भी अच्छा खाना खाने और आराम करने को कहा था ।

सुमित्रा : नर्स ने मुझे आराम करने को कहा, तो मैंने कहा कि मैं आराम कैसे कर सकती हूं । घर का काम, बच्चों को संभालना, खेत का काम, यह सब कौन करेगा ?

— बहिन, हम औरतों को तो घर का काम करते-करते ही मरना पड़ेगा ।

आशा : सही है । प्रायः जिनको भरपेट खाना नहीं मिलता, उन्हें टी. बी. हो जाती है । पर गांव में और भी तो टी. बी. के मरीज हैं । क्या वे सबके सब गरीब हैं ?

— गांव में सभी तो गरीब हैं । अमीर है कौन ?

आशा : मैं मानती हूं कि मांस, अण्डा, दूध वगैरह महंगी चीजें हैं । परन्तु साधारण खाना ही यदि भरपेट खाओ, तो वही बहुत है ।

(समूह में फुसफुसाहट होने लगती है ।)

आशा : क्या मैंने कोई गलत बात कह दी ?

— और क्या ? तुम भरपेट खाने की कह रही हो । हमारे पास पेट भरने को तो है नहीं ।

— तुम्हें मालूम है, हम सब गांव से बाहर काम की तलाश में जाते हैं ।

— पिछले साल बारिश नहीं हुई । सारी फसल सूख गई ।

— आधा टाइम तो काम ही नहीं मिलता ।

आशा : सुमित्रा, तुम भी गांव छोड़कर गई थी ?

सुमित्रा : हां, बहन ।

आशा : और डाक्टर ने जो दवा दी थी, उनका क्या हुआ ?

सुमित्रा : उसने गोली दी थी, रोज खाने के लिए । और हर हफ्ते में दो बार सुई लगवाने को कहा था । जब हम गांव छोड़कर गए, तो मेरे पास थोड़ी गोलियां थीं । जब खत्म हो गई तो मैंने बन्द कर दी । वैसे भी मेरी तबियत तो ठीक हो ही गई थी ।

आशा : और सुई ?

सुमित्रा : सुई ? वो तो मैंने पहले ही बन्द कर दिए थे । हर हफ्ते कौन जाए ? मैं पास के गांवों में प्राइवेट डाक्टर के पास गई थी । उसने सुई लगाने का एक रुपया ले लिया । तबियत ठीक लग रही थी, तो मैंने सोचा फालतू पैसा क्यों बरबाद करूं ।

आशा : पर डाक्टर ने कहा नहीं था कि सुई तभी बन्द करना जब वह कहे ?

सुमित्रा : हां, कहा तो था पर....

आशा : गांव के दूसरे मरीज क्या करते हैं ? वे लोग नियम से इलाज करवाते हैं ?

— मेरे काका नियम से सरकारी अस्पताल जाते थे पर आधी बार तो वहां दवा नहीं होती थी । बाजार में भी नहीं मिलती थी ।

आशा : आज हमें बहुत कुछ पता चला । हमने देखा कि लोग देर से इलाज के लिए जाते हैं । कई बार डाक्टर को समझ नहीं आता कि व्यक्ति को टी. बी. है । दवा या तो मिलती नहीं है या बहुत महंगी होती है । कई बार हमें काम की तलाश में बाहर जाना पड़ता है और इलाज रुक जाता है । हमारे लिए भरपेट खाना भी संभव नहीं है । सुमित्रा ने हमें बहुत कीमती जानकारी

दी है। परन्तु हमें गांव में और मरीजों से पूछना चाहिए। शायद उनके पास और जानकारी होगी। तुम लोग भी पता करो और मैं भी देखूंगी। अगली बार हम और चर्चा करेंगे, ठीक ?

अगले दिन कुछ दिनों में आशा तथा समूह के अन्य सदस्यों ने गांव के टी. बी. मरीजों से बातचीत की। उन्हें और कई बातों का पता चला। शमशेर ने इसलिए इलाज बन्द कर दिया था क्योंकि उसे जमींदार के खेतों की चौकीदारी करनी पड़ती थी। जमींदारी उसे पी. एच. सी. जाने के लिए छुट्टी नहीं देता था। नाथी ने पी. एच. सी. जाना बन्द कर दिया था क्योंकि वहां बहुत देर तक इन्तजार करना पड़ता था। वहां दूसरी औरतें उससे पूछती थीं कि क्या हुआ है। नाथी को बताने में शर्म भी आती थी।

लोगों से बातचीत करके आशा की समझ में आया कि गांव में टी. बी. एक समस्या इसलिए है क्योंकि

1. रोग का पता देर से चल पाता है।

2. लोगों को यह मालूम नहीं है कि बच्चों को भी टी. बी. होती है।

3. लोग नियम से दवाईयां नहीं लेते।

4. उन्हें भरपेट खाना नहीं मिलता।

5. उन्हें पर्याप्त आराम नहीं मिल पाता।

उसे कुछ और बातें भी पता थीं जो गांव में टी. बी. की स्थिति को गंभीर बनाने में सहायक थीं। आशा ने सूची पर गौर किया–यह देखने के लिए कि किस समस्या से निपटना आसान होगा। सबसे पहले उसने 'नियमित दवा न लेने' की समस्या पर ध्यान दिया। आशा को याद था कि सुमित्रा ने उससे दवा चालू रखने के बारे में पूछा था। उसने सोचा कि सबसे पहले यह समझाना चाहिए कि नियमित रूप से और पूरा इलाज करवाना क्यों जरूरी है। उसने समूह की अगली बैठक में और घर-घर संपर्क के समय यही किया। परन्तु इतना काफी नहीं था।

लोग बता ही चुके थे कि पी. एच. सी. में दवा नहीं होती और वे बार-बार जा भी नहीं सकते। आशा ने इस समस्या के बारे में भी औरतों से चर्चा की।

आशा : हम लोगों ने टी. बी. का पूरा इलाज करवाने के बारे में चर्चा की है। परन्तु तुम लोगों ने बताया है कि पी. एच. सी. में दवाइयां नहीं मिलतीं। अब यह सोचें कि इस समस्या से कैसे निपटा जाए ?

— हम इस बारे में क्या कर सकती हैं, बहन ?

आशा : वास्तव में हर टी. बी. मरीज को सरकार की तरफ से मुफ्त दवा मिलनीं चाहिए। सरकार ने इसके लिए अलग से पैसा रखा है। पी. एच. सी. से सभी जरूरत मन्द लोगों को मुफ्त दवा मिलती है।

— तो, आप पी. एच. सी. वालों से कहिए कि वे हमें दवा दें।

— हम गरीब लोग यह सब क्या जानें ?

— वो दवा नहीं देते, तो हम इलाज बन्द कर देते हैं। ऐसे ही चलता रहता है।

— एक बार पी. एच. सी. के डाक्टर ने जगन्नाथ को बहुत डांटा था कि उसने इलाज बन्द क्यों किया।

— अब कौन वहां जाए और ऊपर से डांट खाए ?

आशा : मैं तुम्हारी भावना समझती हूं। पर ऐसे छोड़ देने से तो नहीं चलेगा ? हम कोई-न-कोई रास्ता जरूर निकाल लेंगे। मैं जाकर पी. एच. सी. डाक्टर से दवाई के बारे में बात कर सकती हूं। पर तुम्हें तो उसके पास जाना ही होगा। तुमने एक बार कहा था कि तुम बार-बार पी. एच. सी. के चक्कर नहीं लगा सकती, याद है ?

— सही बात है, हम बार-बार चक्कर नहीं लगा सकते।

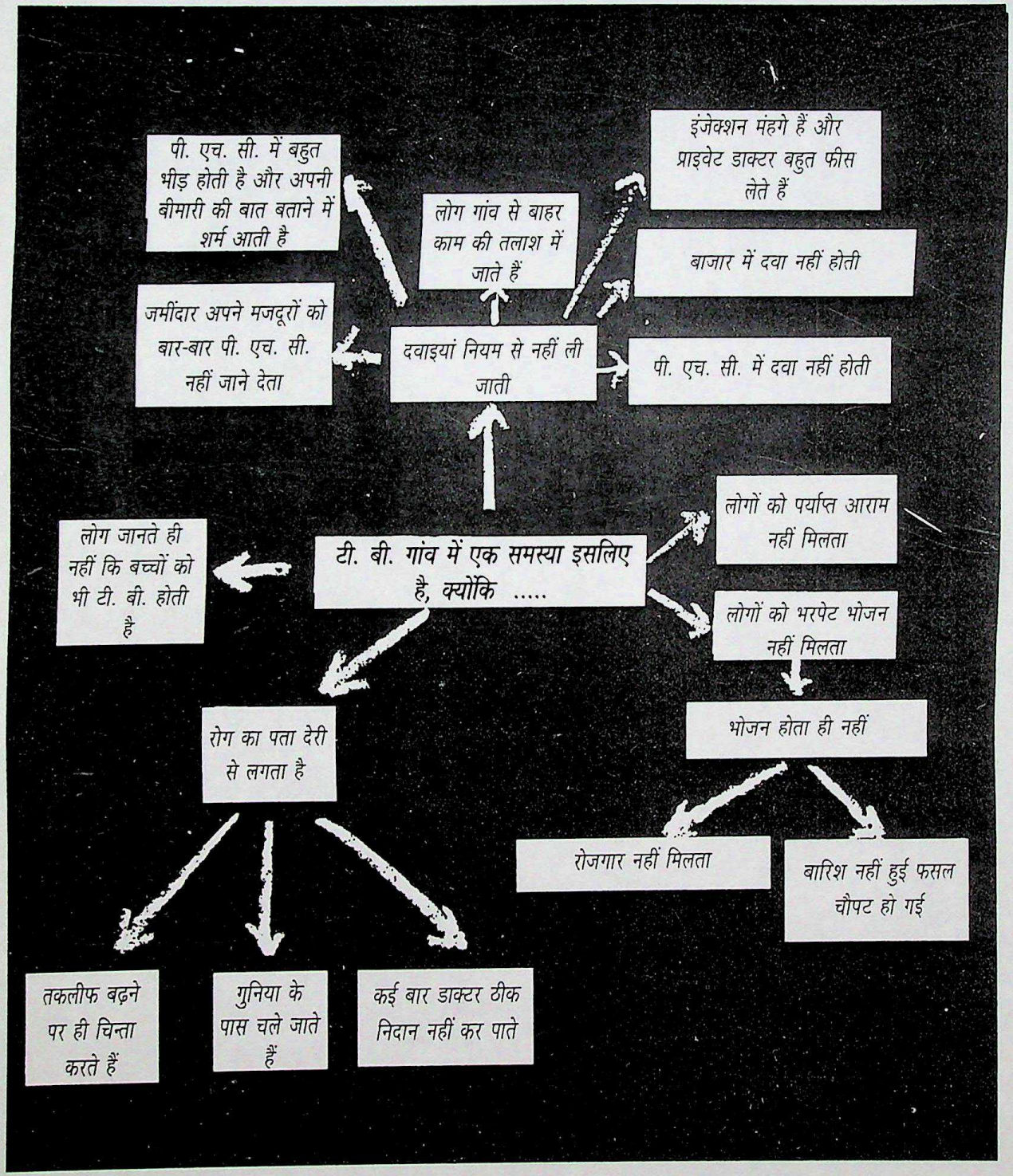
टी. बी. गांव में एक समस्या इसलिए है, क्योंकि .....
पी. एच. सी. में बहुत भीड़ होती है और अपनी बीमारी की बात बताने में शर्म आती है
लोग गांव से बाहर काम की तलाश में जाते हैं
इंजेक्शन मंहगे हैं और प्राइवेट डाक्टर बहुत फीस लेते हैं
बाजार में दवा नहीं होती
जमींदार अपने मजदूरों को बार-बार पी. एच. सी. नहीं जाने देता
दवाइयां नियम से नहीं ली जाती
पी. एच. सी. में दवा नहीं होती
लोग जानते ही नहीं कि बच्चों को भी टी. बी. होती है
लोगों को पर्याप्त आराम नहीं मिलता
लोगों को भरपेट भोजन नहीं मिलता
रोग का पता देरी से लगता है
भोजन होता ही नहीं
रोजगार नहीं मिलता
बारिश नहीं हुई फसल चौपट हो गई
तकलीफ बढ़ने पर ही चिन्ता करते हैं
गुनिया के पास चले जाते हैं
कई बार डाक्टर ठीक निदान नहीं कर पाते

कितना काम रहता है। पी. एच. सी. आने-जाने में बहुत समय बरबाद होता है।

(सब एक साथ बोलने लगीं तो आशा ने थोड़ा जोर से कहा)

आशा : एक-एक करके बताओ। यदि सब एक साथ बोलेंगे, तो किसी को कोई सुझाव सुनाई नहीं पड़ेगा।

(चुप्पी)

आशा : शांति बहन, तुम बताओ। तुम कुछ कह रही थी।

— कुछ नहीं वैसे ही...।

— बृजु बहन कह रही थी कि आप हमारे लिए गांव में ही दवाई रख लो।

आशा : पर ऐसा कैसे हो सकता है।

— तुम्हीं ने कहा था कि पी. एच. सी. से दवा मिलनी चाहिए। तुम्हीं पी. एच. सी. से कहो कि दवाइयां तुम्हें दे दें।

आशा : पता नहीं मुझे शहर जाकर सरकारी अधिकारियों से बात करनी पड़ेगी। पी. एच. सी. वैसे ही दवा उठाकर थोड़े दे सकता है। पहले जाकर टी. बी. अफसर को बताना पड़ेगा कि गांव में कितने मरीज हैं। फिर देखेंगे कि वह क्या कहता है और यदि उसके पास दवाइयां होंगी, तो भी मैं बार-बार शहर के बाबू के पास थोड़ी जा सकती हूं।

(चुप्पी)

आशा : पहले यह तो पता करें कि गांव में टी. बी. के कितने मरीज हैं। फिर मैं जाकर टी. बी. अफसर से बात करूंगी।

(चुप्पी)

आशा समझ गई कि औरतें इससे आगे बढ़ने को तैयार नहीं हैं। बीमारी का डर इतना ज्यादा है कि सब लोग जांच कराने को तैयार नहीं होंगे। उसने सोचा कि अभी चर्चा यहीं समाप्त करके औरतों को सोचने को कहना चाहिए।

आशा : हमने दवाई की समस्या से निपटने का एक रास्ता खोज निकाला है। मुझे भी ठीक लगता है कि गांव में ही दवाई रखी जाए। मैं टी. बी. अफसर से बात करूंगी। पर मैंने पहले ही कह दिया है, कि वह पूछेगा कि गांव में टी. बी. के कितने मरीज हैं। यदि वह दवा देने को राजी हो जाए, तो सारे मरीजों को फायदा मिलना चाहिए। अभी इसके बारे में और सोचते हैं।

अगले कुछ दिन आशा सोचती रही कि क्या करना चाहिए। उसे पता था कि गांव में टी. बी. के ऐसे मरीज जरूर होंगे, जिनका रोग अभी पता नहीं लगा। उसने अपनी गांव-डायरी निकाली। इसमें उसने चार लोगों के आगे लिखा था कि 'ये टी. बी. के मरीज हो सकते हैं'। यदि वह इन चारों को बताए कि वह उनके लिए दवा ले आएगी, तो क्या वे जांच के लिए तैयार हो जाएंगे? आशा ने तय किया कि पहले वह पी. एच. सी. डाक्टर से बात करेगी और देखेगी कि वह क्या कहता है।

पी. एच. सी. डाक्टर मदद देने को तैयार था। उसने आशा को अपना रजिस्टर भी दिखाया और कहा कि रजिस्टर के अनुसार कम-से-कम 200 मरीज ऐसे हैं जिनको नियमित इलाज मिलना चाहिए। जिला अस्पताल से सिर्फ 100 मरीजों की दवाई आती है। उसने आशा को जिला अधिकारी से बात करने की सलाह दी। आशा ने डाक्टर से साथ चलने का अनुरोध किया पर डाक्टर ने बताया कि उसका अगले एक महीने का कार्यक्रम तय है। अलबत्ता उसने जिला अधिकारी के नाम एक पत्र लिखकर आशा को दे दिया।

आशा जिला मुख्यालय पहुंची। दुर्भाग्यवश, टी. बी. अफसर बाहर गया हुआ था। उसका कार्यक्रम पता करके आशा लौट आई और

अगले सप्ताह फिर जिला मुख्यालय गई। इस बार टी. बी. अफसर मिल गया और समस्या के बारे में चर्चा भी हो गई। टी. बी. अफसर ने बताया कि पिछले साल दवाइयों का अभाव था पर इस साल हालत सुधर जाएगी। इस बाबत राज्य स्तर पर बातचीत हुई थी और इस बार ज्यादा पैसा मंजूर हुआ है। दरअसल, उसने पी. एच. सी. को पत्र लिखकर दवा की कुल जरूरत का ब्यौरा भी मंगवाया है। उसने आशा को आश्वस्त किया कि अब पी. एच. सी. से दवा मिलने में कोई दिक्कत नहीं होगी।

आशा ने उसे यह भी बताया कि बार-बार पी. एच. सी. जाने और खासकर इंजेक्शन लेने में, लोगों को दिक्कत होती है। उसने पूछा कि क्या वह गांव में ही टी. बी. की दवा रख सकती है ? टी. बी. अफसर ने आशा को पी. एच. सी. डाक्टर से बात करने को कहा।

आशा को यह बात नहीं जंची क्योंकि यदि डाक्टर मना कर दे, तो उसे फिर यहीं आना पड़ेगा। उसने टी. बी. अफसर से कहा कि वह कम से कम डाक्टर के नाम एक पत्र लिख दे। इस पर अफसर ने कहा कि वह अगले महीने उस पी. एच. सी. में जाने वाला है। उस समय वह डाक्टर से इस बाबत बात करेगा। उसने आशा से कहा कि संभव हो तो वह भी वहीं आ जाए। उसने डायरी में देखकर आने की पक्की तारीख भी आशा को बता दी। आशा ने गांव लौटकर ये सारी बातें औरतों को बताई। उसने कहा कि मैं तो उस दिन पी. एच. सी. जाऊंगी ही पर और भी कुछ महिलाएं साथ आ सकें, तो अच्छा रहेगा। यदि गांव के लोग सीधे टी. बी. अफसर और पी. एच. सी. के डाक्टर को अपनी समस्या बताएं, तो गांव का फायदा होगा। आशा को उन्हें तैयार करने में बहुत समय लगा। चार औरतें तैयार हो गई। सुमित्रा भी उनमें से एक थी।

निर्धारित दिन गांव का यह दल पी. एच. सी. पहुंचा। हमेशा की तरह टी. बी. अफसर तीन घण्टे लेट पहुंचा। पर आशा यही सोचकर खुश थी कि चलो अफसर आया तो। औरतों के लिए दोबारा पी. एच. सी. तक आना मुश्किल होता। पहले तो वे बहुत घबरा रही थी। पर जब बातचीत का मौका आया तो उन्होंने बहुत अच्छे से अपनी समस्याएं सामने रखीं। गांव में दो महीने की दवा रखने की बात मंजूर हो गई। मगर शर्त यह थी कि पहलें एक सर्वेक्षण करके पता लगाना होगा कि कितने लोग टी. बी. से पीड़ित हैं। आशा को यह जिम्मेदारी दी गई कि वह पूरा रिकार्ड पी. एच. सी. को पहुंचाएगी और मरीजों की देखभाल (फॉलो अप) करेगी।

इस छोटी सी सफलता के फलस्वरूप समूह का आत्मविश्वास काफी बढ़ गया। वे अब अन्य समस्याओं का सामना करने को तैयार थे। अगले कुछ महीनों में टी. बी. सर्वेक्षण किया गया और पी. एच. सी. के कर्मचारी की मदद से सारे बच्चों को बी. सी. जी. टीका लगाया गया। आशा को पता था कि काम की तलाश लोगों के भटकने, आराम के अभाव और पोषण की कमी की समस्याओं से निपटना अभी बाकी है। मगर अब उसे लग रहा था कि समूह चर्चा करके समाधान ढूंढने की कोशिश अवश्य करेगा।

आशा का तरीका

गांव में टी. बी. समस्या के समाधान के लिए आशा के तरीके को संक्षेप में यों लिखा जा सकता है :

- उसने गांव की औरतों के समूह में टी. बी. समस्या के कारणों की चर्चा की। यह समूह पिछले कई महीनों से बैठकें कर रहा था। चर्चा के दौरान उसने प्रमुख कारकों की सूची बनाई और एक चार्ट तैयार किया।
- उसने टी. बी. समस्या के मुख्य कारण सामने रखे और तय किया कि कौन से कारणों का तत्काल समाधान जरूरी है और कौन से कारणों का समाधान आसानी से हो सकता है।
- यह करने के बाद उसने औरतों से चर्चा ज़ारी रखी और उनके साथ मिलकर समाधान तलाश करने की कोशिश की।

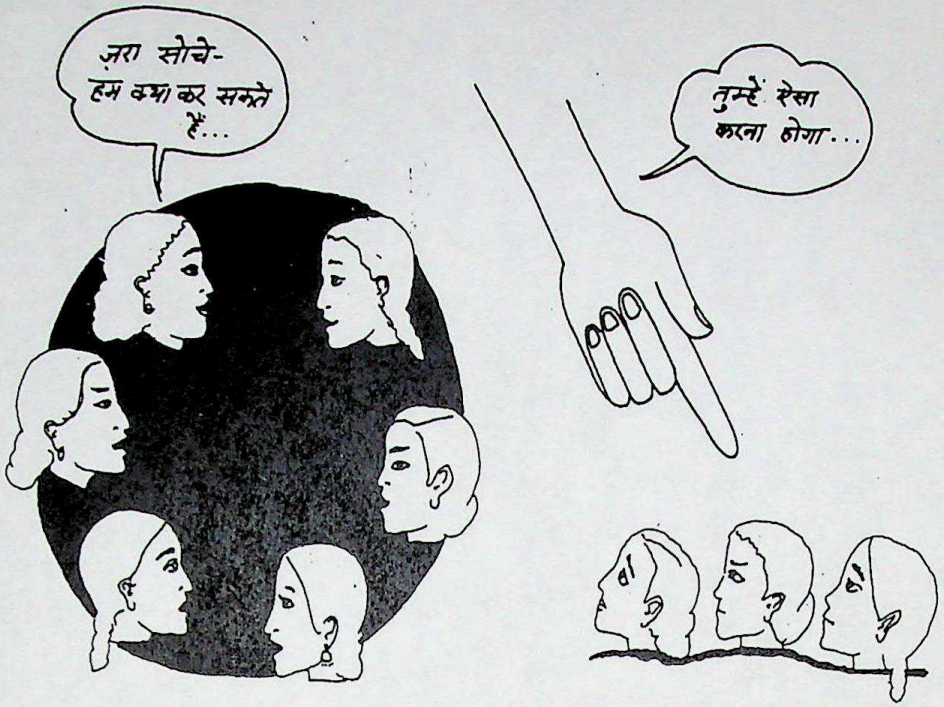

आइए, अब आशा के तरीके की तुलना स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं द्वारा अपनाए जाने वाले आम तरीकों से करें।

आशा का तरीका	आम तरीका
आशा एक मरीज की समस्या को समूह के सामने रखती है और इसे चर्चा का आधार बनाती है।	स्वास्थ्य कार्यकर्ता मरीज को एक 'केस' समझते हैं। वे उसे जरूरी डाक्टरी सलाह और स्वास्थ्य शिक्षा देने के बाद लौटा देते हैं।
चर्चा के दौरान, आशा की भूमिका जानकारी देने और समूह को सोचने तथा सवाल करने को प्रोत्साहित करने की होती है।	स्वास्थ्य कार्यकर्ता जानकारी देने के लिए फ्लैश कार्ड सेट इस्तेमाल करते हैं या भाषण देते हैं। इसमें टी. बी. के कारणों और इलाज की बात होती है। वे चर्चा को बढ़ावा नहीं देते।
आशा समूह से अपनी बात मनवाने की कोशिश नहीं करती।	स्वास्थ्य कार्यकर्ता अपने एहसास / सोच के आधार पर समाधान बता देते हैं और आशा करते हैं कि लोग आंख मूंदकर उनकी बात मानें।
उपयुक्त समाधान ढूंढने में आशा को कई बैठकें और चर्चाएं करनी पड़ती हैं।	स्वास्थ्य कार्यकर्ता एक ही मुलाकात में सब कुछ कह डालते हैं।
यदि समूह की तैयारी न हो, तो आशा उन्हें निर्णय की तरफ धकेलती नहीं है।	स्वास्थ्य कार्यकर्ता लोगों पर निर्णय थोप देते हैं क्योंकि उन्हें 'टारगेट' पूरा करना होता है।
आशा लोगों को समझाती है कि उनके लिए क्या-क्या सुविधाएं मौजूद हैं। वह लोगों की मदद करती है, ताकि वे इनका इस्तेमाल कर सकें।	स्वास्थ्य कार्यकर्ता जरूरी दवाइयां बाजार से खरीद लाते हैं या पी. एच. सी. से ले आते हैं। वे लोगों को कभी यह नहीं बताते कि यह उनका हक है।
आशा पहली बार तो अकेली ही सरकारी अधिकारियों से मिलने जाती है, पर बाद में, निर्णय के समय, वह समूह के सदस्यों को अपने साथ रखती है।	स्वास्थ्य कार्यकर्ता हमेशा अकेले जाते हैं। यदि लोगों को साथ ले भी जाएं, तो भी खुद ही पूरी बात कर लेते हैं।
आशा अपेक्षा कृत आसान समस्या से शुरू करती है, जिसे गांव के स्तर पर सुलझाया जा सकता है। बाहरी मदद से सुलझने वाली समस्याओं को वह बाद में उठाती है।	स्वास्थ्य कार्यकर्ता लोगों के अज्ञान को सबसे बड़ी समस्या मानते हैं और स्वास्थ्य शिक्षा के जरिए उसे सुलझाने की कोशिश करते हैं।

जैसा कि स्पष्ट है, आशा के तरीके में लोगों को व्यक्तिगत व सामूहिक आत्मविश्वास बढ़ता है आशा लोगों की क्षमता पर भरोसा रखती है। और उनके साथ एक संवाद बनाने की कोशिश करती है। अतः उपरोक्त उदाहरण की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि महत्त्व सिर्फ अन्तिम नतीजे का नहीं होता। स्वास्थ्य कार्यकर्ता द्वारा अपनाया गया **तरीका** भी महत्त्वपूर्ण है।

उदाहरण —2

होशंगाबाद जिले की एक स्वास्थ्य कार्यकर्ता मीरा एक गांव की मजदूर महिलाओं के साथ अपना अनुभव बताती है। यह अनुभव भी टी. बी. की समस्या से निपटने के दौरान हुआ था।

"एक बड़े गांव के पुरुष ने मिलकर मजदूर संगठन बनाया था। इस बात को आठ महीने हो चुके थे। एक दिन भगवती नाम की एक औरत अपनी टी. बी. से जर्जर काया लेकर मेरे दरवाजे पर आ धमकी। वह जानती थी कि मैं डाक्टर हूं। भगवती की टी. बी. का इलाज नहीं हुआ था और रोग काफी बढ़ चुका था। उसने उपेक्षा और निराशा की अपनी कहानी सुनाई। उसका पति संगठन का एक निष्क्रिय सदस्य था। भगवती तो यह तक नहीं जानती थी कि गांव में कोई संगठन भी है। उसका पति कालीराम उसे सरकारी अस्पताल नहीं ले गया था। भगवती को तो लगता था कि घर के बुजुर्ग चाहते थे कि वह मर जाए। हमने इस मामले को संगठन की बैठक में उठाया पर सदस्यों के कान पर जूं तक न रेंगी। बैठक में बस इतनी प्रतिक्रिया हुई कि भगवती का पति मीटिंग में नहीं आता, वह आवारा है, डरपोक है और उससे बात करने से कोई फायदा नहीं। ऐसा लग रहा था जैसे भगवती बस अपने पति की छाया थी। तब तक संगठन की बैठकों में औरतों की कोई भागीदार नहीं होती थी। हमने फैसला किया कि इस बात को औरतों बीच उठाएंगे। देखें, वे क्या कहती हैं।

हमने औरतों से अलग-अलग और छोटे-छोटे समूहों में बातचीत की। जब उन्हें पता चला कि टी. बी. का इलाज संभव है और दवा पी. एच. सी. से मुफ्त मिलती है, तो वे तुरंत कुछ करने को तैयार हो गईं। उन्होंने तय किया कि वे खुद ही एक बैठक करेंगी और भगवती के इलाज के लिए दबाव डालेंगी। तो बैठक हुई। बैठक में मैंने जिम्मेदारी ली कि मैं ध्यान रखूंगी कि इलाज सही हो और भगवती ठीक से समझ जाए। कालीराम अपनी पत्नी को पी. एच. सी. ले गया और इलाज शुरू हुआ। मैं उस समय स्वैच्छिक रूप से पी. एच. सी. में सप्ताह में एक दिन काम करती थी। इसलिए मैं भी कुछ दखल दे सकती थी। हमने एक स्थानीय व्यक्ति को स्ट्रेप्टोमायसीन इन्जेक्शन लगाने की ट्रेनिंग दी। मेरी जिम्मेदारी पर पी. एच. सी. से एक महीने की दवा भी मिल गई।

शुरू में इलाज का काम बहुत उथल पुथल वाला रहा। भगवती का तेज बुखार रहता था और फेफड़ों का भी बहुत नुकसान हो चुका था। एक रात को हमने आपातकालीन बैठक बुलाई। भगवती को छिंदवाड़ा के टी. बी. अस्पताल में जाने का निर्णय किया जाना था। मीटिंग में चार औरतों ने अपनी राम कहानी सुनाई कि कैसे उनके रिश्तेदारों को टी. बी. अस्पताल ले जाया गया था। तीन मामलों में मरीज की मौत हो गई थी। चौथा व्यक्ति बीस साल पहले वहां गया था। उस समय अस्पताल का संचालन एक मिशन द्वारा किया जाता था। वह व्यक्ति स्वस्थ था। पर आजकल अस्पताल भ्रष्टाचार का घर बन चुका था। वहां भयंकर भीड़भाड़ थी। और वह बहुत महंगा भी पड़ता था। बैठक में यह भी बताया गया कि अभी जो इलाज पी. एच. सी. से मिल रहा है, उससे अलग कुछ वहां नहीं मिलेगा। तब यह तय हुआ कि घर पर ही इलाज करवाना बेहतर होगा।

पहले दस दिनों में रोज, मेरे साथ बदल-बदलकर एक-दो औरतें उससे मिलने को जाती थी। इसमें उन्हें थोड़ी अड़चन होती थी क्योंकि भगवती हरिजन थी और बाकी औरतें गरीब होते हुए भी हरिजन नहीं थीं। वे आदिवासी, मूस्लिम या अन्य नीची जातियों की थी। उनके

घरों में हरिजनों के साथ छुआछूत के रिवाज का कड़ाई से पालन किया जाता था। उन्होंने भगवती के आंगन में कभी पैर नहीं रखा था। मुझे वह दृश्य नहीं भूलता जब भगवती के सिकुड़े शरीर को देखकर एक औरत झटके से अपना घूंघट हटाकर दुखद आश्चर्य से बोली थी "अरे बहन, ये तुमने अपना क्या हाल बना रखा है ?"

पहली दो बैठकों से औरतें इतनी उत्साहित थीं कि उन्होंने नियमित रूप से मिलने का फैसला किया। जो औरतें भगवती के घर गई थीं, उन्होंने अगली बैठक में उसकी हालत बयान की और कहा कि घर पर उसके इलाज में दिक्कत है। उसकी सास ठीक से बर्ताव नहीं करती है और कोई सहयोग नहीं करती। वह भगवती को खाना भी नहीं खाने देती और कोसती रहती है। परिवार के बाकी सदस्य हताश हो गए हैं और घर अस्तव्यस्त है। मैंने उन्हें अपनी परेशानी बताई कि भोजन और साफ-सफाई के बारे में मेरी सलाह कोई सुनता नहीं। उन्होंने तय किया कि सास को काबू में करेंगी। इसके बाद टी. बी. के मरीज के लिए उचित खुराक पर चर्चा हुई। उन्होंने यह भी तय किया कि वे भगवती के घर को ठीक-ठाक कर देंगी। अगले दिन एक औरत ने भगवती की सास से बात की और उन्हें युद्ध विराम के लिए राजी कर लिया। एक अन्य औरत ने भगवती के पति और बड़ी बेटी को समझाया कि उसे क्या खिलाना चाहिए, झोंपड़ी का रखरखाव कैसे करना चाहिए और भगवती की रोगग्रस्त खखार को कैसे ठिकाने लगाना चाहिए।

गर्मी बहुत भीषण थी। अगले दिन हमारे अचरज का ठिकाना न रहा। कालीराम बांस का काम करता था। उसने बांस का एक पंखा बनाकर भगवती की खटिया के ऊपर बांध दिया था और उसमें एक लम्बी रस्सी भी लगा दी। छोटे बच्चे दूर से ही उस रस्सी को खींचकर पंखा चला सकते थे। पंखे की ताल पर वे गाना भी गा रहे थे। घर काफी साफ सुथरा था। भगवती का बुखार भी कम हो गया था। वह मुस्करा रही थी। उसकी सास बुदबुदा रही थी, पर किसी दूसरी बात पर। सामाजिक सरोकार ने परिवार को आत्म सम्मान दिया था।

इसके बाद भगवती की हालत धीरे-धीरे सुधरने लगी। वह खखार की फिर से जांच कराने की उत्सुक थी क्योंकि वह अपने छोटे बच्चे को गोद में लेना चाहती थी। वह औरतों की बैठक में भी आना चाहती थी। पिछले साल उसकी छोटी बच्ची मौत की शिकार हो गई थी। शायद उसे मां की टी. बी. लग गई थी। खंखार रखने के लिए उसने एक स्ट्रेप्टोमायसीन की शीशी साबुन से धोई, फिर उसे पानी में उबाला। सुबह आठ बजे से वह बस के इन्तजार में सड़क पर खड़ी हो गई। आठ बजे वाली बस नहीं आई। ग्यारह बजे वाली बस भी नहीं आई। सवा ग्यारह बजे के करीब वह, तेज धूप में, नंगे पांव ही चल दी। पी. एच. सी. सात कि. मी. दूर था। उसे डर था कि उसके पहुंचने से पहले कहीं बन्द न हो जाए। इसलिए वह लगभग भागती हुई गई। एक घण्टे बाद जब वह पहुंची, तो पता चला कि पी. एच. सी. बारह बजे ही बन्द हो चुका था। उसने शाम साढ़े चार बजे तक इन्तजार किया। जब पी. एच. सी. खुला तो उसने खखार की शीशी बड़े आत्मविश्वास से कम्पाउन्डर को थमा दी। उसने शीशी को फर्श पर पटक दिया और चिल्लाने लगा, "हम सत्रह बार तुम्हारी खखार की जांच नहीं करेंगे। तीन महीने बाद आना।" भगवती ने अगले महीने की दवा मांगी, तो पता चला कि डाक्टर बाहर गया है। उसे अगले दिन फिर आना पड़ेगा।

भगवती थकी-हारी घर लौटी। पर उसे खुद अचरज था कि उसने इतना सब कर कैसे लिया। अगले दिन उसे बुखार था पर वह दवा लाने के लिए तैयार थी। कालीराम साथ गया। उसने सोचा कि पास के शहर जाकर उसका एक्सरे भी करवाएगा और प्राइवेट लेबोरेटरी में

खंखार की जांच भी करवाएगा। पी. एच. सी. डाक्टर से मिले, तो उसने फिकरा कसा कि वे तो अब बड़े लोग हो गए हैं। दवाइयां सारी मिल गई, किन्तु कार्ड पर कोई कीमत नहीं लिखी गई। शहर में उन्होंने 5 रुपये खखार की जांच के और 24 रुपये एक्सरे के दिये। खखार में टी. बी. के लक्षण नहीं थे। एक्सरे में धब्बे आए थे पर ठीक होने के चिन्ह भी दिखे।

शायद थकान के कारण भगवती की तबियत फिर थोड़ी बिगड़ गई पर जल्दी ही सुधरने लगी। अगले महीने वह एक शादी में गई। साथ में स्ट्रेप्टोमायसीन के इन्जेशन और गोली भी लेती गई। वहां नियमपूर्वक एक डाक्टर से इन्जेक्शन लगवाती रही। चौथे महीने में उसने फिर काम करना शुरू कर दिया। वह दाई है। उसकी जाति (बसोड़) की सारे औरतें दाई होती हैं। अनाथ होने के कारण, उसने दाई का काम सात साल की उम्र में ही शुरू कर दिया था। उसी महीने में वह अपनी भतीजी के साथ नदी में मछलियां पकड़ने भी जाने लगी।

पांचवे महीने में कालीराम ने देखा कि भगवती को पी. एच. सी. से सिर्फ सफेद गोली दी गई है। स्ट्रेप्टोमायसीन बन्द कर दिया गया था। पर उसे पता था कि टी. बी. की दवाई जरूरी थी और भगवती को आइसोनियाज़िड (सफेद) और थाएसिटाज़ोन (पीली) दोनों दवाइयां मिल रही थीं। ये हल्के पीले रंग की गोली होती थी। वह दवा लेकर डाक्टर के पास पहुंच गया। डाक्टर को उसने बताया कि गलती से भगवती को "सिर्फ एक ही दवा" दे दी गई है। डाक्टर ने उसे घूरा पर वह डरा नहीं। एक मिनट की उहापोह के बाद डाक्टर ने कम्पाउन्डर को बुलाकर कहा कि सफेद गोलियों के बदले पहले वाली हल्की पीली गोली दे दो।

इस तरह से भगवती का इलाज चलता रहेगा। अब यथासंभव कालीराम संगठन की बैठकों में आने लगा है। भगवती औरतों की बैठक में आती। वह अपने छोटे से खेत पर काम करता है और शादियों में बाजा बजाता है। वे बांस की टोकरियां बनाते हैं। वह जचकियां करवाती हैं। बाकी लोगों की तरह ये दोनों भी साहसी हैं। बैठक मे टी. बी. की बात नहीं करते। वे जीवन के संघर्ष की बातें करते हैं। और व्यवस्था की शक्ति के खिलाफ जिन्दा हैं।"

मीरा का तरीका

मीरा के प्रेरणास्पद विवरण से पता चला है कि एक स्वास्थ्य कार्यकर्ता क्या कुछ कर सकती है। एक औरत की टी. बी. की समस्या से शुरू करके मीरा लोगों की कई तरह से मदद करने में सफल होती है। एक औरत के मामले को उठाकर, वह गांव के कई लोगों का समर्थन व सरोकार जुटा पाई। एक बार औरतें इकट्ठा हुई और जुड़ीं, तो कई स्तरों पर बदलाव ला सकीं। भगवती और उसके परिवार के बीच के सम्बन्ध बदले, जाति की अड़चनें भी कुछ हद तक दूर हुई, कालीराम संगठन की बैठकों में आने लगा, और पी. एच. सी. डाक्टर से सही इलाज की मांग तक करने में सफल हुआ। यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है कि सारे निर्णय लोगों ने खुद लिए। स्वास्थ्य कार्यकर्ता की भूमिका तो बस लोगों को जानकारी देने और प्रोत्साहित करने तक सीमित रही। स्वास्थ्य कार्यकर्ता का सबसे बड़ा योगदान शायद यही है कि उसने आसानी से हार नहीं मानी। उसने लगातार एक सरोकार और विश्वास पैदा किया कि कुछ करना संभव है। इससे लोग प्रेरित हुए और कई दिक्कतों को पार कर पाए।

गांव में चिकित्सा सुविधा की कमी : समाधान की तलाश

स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं के सामने प्रायः यह समस्या आती है कि गांव में चिकित्सा सुविधा नहीं होती। वैसे तो गांव में कई किस्म के चिकित्सक होते हैं। जैसे बड़वा, भोपा, दाई, हड्डी ठीक करने वाले, वगैरह किन्तु लोगों की मांग रहती है कि गांव में एक दवाखाना खुल जाए। या कम से कम स्वास्थ्य कार्यकर्ता अपने साथ दवाइयां ले आया करे। ऐसी मांग का कारण यह है कि लोग आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का उपयोग तुरन्त राहत पाने के लिए करते हैं। यह बात हम खण्ड-I के अध्याय 2 में सविस्तार कर चुके हैं। इसीलिए लोग चाहते हैं कि गांव में आधुनिक प्रणाली का एक चिकित्सक हो। यदि गांव के कई लोग स्वास्थ्य कार्यकर्ता से यह बात कहें, तो इस बाबत् एक चर्चा शुरू की जा सकती है कि इस समस्या के बारे में लोग क्या कर सकते हैं। वह यह बता सकती है कि वह तो सप्ताह में एक दिन ही गांव

आती है। यदि कोई इस बीच बीमार पड़े, तो ? यदि वह अपने साथ दवाइयां लाए, तो भी चिकित्सा सुविधा की कमी की समस्या तो बनी रहेगी। वह रोज उस गांव नहीं आ सकती, उसे दूसरे गांव भी जाना होता है। स्वास्थ्य कार्यकर्ता गांव में ही किसी व्यक्ति को ट्रेनिंग देने का सुझाव भी रख सकती है। उसे लोगों को इस सुझाव के बारे में सोचने के लिए प्रेरित करना चाहिए। हो सकता है लोग इस सुझाव पर एकदम अविश्वास प्रकट करें– "क्या ? हममें से कोई ट्रेनिंग ले ? हम तो कभी स्कूल तक नहीं गए। हमें तो पढ़ना-लिखना भी नहीं आता।" स्वास्थ्य कार्यकर्ता उन्हें ऐसे उदाहरण बता सकती है, जहां अनपढ़ लोग प्रशिक्षित हुए हैं। बहरहाल, लोगों को जर्बदस्ती यह मनवाने की जरूरत नहीं है कि उन्हें ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता की जरूरत है। यह ध्यान रखना चाहिए कि चिकित्सा सुविधा की कमी की समस्या से निपटने के और भी कई तरीके हो सकते हैं। ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता ही एकमात्र उपाय नहीं है। उदाहरण के लिए, आशा ने साप्ताहिक बैठक में आने वाली सारी औरतों को कई बीमारियों की जांच और इलाज का काम सिखा दिया था। अतः स्वास्थ्य कार्यकर्ता को लोगों के साथ सारी संभावनाओं पर विचार करना चाहिए।

एक बात और याद रखनी चाहिए। लोग दवाखाने की बात कभी-कभी स्वास्थ्य कार्यकर्ता को खुश करने के लिए भी कह देते हैं। दवाखाना खुलवाने के लिए भी कई कारण हो सकते हैं। नीचे एक उदाहरण से यह बात समझाने की कोशिश की गई है :

> चन्नूर गांव के लोग दो स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं से बार-बार दवाखाना खोलने का अनुरोध करते रहते थे। स्वास्थ्य कार्यकर्ता जब चन्नूर पहुंची, तो उन्होंने देखा कि लोग बहुत सहृदय और सहयोगी हैं। वे दवा और डीजल का खर्चा उठाने को तैयार थे ही, साथ ही वे गांव की सड़क की मरम्मत करवाने को भी तत्पर थे ताकि स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं की गाड़ी आसानी से आ जा सके। लोगों का जोश देखकर उन्होंने वहां एक साप्ताहिक

क्लिनिक शुरू कर दिया । कुछ ही महीनों में स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं ने देखा कि क्लिनिक में लगभग कोई नहीं आता । लोग डीजल का पैसा चुकाने में भी ना नुकर करने लगे थे । वे समझ गई कि कुछ-न-कुछ गड़बड़ जरूर है । थोड़ा सोचने पर उन्हें याद आया कि लोगों ने उन्हें सप्ताह के किसी खास दिन आने को कहा था । अब उन्हें समझ आया कि उसी दिन पास के शहर में हाट लगता है । जब वे क्लिनिक के बाद लौटती थी तो कई लोग उनकी गाड़ी में चढ़ने को तैयार बैठे होते थे ।

ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता का चुनाव

खण्ड III में हमने देखा था कि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के चयन में सारे लोग शामिल नहीं होते । इसका कारण यह है कि गांव आर्थिक, जातिगत आधारों पर बंटा हुआ है । स्वास्थ्य कार्यकर्ता को इस बाधा को स्वीकार करके ही कोई उपाय निकालना होगा । पहली बात तो यह है कि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता का चयन करके प्रशिक्षण देना, कार्यक्रम की पहली प्राथमिकता नहीं होनी चाहिए । दूसरी बात, ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता का चयन पूरे गांव की सहमति से किया जाए, यह कोई जरूरी नहीं है । (यह संभव भी नहीं है) । अन्य चिकित्सकों का चयन भी पूरे गांव की औपचारिक बैठक में नहीं हुआ था । इसलिए कोई जरूरी नहीं कि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के चयन के लिए पूरे गांव की बैठक आयोजित की जाए । हां, इतना बेशक जरूरी है कि गांव के अधिकांश लोग (जो गरीब भी हैं) चुने गए व्यक्ति को मंजूर करते हों । यह इसलिए क्योंकि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को गांव के गरीबों से जुड़ना है । और उन्हीं के हितों का नुमाइन्दा बनना है । यदि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता प्रशिक्षण का विचार मंजूर हो जाता है, तो स्वास्थ्य कार्यकर्ता इस बारे में चर्चा कर सकती है कि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता में किस तरह के गुण होने चाहिए । लोगों के सुझाव के आधार पर चर्चा आगे बढ़ाई जा सकती है । जब ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के आवश्यक गुणों की चर्चा विस्तार में हो जाए, तब लोगों से उपयुक्त व्यक्तियों के नाम लिए जा सकते हैं । स्वास्थ्य कार्यकर्ता भी अपने सुझाव दे सकती हैं । गांव में अपने काम के दौरान भी वह ऐसे व्यक्ति की तलाश कर सकती हैं जिसमें कुछ सीखने की उत्सुकता हो, न्याय व औचित्य का अहसास हो, तथा अन्य लोग उसे मित्र समझते हों । ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता में ये गुण होना जरूरी है क्योंकि उसे गरीबों और शोषितों से जुड़ना है । प्रशिक्षण के समय उसका एक रवैया विकसित किया जा सकता है परन्तु ये गुण पहले से होने चाहिए । पहले से मौजूद रवैये को पुखता करना आसान है । एक नया रवैया बनाना मुश्किल है । गांव में ऐसे व्यक्ति एक से ज्यादा भी हो सकते हैं ।

जितने नाम के सुझाव आएं, उन पर लोग एक-एक करके चर्चा कर सकते हैं । चयन की कसौटियां वही गुण होंगे, जो पहले ही तय किए जा चुके हैं । इस तरह से कुछ नाम तो कट जाएंगे । अन्त में एक या दो नाम रह जाएंगे, जिनमें समूह द्वारा निर्धारित गुण होंगे । इस काम में समय लगेगा । ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता चुनने में कुछ सप्ताह लग जाना अस्वाभाविक नहीं है ।

स्वास्थ्य कार्यकर्ता को एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए । कोई जरूरी नहीं है कि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के लिए कोई नया व्यक्ति ही चुना जाए । हो सकता है कि गांव की दाई या देसी चिकित्सक ही

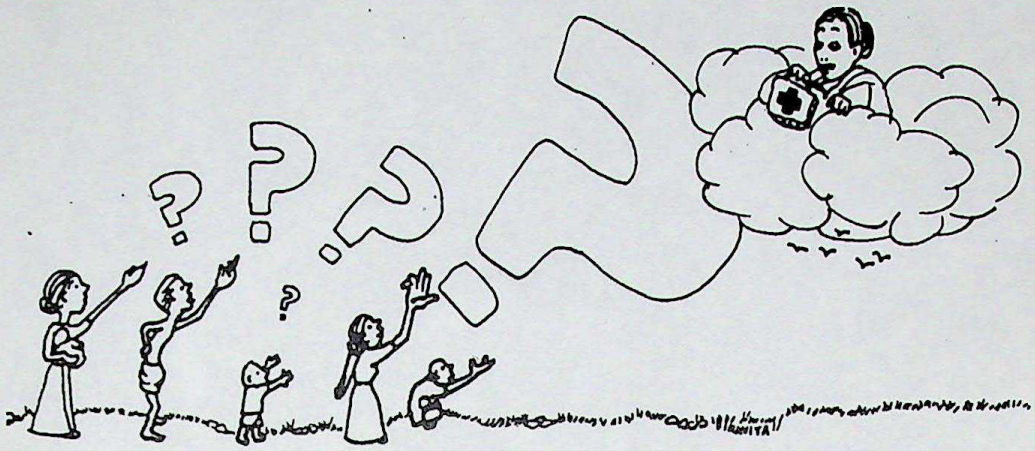

नए विचार, नए हुनर सीखने को उत्सुक हों। ऐसे व्यक्ति को शायद गरीब लोग स्वीकार भी कर लें और उसमें आवश्यक गुण भी हों। ऐसे व्यक्ति को प्रशिक्षण देने पर भी विचार किया जा सकता है।

ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता का प्रशिक्षण

ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के प्रशिक्षण का सीधा सम्बन्ध उसके काम से है। ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को क्या करना चाहिए ? इस सवाल का उत्तर इस बात में छिपा है कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता खुद अस्वस्थता के कारणों के बारे मे क्या समझ रखती है। यदि स्वास्थ्य कार्यकर्ता का विचार यह है कि अस्वस्थता का प्रमुख कारण चिकित्सा सुविधा की कमी और लोगों का अज्ञान है, तो वह ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को इलाज की तकनीक और स्वास्थ्य शिक्षा का प्रशिक्षण दे देगी। किन्तु यदि स्वास्थ्य कार्यकर्ता का मानना है कि भूमि, संपत्ति तथा शक्ति का असमान वितरण अस्वस्थता का प्रमुख कारण है, तो ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता की भूमिका भी बदल जाएगी। गांव में ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता का कामकाज इस बात पर निर्भर है कि बीमारी के कारणों की उसकी समझ क्या है। **इसे समझने का सबसे अच्छा तरीका यह होगा कि हम देखें कि गांव में दस्त की समस्या से निपटने के लिए ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता क्या कार्यवाही करते हैं।**

ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता की कार्यवाही

1. मरीजों को दिन में तीन बार दो-दो चम्मच केओलीन पेक्टिन घोल लेने को कहा।

2. लोगों को उबला पानी पीने को, नाखून काटने, हाथ धोने, वातावरण स्वच्छ रखने आदि का निर्देश दिया। उन्हें बताया कि बीमारी कीटाणु से होती है। (यानि प्रत्यक्ष वज़ह बताई)

3. पुनर्जलन घोल बनाकर मरीजों को दिया।

परिणाम

मरीज आंख मूंदकर ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता का निर्देश मानते हैं। उन्हें नहीं पता कि यह दवा क्यों लेनी है या इसका क्या असर होगा। ये वे ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के निर्देश का पालन इसलिए करते हैं क्योंकि वे मानते हैं कि वह उनसे बेहतर जानती है क्योंकि उसका विशेष प्रशिक्षण हुआ है। यह उपचार दस्त में कारगर नहीं है। यदि बीमारी ठीक नहीं होती तो लोगों का विश्वास ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता पर से उठ जाता है। यदि दस्त ठीक हो गया, तो भी लोग ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता पर ही निर्भर रहते हैं। अगली बार फिर वे उसी का मुंह ताकते हैं।

लोगों को अहसास करवाया जाता है कि दोष उन्हीं का है। उन्हें गंदे और अज्ञानी होने का अहसास भी कराया जाता है। प्रशिक्षण से पहले ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता बिलकुल उनके जैसी ही थी। अब लोगों को लगता है कि वह शेखी बघार रही है। उसके सुझाव अव्यवहारिक होने के कारण यह भावना और मजबूत हो जाती है।

हालांकि यह आसान, सस्ता और कारगर उपचार है पर फिर भी ज्ञान तो ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के पास ही रहा।

ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता की उपरोक्त सारी कार्यविधियां निर्भरता पैदा करती हैं। अपनी स्वास्थ्य समस्याओं से खुद निपटने में ये लोगों की कोई मदद नहीं करती और स्वास्थ्य सेवा को रहस्यमय बनाती हैं।

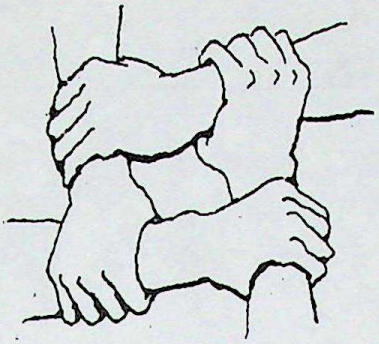

ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता की कार्यवाही	परिणाम
4. पुर्नजलन घोल बनाने में लोगों की मदद की ।	लोग बीमारी का इलाज खुद करना सीखते हैं । इससे उनका आत्मविश्वास बढ़ता है और ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता पर निर्भरता कम होती है ।
5. पुनर्जलन घोल बनाने और उपयोग करने में लोगो की मदद की और इस घोल को लेने का कारण भी बताया । यह भी बताया कि साधारण दस्त में दवाई लेने का कोई मतलब नहीं है । कारण भी बताया ।	स्वास्थ्य सुविधा कम रहस्यमयी हो जाती है और लोगों की समझ के दायरे में आ जाती है । इससे लोगों पर चिकित्सा जगत का दबदबा कम होता है और दवाइयों पर निर्भरता भी घटती है ।
6. दस्त के सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक कारणों की चर्चा की और जमीन, संपत्ति तथा सत्ता के असमान वितरण पर भी सवाल खड़े किए । यह भी बताया कि डाक्टर साधारण दस्त के लिए इन्जेक्शन तथा दवाइयां क्यों देते हैं । लोगों के साथ इन प्रश्नों के संभावित हल ढूंढने की कोशिश भी की ।	लोग अस्वस्थता के गहरे कारणों पर सोचने को प्रेरित होते हैं । इसे अपनी नियति न मानकर वे यह समझने लगते हैं कि परिस्थिति बदलने में उनकी सामूहिक शक्ति की क्या भूमिका हो सकती है ।

इन सारी कार्यवाहियों में स्वास्थ्य कार्यकर्ता अपना ज्ञान तथा हुनर लोगों के साथ बांटती है । इसमें अपनी स्वास्थ्य समस्याएं हल करने में लोग सक्षम बनते हैं । अन्तिम उदाहरण में वह लोगों को साथ लाती है और उन पर थोपी गई परिस्थितियों को चुनौती देने को प्रेरित करती है ।

अतः ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को दिए गए प्रशिक्षण का सीधा सम्बन्ध उसके कामकाज से है । उसका काम सिर्फ रोग निदान, इलाज और जानकारी बांटने तक सीमित रहे, ऐसा जरूरी नहीं है । ये काम अपने आप में महत्त्वपूर्ण है पर ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता का प्रमुख काम है लोगों में आत्मविश्वास बढ़ाना । ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता की भूमिका का दायरा इस बात पर निर्भर है कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता की अपनी समझ क्या है और वह ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता में कितना विश्वास रखती है । उसके प्रशिक्षण में भी कई तरह के हुनर शामिल करने होंगे–इलाज के हुनर के साथ-साथ सामाजिक हुनर और विश्लेषण की कुशलता का भी स्थान होगा ।

ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता द्वारा किए गए तीन अलग-अलग तरह के कार्यों के उदाहरण दिए गए हैं ।

सरकारी सुविधाओं से फायदा उठाने के लिए लोगों को संगठित करना

तमिलनाडु में चल रहे एक स्वास्थ्य कार्यक्रम में तय किया गया कि मातृ व बाल स्वास्थ्य सुविधा पर से ध्यान हटाकर गांव की औरतों को आर्थिक व सामाजिक मुद्दों की शिक्षा देने पर ध्यान केन्द्रित किया जाए । कार्यक्रम की ओर से सुविधाएं देने की बजाय औरतों को संगठित किया जाए ताकि वे सरकार से सुविधाओं की मांग कर सकें । स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं का काम था कि वे औरतों को यह बताएं कि उनके लिए कौन-कौन से सरकारी कार्यक्रम चलाए जाते हैं पर कभी उन तक पहुंचते नहीं । इस तरह से काम करने पर औरतें बड़ी तादाद में सरकारी पी. एच. सी. में जा पहुंची और बच्चों के

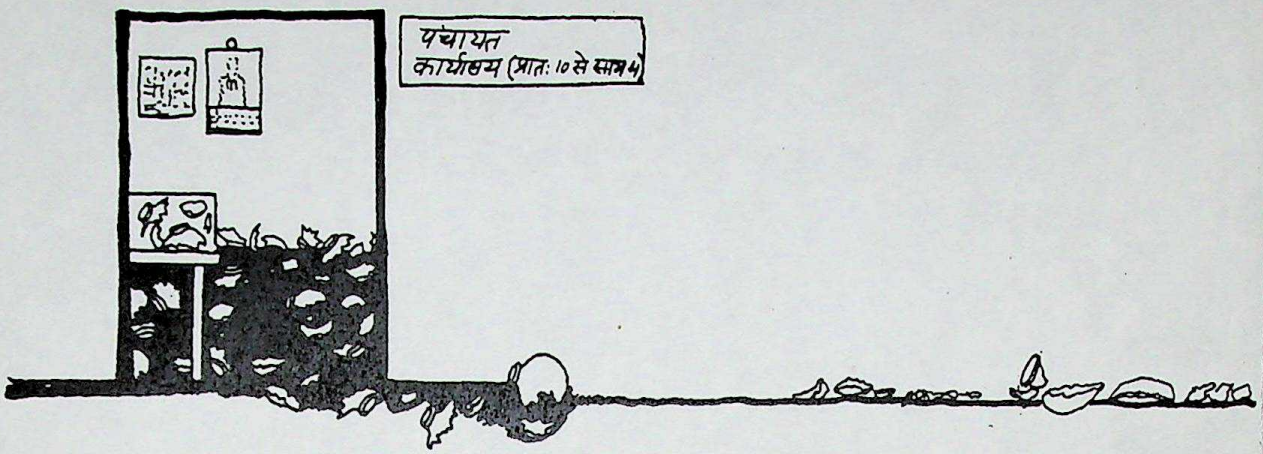

लिए टीके की मांग की। स्वास्थ्य अधिकारी भौंचक्के रह गए। उन्होंने स्वास्थ्य कार्यक्रम के सहयोग से इन गांवों में स्वास्थ्य सुविधा प्रदान करने का फैसला किया।

इस अनुभव से औरतों में अपनी संगठित शक्ति के प्रति विश्वास पैदा हुआ। उन्होंने आगे बढ़कर और कई मुद्दे उठाए। एक मुद्दा पीने के पानी का था। एक गांव में पीने के पानी की कोई सुविधा नहीं थी। औरतों की समिति कई बार पंचायत आफिस में जा चुकी थी पर कोई लाभ नहीं हुआ। इसलिए उन्होंने, अपनी मांग पूरी करवाने के लिए, बड़ी तादाद में वहां जाने का फैसला किया। इस बार वे अपने मिट्टी के घड़े साथ लेकर गई। हमेशा की तरह पंचायत आफिस में किसी ने परवाह नहीं की। औरतों ने अपने घड़े वहीं फोड़ डाले और घर लौट गईं। इस कार्यवाही का अलग ही असर हुआ। दो सप्ताह के अन्दर ही पंचायत के अधिकारियों ने गांववासियों से गांव की समस्या के बारे में विचार-विमर्श किया। महीना खत्म होते-होते तो गांव में पम्प लग चुका था। गांव के मर्दों को अपनी आंख पर भरोसा नहीं हो रहा था। वे तो असंभव मानकर इस समस्या को छोड़ चुके थे।

मिथक तोड़ने में मदद

भारत में माहवारी को (मासिक स्राव को) औरतों की अशुद्धि माना जाता है। औरतों का विश्वास है कि इन तीन-चार दिनों में यदि वे अचार को हाथ लगाएंगी तो वह मुरझा जाएगा। माहवारी को लेकर यह मिथक इतना गहरा है कि कई शिक्षित औरतें भी इस दौरान सारी पाबन्दियों का पालन करती हैं। कई देहाती इलाकों में माना जाता है कि माहवारी वाली औरत का फसल पर बुरा प्रभाव पड़ता है और फसल चौपट हो जाती है। ऐसे मौकों पर औरतें खेतों में काम पर नहीं जाती।

महाराष्ट्र के एक गांव में ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता इस बाबत् गांव की औरतों से बातचीत करती रहती थी। ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता ने औरतों के बीच अच्छा विश्वास अर्जित कर लिया था। इसी विश्वास के बल पर एक औरत ने इस मिथक की खुद जांच करने का फैसला किया। एक बार यह साबित हो गया कि फसल को कोई नुकसान नहीं हुआ, तो अन्य ऐसी रूढ़ियों की जांच करने का विश्वास पैदा हुआ।

सहकारी समिति बनाना

मेक्सिको के कुछ स्वास्थ्य कार्यकर्ता यह समझ चुके थे कि गांव में कुपोषण की समस्या का सम्बन्ध जमीन के वितरण से है। गांव की बढ़िया कृषि भूमि कुछ ही लोगों ने गैर कानूनी रूप से दबा रखी थी। ये लोग सरकारी भूमि सुधार अधिकारियों को घूस दिया करते थे। ये सम्पन्न जमींदार बोवनी के समय गरीबों को कर्ज के रूप में मक्का दे देते थे। कटाई के समय तिगुनी मक्का वसूल की जाती थी। इसके कारण कई बार परिवारों के पास भोजन तक के लिए अनाज न बचता। कुछ लोगों को तो कर्ज चुकाने के लिए सब कुछ बेच देना पड़ता था। ये लोग शहरों की झोंपड़पट्टियों में बसने को मजबूर हो जाते थे।

मुख्य समस्या यह थी कि गरीब किसान जो कुछ उगाते थे, वह उनके पास टिक नहीं पाता था। इस समस्या की जड़ थी जमींदारों द्वारा गैरकानूनी रूप से बढ़ाया कृषि भूमि पर कब्जा।

इसका सही समाधान तो जमीन का पुनर्वितरण ही था। किन्तु इसे हासिल करने के मार्ग में कई बाधाएं थीं। गरीब किसान इन्हें पार करने में अभी अशक्त थे। स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं ने लोगों को संगठित कर एक सहकारी बीज बैंक गठित करने में मदद दी। बीज बैंक में से परिवारों को कम ब्याज दरों पर अनाज दिया जाता था। ब्याज दरें कम रखने के लिए जरूरी था कि चूहों और कीटों से मक्का का बचाव किया जाए। इसके लिए धातु की सस्ती चादरों के बर्तन बनाए गए। अब लोगों को कम ब्याज दरों पर बीज मिलने लगा। अतः वे पूरी उपज का खुद उपयोग करने लगे। कम-से-कम कुछ हद तक समस्या हल हुई। इससे लोगों में साहस पैदा हुआ। एक दिन वे जरूर बड़ी समस्याओं का समाधान करने में सफल होंगे।

ये छोटे कदम हैं किन्तु उन लोगों में आत्मविश्वास पैदा करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं जो अभी तक असहाय और दबे हुए हैं। लोगों को सामाजिक व आर्थिक मुद्दों के इर्द गिर्द संगठित करने में ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता की भूमिका की आज तक भारत में उपेक्षा ही हुई है। इसका कारण तो यह है कि अधिकांश स्वास्थ्य कार्यक्रमों में बीमारी के कारणों की समझ बहुत संकीर्ण रही है। इसका असर ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के प्रशिक्षण पर भी पड़ा है। इसका दूसरा कारण यह है कि यदि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता इस तरह के मुद्दे उठाएंगे, तो उसके परिणाम गंभीर हो सकते हैं। स्वास्थ्य कार्यक्रम इन परिणामों का सामना करने से कतराते हैं।

मगर ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता की यही सामाजिक भूमिका सबसे महत्त्वपूर्ण है। यदि वह बीमारी के मूल कारणों को दूर करने के प्रति संजीदा हैं, तो देर सबेर इस सच्चाई का सामना करना ही पड़ेगा। मगर होता इससे उल्टा है। सरकारी और स्वैच्छिक दोनों में इसकी बात पर जोर दिया जाता है कि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता की मुख्य भूमिका स्वास्थ्य शिक्षा देने की है। दरअसल श्रीवास्तव समिति ने कहा था कि जरूरत तकनीकी ज्ञान की नहीं है। जरूरत है गांव से निकटता और लोगों का विश्वास अर्जित करने की।

सरकारी प्रशिक्षण कार्यक्रमों तथा कई स्वास्थ्य कार्यक्रमों में ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता की भूमिका को बुखार, दस्त, खांसी आदि चार-पांच तकलीफों के इलाज में समेट दिया जाता है। एस्पिरिन और पाइपरेज़ीन को छोड़कर ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के पास और कोई उपयोगी दवाई नहीं होती। स्वास्थ्य कार्यक्रम के कर्मचारियों का कहना होता है कि कम से कम ये दवाइयां 'हानिरहित' हैं। इन कार्यक्रमों के संचालकों को शायद यह मालूम नहीं है कि एण्टीबायोटिक से लेकर नींद की गोलियों तक दुनिया भर की दवाइयां बाजार में बगैर डाक्टर की पर्ची के सरलता से मिल जाती हैं और जो धड़ल्ले से बिकती है। फिर भी ये दवाइयां 'खतरनाक' हैं, ऐसा बहाना बनाकर ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को इनके बारे में कुछ नहीं सिखाया जाता। उन्हें न तो इनके उपयोग के बारे में बताया जाता है और न दुरूपयोग और न ही इनसे होने वाले खतरों के बारे में। जिस देश में दवाइयों का खुलेआम उपयोग होता हो, वहां ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को इनके बारे में कोई जानकारी न हो, तो लोग उसका क्या सम्मान करेंगे? इसके अलावा, ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता विचार ही इसलिए आया था क्योंकि गांवों में चिकिसा सुविधाओं का अभाव है। इसलिए यह जरूरी है कि उन्हें कई और बीमारियों की जांच व इलाज का प्रशिक्षण दिया जाए, ताकि वे गांव के स्तर पर इनका समाधान कर सकें।

प्रभावी भूमिका अदा करने के लिए ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता में आत्मविश्वास होना चाहिए और लोगों का भी उस पर भरोसा होना चाहिए। इसमें स्वास्थ्य कार्यकर्ता को सहारे और मदद की जरूरत है। इसका मतलब यह होगा कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता क्लिनिक चलाने में ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता की मदद करें (उल्टा न हो), हर मरीज को पहचानना, रोग की जांच करना और इलाज करना सिखाए, वगैरह।

सबसे जरूरी बात यह है कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता सारा काम खुद ही न 'हथिया' लें। ऐसा करने से लोगों की नजर में ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता का आदर कम हो जाएगा। स्वास्थ्य कार्यक्रमों में अवसर ऐसा ही होता है। फिर लोग स्वास्थ्य कार्यकर्ता के आने का इन्तज़ार करते हैं। ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता की भूमिका यही रह जाती है कि क्लिनिक में आए लोगों को कतार में खड़ा कर दें। ऐसी प्रथा नहीं डालनी चाहिए। पर स्वास्थ्य कार्यकर्ता मरीजों को देखने से इंकार भी नहीं कर सकती। लोगों को लगेगा कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता सहयोग नहीं दे रही है। इस स्थिति से निपटने का एक तरीका यह हो सकता है कि लोगों की मौजूदगी में मरीजों की जांच व इलाज के काम में ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता की सक्रिय मदद ली जाए। कई स्वास्थ्य कार्यक्रमों में बुजुर्ग और अनुभवी ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता निगरानी का काम करते हैं। इससे लोगों का अपने आप ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता में विश्वास बढ़ता है।

प्रशिक्षण का एक और महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि इसके दौरान ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के सामने किस तरह के उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं।

सिर्फ यह कह देना ही काफी नहीं है कि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को सकारात्मक रवैया अपनाना चाहिए जैसे अपना ज्ञान व हुनर लोगों के साथ बांटना, लोगों रिवाजों का सम्मान करना, लोगों को आंख मूंदकर किसी चीज पर विश्वास न करने और सोचने के लिए प्रेरित करना, वगैरह। दरअसल ये बातें स्वास्थ्य कार्यक्रम कार्य के रोजमर्रा के कामकाज में झलकनी चाहिए। यदि स्वास्थ्य कार्यक्रम के कर्मचारी किसी मरीज पर झल्लाते हैं कि वह क्यों देसी चिकित्सक के पास गया था, या कोई देसी चिकित्सक क्लिनिक में इलाज के लिए आ जाए तो पीठ पीछे उसका मजाक उड़ाया जाता है, तो ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को क्या समझाएंगे और यदि समझाया, तो भी क्या ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता उसे गम्भीरता से लेंगे? और यदि स्थानीय स्तर पर प्रचलित परंपरागत उपचार पद्धति की अच्छी बातों को स्वास्थ्य

कार्यक्रम में शामिल नहीं किया जाए, तो ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को किस मुंह से कहेंगे कि वह परंपरा का आदर करें ?

इसी प्रकार से, यदि प्रशिक्षण के दौरान ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को अपने सवाल पूछने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाता, और पढ़ाई भाषण पद्धति से होती है (जिससे यह भावना मजबूत होती है कि शिक्षक सब कुछ जानते हैं और विद्यार्थी मूर्ख हैं) और ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को कुछ तयशुदा बातें पढ़ा दी जाती हैं, तो वे लोगों के साथ काम करने में भी यही तरीके अपनाएंगे। ऐसे ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता सोचने और प्रश्न करने में लोगों की मदद करेंगे, इसमें शंका है। और यदि खुद स्वास्थ्य कार्यक्रम में ही ऊंच-नीच के सम्बन्ध मौजूद हैं, तो इसके जरिये सामूहिक निर्णय, आदि की बातें बेमानी है। ऐसे कार्यक्रमों के द्वारा ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता में परस्पर विश्वास और लोगों व ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के बीच परस्पर विश्वास होना संभव नहीं है।

इस सबका अर्थ यही है कि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता में सकारात्मक रवैया विकसित करना जरूरी है। किन्तु यह अपने आप ही विकसित नहीं हो जाता। स्वास्थ्य कार्यक्रम के कामकाज में ये बातें झलकनी चाहिए। इसलिए ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के प्रशिक्षण से पहले स्वास्थ्य कार्यक्रम को अपने खुद के रवैयों के गिरेबान में झांक लेना चाहिए।

ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को सक्रिय सहयोग देने का एक अन्य पहलू यह है कि उसके द्वारा भेजे गए मरीज के सम्बन्ध में उसे पूरी जानकारी दी जाए। स्वास्थ्य कार्यकर्त्ता को चाहिए कि वह हर मरीज के बारे में ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को पूरी जानकारी सरल भाषा में दे। इससे ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को आगे सीखने की प्रेरणा मिलती है और वह नया ज्ञान हुनर सीख पाती है।

ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को वेतन दें या न दें ?

कई सारे स्वास्थ्य कार्यक्रमों में इस प्रश्न पर बार बार चर्चाएं होती रही हैं। इन चर्चाओं में से दो नजरिये उभरे हैं। एक नजरिया यह है कि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को गांव में ढेर सारा काम करना होता है, इसलिए उसे वेतन मिलना चाहिए। स्वास्थ्य कार्यक्रम के बाकी कर्मचारियों को वेतन मिलता है। ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता की आर्थिक जरूरत तो और भी ज्यादा होती है। तब उसे वेतन क्यों न दिया जाए। दूसरा नजरिया यह है कि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता लोगों में से ही एक है। वेतन देने पर वह लोगों से अलग हो जाएगी। इसलिए उसे वेतन नहीं दिया जाना चाहिए। उसे सेवाभाव से काम करने को प्रोत्साहित करना चाहिए। स्वास्थ्य कार्यक्रमों में वेतन का सवाल एक समस्या है जिसका हल ढूंढना जरूरी है। इसके दो कारण है :

1. ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता से प्रतिदिन कुछ घण्टे काम करने की उम्मीद की जाती है। पहले वह कोई आमदनी वाला काम करती रही होगी, जो अब नहीं कर पाती। आमदनी के इस नुकसान की भरपाई करना एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा है। स्वास्थ्य कार्यक्रमों में ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता के कुछ निर्धारित काम होते हैं :

- रोज 10 घरों में जाना
- 5 साल से कम बच्चों तथा गर्भवती औरतों के लिए विशेष विज़िट करना
- जन्म, मृत्यु आदि महत्त्वपूर्ण घटनाओं का ब्यौरा रखना
- स्वास्थ्य केन्द्र की साप्ताहिक कक्षा में आना
- गांव के साप्ताहिक क्लिनिक में मदद करना
- जचकियां करवाना और रोगियों को दवा देना।

इस तरह की सूची से पता चलता है कि स्वास्थ्य कार्यक्रम में गांव की स्थिति को लेकर अनभिज्ञता है। जैसे कि क्या रोजाना 10 घरों का चक्कर लगाना जरूरी है ? इस काम में रोज 2-3 घण्टे जाया होंगे। यह बात ए. एन. एम. के लिए शायद जरूरी रही होगी। ए. एन. एम. अक्सर बाहरी व्यक्ति होती है और गांव के लोगों को अच्छी तरह से नहीं जानती है। इसलिए उनके लिए जरूरी रहा होगा कि वे घर-घर जाकर जन्म-मृत्यु, नए गर्भ, आदि की जानकारी इकट्ठी करें। किन्तु ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता तो उसी गांव की होती है। हर गांव में जानकारी के अपने रास्ते होते हैं। औरतें सुबह एक साथ नित्य कर्म को जाती हैं। हर जगह उनकी एक-दूसरे से बातचीत होती रहती है। ऐसी जगह पर खबरों का आदान-प्रदान होता है। इसलिए बगैर घर-घर गए ही ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को ए. एन. एम. की बनिस्पत ज्यादा सही व जल्दी जानकारी मिल जाएगी।

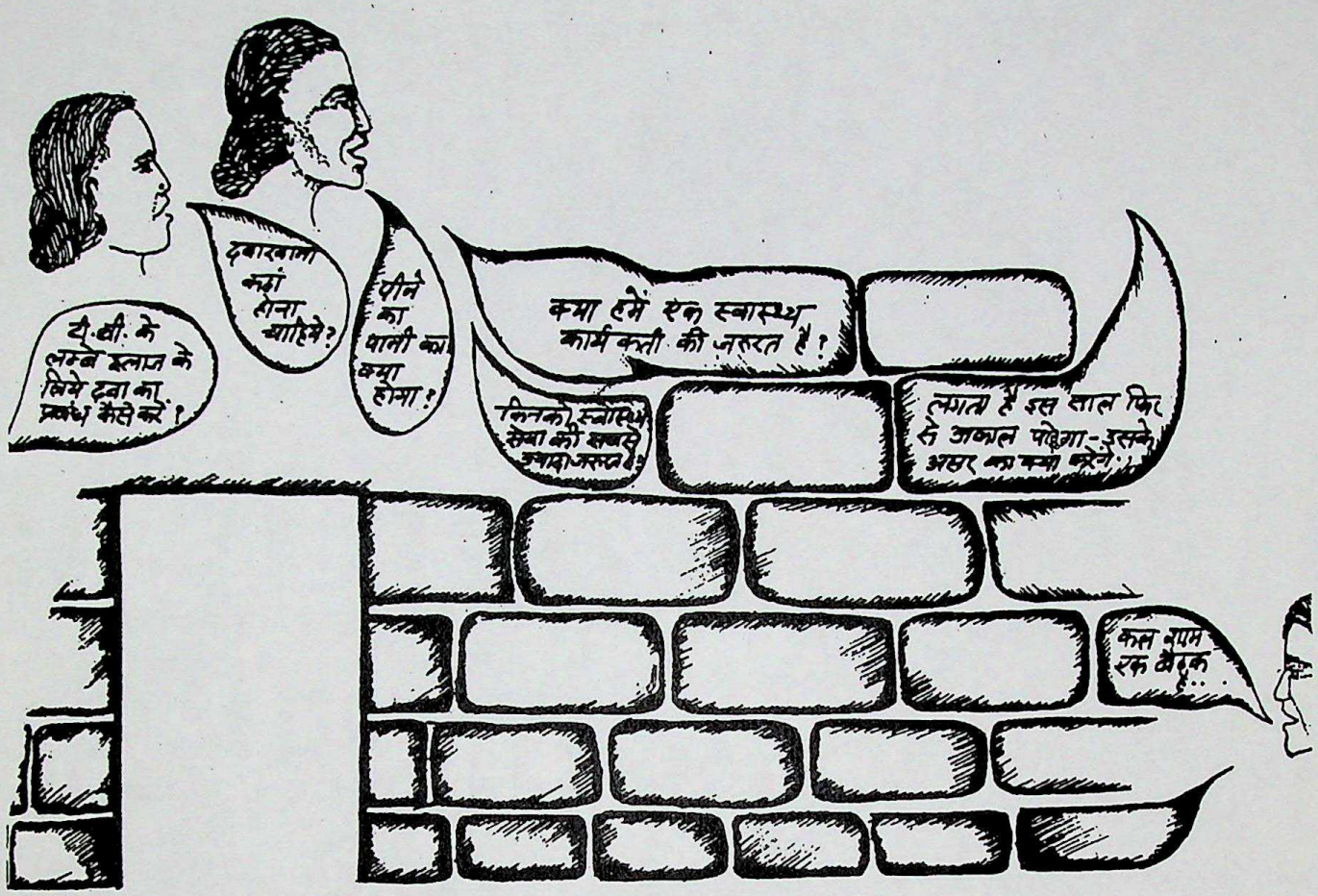

2. ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता की जरूरत वास्तव में स्वास्थ्य कार्यक्रम को है। वही तो लोगों और कार्यक्रम के बीच कड़ी का काम करती है।

कई स्वास्थ्य कार्यक्रम ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता तैयार करने को इतने उतावले होते हैं, कि वे यह भी नहीं सोचते कि गांव में इसकी जरूरत भी है या नहीं। वे लोगों को इस विचार को पचाने का भी पर्याप्त समय नहीं देते। स्वास्थ्य कार्यक्रमों को ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता चुनने की इतनी जल्दी होती है कि लोग इसे एक वेतन शुदा नौकरी समझें, तो कोई गलत नहीं है।

स्वैच्छिक क्षेत्र में ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को वेतन देने-न-देने को लेकर कई किस्म के अनुभव हैं। कई कार्यक्रम बिलकुल वेतन नहीं देते, कई कार्यक्रम कटाई के समय अनाज के रूप में भुगतान करते हैं, तो कई कार्यक्रमों में वेतन का कुछ हिस्सा गांव से और कुछ हिस्साा स्वास्थ्य केन्द्र से दिया जाता है। कई विदेशी सहायता प्राप्त कार्यक्रमों की तरफ ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को सिर्फ 50 से 100 रुपये मासिक वेतन दिया जाता है। किन्तु यदि पैसा देने वाली संस्था इनके स्वास्थ्य कार्यक्रम से हाथ खींच ले, तो काफी दिक्कत हो जाती है।

इससे महत्त्वपूर्ण बात है कि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को वेतन यह मानकर नहीं दिया जाता (या कम दिया जाता) कि वह समूह सेवा कर रही है। यदि यह बात सही है तो, स्वास्थ्य कार्यक्रम तहत सारे कर्मचारियों को वेतन नहीं देना चाहिए क्योंकि उनका काम समूह सेवा ही है। पर ऐसा नहीं होता। अपितु समूह सेवा के नाम पर ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को शोशित किया जाता है। यदि ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता अपनी रोजगारी छोड़कर स्वास्थ्य कार्यक्रम पर लगती है तो उसका वेतन न्यूनतम मजदूरी से कम नहीं होना चाहिए। एक स्वास्थ्य कार्यक्रम जो शोषण के खिलाफ आवाज उठाने का बहाना करता है, वही दूसरी ओर अपने कार्यकर्ताओं को शोषण कैसे कर सकता है ?

तो ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को वेतन देने या न देने का फैसला इस बात पर निर्भर है कि उनकी भूमिका क्या होगी और गांव के गरीब लोग उन्हें कितनी सहायता देने को तैयार हैं।

संक्षेप में, गांव में चिकित्सा सुविधा की कमी का मुकाबला करने में स्वास्थ्य कार्यकर्ता को गांव के लोगों के साथ मिलकर विभिन्न विकल्पों पर गौर करना चाहिए। ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता चुनकर प्रशिक्षित कर देना ही एक मात्र या सर्वश्रेष्ठ विकल्प नहीं है। गांव में बेशक एक ऐसी ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता चुनी जा सकती है जो गरीबों के हितों का प्रतिनिधित्व करेगी। परन्तु गांव को ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता की जरूरत है भी या नहीं, इसका फैसला खुद गांव के लोग ही करेंगे।

4 : स्वास्थ्य कार्यकर्ता के लिए जरूरी गुण

इस खण्ड के पिछले अध्यायों में हमने इस बाबत् चर्चा की है कि गांव की स्वास्थ्य समस्याओं की समझ विकसित करने और इनसे निपटने में लोगों की मदद करने के लिए स्वास्थ्य कार्यकर्ता को क्या करना चाहिए, कैसे आगे बढ़ना चाहिए। अब तक की चर्चा से स्पष्ट है कि अपने कार्य के दौरान हर मुकाम पर स्वास्थ्य कार्यकर्ता को किसी न किसी जानकारी की जरूरत होती है। गांव चुनते वक्त उसे उस इलाके के बारे में, गांव में रहने वालों के बारे में, गांव में मौजूद सरकारी सुविधाओं के बारे में, जानकारी होनी चाहिए। गांव चुन लेने के बाद, जब वह गांव जाएगी, तो उसे लोगों की जिन्दगी और उनकी समस्याओं के बारे में और गहराई से समझना होगा। उसे यह भी समझना होगा कि लोग इन समस्याओं के बारे में क्या सोचते हैं और क्या महसूस करते हैं। फिर इन समस्याओं से निपटने में लोगों की मदद करने की बारी आती है। स्वास्थ्य कार्यकर्ता को अपनी गतिविधि की योजना बनाने, उस पर अमल करने और उसका आकलन करने के लिए भी जानकारी की जरूरत होगी। अतः जानकारी इकट्ठी करना एक ऐसा हुनर है, जो हर स्वास्थ्य कार्यकर्ता के लिए जरूरी है।

जानकारी इकट्ठी करने के कई तरीके हो सकते हैं–अवलोकन, आपसी बातचीत, सामूहिक चर्चा, सर्वेक्षण, सरकारी या अपने ही बनाए रिकार्डों पर नजर डालना, आदि। इनमें से कुछ तरीकों की चर्चा पिछले अध्यायों में की जा चुकी है। इस अध्याय में हम सामूहिक चर्चा और सर्वेक्षण के बारे में बातचीत करेंगे।

सामूहिक चर्चा (ग्रुप डिस्कशन)

समूह या ग्रुप में चर्चा का मकसद यह होता है कि लोग सामूहिक रूप से अपने गांव की समस्याओं को समझ सकें और संभावित हल की चर्चा कर सकें। सवाल पूछना, मत व्यक्त करना, दूसरों के मत सुनना, विचार-विमर्श करना, आदि सामूहिक चर्चा के हिस्से हैं। इनके माध्यम से लोग समस्याओं के बारे में आपसी समझ बनाते हैं। इस प्रक्रिया में स्वास्थ्य कार्यकर्ता की भूमिका यह होती है कि वह लोगों को समस्या के हर पहलू पर विचार करके स्वयं निष्कर्ष निकालने को प्रेरित करे। स्वास्थ्य कार्यकर्ता को अपने मत थोपने से बचना चाहिए। ऐसा न हो कि लोग समस्या को स्वास्थ्य कार्यकर्ता की नजर से देखने लगें। ऐसा हो गया, तो सामूहिक चर्चा निरर्थक हो जाएगी। इस सम्बन्ध में कुछ सुझाव उपयोगी साबित हो सकते हैं। मसलन :

- चर्चा का विषय समूह के लिए महत्त्वपूर्ण और दिलचस्पी का होना चाहिए। उदाहरण के लिए, स्वास्थ्य कार्यकर्ता को पहले से सोचकर आना चाहिए कि उस वक्त गांव की प्रमुख स्वास्थ्य समस्याएं क्या हैं (जैसे सूखे महीनों में दस्त और बारिश में मलेरिया या आंख व चमड़ी के रोग)। कोशिश यह करनी चाहिए कि मौसम शुरू होने के तुरंत पहले इन समस्याओं पर चर्चा हो, ताकि लोग इनसे निपटने की तैयारी कर सकें।

  यह भी संभव है कि इधर दस्त पर चर्चा चल रही हो, और उधर लोग काम की तलाश में शहर की ओर जाने की योजना बना रहे हों। ऐसी स्थिति में यदि कोई टी. बी. मरीज स्ट्रेप्टोमायसीन इन्जेक्शन लगवा रही है, तो इस समस्या पर चर्चा करना भी जरूरी होगा ताकि इलाज जारी रह पाए।

- स्वास्थ्य कार्यकर्ता को सवाल कुछ इस ढंग से पूछना चाहिए कि लोग अपने मत व्यक्त करने में झिझके नहीं। कई बार सवाल पूछने के तरीके के कारण लोग नए ढंग से सोचने को प्रेरित होते हैं। जैसे स्वास्थ्य कार्यकर्ता आशा (इस खण्ड का अध्याय 3) ने टी. बी. के लक्षणों के बारे में लोगों की राय जानने के लिए सवाल पूछा। आशा ये सारे लक्षण अच्छे से जानती है और सीधे-सीधे बात भी कर सकती थी। इसी प्रकार से उसने समूह को यह सोचने पर विवश कर दिया कि गांव में टी. बी. की दवा का इन्तजाम कैसे किया जाए—शायद समूह ने कभी इसके बारे में गंभीरता से नहीं सोचा था।

- जहां तक संभव हो, प्रश्न स्पष्ट होने चाहिए। ऐसा न हो कि उत्तर उसी में झलक रहा हो। जैसे यदि स्वास्थ्य कार्यकर्ता पूछे कि "तुम लोगों को क्या लगता है, खसरा पर बात करनी चाहिए ?" तो समूह को समझ में आ जाएगा कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता खसरा के विषय में बात करना चाहती है। शायद वे

लोग उसे खुश करने के लिए "हां" कह देंगे। इसी तरह से "पी. एच. सी. में तुम्हारे साथ कैसा बर्ताव होता है ?" के जवाब में भी "ठीक" या "बुरा" जैसे जवाब आ जाएंगे। परन्तु यदि प्रश्न यह हो कि "पी. एच. सी. जाते हो; तो क्या होता है ?", तो शायद लोग अपने-अपने अनुभव सुनाएंगे। इन अनुभवों पर फिर चर्चा की जा सकती है। और आगे चर्चा में पूरी सरकारी स्वास्थ्य व्यवस्था को शामिल किया जा सकता है।

- कई बार किसी कहानी, किसी लोकगीत या चित्र के जरिये चर्चा शुरू करना अच्छा होता है। यह तरकीब उन विषयों में खास उपयोगी होती है, जिनके बारे में लोग अक्सर सोचते नहीं। उदाहरण के लिए परिवार व समाज में औरत की भूमिका पर चर्चा की शुरूआत करने के लिए तमिलनाडु के एक ग्रामीण महिला समूह ने केन्या की निम्नलिखित कहानी का उपयोग किया गया।

  बहुत समय पहले की बात है। भगवान को एक काम करवाने के लिए एक मददगार की जरूरत थी। भगवान ने औरतों की तरफ देखा। उस जमाने में भी औरतों को काम से फुरसत नहीं थी। उस समय वे दूध के घड़े, पानी के मटके और झोंपड़ी की छत के लिए चटाइयां बना रही थीं। भगवान ने उन्हें पुकारा। औरतों ने कहा "एक पल ठहरो, बस खतम हुआ जाता है। बस चटाई और घड़े बना लें।"

  आदमियों को औरतों की तरह, न तो गाय दुहनी होती थी, न पानी-लकड़ी लानी होती थी, न घर बनाने होते थे। उनका काम बस बाड़ बनाकर ढोरों की रक्षा करने का था। तो, उस क्षण उनके पास कोई काम नहीं था। भगवान की आवाज सुनकर वे भागे भागे पहुंचे, "भगवान, इनकी बजाय हमें भेज दो।" यह सुनकर भगवान ने औरतों से कहा, "मैं तुम्हें श्राप देता हूं, कि तुम्हारे काम कभी खत्म न होंगे। एक काम खत्म करोगी, तो दूसरा सामने होगा। अब से आदमी आराम करेंगे क्योंकि वे मेरी एक पुकार पर ही दौड़े आए। परन्तु तुम औरतों को बिना आराम, बिना रुके मरते दम तक काम करना होगा।" और तब से यही प्रथा चली आ रही है।

स्वास्थ्य कार्यकर्ता ऐसी कहानियों के माध्यम से औरतों की जिन्दगी के महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर चर्चा की शुरूआत कर सकती हैं।

इसी प्रकार से लोक गीतों का उपयोग भी पारम्परिक संस्कृति के अच्छे पहलुओं की चर्चा के लिए किया जा सकता है। ये पहलू सरकारी नीतियों व कई अन्य कारणों से लुप्त हो रहे हैं। मसलन आदिवासियों के जीवन पर सरकारी जंगल नीति के नकारात्मक असर की चर्चा में आदिवासी लोक गीतों की महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। इसी प्रकार से "अक्लमंद विठोबा" वाले फ्लैश कार्ड सेट *(खण्ड III पृष्ठ 175 से 179)* का उपयोग मिथक और हकीकत की तुलना के लिए किया जा सकता है।

स्वास्थ्य कार्यकर्ता को शुरू में ही अपना मत व्यक्त नहीं करना चाहिए। इससे लोगों पर दबाव पड़ता है कि वे उसी मत को स्वीकार कर लें। अच्छा यह होगा कि वह लोगों को अपने अनुभव के आधार पर विश्लेषण करने दें। किन्तु यदि उसका मत पूछा जाए, तो झिझकना नहीं चाहिए। उसे अपना मत व्यक्त करते हुए यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि यह उसका व्यक्तिगत मत है और जरूरी नहीं कि बाकी लोग भी वैसे ही सोचें।

स्वास्थ्य कार्यकर्ता को इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए कि चर्चा उसकी अपेक्षा से अलग दिशा में भी बढ़ सकती है। जैसे कि दस्त के उपचार में दवाइयों की अनुपयोगिता और घरेलू नुस्खों की उपयोगिता पर चर्चा के दौरान हो सकता है कि लोग अपनी मां और दादी मां के अनुभवों पर ही बात करते चले जाएं। और यह भी जरूरी नहीं कि ये अनुभव दस्त से ही सम्बन्धित हो। चर्चा इस बात की ओर भी मुड़ सकती है कि पुराने जमाने में दादियां, नानियां बच्चे कैसे पालती थीं। ऐसी चर्चाएं बहुत दिलचस्प और ज्ञानवर्द्धक हो सकती हैं पर कभी-कभी इसको रोककर वापस पटरी पर लाना जरूरी होता है।

एक और उदाहरण देखिए। दस्त के खतरनाक लक्षणों की बात चल रही है। चर्चा इस बात पर हो रही है कि किस स्थिति में बच्चे को

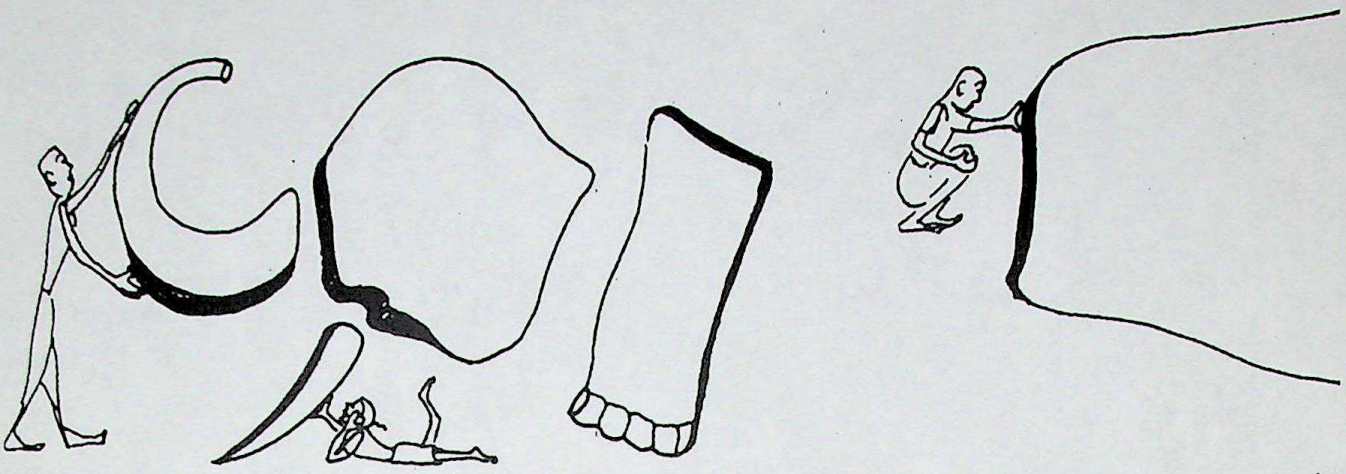

अस्पताल ले जाना जरूरी हो जाता है । यहां यदि कोई यह बात उठाए कि स्वास्थ्य केन्द्र ले जाने में काफी दिक्कतें हैं, तो इस पर बात करना जरूरी है । सिर्फ यही बात करते जाने का कोई मतलब नहीं है कि बच्चे को कब अस्पताल ले जाना जरूरी है, चाहे लोगों के लिए ऐसा करना संभव ही न हो ।

कभी-कभी चर्चा ऐसे मुद्दों पर चली जाती है, जिन पर अक्सर बातचीत नहीं होती, जैसे बीवी को मारने की बात । उदाहरण के लिए, परिवार नियोजन के अलग-अलग तरीकों की बात चल रही है । किसी ने बीच में जिक्र किया कि नसबन्दी के अलावा बाकी सारे तरीके बेकार हैं । चर्चा आगे बढ़कर इस मुद्दे पर पहुंच गई कि औरत को तो वही करना पड़ता है, जो पति चाहे । यदि वह नहीं करती, तो पति उसे पीटता है । इसमें से यह मुद्दा उठा कि आदमी लोग शराब पीकर घर आते हैं और किसी ने कह दिया कि इसमें उनकी कोई गलती नहीं क्योंकि उनको मजदूरी के कुछ हिस्से के बदले में शराब मिलती है ।

इस पर पूरी चर्चा का गर्भनिरोध के तरीकों से कुछ लेना-देना नहीं है । मगर चर्चा को भटकने का मौका देने से कई ऐसी बातें सामने आई जो वैसे कभी नहीं उठतीं । स्वास्थ्य कार्यकर्ता को यह हुनर विकसित करना होगा कि कब चर्चा को चलने दिया जाए और कब नहीं । उसे लोगों के मूड की समझ होना जरूरी है । चर्चा में इस तरह के भटकाव दो कारणों से आते हैं । या तो लोगों को अन्य विषय ज्यादा दिलचस्प लगते हैं या वे समस्या के कुछ ऐसे पहलुओं को टटोल रहे होते हैं, जो शुरू में असंगत लगते हैं ।

यदि लोग स्वास्थ्य कार्यकर्ता के सामने खुलकर अपनी भावनाएं व्यक्त करते हैं, और संभल-संभल कर बात नहीं करते, तो इसे एक उपलब्धि समझना चाहिए ।

कभी-कभी समूह में गहरे मतभेद पैदा हो जाते हैं । इनके कारण कई बार आपस में दुर्भावना पैदा होने का डर रहता है । कई बार इसके कारण समूह बंट जाता है और टूटन का खतरा पैदा हो जाता है । ऐसी स्थितियों को बहुत कुशलतापूर्वक संभालना होता है । यह जरूरी नहीं कि हर मुद्दे पर सब लोग एक मत हों । स्वास्थ्य कार्यकर्ता की कोशिश यह होनी चाहिए कि विभिन्न नजरिये उभरकर आएं और उन पर इस तरह से चर्चा हो कि किसी भी सदस्य को बुरा भला न कहा जाए । वह यह भी बता सकती है कि हर मुद्दे के कई पहलू होते हैं ।

मगर कई बार यह तरीका भी नाकाम हो जाता है । आगे उदाहरणों के माध्यम से बताया गया है कि ऐसी स्थिति में स्वास्थ्य कार्यकर्ता को क्या करना चाहिये । एक मामले में, जब चर्चा में बहुत उत्तेजना आ गई थी, तो स्वास्थ्य कार्यकर्ता ने चर्चा को रोककर कहा कि वह एक कहानी सुनाना चाहती है । उसने सात अन्धों और हाथी वाली कहानी सुनाई । हर अंधे व्यक्ति ने हाथी का अलग-अलग हिस्सा छुआ था । एक ने कहा कि हाथी खम्भे जैसा है, एक ने कहा सांप जैसा है, एक ने कहा सूपड़े जैसा है, वगैरह । लोग जल्दी ही समझ गए कि वह क्या कहना चाह रही है । एक ही समस्या को देखने के तरीके अलग-अलग हो सकते हैं । वे यह भी समझ गए कि उनमें से हरेक सही है । उनमें मतभेद इसलिए हैं क्योंकि उनमें अनुभव अलग-अलग हैं और पूरी बात को समझने के लिए सारे अनुभवों को शामिल करना जरूरी है ।

दूसरे उदाहरण में, इसी प्रकार की तकरार से निपटने के लिए स्वास्थ्य कार्यकर्ता ने कागज पर एक बिन्दु बनाकर पूछा कि अलग-अलग लोगों को क्या नजर आ रहा है । अधिकांश लोग अचरज में पड़ गए और कहने लगे बिन्दु है, और क्या ? स्वास्थ्य कार्यकर्ता ने तब उन्हें बताया कि कैसे पूरे समूह ने एक छोटे से बिन्दु को ही देखा और पूरे खाली कागज को नजर अन्दाज कर दिया । यह सुनकर पूरे समूह में हल्कापन आ गया । जो लोग अभी थोड़ी देर पहले एक-दूसरे पर चिल्ला रहे थे, अब खुद पर हंसने लगे ।

ऐसी परिस्थिति में सबसे जरूरी बात यह है कि चर्चा को इस ढंग से समाप्त किया जाए कि लोगों में परस्पर वैमनस्य का भाव न रहे ।

लोगों की समस्याओं को समझने व सुलझाने में अपनी कल्पनाशीलता का इस्तेमाल करना चाहिए । चर्चा में भागीदारी और जीवन्तता से पता चल जाता है कि लोग कितनी रुचि ले रहे हैं । लोगों की नियमित

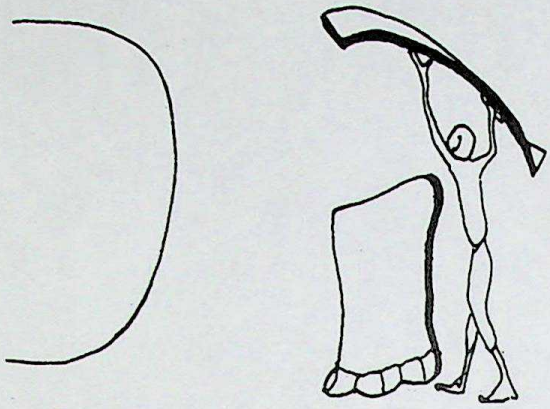

उपस्थिति, बैठक में आने की उत्सुकता, नए लोगों में जुड़ने का उत्साह, आदि से भी पता चलता है कि समूह से लोगों को मदद मिल रही है।

जानकारी इकट्ठी करना

सर्वेक्षण

लोगों से चर्चा के दौरान, ऐसी जरूरत सामने आ सकती है, जिसके लिए गांव के सारे लोगों से जानकारी इकट्ठी करनी पड़े। शायद यह पता करना हो कि गांव में टी. बी. के कितने मरीज हैं, या यह पता करना हो कि अलग-अलग आर्थिक तबके के बच्चों के पोषण की स्थिति कैसी है या यह पता करना हो कि बोआई के लिए हर किसान को कितने बीज की जरूरत है। यह सब इस बात पर निर्भर है कि लोग व स्वास्थ्य कार्यकर्ता के बीच क्या चर्चा चल रही है और जानकारी किस मकसद के लिए चाहिए। ऐसे समय पर सर्वेक्षण जानकारी इकट्ठी करने का एक अच्छा तरीका हो सकता है।

थोड़े से समय में कोई खास जानकारी इकट्ठी करने के लिए सर्वे का तरीका अपनाया जाता है। सर्वे में सारे सम्बन्धित लोगों से एक समान प्रश्न पूछकर जानकारी ली जाती है। यदि ठीक से किया जाए तो सर्वे से कई तरह की जानकारी इकट्ठी की जा सकती है, जैसे—

- गांव में साक्षरों की संख्या
- पांच साल से छोटे बच्चों में टीकाकरण की स्थिति
- काम की तलाश में नियमित रूप से गांव छोड़ने वाले परिवारों की संख्या, आदि।

सर्वेक्षण संख्याएं या तादाद मालूम करने का तो अच्छा तरीका है। मगर यह हमेशा उपयुक्त नहीं होता। जैसे कोई बचत योजना शुरू करने के पहले लोग यह पता करना चाहें कि हर परिवार ने साहूकार से कितना कर्ज लिया है। अब इसके लिए सर्वे का तरीका ठीक नहीं रहेगा। कारण यह है कि इतने संवेदनशील मामले में लोग सही-सही जानकारी देने से कतराते हैं। यह भी हो सकता है कि किसी परिवार ने थोड़ा-थोड़ा कर्ज कई बार लिया हो और अब उसे कुल रकम याद न हो। इस बाबत् सबसे सही जानकारी तो साहूकार ही दे सकता है पर वह भला क्यों बताने लगा ? इसी प्रकार से गर्भपात, भूमि-वितरण आदि मामलों में भी सर्वे का तरीका नहीं चलेगा।

इसके अलावा, **लोगों के मत और अहसास जानने के लिए सर्वे का तरीका उपयुक्त नहीं होता।** इसके लिए चर्चा ज्यादा उपयोगी होती है। तो, सर्वे तभी एक उपयोगी तरीका होगा, जब विशिष्ट जानकारी इकट्ठी करनी हो और विषय ऐसा हो कि लोग आसानी से जवाब देने को तैयार हों।

जानकारी इकट्ठी करने के लिए सर्वे का तरीका कुछ खास समयों पर ही ठीक रहता है। जैसे कई बार स्वास्थ्य कार्यकर्ता, लोगों से जान-पहचान होने से पहले ही सर्वे करते हैं। इसका मकसद गांव के बारे में जानकारी लेना होता है। लगता है कि अपने काम की योजना बनाने तथा टारगेट तय करने में इससे मदद मिलेगी। अलबत्ता गांव के लोग इस तरीके को नापसन्द करते हैं और बात भी ठीक है। गांव के लोगों के बारे में साधारण जानकारी लेने के लिए सर्वे करना, वैसा ही है, जैसे आप अपने सहकर्मियों के नाम, उम्र, लिंग, जानने के लिए प्रश्नावली घुमाएं। इसमें लोगों के प्रति आदर व संवेदना का अभाव झलकता है। लोग जानकारी देने से कतराते हैं और प्रश्नकर्ता को शक की नजर से देखते हैं। सर्वे कभी भी परिचय का स्थान नहीं ले सकता। सर्वे तभी उपयुक्त होता है जब स्वास्थ्य कार्यकर्ता और लोग एक दूसरे को जानने-समझने लगे हों। सर्वे तभी करना चाहिए जब लोग यह समझ जाएं कि जानकारी इकट्ठी करने का मकसद क्या है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है।

ज्यादा अच्छा तो यह होगा कि सर्वे वही लोग करें, जो इस जानकारी का उपयोग करने वाले हैं। ऐसे लोग दूसरों को सर्वे का उद्देश्य आसानी से समझा सकेंगे। वे लोग जानकारी के सही-गलत होने का निर्णय भी ज्यादा अच्छी तरह से कर सकेंगे। जैसे कि यदि टी. बी. के बारे में सर्वे किया जाना है, तो ऐसे लोग जो कभी इस रोग के मरीज थे या जो इस समस्या के प्रति चिन्तित हैं, सबसे उपयुक्त रहेंगे। इसी प्रकार से छोटे बच्चों की माताएं पांच साल से कम उम्र के

सारे बच्चों के बारे में जानकारी इकट्ठी कर सकती हैं। या शायद थोड़े बड़े बच्चों को प्रशिक्षण देकर, उनसे छोटे भाई-बहनों और गांव के अन्य बच्चों की जानकारी इकट्ठी करवाई जा सकती है।

सर्वे के लिए प्रश्न तैयार करना

स्वास्थ्य कार्यकर्ता लोगों की मदद से प्रश्नों की सूची बना सकती है प्रश्न बनाते समय कुछेक मामूली बातों का ध्यान रखना चाहिए।

- सर्वे का मकसद लिख लें।
- इस मकसद हेतु जरूरी जानकारी की सूची बना लें।
- इस जानकारी को प्राप्त करने के लिए उपयुक्त प्रश्नों को लिख लें।

(प्रश्न कई प्रकार के हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में इस खण्ड का अध्याय 2 देखें।)

नीचे एक उदाहरण से समझाया गया है कि गांव में टी. बी. मरीजों की संख्या पता करने के लिए किस तरह से सर्वे किया जा सकता है।

उदाहरण1 : टी. बी. सर्वे

मकसद

यह पता लगाना कि गांव में कितने लोगों को टी. बी. है, ताकि पी. एच. सी. से दवाओं की नियमित सप्लई का इंतजाम किया जा सके।

जरूरी जानकारी

— व्यक्ति का नाम, जिसे टी. बी. है या हो सकती है।

— यह व्यक्ति किस परिवार का है ?

— व्यक्ति टी. बी. की दवाई ले रहा है या नहीं ?

— उसे दवाई कहां से मिलती है ?

प्रश्न

× *व्यक्ति का नाम पता लगाना, जिसे टी. बी. है या हो सकती है।*

टी. बी. एक ऐसी बीमारी है जिससे लोग भय खाते हैं। और मानना नहीं चाहते कि उन्हें यह बीमारी है। कई लोगों में टी. बी. की पहचान भी नहीं हुई होती। "क्या तुम्हें टी. बी. है ?" जैसे सीधे सवाल करने से सही जवाब नहीं मिलता। इसलिए कई सवाल पूछना बेहतर होता है, जैसे :

— क्या आपके घर के किसी व्यक्ति को तीन हफ्ते से ऊपर खांसी हो रही है ?

— यदि हां तो खखार (बलगम) का रंग कैसा है ?

— क्या किसी को शाम या रात को हरारत रहती है ?

— क्या घर में किसी बड़े या बच्चे का वजन पिछले एक माह में काफी कम हुआ है ?

आखिरी सवाल एक दूसरे ढंग से भी पूछा जा सकता है— "क्या आपके कपड़े (कमीज या ब्लाउज) ढीले पड़ गए हैं ?"

× *व्यक्ति किस परिवार का / की सदस्य है ?*

यह पूछने की जरूरत नहीं है। घर के मलेरिया नम्बर को ही घर नम्बर मानकर लिखा जा सकता है। मलेरिया नम्बर घर की दीवार पर दरवाजे के बगल में लाल रंग से लिखा होता है। कभी-कभी मलेरिया नम्बर साफ-साफ नहीं लिखा होता। ऐसी स्थिति में घर को पहचानने का कोई और तरीका ढूंढना होगा। स्वास्थ्य कार्यकर्ता गांव का एक नक्शा बना सकती है जिस पर सारी महत्त्वपूर्ण चीजें (ट्यूब वैल, डाकघर, सरपंच का घर, वगैरह) दिखाई गई हों। इस नक्शे पर हर घर को नम्बर दिया जा सकता है। सर्वे में इसी घर-नम्बर का इस्तेमाल किया जा सकता है।

इसमें एक और फायदा है कि आसानी से पता लग जाएगा कि सारे घरों का सर्वे हो चुका है या नहीं ।

घरों को पहचाने के लिए गांव के लोग भी कोई तरीका सुझा सकते हैं। यदि ठीक लगे, तो इसका इस्तेमाल करना चाहिए ।

× व्यक्ति टी. बी. की दवा ले रहा है या नहीं

कई बार व्यक्ति को टी. बी. है, यह तय हो चुका होता है, परन्तु उसे खुद पता नहीं होता । या व्यक्ति कह देता/देती है कि उसे खांसी और कमजोरी की दवा मिल रही है । बेहतर यही होगा कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता या सर्वेकर्ता खुद वे दवाइयां देख लें ।

यदि व्यक्ति कहे कि वह दवाई नियमित रूप से ले रहा या ले रही है पर दवाई दिखाने में आना-कानी करे, तो इसका मतलब यह है कि या तो दवा नियमित रूप से नहीं ली जा रही है या किसी कारण वह व्यक्ति दवा नहीं दिखाना चाहता/चाहती ।

सर्वेकर्ता अपने साथ टी. बी. की दवाओं का नमूना रख सकते हैं । इनके जरिए यह तय किया जा सकता है कि उस व्यक्ति ने कभी ये दवाइयां ली है या नहीं । यदि ली होंगी, तो उसे इन दवाइयों को पहचानने में कोई दिक्कत नहीं होनी चाहिए । इस तरीके से स्वास्थ्य कार्यकर्ता, बगैर सीधा सवाल किए, पता कर सकती है कि अमुक व्यक्ति ने टी. बी. की दवाइयां ली हैं या नहीं ।

× मरीज को टी. बी. की दवाइयां कहां से मिलती हैं ?

यह बात पता लगाना जरूरी है । आखिर सर्वे का मकसद तो यही है कि गांव में टी. बी. की दवा का नियमित इन्तजाम किया जाए । हो सकता है कि उस व्यक्ति का नाम पहले ही टी. बी. मरीज के रूप में पी. एच. सी. में दर्ज हो । यह बात नोट करनी चाहिए यदि वे दवाइयां किसी प्राइवेट डाक्टर से मिल रही हैं या व्यक्ति किसी कैमिस्ट से खरीद रहा या रही है, तो उसे बताया जाना चाहिए कि सारे टी. बी. मरीजों को ये दवाइयां मुफ्त मिलती हैं ।

उपरोक्त प्रश्नों से साफ है कि जो जानकारी चाहिए वह थोड़ी सी है । हर परिवार की जानकारी आधे पेज से ज्यादा न होगी । और सवाल भी इतने सरल हैं कि गांव के जो लोग रुचि रखते हैं वो खुद ही यह सर्वे कर सकते हैं ।

सर्वे के नतीजों को समझना

सर्वे से मिली जानकारी के आधार पर गांव के लोगों को चार श्रेणियों में बांटा जा सकता है ।

1. जो जानते हैं कि उन्हें टी. बी. है और इसका इलाज कर रहे हैं ।
2. जिनमें टी. बी. के लक्षण दिखाई पड़ते हैं पर जांच करके तय किया जाना बाकी है ।
3. जिन्हें शायद टी. बी. हो सकती है और इलाज चल रहा है या कभी टी. बी. थी और इलाज हुआ था पर बताना नहीं चाहते । यह भी संभव है कि उन्हें सचमुच इस बात की जानकारी न हो ।
4. जिनमें टी. बी. के कोई लक्षण नहीं है ।

अब स्वास्थ्य कार्यकर्ता को पहली तीन श्रेणियों के लोगों से मिलकर और जानकारी लेनी होगी । जिन लोगों को टी. बी. है, उनसे पता लगाना होगा कि इसकी पहचान कब हुई, इलाज कब से चल रहा है, और यदि अनियमित इलाज लिया है तो यह पता लगाना होगा कि इलाज में क्या दिक्कतें हैं ।

दूसरी और तीसरी श्रेणी के लोगों के लक्षणों के बारे में और जानकारी लेनी होगी और हो सके, तो जांच भी करनी होगी । इन व्यक्तियों के खखार की जांच करनी होगी और छाती का एक्सरे करना होगा । यदि वे राजी हों, तो स्वास्थ्य कार्यकर्ता द्वारा उनको पी. एच. सी. भेजने का इन्तजाम करना चाहिए या पी. एच. सी. की टीम को गांव में आना चाहिये । यदि स्वास्थ्य कार्यकर्ता टी. बी. विरोधी मुहिम के तहत बी. सी. जी. का टीका लगाने का काम भी करना चाहती हो, तो उसे तीन साल तक की उम्र के बच्चों की संख्या भी पता लगानी होगी ।

दस्तावेजों या रिकार्ड से जानकारी प्राप्त करना

सर्वे के दौरान किसी एक समय की जानकारी मिलती है । टी. बी. या कुष्ठ रोग की जानकारी प्राप्त करने के लिए ऐसा सर्वे उपयोगी होगा । इस सर्वे से लोगों को टी. बी. या कुष्ठ रोग के लक्षणों की जानकारी भी मिल सकती है । यदि स्वास्थ्य कार्यकर्ता का लोगों से सम्बन्ध

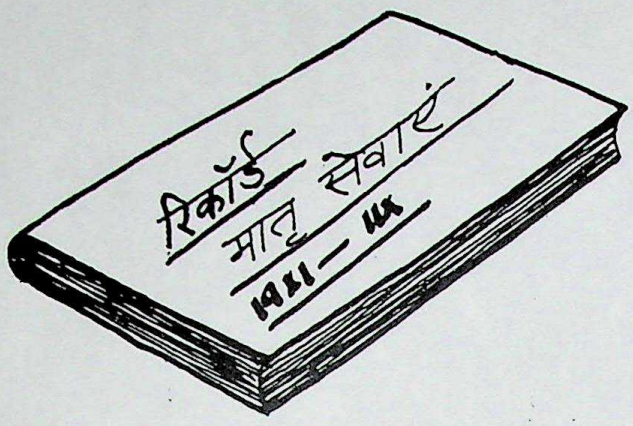

अच्छा है, तो व्यक्ति लक्षणों को देखकर खुद भी उसके पास आ सकता है। परन्तु कई जानकारियां ऐसी होती है, जिन्हें एक समय पर इकट्ठा नहीं किया जा सकता। जैसे गर्भवती स्त्रियों या अल्पपोषित बच्चों के सम्बन्ध में जानकारी एक ही समय पर इकट्ठी करना जरूरी नहीं है। वास्तव में इस तरह के मामलों में एक समय पर इकट्ठी की गई जानकारी का उपयोग बहुत सीमित होगा। कई स्वास्थ्य कार्यकर्ता प्रायः एक औपचारिक सर्वे करके पता लगाती हैं कि गांव में मातृसेवा सुविधा की जरूरत है या नहीं। यदि उस गांव की औरतें गर्भावस्था के दौरान देखरेख के इन्तजाम की जरूरत व्यक्त करें, तो एक रिकार्ड रखने की व्यवस्था बनाई जा सकती है। इस से जानकारी इकट्ठी करने में सहूलियत होगी और काम को व्यवस्थित करने में भी मदद मिलेगी।

रिकार्ड रखने के लिए निम्नलिखित चार्ट को अपनी जरूरत के अनुसार फेरबदल के साथ इस्तेमाल किया जा सकता है।

मातृ सुविधा

जचकी का संभावित महीना :

रिकार्ड कैसे रखें

1. यदि यह पता हो कि किस महीने में कौन-कौन सी औरतें प्रसव करने वाली हैं, तो स्वास्थ्य कार्यकर्ता उन्हें प्रसव पूर्व सुविधा प्रदान कर सकती है। **इसलिए गर्भवती औरतों के नाम जचकी के संभावित महीने में दर्ज करना चाहिए।** जैसे यदि स्वास्थ्य कार्यकर्ता किसी गर्भवती औरत को मई में पहली बार देखती है और प्रसव संभवतः अक्टूबर में होने वाला है, तो उसका नाम अक्टूबर माह में दर्ज करना चाहिए। इस तरह के रिकार्ड रखने के लिए हर माह की तालिका अलग पन्ने पर बनानी होगी।
2. **पेरिटी :** इसका अर्थ है कि वह औरत पहले कितनी बार गर्भवती हो चुकी है। इसमें सारे पूरी अवधि के गर्भ तथा गर्भपात शामिल किए जाते हैं। मसलन, कमला वर्तमान गर्भ से पहले तीन बार गर्भवती हो चुकी थी। इसमें से दो सामान्य प्रसव हुए थे और एक गर्भपात। उसकी पैरिटी इस

1	2	3	4	5	6	7	8			9				10				11	12	13	14
तारीख	मकान नं.	मां का नाम	पति का नाम	मां की उम्र	पैरिटी	जचकी की संभावित तारीख	पहली बार जांच की तारीख तिमाही			टिटेनस टाक्साइड				जचकी के विषय में				जीवित या मृत जन्म	बच्चे का लिंग	वजन	विशेष टिप्पणी
							I	II	III	1	2	3	बूस्टर	तारीख	किस्म	जगह	जचकी किसने कराई				

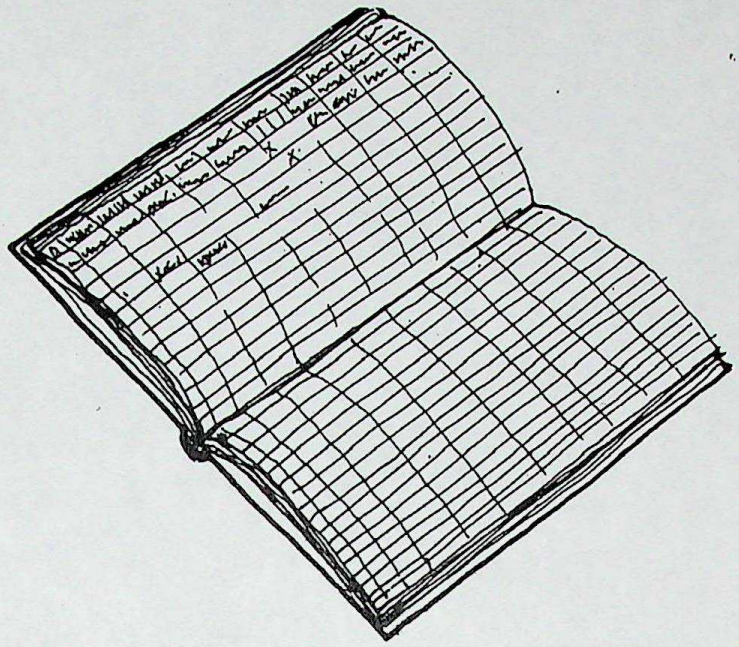

तरह लिखी जाएगी पी 2 +1 (पी यानि पैरिटी), 2 पूरी अवधि के प्रसव और 1 गर्भपात (इसे छठे खाने में लिखा जाएगा)।

3. **जचकी संभावित तारीख :** यह तारीख तालिका के सातवें खाने में भरी जाएगी। इस तारीख की गणना निम्नानुसार करते हैं। मां से पूछकर उसकी आखरी माहवारी की तारीख व महीना पता करें। इसमें सात दिन जोड़ दें और तीन महीने घटा दें। उदाहरण के लिए, गौरी की आखिरी माहवारी 10 मई 1990 को हुई थी। उसके प्रसव की संभावित तारीख 17 फरवरी 1991 होगी।

4. **पहली बार जांच की तारीख :** स्वास्थ्य कार्यकर्ता को इस खाने में वह तारीख लिखनी चाहिए, जब उसने उस गर्भवती महिला की पहली बार जांच की। यदि यह पहली जांच दूसरी तिमाही के दौरान की गई हो, तो जांच की तारीख तिमाही II के खाने में भरनी चाहिए। तब तिमाही। व III का खाना खाली रहेगा। इस जानकारी से स्वास्थ्य कार्यकर्ता को यह पता चलेगा कि वह गर्भवती महिला से कितनी जल्दी सम्पर्क कर पाई थी।

5. **टिटेनस टॉक्साइड** : नवें खाने में टिटेनस टॉक्साइड देने की तारीख डालें। इससे पता चल जाएगा कि टिटेनस टॉक्साइड की अगली खुराक कब दी जानी है। स्वास्थ्य कार्यकर्ता समय रहते उस औरत को यह जानकारी दे पाएगी। इससे स्वास्थ्य कार्यकर्ता को यह भी पता चलेगा कि टिटेनस टॉक्साइड कितना असरकारक है।

6. **जचकी :** स्वास्थ्य कार्यकर्ता को जैसे ही मालूम पड़े कि जचकी हो गई है, वैसे ही उसे औरत से सम्पर्क करके जचकी का ब्यौरा ले लेना चाहिए। इस जानकारी को दसवें खानें में भरें।

7. **जीवित / मृत जन्म :** यदि बच्चा मृत पैदा हो (अर्थात् सांस ही न चले) तो इसे मृत जन्म कहा जाता है। यदि बच्चा जन्म के दो घण्टे बाद मर जाए, तो इसे जीवित जन्म लिखा जाएगा। यह जानकारी ग्याहरवें खाने में लिखें। साथ ही चौदहवें खाने (टिप्पणी) में यह भी लिखें कि 'बच्चा दो घण्टे बाद मरा'' और मौत का कारण भी दर्ज करें।

8. **टिप्पणी** : इसमें जचकी-बाद मुलाकात की तारीख, औरत की हालत, बच्चे की हालत, आदि जानकारी लिखना चाहिए। यदि गर्भावस्था का अन्त गर्भपात में हो जाए, तो उस औरत के नाम के सामने के स्तम्भों में एक लाइन खींचकर टिप्पणी लिख देना चाहिए कि ''गर्भपात हो गया''। गर्भपात की तारीख भी लिखी जा सकती है।

इस रिकार्ड से क्या-क्या जानकारी मिल सकती है ?

— गांव में एक साल में गर्भवती औरतों की संख्या।

— एक साल में कितनी औरतों ने प्रसव किया। (यही उस गांव में एक साल में जन्म लेने वाले बच्चों की संख्या भी है)।

— एक साल में हुए स्वतः गर्भपात।

— एक साल में टिटेनस टॉक्साइड कितनी औरतों को दिया गया।

— पहली / दूसरी / तीसरी तिमाही में सम्पर्क की गई औरतों की संख्या।

— घर पर हुई सामान्य जचकियों की संख्या, दाई द्वारा करवाई गई जचकियों की संख्या, आदि।

इस प्रकार हालांकि यह रिकार्ड मुख्यतः औरतों को गर्भावस्था के दौरान सुविधाएं देने के लिए रखा गया था, किन्तु इससे गांव के बारे में कई महत्त्वपूर्ण जानकारियां मिल जाती हैं। एक ही समय पर गर्भवती औरतों का सर्वे करने से ये जानकारियां नहीं मिल पातीं।

ऐसा रिकार्ड रखने के लिए गर्भवती औरतों के अलावा दाइयों से भी अच्छा सम्पर्क रखना होगा।

इस रिकार्ड से मिली जानकारी को चर्चा के दौरान औरतों के साथ बांटना चाहिए। जैसे यदि स्वास्थ्य कार्यकर्ता को पता चलता है कि जन्म के समय वजन वाले बच्चों की संख्या बहुत है और औरतें भी एनीमियाग्रस्त हैं, तो वह औरतों के साथ एनीमिया के कारणों पर चर्चा कर सकती है। यह चर्चा सिर्फ एनीमियाग्रस्त गर्भवती औरतों तक सीमित न रखकर, सभी एनीमियाग्रस्त औरतों के साथ की जानी चाहिए।

इसी तरह से, दवाखाने में रखे गए अच्छे रिकार्डों से पता चल सकता है कि उस इलाके में बीमारियों का पैटर्न क्या है और आर्थिक स्थिति व बीमारी के पैटर्न का क्या सम्बन्ध है। तब इस बाबत् किसी औपचारिक सर्वे की जरूरत ही नहीं रहेगी।

बगैर प्रश्नावली के व्यवस्थित जानकारी इकट्ठी करना

आगे एक उदाहरण में बताया गया है कि औपचारिक प्रश्नावली के बगैर भी व्यवस्थित जानकारी इकट्ठी करना संभव है। यह इस बात पर निर्भर है कि क्या जानकारी चाहिए और किस मकसद से चाहिए।

> सूखे की स्थिति में लोगों की मदद के लिए बिहार के कुछ स्वास्थ्य कार्यकताओं को कुछ अनुदान प्राप्त हुआ। स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं के गांव के लोगों से अच्छे रिश्ते थे। उन्होंने गांव वालों से पूछा कि इस पैसे का सर्वोत्तम उपयोग क्या होगा। लोगों ने कहा कि उन्हें अगली फसल के लिए बीज खरीदना होगा, अन्यथा वे फिर से बीज उधार लेंगे और कर्ज में डूब जाएंगे। अब यह पता लगाना बहुत जरूरी था कि हर परिवार को कितने बीज की जरूरत होगी। अतः इस समूह ने तय किया कि गांव के कुछ लोग यह जानकारी इकट्ठी करके स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं को दे देंगे।
>
> जानकारी इकट्ठी करने के लिए इन लोगों ने एक आसान सा तरीका अपनाया :

परिवार के मुखिया का नाम	भूमि का रकबा	भूमि की किस्म	बीज की मात्रा	दस्तखत या अंगूठा निशान

> जानकारी इकट्ठा करने का यह तरीका बीज वितरण के समय भी काम आया। इस पूरी क्रिया में स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं की भूमिका मात्र चर्चा शुरू करवाने और बीज खरीदने की रही। गांव के लोगों ने ही सर्वे भी किया और जानकारी का इस्तेमाल भी किया।

यदि यह कार्यक्रम लोगों से अच्छे सम्पर्कों के बगैर किया जाता या स्वास्थ्य कार्यकर्ता खुद करते (जैसा कि अक्सर होता है), तो बहुत संभव है कि सही जानकारी नहीं मिलती।

निष्कर्ष

- सर्वे को लोगों से परिचय का विकल्प नहीं बनाना चाहिए।
- इकट्ठी की गई सारी जानकारी लोगों को दी जानी चाहिए और उनके फायदे के लिए होनी चाहिए।
- सर्वे का मतलब यह नहीं होना चाहिए कि लोग किसी स्वास्थ्य कार्यक्रम को स्वीकार कर लें।
- गांव के बारे में व्यवस्थित जानकारी इकट्ठी करने का एकमात्र तरीका सर्वे ही नहीं है।

5 : स्वास्थ्य के काम का बढ़ता दायरा

स्वास्थ्य कार्यकर्ता का लक्ष्य है कि लोग स्वास्थ्य समस्याओं के बारे में नए ढंग से सोचें और इनका मिलजुल कर हल ढूंढने के लिए आगे आएं। इस खण्ड में हमने कुछ ऐसे तरीकों की चर्चा की है जिनके माध्यम से स्वास्थ्य कार्यकर्ता इस लक्ष्य की दिशा में बढ़ सकती है। स्वास्थ्य कार्यकर्ता का मकसद मात्र यह नहीं है कि गांव में बीमारी और मृत्यु दर कम हो जाए। उसका तो यह है कि लोगों में आत्मविश्वास पैदा हो और वे अपनी समस्याओं के समाधान की तलाश करें। इस पूरी कष्टसाध्य प्रक्रिया का उद्देश्य यह है कि चिकित्सा प्रणाली जिस नजरिए से अस्वस्थता को देखती है, उसमें तो बदलाव आए ही और लोग जिस ढंग से आधुनिक चिकित्सा को रामबाण मानते हैं, उस नजरिये में भी बदलाव आए।

हमने देखा कि किस तरह चिकित्सा प्रणाली में बीमारी के कुछ ही पहलुओं पर जोर दिया जाता है। नतीजा यह होता है कि अस्वस्थता की जो जिम्मेदारी खुद व्यक्ति पर डाल दी जाती है जबकि इसका मूल कारण तो सामाजिक व्यवस्था है। लोग इस दृष्टिकोण पर सवाल भी नहीं उठा पाते क्योंकि चिकित्सा सम्बन्धी सारा ज्ञान तो चिकित्सा जगत के कब्जे में है। इस तरह से स्वास्थ्य समस्याओं का एक-तरफा चित्र पेश करके और समाज के ताकतवर तबकों के हितों के अनुरूप प्राथमिकताएं निर्धारित करके, आधुनिक चिकित्सा प्रणाली ने लोगों के सोच को जकड़ लिया है। लोग वैसे ही जीवन में लाचारी महसूस करते हैं। चिकित्सा प्रणाली के शिकंजे में यह लाचारी और बढ़ जाती है।

इसके विपरीत, स्वास्थ्य कार्यकर्ता की कोशिश होनी चाहिए कि **लोग आधुनिक प्रणाली के इस रवैये को चुपचाप स्वीकार न करें**। वह लोगों की मदद करती है कि वे, डाक्टरों द्वारा दी गई सलाह और सेहत के पैगामों में दी गई जानकारी पर स्वतंत्र रूप से विचार करें और तय करें कि ये बातें उनकी जिन्दगी में कितनी सार्थक हैं। वह लोगों को बतलाती है कि बीमारी का सम्बन्ध जिन्दगी के अन्य पहलुओं से भी है। इस तरह से वह लोगों को प्रेरित करती है कि वे अंस्वस्थता के बारे में अपनी स्वतंत्र समझ विकसित करें। स्वास्थ्य कार्यकर्ता, अपने रोजमर्रा के काम के दौरान, खुद के बारे में लोगों के सोच और अस्वस्थता तथा इसके समाधान के बारे में विचारों में तब्दीली ला सकती है। इसके साथ ही वो अपने कार्य के तरीके से लोगों को प्रेरित कर सकती है ताकि लोग आत्मविश्वास पूर्वक खुद के बारे में सोच पायें।

अपने चिकित्सकीय ज्ञान व हुनर को अधिक-से-अधिक लोगों में बांटकर, लोगों को रोग निदान तथा इलाज का काम सीखने में मदद देकर, ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यकर्ता को प्रशिक्षण देकर, स्वास्थ्य कार्यकर्ता सिर्फ चिकित्सा सुविधा भी मुहैया नहीं करवाती। वह इस मिथक को भी तोड़ती है कि चिकित्सा का ज्ञान कोई रहस्यमयी चीज है, जो साधारण लोगों की समझ से परे है।

स्वास्थ्य के सम्बन्ध में स्वास्थ्य अधिकारियों के फैसलों को मनवाने की बजाय स्वास्थ्य कार्यकर्ता **लोगों को प्रेरित कर सकती है कि वे खुद तय करें कि कौन-सी चीज उनकी जरूरत के अनुकूल है**। उदाहरण के लिए, गर्भनिरोध के अलग-अलग तरीकों की जानकारी देकर वह लोगों से गर्भनिरोध के हर तरीके की लाभ-हानि की चर्चा कर सकती है। इसके आधार पर लोग खुद तय करेंगे कि उनके लिए कौन-सा तरीका ज्यादा उपयुक्त है और वे इसे कब अपनाना चाहेंगे। ऐसा करने से यह मिथ्या धारणा टूटेगी कि चिकित्सा तंत्र द्वारा बताई गई सारी बातें लोगों के भले के लिए होती हैं।

इसके अलावा पारम्परिक और आधुनिक प्रणाली के तरीकों, की सार्थकता पर सवाल उठाने के लिए प्रेरित करके वह लोगों को यह फैसला करने में मदद दे सकती है कि कौन-सा तरीका ज्यादा विवेकसम्मत है। मसलन, पारम्परिक तरीके में बैठकर जचकी करवाई जाती है जबकि तुलना के आधार पर लोग तय कर सकते हैं कि कौन-सा ज्यादा उपयुक्त है। वह यह बता सकती है कि सामान्य जचकी के लिए बैठने की स्थिति बेहतर है परन्तु सर्जरी की जरूरत हो, तो लेटना बेहतर होता है।

अस्वस्थता के कारणों की व्यापक समझ बनाने में भी स्वास्थ्य कार्यकर्ता लोगों की मदद कर सकती है। लोग यदि इस बात पर गौर कर पाएं तो वे बीमारी और सामाजिक-आर्थिक स्थिति का रिश्ता समझ लेंगे।

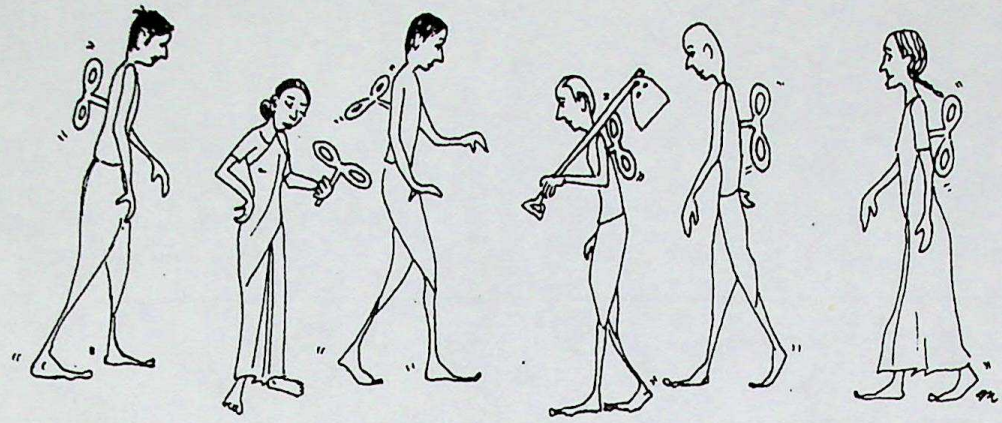

इस प्रकार से वह यह समझने में मददगार होगी कि अस्वस्थता के लिए व्यक्ति को दोषी नहीं ठहराया जा सकता । यह तो उन शोषणपूर्ण तौर-तरीकों का नतीजा है, जो व्यक्ति को स्वस्थ जीवन से वंचित रखते हैं ।

फिर स्वास्थ्य कार्यकर्ता लोगों को यह भी बता सकती है कि आज चिकित्सा सुविधा बिकाऊ चीज हो गई है । जो इसका दाम चुका सके, उसी को मिलती है । लोग खुद भी इस बात का फैसला कर सकते हैं कि गांव में किन लोगों को चिकित्सा की सुविधा मिल पाती है और किनको नहीं । इसके अलावा, अलग-अलग डाक्टरों की पर्चियों की तुलना करके या इन पर्चियों की अनुपयोगिता दिखाकर वह लोगों को यह समझने में मदद दे सकती है कि कई डाक्टर मरीज के फायदे के लिए नहीं बल्कि खुद मुनाफे के लिए धन्धा करते हैं ।

एक कदम और आगे जाकर, स्वास्थ्य कार्यकर्ता यह भी बता सकती है कि दवाइयां दरअसल एक क्षणिक समाधान है । यह समाधान कभी-कभी खतरनाक भी साबित होता है । वह इस बारे में भी चर्चा कर सकती है कि इस तरह के समाधानों से लोगों की सेहत की स्थिति में कितना सुधार आ सकता है । इस तरह से स्वास्थ्य कार्यकर्ता इस मिथ्या धारणा को भी तोड़ सकेगी कि मात्र चिकित्सा सुविधा खरीदकर हम बेहतर सेहत हासिल कर सकते हैं । **उसे यह भी बताना होगा कि मौजूदा सामाजिक व आर्थिक स्थिति को बदलने के सामूहिक संघर्ष के जरिए ही आम लोगों की सेहत में स्थाई सुधार आ सकता है ।**

इनमें से हरेक बात को यदि अलग-अलग देखें, तो लगेगा कि ये इतनी छोटी-छोटी बातें हैं कि इनका कोई दूरगामी प्रभाव नहीं होगा । परन्तु लोगों के मौजूदा विश्वास और रवैये भी ऐसी ही छोटी-छोटी बातों से मिलकर बनते हैं । इन्हीं रोजमर्रा के आपसी सम्बन्धों से मिलकर उनका यथार्थ बनता है । अतः हर छोटे-छोटे परिवर्तन का असर अन्ततः यथार्थ की समझ पर पड़ता है । इन्हीं छोटे-छोटे परिवर्तनों की बदौलत लोग अपने आपको और अपने यथार्थ को एक नई नजर से देखने लगते हैं ।

वास्तव में, लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन और छोटी-छोटी सफलताएं पहला जरूरी कदम है । इसी के बल पर वे आगे चलकर उन बड़े मुद्दों पर सवाल उठाएंगे, जो उनके शोषण के लिए जिम्मेदार हैं । इन्हीं छोटे-छोटे प्रयासों से लोगों में आत्मविश्वास पैदा होता है कि वे अन्य शोषित तबकों से जुड़ें और ज्यादा बुनियादी समस्याओं का मुकाबला करें ।

अतः स्वास्थ्य कार्यकर्ता एक ऐसी प्रक्रिया की शुरूआत में मदद कर सकती है, जिससे बदलाव का रास्ता खुलेगा । परन्तु वह और दो-तीन गांव के लोग मिलकर जो कुछ कर सकते हैं, उसकी एक सीमा है । क्योंकि जमींदारों का चिकित्सातंत्र की जबर्दस्त ताकत को चुनौती देना इतने छोटे समूह के लिए संभव नहीं है । यह छोटा-सा समूह सरकार या बहुराष्ट्रीय कंपनियों पर दबाव डालकर उन्हें अपनी नीतियां बदलने को मजबूर भी नहीं कर सकता । इसके लिए अपने जैसे विचारों वाले, समान उद्देश्य वाले अन्य समूहों व संगठनों से जुड़ना होगा । इस प्रकार आपस में जुड़कर ही इन छोटे-छोटे प्रयासों से एक आन्दोलन बनेगा । समाज की वर्तमान व्यवस्था में बुनियादी बदलाव लाने के लिए ऐसा आन्दोलन निहायत जरूरी है । इस तरह के आन्दोलन का अंग बने, या न बनें, इस बात का निर्णय करते वक्त स्वास्थ्य कार्यकर्ता तथा लोगों के समूह को यह ध्यान रखना होगा कि इसके क्या परिणाम हो सकते हैं । बदलाव के किसी भी प्रयास में ये खतरे हमेशा बने रहेंगे ।

अतः जिस तरह स्वास्थ्य कार्यकर्ता को यह तय करना है कि वह कौन सा रास्ता अपनाये उसी तरह उसे और गांव के लोगों को मिलकर फैसला करना होगा कि वे अपनी समस्याएं किस हद तक हल कर सकते हैं ।

हम आपको बदलेंगे

गरीब लोगों की सेहत के प्रति चिन्तित हर स्वास्थ्य कार्यकर्ता को कुछ अहम फैसले करने होंगे :

वह अपना अधिकतर समय कहां लगाए–दवाखाने में या गांव में ?

वह किन लोगों के बीच / साथ काम करे–सम्पन्न या गरीब ?

क्या वह अपनी वर्तमान गतिविधियों को जारी रखे या अपनी भूमिका बदले ?

क्या इस बदली हुई भूमिका को उसकी वर्तमान संस्था से समर्थन मिलेगा या कोई नई जगह तलाश करना चाहिए ?

क्या किसी अन्य स्रोत से अपने काम के लिए समर्थन जुटाना संभव होगा ?

ऐसे काम में काफी निजी संघर्ष करना होता है। क्या वह इसके लिए तैयार है ?

इन फैसलों की जद्दोजहद में, अन्य स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं द्वारा किए गए फैसले और उनका संघर्ष और अनुभव ही हमारा सहारा और प्रेरणा का स्रोत है।

शब्दावली (पारिभाषिक शब्द)

किताब में कई तकनीकी शब्दों का प्रयोग हुआ है। यहां इन शब्दों के अर्थ किए गए हैं। कुछ शब्दों के एक से ज्यादा अर्थ भी होते हैं। यहां हमने वही अर्थ दिया है जो किताब में लागू होते हैं।

गर्भपात

28 सप्ताह खत्म होने से पहले गर्भ समाप्त करना। अर्थात् उस अवस्था से पहले जब भ्रूण बच्चादानी के बाहर भी जीवित रहने काबिल हो जाए। गर्भपात अपने-आप (स्वतः) हो सकता है या करवाया जा सकता है, जिसे प्रेरित गर्भपात कहते हैं। स्वतः गर्भपात का अर्थ है कुदरती कारणों से होने वाला गर्भपात। बाहरी हस्तक्षेप से करवाए गए गर्भपात को प्रेरित गर्भपात कहा जाता है। भारत में गर्भपात कानून के अनुसार निम्नलिखित स्थितियों में गर्भपात को गैर कानूनी माना जाता है : 20 वें सप्ताह के बाद गर्भपात, गैर-एलोपेथिक चिकित्सक द्वारा किए गए गर्भपात और कानून में वर्णित कारणों के अलावा किसी अन्य कारण से किए गए गर्भपात।

मूल मेटाबोलिक दर (मूल चयापचय दर)

किसी व्यक्ति को कुल जितनी ऊर्जा की जरूरत होती है, उसके दो भाग होते हैं : (क) मूल ऊर्जा (ख) शारीरिक कामकाज में लगने वाली ऊर्जा। मूल ऊर्जा का तात्पर्य यह है कि शरीर के बुनियादी कामकाज, जैसे श्वसन, पाचन उत्सर्जन, खून के प्रवाह, शरीर के तापमान को बनाए रखने, आदि में खर्च होने वाली ऊर्जा। व्यक्ति विश्राम कर रहा हो, तब भी शरीर के इन जरूरी कामों के लिए ऊर्जा खर्च होती रहती है। जब शरीर (मानसिक व शारीरिक तौर पर) पूरी तरह विश्राम की स्थिति में हो, तब जो ऊर्जा खर्च होती है उसे मूल मेटाबोलिज़्म या मूल चयापचय कहते हैं। इस पर प्रभाव डालने वाले कुछ कारक हैं : उम्र, लिंग, ऊंचाई, वजन और पोषण। किसी व्यक्ति की कुल ऊर्जा जरूरत की गणना के लिए उसकी उम्र, लिंग व डीलडौल के मूल चयापचय को आधार माना जाता है।

धारणा / विश्वास

किसी विचार को या मत सही मानना, भले ही उसे निर्विवाद रूप से सही साबित न किया जा सके। इसी ढंग की एक धारणा है कि किसी 'अशुभ' व्यक्ति जैसे नीची जाति के व्यक्ति या विधवा पर सुबह-सुबह नजर पड़ जाए, तो पूरा दिन बरबाद हो जाता है।

जैविक-क्रिया

इसका तात्पर्य शरीर में होने वाली विभिन्न क्रियाओं जैसे पाचन, श्वसन इत्यादि से है, जो जीवन के लिए अनिवार्य हैं।

नगदी फसलें

ऐसी फसलें जो खुद के उपभोग के लिए नहीं बल्कि मुख्यतः बाजार में बेचने के लिए उगाई जाती हैं।

रासायनिक सुरक्षा (रासायनिक रोकथाम)

ऐसी दवा लेना जिससे व्यक्ति स्तर पर बीमारी से बचाव हो सके। जैसे मलेरिया से बचने के लिए क्लोरोक्वीन या रुमेटिक बुखार से बचने के लिए पेनिसिलिन।

वर्ग

समाज में लोगों के आर्थिक समूह। जिन लोगों की आमदनी एक खास दायरे में आती हों, उन्हें एक ही वर्ग में गिना जाता है। एक ही आर्थिक समूह के लोगों की सामाजिक हैसियत भी प्रायः एक जैसी ही होती है।

समुदाय

एक सामाजिक समूह, जिसके सदस्य किसी स्थान विशेष में रहते हों और जिनकी एक साझा संस्कृति और ऐतिहासिक विरासत हो। समुदाय छोटा बड़ा किसी भी आकार का हो सकता है।

उपभोक्ता इकाई

जीवन स्तर, उपभोग का पैटर्न आदि का अनुमान लगाते समय परिवारों के सदस्यों की उम्र का हिसाब रखा जाता है। हर वयस्क को एक उपभोक्ता इकाई माना जाता है। बाकी सदस्यों की इससे तुलना करके गणना की जाती है। तैयूर गांव में अध्ययन के लिए ड्युरफेल्ट और लिंडबर्ग ने उपभोक्ता इकाई की गणना निम्नानुसार की थी :

उम्र	कितनी
1–3 साल	1/4 उपभोक्ता इकाई
4–7 साल	1/2 उपभोक्ता इकाई
8–14 साल	3/4 उपभोक्ता इकाई
15–59 साल	1 उपभोक्ता इकाई
60 साल	3/4 उपभोक्ता इकाई

एण्डेमिक (स्थानीय बीमारी)

यदि किसी भौगोलिक क्षेत्र में कोई बीमारी लगातार एक ही स्तर पर बनी रहे (और बाहर से न लाई गई हो), तो वह बीमारी उस इलाके की एण्डेमिक कहालाती है। टायफाइड बुखार, कुष्ठ रोग, हाथी पांव (फाइलेरिया), अमीबिएसिस, टी. बी. आदि भारत की एण्डेमिक बीमारियां हैं।

महामारी (एपिडेमिक)

यदि एक भौगोलिक क्षेत्र (जैसे शहर, कुछ गांवों का इलाका) में किसी बीमारी से एक समय में सामान्य से बहुत ज्यादा संख्या में लोग प्रभावित हों, तो उसे महामारी कहते हैं।

पैण्डेमिक (सार्वदेशिक बीमारी)

जब कोई बीमारी थोड़े समय में एक देश से दूसरे देश में फैल जाए या एक ही समय पर दो देशों में हो। जैसे 1957 में इन्फ्लूएन्जा पैण्डेमिक और 1962 में हैजा पैण्डेमिक हुई थी और अब एड्स की बीमारी।

प्रतिरोध क्षमता

प्रतिरोध क्षमता शरीर के उस गुण को कहते हैं, जिसके द्वारा शरीर किसी बाहरी पदार्थ को पहचान कर, नष्ट करके निकाल बाहर करता है। ऐसे बाहरी पदार्थों (जैसे रोग पैदा करने वाले जीव, रोपा गया ऊतक, आदि) को एण्टीजेनिक पदार्थ कहते हैं और शरीर जानता है कि ये उसका अपना हिस्सा नहीं है। इस तरह से प्रतिरोध प्रतिक्रिया कृत्रिम रूप से भी विकसित की जा सकती है। टीका लगाने में यही किया जा सकता है। व्यक्ति की प्रतिरोध क्षमता कई बातों [illegible] है : उम्र, पोषण, नस्ल के अन्तर, आदि।

रुग्णता

इससे किसी आबादी में अस्वस्थता के स्तर का एहसास होता है। इसकी गणना काफी मुश्किल है। एक ही व्यक्ति को वही बीमारी बार-बार हो सकती है, एक ही व्यक्ति वर्ष में अलग-अलग रोगों से पीड़ित रह सकता है, बीमारी की अवधि कुछ घण्टों से लेकर कई महीनों तक की हो सकती है और अलग-अलग व्यक्तियों में बीमारी का अनुभव अलग-अलग हो सकता है।

मगर रुग्णता दर काफी महत्त्वपूर्ण होती है। इससे पता चलता है कि किसी आबादी पर अस्वस्थता और असमर्थता (अक्षमता) का कितना बोझ है। यह बोझ ऐसी दूरगामी बीमारियों के कारण भी हो सकता है जिनसे मृत्यु नहीं होती, जैसे गठिया या मानसिक अस्वस्थता। रुग्णता दर तीन तरह से नापी जाती है, (1) बीमार व्यक्तियों की संख्या (2) बीमारी की घटनाएं (3) अस्वस्थता की अवधि। रुग्णता नापने के लिए दो आंकड़े प्रायः प्रयुक्त किए जाते हैं—घटना दर और फैलाव दर।

घटना-दर (रोग उत्पत्ति दर)

इसका मतलब होता है कि किसी आबादी में निश्चित समयावधि में किसी बीमारी के कितने नए मामले हुए। इसकी गणना निम्नानुसार की जा सकती है :

$$\text{घटना दर (व्यक्तियों के आधार पर)} = \frac{\text{उस समायावधि में नए बीमार पड़ने वाले व्यक्तियों की संख्या}}{\text{जोखिमग्रस्त आबादी}} \times 1000$$

$$\text{घटना-दर (मामलों के आधार पर)} = \frac{\text{बीमारी के कुल नए मामले}}{\text{जोखिमग्रस्त आबादी}} \times 1000$$

जोखिमग्रस्त आबादी से अर्थ उन सारे लोगों से है जो यदि उस समयावधि में बीमार हुए, तो अध्ययन में बीमार की गिनती में लिए जाएंगे।

फैलाव दर

किसी समय पर या किसी निश्चित समयावधि के दौरान बीमारी के कुल मामलों (नए व पुराने) को फैलाव दर कहते हैं। किसी एक समय पर फैलाव दर की गणना इस प्रकार की जाती है :

$$\text{क्षणिक फैलाव दर (व्यक्ति)} = \frac{\text{एक समय पर बीमार व्यक्तियों की संख्या}}{\text{जोखिमग्रस्त जनसंख्या}} \times 100$$

किसी समयावधि में फैलाव दर की निम्नानुसार की जाती है :

$$\text{अवधि फैलाव दर (व्यक्ति)} = \frac{\text{निश्चित अवधि में बीमार व्यक्तियों की संख्या}}{\text{जोखिम ग्रस्त जनसंख्या}} \times 100$$

दर की गणना बीमार व्यक्तियों की संख्या या बीमारी के दौर दोनों आधारों पर की जा सकती है। दूरगामी बीमारियों के अध्ययन में इस दर की काफी उपयोगिता है।

मृत्यु दर

किसी आबादी की मृत्यु दर का अर्थ है कि प्रति हजार आबादी पर एक साल में कितनी मौतें होती हैं। आबादी की गणना वर्ष के मध्य से की जाती है। इसकी गणना का सूत्र इसे प्रकार है :

$$\text{मृत्यु दर} = \frac{\text{एक साल में हुई मौतों की संख्या}}{\text{मध्य वर्ष पर जनसंख्या}} \times 1000$$

इसे कुल मृत्यु दर कहते हैं। किसी खास आयु समूह, किसी खास बीमारी, किसी लिंग (स्त्री / पुरुष) समूह या किसी खास अवधि की मृत्यु दर को विशिष्ट मृत्यु दर कहा जाता है। शिशु दर और मातृ मृत्यु दर की गणना का तरीका अलग से बताया गया है।

शिशु मृत्यु दर

किसी भी आबादी में एक साल में 1000 जीवित जन्मों में से उन शिशुओं की संख्या जो 1 साल से कम उम्र में मर जाते हैं। इसकी गणना निम्नानुसार की जाती है :

$$\text{शि. मृ. दर} = \frac{\text{एक साल से कम उम्र में मौतों की संख्या}}{\text{उस साल में कुल जीवित जन्मों की संख्या}} \times 1000$$

सीमान्त किसान

वे किसान जिनके पास एक हेक्टर (2.5 एकड़) से कम जमीन हो।

मातृ मृत्यु दर (जच्चा मृत्यु दर)

गर्भावस्था या जचकी से सीधे जुड़े कारणों से होने वाली मौत को मातृ मृत्यु कहते हैं। बशर्ते कि यह गर्भावस्था के दौरान या जचकी के 6 सप्ताह के अन्दर हो। इसकी गणना इस तरह से की जाती है :

$$\text{मा. मृ. द.} = \frac{\text{गर्भावस्था या जचकी से सीधे जुड़े कारणों से गर्भावस्था के दौरान या जचकी के 42 दिनों के अंदर होने वाली मौतों की संख्या}}{\text{उस साल में कुल जीवित जन्मों की संख्या}} \times 1000$$

प्लेसीबो प्रभाव

कोई व्यक्ति ऐसे पदार्थ को लेकर चंगा हो जाए, जिसका वास्तव में कोई उपचारात्मक प्रभाव न हो। व्यक्ति सिर्फ इसलिए ठीक हो जाता है क्योंकि उसे विश्वास है कि उक्त पदार्थ एक दवाई है। ऐसे पदार्थ को प्लेसीबो एवं उसके प्रभाव को प्लेसीबो प्रभाव कहते हैं।

राजनैतिक शक्ति

ऐसे निर्णय लेने की शक्ति, जिनका लोगों की जिन्दगी पर असर पड़ता है। राजनैतिक शक्ति का इस्तेमाल करने के लिए जरूरी नहीं कि वह व्यक्ति किसी राजनैतिक दल का सदस्य हो। गरीब से गरीब परिवार में भी पति अपनी पत्नी और बच्चों पर राजनैतिक ताकत का उपयोग करता है।

जन स्वास्थ्य के उपाय

सरकार द्वारा स्वस्थ पर्यावरण की दिशा में उठाए गए कदम, जैसे पानी सप्लाई, प्रवाह प्रणाली आदि।

क्वारेंटाइन (निरोधात्मक उपाय)

किसी छुतहा बीमारी के सम्पर्क में आए स्वस्थ व्यक्तियों को एक निश्चित अवधि के लिए अलग-थलग रखना। यह अवधि उस बीमारी की इन्क्यूबेशन अवधि (इन्क्यूबेशन अवधि का मतलब है कीटाणु संक्रमण से लेकर रोग के लक्षण उभरने के बीच की अवधि) के बराबर होती है। इस प्रकार से बीमारी के सम्पर्क में आए व्यक्तियों को अन्य लोगों से दूर रखकर, बीमारी को फैलने से रोकने की कोशिश की जाती है। यह उपाय खासतौर से अन्तर्राष्ट्रीय यात्रियों पर लागू किया जाता है क्योंकि वे राष्ट्रीय सरहदों के पास संक्रामक बीमारी को फैला सकते हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने बीमारी के लिए इन्क्यूबेशन अवधि निर्धारित की है।

रेफरल प्रणाली

कई बार किसी मरीज की बीमारी को स्वास्थ्य केन्द्र पर पहचानना या इलाज करना संभव नहीं होता। ऐसे मरीज को ज्यादा सुविधायुक्त अस्पताल भेज दिया जाता है। इसे रेफरल प्रणाली कहते हैं। जैसे उपकेन्द्र के कर्मचारी मरीज को पी. एच. सी. भेज देते हैं और पी. एच. सी. मरीज को जिला अस्पताल भेज सकता है। भारत की स्वास्थ्य सुविधा रेफरल प्रणाली पर आधारित है ताकि सुविधा युक्त

एवं विशेष मकसद वाले अस्पताल साधारण बीमारियों के इलाज में ही न लगे रहें।

कर्मकाण्ड

धार्मिक या सामाजिक अनुष्ठान को करने की निर्धारित विधि जैसे किसी धार्मिक कार्य के समय कपूर या अगरबत्ती जलाना।

सूतक

शारीरिक या नैतिक रूप से अशुद्ध। जैसे किसी 'अछूत' से छू जाने पर व्यक्ति को अपवित्र माना जाता है। घर में जन्म या मृत्यु होने पर उस परिवार के सदस्यों को सूतक लग जाता है तथा वे पूजा पाठ आदि में भाग नहीं ले सकते। इसी प्रकार से माहवारी के दौरान औरत को भी 'अपवित्र' माना जाता है।

समाज

बड़े पैमाने पर सामुदायिक जीवन के लिए इन्सानों पर परस्पर सम्बन्धों की व्यवस्थित प्रणाली को मौटे तौर पर समाज कहा जा सकता है। आमतौर पर यह व्यवस्था सुरक्षा व अस्मिता प्रदान करती है।

स्वास्थ्य प्रणाली

किसी भी समाज में बीमारी व अस्वस्थता का मुकाबला करने के लिए कुछ धारणाएं व प्रथाएं बनती हैं। इन्हीं को स्वास्थ्य प्रणाली कहा जाता है। पूरी दुनिया में स्वास्थ्य सुविधा के कई रूप रहे हैं। हर समाज में लोगों ने अस्वस्थता और मौत की कुछ-न-कुछ व्याख्या की और उसी के अनुरूप मरीज की देखभाल के तरीके बनाए। ये विश्वास और प्रथाएं मिलकर उस समुदाय की स्वास्थ्य प्रणाली कहलाते हैं।

स्वास्थ्य प्रणाली यह भी हो सकती है कि जरूरत पड़ने पर किसी बुजुर्ग या बुद्धिमान व्यक्ति की सलाह ले ली जाय या आयुर्वेद और आधुनिक चिकित्सा जैसी कोई जटिल प्रणाली भी हो सकती है।

टेक्नोलॉजी

सैद्धांतिक ज्ञान के आधार पर ऐसे तरीके और प्रक्रियाएं विकसित करना, जिनसे इन्सानों का जीवन आसान बने। टेक्नालॉजी में पहिए जैसी आसान चीजों से लेकर कम्प्यूटर जैसे इलेक्ट्रानिक उपकरण तक सभी कुछ आ जाता है।

परम्परा

प्रथाएं, रिवाज, धारणाएं, आदि जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती हैं।

कौलीदार

वह व्यक्ति जो किराये के रूप में कुछ रकम देकर एक निश्चित समय के लिए जमीन जोतने का अधिकार प्राप्त करता है।

बीमारी का वाहक

बीमारी का वाहक उसे कहते हैं जो खुद तो बीमारी से ग्रस्त न हो, परन्तु उससे बीमारी दूसरों को लग सकती है। स्वास्थ्य की दृष्टि से ऐसे व्यक्तियों को ढूंढ़कर इलाज करना महत्त्वपूर्ण है, किन्तु मुजरिमों के समान उनका पीछा करना जायज नहीं कहा जा सकता। इन लोगों को तन्हा कारागार में कैद करना भी जरूरी नहीं है, जैसा 'टाइफाइड मैरी' के साथ किया गया था।

मौकापरस्त संक्रमण (ऑपरचूनिस्टिक इन्फेक्शण)

मौकापरस्त संक्रमण उन संक्रमणों को कहा जाता है जो आम तौर पर तो अदृश्य या हल्के-फुल्के रहते हैं मगर यदि शरीर की प्रतिरोध क्षमता किसी कारण कमजेर पड़ जाए तो यही संक्रमण गंभीर रूप धारण कर लेते हैं।

संदर्भ (REFERENCES)

SECTION I

Chapter 1:

Definition of disease, Conrad and Kern, editor, The Sociology of Health and Illness, St. Martins Press, New York, 1981, p9.

Reasons for not taking treatment, BC Purohit, TA Siddiqui, utilization of health services in India, Economic and Political Weekly, April 30, 1994, p1071-1080.

Chapter 2:

Figures on medical needs met by the indigenous healers, The Narangwal Population Study, Rural Health Centre, Narangwal, Punjab, 1975. Djurfeldt and Lindberg, Pills Against Poverty: A Study of the Introduction of Western Medicine in a Tamil Village, Curzon Press, 1975; Report of a survey by the Council of Social Development, 1979.

Figures on medical needs met by different systems of medicine, BC purohit, TA siddiqui, utilization of health services in India, Economic and Political weekly, April 30, 1994, p1071-1080.

Chapter 3:

Percentage of population residing in the villages, Health Information of India, CBHI, G.O.I., 1993,No.5, Table 1.01.

Percentage of patients needing specialized care, Thurber & David, Editor. The Kojedo Project and Community Medicine, Kojedo: Community Health and Development Project, 1974, p 9.

Figures on PHCs and Sub-centres, Health Statistics of India, CBHI, G.O.I., 1982, p 61, Table 6.3; Health Statistics of India, CBHI, G.O.I., p 150, Chart No. 17,1983; Annual Report 1994-95, Ministry of Health and Family Welfare, Government of India, p35.

Percentage of people reached by a PHC, Health for All : An Alternative Strategy, Report of a study group set up jointly by ICSSR & ICMR, Indian Institute of Education, Pune, 1983, p89.

Percentage of PHCs and subcentres with own building by the end of 7th Plan, Health Information of India, CBHI, Government of India, 1992, p58, Table 5.02.

Figures on population per bed by referral hospitals, calculated from, Census of India, Final Population statistics, 1991, p15, Table 1, and Health Information of India, CBHI, Government of India, 1992, p95, Table 8.01.

Population per bed in rural areas in Kerala in 1981, Calculated from, Census of India, Series I, 1981, and Health Statistics of India, CBHI, Government of India, 1982.

Figures on health personnel available in India, Health Information of India, CBHI, Government of India, 1992, p73, Table 7.01 and p75, Table 7.05.

Figures on health personnel to be trained by 1980, Report of the Health Survey and Development Committee, Volume II, Recommendations, 1946, p31.

Figures on health personnel trained per year, Report of Indian Nursing Council, Kotla Road, Temple Lane, New Delhi, 1982 and Health Statistics of India, CBHI, G.O.I ., 1982, p 65, Table 6.2.

Estimate of the number of ANMs to be trained per year between 1981 and 1985, Harnar and Lehman, Nursing Education in India: Its Relevance in Provision of Primary Health Care, A report of the USAID, September 1983, p176.

Quote "वर्तमान ..... सेकेगी", Sathyamala, sundharam, Bhanot, Taking Sides : The choices before the health worker, Anitra Trust, Madras, 1986, p21.

Figures on health personnel trained per year in 1989-90, Health Information of India, CBHI, Government of India, 1992, p64, Table 6.02 and p67, Table 6.05.

Figures on health personnel employed at PHCs, subcentres, Health Information of India, CBHI, Government of India, 1993, p84-88, Tables 7.12, 7.13 and 7.14.

Differential expenditure on health in cities and rural areas, Rural Orientation of Policy Makers, MFC bulletin, Sept. 1978.

Money allocated for medicines at the PHC & Sub-centre level, Bose A and Desai P B, Studies in Social Dynamics of Primary Health Care, Hindustan Publishing Corporation (India), 1983, p108.

Study on drug need and availablity in Satara district, Maharastara, A phadke and others, A study of supply and use of pharmaceuticals in Satara district, FRCH, Bombay, 1995, p75.

Chapter 4 :

Figures on rural-urban doctor population ratio, R Duggal, Health expenditure patterns in selected major States, RJH, New Series, Volume I, No.1, 1995, p37-48.

Staffing at the PHC level in 1972 and doctors in cities, Mejia et al, Physician and Nurse Migration : Analysis and Policy implications, WHO, 1979, p 283 & 285.

Study on interns, Taylor et al, Doctors for the villages, Asia Publishing House, 1976, p 49 & 50.

Percentage of doctors employed in private practice, Government service and outside the country in 1978, calculated from Joseph et al, Health Care in India, CSA, Bangalore, 1983, p 60.

Percentage of doctors employed in private sector in the nineties, A Phadke, The Private medical Sector in India (Summary), FRCH, Bombay, 1995.

Number of doctors registered in Ihe employment exchange, Health Information of India, CBHI, Government of India, 1992, p90, Table 7.15.

Perceptions of interns graduating in 1995-96, JM Soni, MFC Bulletin (letter), No. 215, 1996, p6.

Job description of a PHC doctor, adapted from, P.R. Dutt, Rural Health Services in India, Primary Health Centre, CHEB, G.O.I. ,1965, p 147.

Chapter 5:

The example of why in some parts of India, people do not prefer to use smokeless chulahs has been taken from, Socio-Cultural Factors in Health Planning, Guidelines for Analysis of Socio-Cultural Factors in Health, US Department of Health, Education & Welfare, DHEW Publication, No 4, p 64.

Food requirements for a family of four, ICMR, Recommended Dietary Intake for Indians, 1981.

Obstacles identified by a health worker in the treatment of TB, M sadgopal, Health care versus struggle for life, Under the Lens (Health and Medicine), in Jaya Rao and Patel (Editors), MFC, 1986, p63-82.

Chapter 6 :

Case study on Vasant, has been built around the information on agricultural operations given in D P Apte, Prospects of Development in a Backward region: A Socio-Economic Survey of 15 villages in Kolaba District, Maharashtra, Agro-Economic Research Centre, Gokhale Institute of Politics and Economics, Poona, Dec 1975.

Situation on borrowing in rural areas in the nineties, A Partha Sarathy, Public intervention and rural poverty— A case of non sustainable reduction in AP, Economic and political weekly, Oct 14-21, 1995, p2580.

Rural indebtedness, in a Tamil Village, Djurfeldt & Lindberg, Behind Poverty : The Social Transformation in a Tamil village, Curzon Press, 1975, p 96-97.

Percentage of rural population living below poverty line, Health Information of India, CBHI, Government of India, 1993, p215.

Higher mortality in low birth weight babies, An Analysis of the Situation of Children in India, UNICEF, New Delhi, 1984, p 60.

Mortality rates for measles in malnourished children, Morley and Woodland, See How They Grow, Macmillan Press,1979. p 91.

Attacks of diarrhoea, Morley and Woodland, See How They Grow, Macmillan Press, 1979, p 97.

Maternal mortality and still birth rates in anaemic women, Lewellyn-Jones, Fundamentals of Obsterics and Gynaecology, Volume I, ELBS, Faber & Faber Ltd., 1980, p 227.

Nutritional deficiencies and morbidity rates, Djurfeldt & Lindberg, Pills Against Poverty: A Study of the Introduction of Western Medicine in a Tamil Village, Scandinavian Institute of Asian Studies, Monograph series, No. 23, 1975, p56.

Death rates and income groups, Stalely and Sugden, Poverty and Development : A Programmed Course, Search & Taftee, 1981, p 45.

Death rates in poor and rich areas in Porto Allegre, World bank, Investing in Health, World development Indicators, World Development Report, 1993, p21.

Chapter 7:

The reproductive behaviour in hunter-gatherer society, Landy, editor, Culture, Disease and Healing : Studies in Medical Anthropology, Macmillan Publishing Co. Inc., 1977, p 302.

Distribution of Land post independence, Zurbrigg, Rakku's Story : Structures of Illhealth and the Source of Change, CSA, 1984, p 57.

Quote **"जिनके घर.... बचत होगी"**, Mamdani, The Myth of Population Control: Family, Caste and Class in an Indian Village, Monthly Review Press, 1972, p 78.

Number of children a woman has to bear in order to have one male child, Lappe et al, Food First: Beyond the Myth of Scarcity, Ballantine Books, 1978, p 32.

Table on relationship between IMR & Birth rate, EPW Research Foundation, Social Indicators of development for India II, Inter state disparities, Economic and political weekly, May 21, 1994, p1300-1308.

Quote **"एक औरत... रूप से चले"**, Park J.E., and Park K., Text Book of Preventive and Social Medicine, ninth edition, M/s Banarsidas Bhanot, 1983, p 423.

Percapita income in 1951 & 1991, Health Information of India, CBHI, Government of India, 1992, p55, Table 3.01.

Percapita food grain availability in 1951 & 1991, Health Information of India, CBHI, Government of India, 1992, p56, Table 3.02.

Number of unemployed persons in 1956 and 1971, Datt and Sundharam, Indian Economy, twenty-first edition, S. Chand and Company, 1983, p590.

Percentage increase in rural population and male agricultural labourers in 30 years is calculated from, corrected census estimates as quoted in Trends in Rural Unemployment in India, An Analysis with Reference to Conceptual and Measurement Problems by K.N. Raj., Economic and Political Weekly, Volume XI, 1976, p 1289; Registrar General of India, Census of India, 1991, Pocket book of statistics, p4 &5.

Chapter 8 :

Case study of the three villages in Mussahari block of Muzaffarpur district, Bihar has been adapted from the survey done by Dr Mangna Nand Jha and Dinesh Sahey, for Agrarian Research and training, Planning For Rural Poor Participation in Development, volume I, Socio-Economic Survey, by A.N. Seth, CARTE, June 1980.

Increase in farm size as a result of agricultural technology, Datt & Sundharam, Indian Economy, twenty-first revised edition, S.Chand and Company, 1983, p 509.

SECTION II

Chapter 1 :

All quotations taken from, Ehrenreich and English, Witches, Midwives, and Nurses: A History of Women Healers, Glass Mountain Pamphlet No. 1, The Feminist Press, Now York, 1973, p 13-17.

Chapter 2 :

IMR in Bavaria, Newland, Infant Mortality and the Health of Societies, World Watch Paper 47, World Watch Institute, Dec. 1981, p 7.

Incidence of tuberculosis among textile workers, Marx, Capital Volume I, Chapter 13, p 567.

Economic value of the treatment of hookworm infection, Ehrenreich J., editor, The cultural crisis of Modern Medicine, Monthly Review Press, New York and London, 1978, p260.

Quote **"जहां तक ..... मान्यता भी मिली"**, Cleaver H., Political Economy of Malaria De- Control, Economic and Political Weekly, Volume XI, No 36, September 4,1976, p1463-73.

All quotations of Bhore Committee have been taken from Report of the Health Survey and Development Committee, 1946, volume I & II, 1946.

Statement made by Nehru at the South-East Asia Conference of the WHO, The World health Organisation, Twenty Years in South-East Asia, 1948-1967, WHO, Regional Office for South-East Asia, World Health House, New Delhi, 1967, p 31.

Quote **"व्यापारिक..... अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग"**, The World health Organization, Twenty Years in South-East Asia 1948-1967, WHO, Regional Office for South-East Asia, World Health house, New Delhi, 1967, p 65.

Percentage of deaths due to small pox, has been calculated from : The number of deaths due to small pox in 1958, the population of 1961 and crude deth rate in 1951-1961, Park J.E., and Park K., Text-book of Preventive and Social Medicine, seventh edition, 1979, p311 and Health Statistics of India, CBHI, G.O.I., 1983, p 7 &29.

Quotes, "टैक्स वसूली ..... पहुंचती है" और "भारत ..... हाथ में लिया है", Cleaver H., Political Economy of Malaria De-Control, Economic and Political Weekly, Volume XI, No. 36, September 4, 1976, p 1463-73.

The role of World Bank and International Monetary Fund on health and heath care policy in third world countries, is adapted from D werner, Turning health into an investment : Assault on third world health care, Economic and political weekly, Jan 21, 1995, p147-151.

Increase in hospital deaths due to malnutrition in Zambia due to SAP,Loewenson R, Structural Adjustment and Health Policy in Africa, RJH, new series, volume I, No. 1, 1995, p49-61.

Chapter 3 :

Quote, " रोगग्रस्त .... बात हो गई", Ehrenreich and English, Complaints and Disorders: The sexual Politics of Sickness, The Feminist Press, New York, 1973, p 22.

Qutoes **"जब वे पिछली बार.... काम में लगा दिया", "नया फिजिशियन ... नर्स की जरूरत है"** Ehrenreich and English, Witches Midwives, and Nurses: A History of Women Healers, Glass Moutain pamphlet No.1, The feminist Press, 1973.

Box item on virginity test on nurses in a hospital in Raipur, Sathyamala, From the Editors Desk, MFC Bulletin, No. 141, June 1988. p7 &8 .

Quote "मेडिकल कॉलेज.... सम्बन्ध नहीं होता", Howell Mary C, What Medical Schools Teach About Women, The New England Journal of Medicine, 1974, p 304-307.

Study on physicians workups for male and female patients, Armitage et al, response of Physicians to Medical Complaints in men and Women, JAMA 241, 1979.

Quote "हमारे देश.....सोचती रहती हैं", Kapoor O.P., Kapoor's Guide for general Practioners, Part II, S.S. Publishers, 1976, p 134.

Chapter 4 :

Mortality rates in US between 1900 & 1970 and the fall in standardized death rates for nine common infectious diseases in relation to specific medical measures for the US, Conrad and Kern, editor, The sociology of Health & Illness, St. Martins Press, New York, 1981, p 19 & 25.

Information on vaccination coverage for small pox in 1940, and death rate due to it, Report of the Health Survey and Development Committee, Volume I, 1946, p 109 & 110.

Quote "हाल के वर्षों ..... मुगालता बनी है" Park J.E. and Park K., Textbook of Preventive and Social medicine, ninth Edition, M/s Banarsidas Bhanot, 1983, p 325.

Average annual deaths in British India (1932-1941), Report of the Health survey and Development Committee, Volume I, 1946, p 10.

Decision of WHO to go back to Malaria Control Programme, Sarkar S., Malaria Eradication Plan Abandoned, Times of India, September 16, 1984.

Crude death rate in India 1901-1991, Health Information of India, CBHI, Government of India, 1992, p19.

Pesticide residues in food stuff and breast milk, B Singh, Pesticide Residue in the Environment —A Case Study from Punjab, in Proceedings of the National Seminar on Green Revolution—Impact on Health, VHAI, 1993, p 21-28.

Immunization Programme, Sathyamala, Immunization, Seminar, 354, Feb 1989, p26-29; Hopkins and others, The case of global measles eradication, Reprinted from Lalcet in MFC Bulletin, March 1987, p1-4; Sathyamala, From the Editor's Desk, MFC Bulletin No. 126, March 1987, p8; G Burrett, Paralytic Poliomyelitis : A Tragedy on the Rise, MFC Bulletin, 130, July 1987, p1-3.

Chloramphenicol resistant typhoid epidemic in India, The State of India's Environment 1982: A Citizen's Report, Centre for Science and Environment, 1982, p 140.

Typhoid epidemic in Mexico in 1975, Health For the Millions, Volume VII, No. 2 & 3, April-June 1981, p 18.

Inter-relationship of factors which created conditions for the out-break of pneumonic plague in Manchuria is adapted from Landy D., editor,Culture, Disease and Healing : Studies in Medical Anthropology, Macmillan Publishing Co., Inc., 1977, p 37.

Inter-relationship of factors which created conditions for the out-break of bubonic plague in Beed district in Maharashtra, S Unhale, few doctors in plague-hit area, Times of India, September 19, 1994; The Times of India news service, Beed death not due to Plague, says Govt, Times of India, September 17, 1994.

Example of diethyl stibestrol and the resultant vaginal cancer is adapted from Ruzek S.B., The Women's Health Movement: Feminist Alternatives to Medical Control, Praeger Publishers, 1979, p 38-40.

Unforseen effect of malaria control programme in Borneo Illich I., Limits to Medicine, Rupa & Co. in association with Marion Boyars, 1977, p 20, footnote 27.

Quote of Descartes "निश्चयात्मक ... गुंजाइश न हो". Capra F.,The turning Point : Science, society and the Rising Culture, Fontana paperbacks, 1983, p 42.

Information on the UCIL and the Bhopal gas leak disaster, Weir D, The Bhopal Syndrome, Pesticide manufacturing and the Third world, IOCU, 1986, p6-15; Medico Friend Circle, Distorted lives: Women's reproductive health and the Bhopal disaster, MFC, Pune, 1990; Sathyamala, N Vora, K Satish, Against all odds: Continuing effects of the toxic gases on the health status of the surviving population in Bhopal, Preliminary report of a medical study carried out five years after the disaster, Dec 1989, mimeograph; Narayan T, Submission on the health status and health care of victims of the Bhopal gas disaster of 1984 to the International Medical Commission on Bhopal (Jan 1994) MFC Bulletin, 202-205, Jan-April 1994, P4-10.

Extent of the dispersian of the radio active cloud after the Chernobyl disaster, U Abrahamsen, (special executive officer, state pollution Control Authority, Norway), Consequences of the Chernobyl Accident, paper presented at a Popullation Monitoring workshop, WWF, New Delhi, 21-28 Nov, 1990.

Health consequences to the Chernobyl disaster, Chernobyl Fallout to claim 40,000 in USSR, Indian Express, August 27, 1986.

Import of radioactive contaminated food into India, C Gopalan, Potential hazards to the Third World, NFI bulletin, July 1987.

The documentation of a new disease, AIDS, in the early eighties, A Scott, Pirates of the cell : The Story of viruses from molecule to microbe, Revised paperback edition, Basil Blackwell Ltd, 1987, p225.

Percentage of people infected with HIV who will eventually develop AIDS or AIDS related conditions inthe first five years, J Mann, Basic epidemiology, Excerpts from an informal briefing to the 42nd session of the United Nations' General Assembly on October 20, 1987, Women's World, No. 18, June 1988, p5.

Quote "एड्स से लड़ने .... मुगालता तोड़ रहा है", J Mann, Global AIDS : Epidemiology, Impact, Projections, Global Strategy, in WHO : AIDS : Prevention and Control : World Summit of Ministers of Health on Programmes for AIDS prevention, jointly organized by WHO & UK, January 26-28, 1988, WHO, Geneva p 3-13.

Resurgence of TB in New York, USA, K Brudney and J Dobkin, Resurgent Tuberculosis in New York city : Human Immunodeficiency virus, Homelessness, and the decline of tuberculosis control Programs, Journal of Public Health Policy, winter 1992, p435-450.

Resurgence of TB in Italy, Switzerland and re-emergence of diphtheria in former Soviet Union, The Harvard working group on new and resurgent diseases, New and Resurgent diseases : The failure of attempted eradication, The Ecologist, Vol.25, No. 1, Jan-Feb 1995, p21-26.

Deaths due to cholera in resettlement colonies in Delhi in 1988, Nagrik Mahamari Janch Samiti, Is Plague Over? A citizen's report on the plague epidemic, October 1994, p21.

Association of a steep increase in malaria with the Indira Gandhi Canal, S Ghose, The curse of Progress flows in their blood, HFM, Vol,. 20, No. 6, Nov-Dec 1994, P37-38.

Association of Kala-azar with under nutrition and AIDS, AS Benenson, Editor, control of communicable Diseases in Man, American Public Health Association, Fifteenth editon, 1990, p 241-243.

SECTION-III

Chapter 1 :

Number of graduates & licentiates, nursing staff, doctor-population disparities in rural and urban areas in 1941-42, Report of the Health Survey and Development Committee, Volume I, 1946, p 13 & 14.

Population served by health care institutions in Madras and United Provinces, Report of the Health Survey and Development Committee, Volume I, 1946, p 14.

Organizing health services for the rural population through primary & secondary unit, Report of the Health Survey and Development Committee, Volume II, 1946, ch 3 & 4.

Figures on the number of hospitals with more than 50 beds, the number of PHCs, and doctor-population ratio by the 1950s, Report of the Health Survey and Planning Committee, August 1959-October 1961, G.O.I., Volume I & II.

Table showing the increase in the number of health personnel, training institutions etc., Report of the Health Survey and Development Committee, volume I, 1946 and Report of the Health Survey and Planning Committee, August 1959-October 1961, G.O.I., Volume I & II.

All Quotes from Bhore Committee, Report of the Health Survey and Planning Committee, August 1959-October 1961, G.O.I., Volume I, p89, 91, 349, 371 & 427.

Goal set for doctor-population ratio, nurse-population ratio, ANM population ratio, Park J.E. and Park K., Textbook of Preventive and Social Medicine, ninth edition, M/s Banarsidas Bhanot, 1983, p43.

All Quotes from Srivastav Committee, Report of the Group on Medical education and Support Man-power, Health services and Medical education: A Programme for Immediate Action, G.O.I., April 1975, p 4,6,11,12 & 8.

Outline on health policy under SAP, World Bank, World Development Report 1993, Investing in Health, World Development indicators, Oxford university Press, 1993, p52-71 and p108-133.

Decrease in health budget for Communicable diseases, Baru RV, Trends in Public spending on communicable Diseases during the period of Structural Adjustment, HFM, Vol. 20, No. 6, Nov-Dec 1994, p16-17.

The decontrolling of drug prices (DPCO, 1995), Rane W, Making Way for Price rise : New Drug Policy, RJH, New series, vol. 1, No. 2, 1995, p145-149.

Money spent by a person from a poor family in UP on hospitalisation in a government hospital, Krishnan TN, Access to Health and Burden of treatment in India, an interstate comparison, mimeograph, 1994.

Fall in outpatient attendance in Mozambique, Loewenson R, Structural Adjustment and Health Policy in Africa, RJH, New Series, Vol. 1, No. 1, 1995, p49-62.

Offering of tax free loans by the government to set up private medical colleges, Prakash P, Changing Priorities in Health care, EPW, Vol. XXIX, No. 12, 1994, p661-662.

Chapter 2 :

Percentage of children between 1 and 5 years who were adequately nourished (1984), An Analysis of the Situation of Children in India, UNICEF, New Delhi 1984, p 49.

Percentage of children under five years of age who are well nourished (1994), UNICEF, The State of World's Children 1994, Oxford University Press, p66, Table 2.

Quote "खसरा ... दस्त होने लगते हैं !" Morley D., Paediatric Priorities in the developing World, Butterworths, 1974. p 220.

Study done on measles in Glasgow in 1908, Morley D., Paediatric Priorities in the Developing World, Butterworths, 1974, p218-219.

Deaths due to diarrhoea in children (1994), Rao AR, Child in India : A statistical Profile, NIPCCD, New Delhi, 1994, p115-124.

Study showing the relationship between the incidence of diarrhoea and economic status, Vijaykumar et al, Nutrition Monitoring of Pre-School children, Indian Paediatrics, Volume XII, Number 2, February 1975.

Causes of death in the age group of 1 to 6 years, Shah & Udani, Analysis of Vital Statistics from the rural Community, Palghar III: Pre School and School Age Mortalities, Indian Paediatrics, Volume VI, No. 12, December 1969.

Causes of death in children in 1987, Health Information of India, CBHI, G.O.I., 1992, p156, Table 11.10.

Percentage of death among children below 5 years, Calculated from, Total deaths as in UNICEF, The State of the Worlds's Children, 1994, p64, Table 1, and Census of India, 1991.

Low birth weight in relation to the economic status of a family, and study on children adopted by Swedish Couples, Gopalan C, Nutritron Research in South-East Asia, (The Emerging Agenda of the Future), WHO, Geneva, 1994, p13.

Study on supplementary feeding for mothers in India and in Gautemala, Jaya Rao, K.S., how important is Birth Weight in Infant Health, MFC bulletin, April 1977.

Prevalence of Stunting and wasting in children in third world countries and India, World Bank, world Development Report 1993, Investing in Health, World Development indicators, Oxford University Press, 1993, p75, and UNICEF, The State of the world's children 1995, oxford University Press, p135, Table 2.

IMR related to the sex of children, Family welfare Programme in India, Year Book 1988-89, Ministry of Health and Family welfare, G.O.I., 1990 p122, Table B.12.

The map depicting the North-South divide in terms of Child mortality and gender, Ghosh S, child survival and safe motherhood : The Road ahead, NFI Bulletin, April 1994, p5-7.

IMR by educational level of women, NIPCCD, Child in India, A statistical Profile, 1994, p 88, Table 1.40.

Percentage of neonatal deaths due to tetanus in rural areas, An Analysis of the Situation of Children in India,UNICEF, New Delhi 1984, p 37.

Percentage of child deaths due to six common immunizable diseases, Sathyamala C, Immunization, Seminar 354, Feb. 1989, p26-29.

Type of medical attention received at birth and death, Child Atlas of India,UNICEF,New Delhi, 1981, p 24 & 25, and NIPCCD, Child in India, A statistical Profile, 1994, p85, table 1.38.

Study from Chile showing relationship between diarrhoea and piped water supply, World Health Forum, The International Journal of Health Development, Volume 4, No. 2, 1983, p 172 & 173.

Number of 'problem' villages from the point of view of availability of water, Dogra B., India's Nearly 2 Lakh Thirsty Villages, Deccan Herald, 11th October 1983.

Rural areas with drinking water Supply (1992), Economic Survey, G.O.I., 1992-93, p213.

IMR and income groups, NIPCCD, Child in India, A Statistical Profile, 1994, p89, Table 1.41,

IMR and Gross national Product, per capita, UNICEF, The State of the World's Children, 1994, p67 and 74, Tables 1 and 6.

IMR in urban/rural India, Health Statistics of India, CBHI, G.O.I., 1983, p 38, Table 2.4.

Chapter 3 :

Maternal mortality rate in India and in Canada, UNICEF, The State of the World's Children, 1994, p76-77, Table 7.

Number of males & females and sex-ratio in 1991, and sex ratio from 1901 to 1991, NIPCCD, Child in India : A Statistical Profile, 1994, p15, Table 1.1.

Life expectancy for males and females 1991, World Bank, Investing in Health; World Development Indicators, World Development Report, 1993, p238-239, Table 1.

Life expectancy for males and females in India, rural/urban, 1981-85, NIPCCD, Child in India : A Statistical Profle, 1994, p35, Table 1.19.

Death rates according to age and sex in 1988, Health Information of India, CBHI, G.O.I., 1992, p32, table 2.09.

Death rates according to age and sex in US and India, Nelson, Textbook of Paediatrics, eleventh edition, Asian edition, W.B. Saunders Company, 1979, p 3, Table 1.1 and Health Statistics of India, CBHI, G.O.I., 1983, p 48, table 2.10.

Causes of deaths in the reproductive age group 15-44 in females 1987, Health Information of India, CBHI, G.O.I., 1992, p156, Table 11.10.

Percentage distribution of deaths in different age group (females), Calculated from the Health Information of India, CBHI, G.O.I., 1992, p156, Table 11.10

Nutritional status of male & female children within the same economic groups, Seventh Annual Report, Community Health Department, Christian Medical College and Brown Memorial Hospital, Ludhiana, Punjab, 1978, p 10, Table III.

Study on successful breast feeding of male and female infants, Das D., et al, Exclusive Breast Feeding for 6 Months—An Attainable Goal for Poor Communities, NFI Bulletin, 3-5 April 1982.

Percentage of children with undernutrition according to income group, Rao V, and others, 1989, referred in Reddy V, Satyanarayana K, Nutritional Status of Indian girls, in Proceedings of the workshop on improving young women's Health and Development, ICMR, 1991, p7-15.

Daily intake of calories by age and sex in Matlab, Chen et al, Sex Bias in the Family Allocation of Food and Health Care in Rural Bangladesh, Population & Development Review 7, No 1, March 1981, p 61 Table2.

Contribution made by men, women and children to total energy expenditure in a rural household, Batliwala S., Rural Energy Scarcity and Nutrition, Economic and Political Weekly, February 27, 1982.

Utilization of medical services by sex in West Bengal and Patient treatment in Uttar Pradesh, Towards Equality : Report of the Committee on the State of Women in India, Department of Social Welfare, Ministry of Education & Social Welfare, December 1974, p 317 & 318.

Utilization of medical services by sex in Tamil Nadu, Abraham S, Health and related problems of the girl child and young women in a rural community, in Proceedings of a workshop on improving young women's health and development, ICMR, 1991, p80-85.

Quote "यद्यपि गांव....उल्टा हो जाता है", Chen et al, Sex Bias in Allocation of Food and Health Care in Rural Bangladesh, Population and Development Review 7, No. 1, March 1981, p 64.

Quote from John Burns, Dutt P.R., Rural Health Services in India, Primary Health Centre, CHEB,G.O.I., New Delhi, September, 1965, p97.

Coverage of pregnant women under MCH programme, Utilization of Health and family Planning services in Bihar, Gujarat and Kerala, ICMR, 1988, p37, Table 21.

Causes of death in pregnancy, NIPCCD, child in India : A Statistical Profile, 1994, p105-6, table 1.52.

Number of female foetuses aborted after sex determination tests, Times of India, Editorial on Amniocentesis, June 1982, as quoted in Socialist Health Review, Vol.1, No 2, p70.

Chapter 4 :

Studies on artificially induced semi-starvation, Samson Wright's Applied Physiology, eleventh edition, ELBS, 1965, p 416.

All India age wise causes of deaths in males and females, Health Information of India, CBHI, G.O.I., 1992, p160-161, Table 11.12.

Increase in the use of pesticides between 1970 and 1990, Pandey VK, Tiwari SK, Sustainable agricultural growth—Imperatives and constraints; Proceedings of the National Seminar on 'Green Revolution : Impact on Health and Environment; VHAI, 1993, p14.

Box Item on child Labour, An Analysis of the situation of children in India, UNICEF, 1984.

Studies done on pesticide poisoning and the banned pesticides available in India, Bidwai P., Poisoning on Very Wide Scale, Times of India, 15th December 1982.

Estimates of injury due to threshers, Rao R., The Carnage of Green Revolution, Earthscan Feature, as given in Asia Labour Monitor, vol. 1, No 2, July1984, p4&5.

Information on neuro-lathyrism, Jaya Rao K.S., Kissa Khesari Ka, Health care Which Way to Go, Bang & Patel, editors, Medico Friend Circle, first edition, 1978 p31-44.

Information regarding the Supreme Court case on lathyrism and the situation in MP today, Diwedi MP, Lathyrism—A historical Review, NFI Bulletin, July 1994, p6-8, (The Supreme Court Order is dated March 5, 1982 under Article 32 of the constitution in writ Petition No. 153 of 1982).

Study on health hazards of smoke from wood fire, Sarin M., Nadachula : A Handbook, Voluntary Health Association of India, 1984, p4.

Change in Cropping pattern in Paraguay due to malaria, World Bank, Investing in Health : World Development Indicators, World Development report 1993, p18.

Chapter 5:

Calories recommended by ICMR for different kinds of activity, Gopalan et al, Nutritive Value of Indian foods, National Institute of Nutrition, ICMR, New Delhi, 1980, p 27.

Recommended diets for adults and children, Recommended Dietary Intakes for Indians, ICMR, 1981.

Daily calorie and Protein consumption of rural children, Jaya Rao K.S., The Myth of the Protein Gap, In Search of Diagnosis, Patel, A.J., Editor, Medico Friend Circle, December 1977, p 109.

Amount of cereal required to suppiy 1200 calories and 2400 calories and the amount of protein present in it, Gopalan et al, Nutritive Value of Indian Foods, National Institute of Nutrition, ICMR, New Delhi, 1980, p 60-62.

Quote "कई तरह ..... कैल्शियम होता है", Aggarwal, Chopra & Sharma, Editors, The State of India's Environment : A Citizen's Report, Centre for Science and Environment, New Delhi, 1982, p120-121.

Quote "भारत में ... पीढ़ी जारी रहती है", Arunachalam and Natarajan, Editors, Integrated Rural Development, Koodal Publishers, Madurai, India, p144.

Study of the dietary habits of seven Harijan households, Djurfeldt and Lindberg, Pills Against poverty : A Study of the Introduction of Western Medicine in a Tamil village, Scandinavian Institute of Asian Studies, Monograph series, No. 23,1975, Chapter 5.

Estimates of 25% urban and 15% rural population below the poverty line, Report of study group set up jointly by ICSSR & ICMR, Health for All : An Altenative Strategy, Indian Institute of Education, 1981, p40.

Table on the average energy intakes (Kcal/CU/day) by land holding status, 1975-78, NIN Annual report (1980) as reported in NIPCCD, Child in India : A Statistical Profile, 1994, p 179, Table 3.10.

Quotes "इस बात का .... पूरा कर लेता है" and the study done in Cali, Columbia, Morley and Woodland, See How They Grow, Macmillan Press,1979, p29 & 216.

Estimates of minimum wages according to actual calorie requirements for a person doing heavy work, Bang A., Food Requirements as a Basis for Minimum Wages, MFC Bulletin, December 1981, & Gopalan C, Nutritional Basis of Minimum Wages, MFC Bulletin, April 1982 .

Energy requirement to meet increased demands during pregnancy & lactation, Recommended Dietary Intakes For Indians, ICMR Advisory Committee on Recommended Dietary Intakes For Indians, ICMR, 1981, p5.

Quote "जिन बड़े क्षेत्रों में ..... रह पाई है", Towards Equality : Report of the Committee on the Status of Women in India, Department of Social Welfare, Ministry of Education & Social Welfare, December, 1974, p165.

Table on minimum wages in different States, Subrahmanya RKA, Singh P, Minimum Wages in India, Scheduled Employments and Rates of minimum wages, Social Security Association of India, F.E.S., 1995.

Area under cultivation for cereals in 1970-71 & 1991-1992, Area and Production: Principal Crops in India, 1979-80, Directorate of Economics & Statistics, Department of Agriculture and Cooperation, Ministry of Agriculture, G.O.I., 1981, and Survey of Indian Agriculture, The Hindu, 1994, p212-25.

Export of foods by the Indian Government 1980 and 1990, Economic Survey, G.O.I., 1982-83, p142 & 143, and Economic Survey, 1994-95, G.O.I., p s-94, Table 7.3.

Pulse availability per person per day and the decrease in acreage under pulse cultivation, Economic Survey, G.O.I., 1982-83, p 90 & 82.

Quote "भारत के पास .... सम्बन्धी कारण है" Report of a study group set up jointly by ICSSR & ICMR, Health For All : An Alternative Strategy, Indian Institute of education, 1981, p41.

Information on Subsidy to agriculture in developed Countries, The Editors, Cakes and Caviar ? The Dunkel Draft and the Third world Agriculture, The Ecologist, Vol. 23, No. 6, Nov/Dec 1993, p219-222.

Changes in fertilizer prices in India, Shiva V, Structural Adjustment and Indian Agriculture, The Ecologist, Vol. 22, No. 6, Nov/Dec 1992, p274.

Procurement price of wheat between 1992 & 1995, The Economic Survey 1994-95, G.O.I., p78-80.

Quote "यदि आप ..... तरीका साबित होगा", The Editors, Cakes and Caviar ? The Dunkel Draft and the Third World Agriculture, The Ecologist, Vol. 23, No. 6, Nov/Dec 1993, p219-222.

Public Distribution system in India, and changes in the nineties, The Economic Survey, 1994-95, G.O.I., p78-80.

Equity in access to food grains through PDS, Vyas VS, Bhargawa P, Pubic Intervention for Poverty Alleviation, Economic and Political Weekly, Vol. XXX, No. 41 & 42, P2559-2572.

Upward Change in the percentage of people below the poverty line, Tendulkar SD, Jain LR, Economic Reforms and Poverty, Economic and Political Weekly, Vol. XXX, No. 23, p1373-1377.

Third World Countries financing the living Standards of Western Countries, Public Interest Research Group, Gattastrophe, Feb 1993, p9.

Export and Famine in Ethiopia, The Editors, Cakes and Caviar ? The Dunkel Draft and the Third World Agriculture, The Ecologist Vol. 23, No. 6, Nov/Dec 1993, p219-222.

Chapter 6 :

Flash Card story of Wise Vithoba, Health For the Millions, Vol. X, No. 2, Vountary Health Association of India, New Delhi, April 1984.

Reality of tuberculosis in a person's life as recounted by a health worker, Sadgopal M. Health "Care" vs the Struggle for Life, Health for the Millions, Vol. X, No. 2, Voluntary Health Association of India, New Delhi, April1984, p17-21.

Health Message "टी. बी. किसे..... हो सकती है", George A, Better Care in Tuberculosis, Health for the Millions, Vol. X, No. 2, Voluntary Health Association of India, New Delhi, April1984, p36.

Quotes in the comparison belween advertising and health education, Roberge G, Mediation: The Action of the Media in Our Society, Manohar Book Service, New Delhi, 1978, p1; Medawar C, Insult or Injury: An Enquiry into the Marketing and Advertising of British Food and Drug Products in the Third World, Social Audit, 1979, p4; Park I.E. and Park K. Textbook of Preventive & Social Medicine, ninth edition, M/s Banarsidas Bhanot, 1983, p553.

Quote "बहुतेरी बस्तियों ..... प्रदान करती थीं " and "इस प्रवुद्ध .... काम कर रहा है", Ehrenreich & English, Complaints and Disorders : The Sexual Politics of Sickness, The Feminist Press, New York, 1973, p 49 & 69.

Study showing the revenue earned by the British government from sale of cigarettes, the cost of providing health care and the money spent on health education, Taylor P, Smoke Ring—The Politics of Tobacco, Bodley Head Limited, London, Book review, The Hindu, October 9, 1984.

Box item 'The Case of Typhoid Mary' Ehrenreich and English, Complaints and Disorders : The Sexual Politics of Sickness, The feminist Press, new York, 1973, p 62 & 63.

Description of Surat City and its civic facilities, Bhatt T, Lessons to be learnt from Surat's tragedy, Times of India, October 3, 1994.

Section on response to plague, all taken from newspaper clippings, Tetracycline export banned, TOI, Sep 24, 1994; Delhi-ites killing rats, TOI, sep 28, 1994; Residents near IDH living in fear, TOI, sept 29, 1994; Few doctors in plague-hit area, TOI, sept 19, 1994; Pakistan destroys Betel leaves, TOI, oct 2, 1994; Anger, dismay among parents, TOI, oct 4, 1994; The plague peril, Are you at risk ? India Today, oct, 15, 1994, p52-67.

Pattern of mode of spread of AIDS in different countries, Mann J, Global AIDS : Epidemiology, Impact, Projections, Global Strategy, in WHO—AIDS : Prevention and Control; Wolrd Summit of Ministers of Health on Programmes for AIDS prevention, jointly organized by WHO & the UK, 26-28 Jan, WHO, Geneva, 1988, p3-13.

AIDS Prevention Bill in Rajya Sabha, and the box item on Dominic D'souza, AIDS Bhed Bhav Virodhi Andolan, Hard Times for Positive Travel, sep 1993, p51-52, & p1 & 2.

Measures suggested for tatooing of HIV positive people & the quote "वास्तव में ..... खतरनाक न होते", AIDS Bhed Bhav Virodhi Andholan, Less than gay : A citizen's report on the status of homosexuality in India, Nov-Dec 1991, p80-83.

Health Education messages on AIDS regarding sexual contact; the quotes"एड्स .... वायरस ..... वफादार रहें", "यदि आपको .. ज्यादा सुरक्षित है" **and advice about blood donation,** VHAI, HIV and AIDS : what everybody should know, 1993, p18 & 22.

Box item on AIDS and its relationship to poverty, gender, engineering of the environment, Editorial, Reflections on Women and AIDS, Women's World, ISIS, WICCE, Geneva, No. 18, June 1988, p 1 & 2.

Study carried out on blood banks in Nasik, Interview with Prakash Joshi, what Ails Blood Banks, MFC Bulletin, 178 & 179, Jan-feb 1992, p1-4.

Statistics on AIDS in India, NACO, National AIDS Control Programme India, A Country Scenario : An update, Ministry of Health & Family Welfare, G.O.I., April 1993, p-9.

Chapter 7:

Figures on deaths in India during British colonialism and famines during that time, also increases in Indian and British population during 1870-1931, Dutt R.P. India Today, Manisha Granthalaya 1983.

Land accumulation by the big farmers after introduction of modern methods of farming and the increase in number of tractors between 1970-1980, Datt & Sundnram, Indian Economy, twenty first revised edition, S Chand & Co. 1983,.p 509 & 398.

Number of workers employed per acre and production per acre in Japan, Lappe & Collins, Food First : Beyond the Myth of Scarcity, Ballantine Books edition, Sept. 1979, p 25.

Quote from J.R.D. Tata, Visaria P & Visaria L., Indian Population Scene After 1981 Census : A Perspective, Economic and Political Weekly, Volume XVI, No. 44-46, special number 1981, p 1769.

Quote " तथ्य यह है.... गरीबी थी", Mamdani M., The Myth of Population Control : Family, Caste and Class in an Indian village, Monthly Review Press, new York & London, 1972, p 13 & 14.

Quote "यह हर महिला ... कर सके", Park J.E. & Park K., Textbook of Preventive and Social Medicine, ninth edition, M/s Banarsidas Bhanot, 1983, p 426-427.

Failure rates of different methods of contraception, Hatcher et al, Contraceptive Technology 1976-1977, 8th revised edition, Irvington Publishers INC, N. York, p 25.

Study on Family planning staff members understanding of the effectiveness of methods of contraception, Hatcher et al, Contraceptive Technology 1976-1977, 8th revised edition, Irvigton Publishes INC, New York, p 26.

Complication with IUCD, IUCDS : An Appropriate Contraceptive for Many Women, Population Reports, series B, No. 4, July 1982.

Complications with oral contraceptives,Hatcher et al, Contraceptive Technology 1976-1977, 8th revised edition, Irvington Publishers INC, New York, 1976.

Thromboembolic disease in Indian women taking oral contraceptives, ICMR Bulletin, Volume II, No. 12, December 1981.

Estimate of illegal abortions in Indian women, 6 m. illegal Abortions Every year in India, The Statesman, February 25, 1985.

Figures on the number of IUCD and oral contraceptive acceptors, Visaria P and visaria L.,Indian Population Scene After 1981 Census : A Perspective, Economic and Political Weekly, Volume XVI, No. 44-46, special number 1981, p 1757.

Chapter 8:

Quote "हम एक बड़े संकट ....असंतोष व्याप्त है", The Principles and Practice of Primary Health Care, Contact, Special Series Number 1, Christian Medical Commission, World Council of Churches, Geneva, April 1979, p 53.

All the three box items are from, An Evaluation of Community Health Workers' Scheme—A Collaborative Study, Technical Report 4, National Institute of Health & Family Welfare, New Delhi, 1978.

Chapter 9:

Study on the prescription practices of doctors working in different institutions, Prabhushankar S., A Study of Prescribing Patterns and Cost of Drugs for Some Common O.P.D. Diseases, The Director, University of Mysore, 1981.

Box item on malignant malaria and antibiotic resistance, Agarwal, Chopra & Sharma et al, editors, The State of India's Environment : A Citizens' Report, Centre for Science and Environment, 1982, p 136 & 139.

Box item on disease & medicine adapted from, Warner & Bower, Helping Health Workers Learn : A Book of Methods, Aids, and Ideas for Instructors at the village Level, The Hesperian Foundation, Jan 1982.

List of essential Drugs needed at the community level, Report of a study group set up jointly by the ICSSR & ICMR, Health For All : An Alternative Strategy, Indian Institute of Educatio 1981, p 186.

Comparative prices of important products sold under generic vs brand name, Bhagat M., Aspects of the Drug Industry in India, Centre for Education and Documentation, February 1982, p 40 & 41; and Rukmani Anandani, data collected from 4 Drug stores in South Delhi, unpublished, feb. 1996.

Study on drug utilization in Satara district, Phadke A, Fernandes A, Sharda L, Mane P, Jesani A, A study of supply and use of pharmaceuticles in Satara Destrict, FRCH, June 1995.